गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला

[ग्रन्थ पुष्प]

शम्भुदत्तशर्मोक्तं

पाणिनीयशिक्षाशास्त्रम्

[illegible]

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः

Y.3

GAṄGĀNĀTHAJHĀ-GRANTHAMĀLĀ

[Vol.9]

AGNIPURĀṆOKTAM

KĀVYĀLAṄKĀRASĀSTRAM

With the commentary

'KĀVYAPRABHĀVṚTTI'

Edited & Translated

BY

DR. PĀRASANĀTHA DVIVEDĪ

Dean of Sāhitya-Sanskṛti Faculty

Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya

VARANASI

1985

Published by :—
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi.

Available at :—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi–221002.

First Edition :—1100 Copies
Price Rs. 56·00

Printed by :—
VIJAYA PRESS
Sarasauli, Cantt - Varanasi.

7.3

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला

[नवमं पुष्पम्]

अग्निपुराणोक्तं

काव्यालङ्कारशास्त्रम्

काव्यप्रभावृत्तिसहितम्

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

डॉ० पारसनाथद्विवेदी

एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०,

व्याकरण-साहित्याचार्यः

साहित्य-संस्कृतिसंकायाध्यक्षः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

वाराणस्याम्

२०४२ तमे वैक्रमाब्दे १९०७ तमे शकाब्दे १९८५ तमे ख्रैस्ताब्दे

प्रकाशकः—
अनुसन्धानसंस्थाननिदेशकः,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
वाराणसी ।

प्राप्तिस्थानम्:—
विक्रयविभागः,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१००२.

प्रथमं संस्करणम्—११०० प्रतिरूपाणि
मूल्यम् :—५६·०० रूप्यकाणि

मुद्रकः—
विजय प्रेस
सरसौली, कैण्ट, वाराणसी ।

शुभाशंसा

संस्कृत-वाङ्मय रत्नाकर के समान अगाध एवं कैलास के सदृश उत्तुङ्ग है। इस वाङ्मयरूपी रत्नाकर ने संख्यातीत ज्ञान-रत्नों के आलोक से निश्चय ही विश्व को चमत्कृत किया है। अग्निमहापुराण भी उसी संस्कृत-वाङ्मयरूपी उदधि का विश्वकोषात्मक रत्न है। इस महापुराण में अनेक विद्याओं का गम्भीर विवेचन प्राप्त होता है। इन बहुविध विवेचनों में काव्यालङ्कारशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विद्वानों ने इसे काव्यालङ्कारशास्त्र का आदि स्रोत माना है। इस महापुराण के ग्यारह अध्यायों में काव्यशास्त्र के सभी पक्षों का निरूपण किया गया है। इसे अपने ढंग का अनुपम एवं मौलिक काव्यालङ्कारशास्त्र का ग्रन्थ माना जा सकता है; किन्तु यह तथ्य आश्चर्यजनक है कि अद्यावधि यह अनुपम सामग्री ग्रन्थाकार रूप में प्रकाशित न हो सकी थी। यह ग्रन्थरत्न साहित्यशास्त्र के अध्येताओं के लिये तो उपादेय है ही, साथ ही इतर शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिये भी ग्राह्य है। इस पौराणिक अंश पर 'काव्यप्रभावृत्ति' नामक संस्कृत-टीका भी उपलब्ध है। इस अनुपम ग्रन्थ का 'काव्यप्रभावृत्ति' के साथ पृथक् रूप से प्रकाशन संस्कृत-वाङ्मय की महती उपलब्धि होगी।

मुझे अत्यधिक हर्ष की अनुभूति हो रही है कि सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के साहित्य-संस्कृति-संकायाध्यक्ष एवं संस्कृत के प्रख्यात यशस्वी विद्वान् डॉ० पारसनाथ द्विवेदी जी ने अनेक प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के आधार पर पाठालोचन करके 'काव्यप्रभावृत्ति' नामक संस्कृत-टीका के साथ अपनी हिन्दी व्याख्या से समन्वित करते हुए इस महनीय ग्रन्थ का सम्पादन किया है। हमारे लिये यह अधिक गौरव की बात है कि सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय अपनी प्रकाशन-शृङ्खला में इस महनीय ग्रन्थ को प्रकाशित करने का यशोभागी हो रहा है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रन्थ-रत्न मनीषियों एवं काव्यालङ्कारशास्त्रियों के लिये अवश्य ही हृदयावर्जक सिद्ध होगा। इस ग्रन्थ के पाठालोचन, हिन्दी-व्याख्या-लेखन तथा सम्पादन प्रभृति कार्यों में डॉ० द्विवेदी ने जिस विवेचना शक्ति का परिचय दिया है, उससे संस्कृत साहित्य का महान् उपकार हुआ है। अतः मैं व्यक्तिगत रूप से इस महनीय कृति को इस सुसज्जित रूप में प्रकाश में लाने के लिये डॉ० द्विवेदी जी को साधुवाद देते हुए उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ और यह आशा करता हूँ कि वे इसी प्रकार संस्कृत-वाङ्मय की श्रीवृद्धि में अपने को समर्पित रखेंगे।

रामकरण शर्मा
कुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।

मार्गशीर्षपूर्णिमा
वि० सं० २०४२

प्राक्कथन

अग्निपुराण भारतीय विद्या का कोष कहा गया है। इस पुराण में समस्त विद्याएँ प्रदर्शित की गयी हैं। विविध विद्याओं के साथ काव्यालङ्कारशास्त्रीय विषय का प्रतिपादन भी इस पुराण में किया गया है। इस पुराण के ग्यारह अध्यायों में काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों की महत्त्वपूर्ण सामग्री का विवेचन किया गया है, जिसे काव्यशास्त्र के आदिस्रोत के रूप में मान्य किया जा सकता है। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा में अग्निपुराण की यह देन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ने उच्चकोटि की नवीन मौलिक कृतियों के प्रकाशन तथा संस्कृत-वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थों के समालोचनात्मक आनुसन्धानिक सम्पादन एवं आकर ग्रन्थों की मौलिक टीकाओं तथा व्याख्याओं के साथ ही साथ प्राच्य भारतीय विद्या से सम्बन्धित ग्रन्थों के हिन्दी-भाषा में अनुवाद एवं उनके प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अन्तर्गत अनेक प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद एवं प्रकाशन किया जा रहा है। इसी सन्दर्भ में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने अग्निपुराण के काव्यालङ्कारशास्त्रीय भाग का काव्यप्रभावृत्ति तथा हिन्दी-अनुवाद के साथ प्रकाशन का निर्णय लेकर इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति **डॉ० रामकरण शर्मा** ने शुभाशंसा के दो शब्द लिखकर इस ग्रन्थ को गौरवान्वित किया है, अतः उनके प्रति विनीत भाव से कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ। अनुसन्धान संस्थान के निदेशक **डॉ० भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'** ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अपने बहुमूल्य सुझावों से मुझे उपकृत किया है, अतः उनका हृदय से आभारी हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशन-विभाग का, विशेषकर प्रकाशन अधिकारी **डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** का, अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन की व्यवस्था में पूर्ण तत्परता के साथ सहयोग प्रदान किया है। यदि उनका सहयोग प्राप्त न होता, तो सम्भवतः यह ग्रन्थ प्रकाश में न आ पाता। विजय प्रेस के व्यवस्थापक **श्री गिरीशचन्द्र जी** के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने अधिक उत्साह एवं कलात्मक ढंग से इस ग्रन्थ का मुद्रण-कार्य सम्पन्न किया है।

विनयावनत

पारसनाथ द्विवेदी

भूमिका

पुराणवाङ्मय और अग्निपुराण

पुराणवाङ्मय भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के अमूल्य निधि हैं। वैदिक संस्कृति के अनन्तर ऐतिहासिक काल में भारतीय सांस्कृतिक जीवन के एकमेव आधार बन गये हैं। भारतीय इतिहास एवं संस्कृति को वर्त्तमान स्वरूप प्रदान करने वाले तत्त्वों में पुराणवाङ्मय प्रमुख है। उसके आरम्भ में जिन तत्त्वों ने भी समय-समय पर उसका परिवर्त्तन एवं परिवर्धन किया हो, पाश्चात्य प्रभावों से अभिभूत होने तक उसका स्वरूप प्रायः पौराणिक ही रहा है। भारतीय संस्कृति की समग्रता और उसका ऐतिहासिक विकासक्रम हम पुराणवाङ्मय में प्रतिबिम्बित पाते हैं। भारत के पौराणिकों ने हमारे देशवासियों को उनके जीवन के उच्चतम मूल्यों के प्रति तीव्रता से चैतन्य बनाया है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर विश्व के समस्त राष्ट्र भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के जिज्ञासु बनकर उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए समुत्सुक हैं। यही नहीं, हमारी भारतीय जनता भी राष्ट्रप्रेम से प्रभावित होकर अपनी प्राचीन संस्कृति को श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगी है। क्योंकि पुराणों की कथासरिता में बूँद-बूँद पर भारत की अति प्राचीन संस्कृति अपने पूर्ण वैभव के साथ परिलक्षित होती है, उसमें लोक-कल्याण के अनेक विषयों का समावेश है, इसीलिए उसे भारतीय संस्कृति एवं ज्ञान का विश्वकोष कहा जाता है। इस प्रकार ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वों के प्रकाशन में पुराणों की उपादेयता महत्त्वपूर्ण है।

पुराणवाङ्मय भारतीय जीवन की प्राचीन परम्परा को हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं और इन्हीं के कारण हमारी धार्मिक-परम्परा आजतक चली आ रही है। पुराणवाङ्मय में ज्ञान का वह इतिवृत्त उपलब्ध होता है जो प्रारम्भ से ही मानव अपने पूर्वजों की गाथाओं को उनकी पुण्यस्मृति स्वरूप या उनका यशोगान करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण सुरक्षित रखने में सफल हुआ है। किस प्रकार

वह सुरक्षित रहा ? लिखित या मौखिक रूप में ? 'यह दूसरी बात है; किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि वेदों के साथ-साथ ही अपने पूर्वजों का इतिवृत्त आख्यायिकाओं के रूप में भारत के जन-जन को ज्ञात था। यही कारण है कि वेदों के साथ-साथ पुराणों की चर्चाएँ भी होती रही हैं।

हमें मत्स्यपुराण के इस कथन पर कि "ब्रह्मा ने सृष्टि के आरम्भ में सर्वप्रथम पुराणों का उपदेश दिया, तत्पश्चात् चारों मुख से वेद प्रकट हुए[१]" संशय करने के लिए कोई कारण दिखाई नहीं देता। हमारे पूर्वजों द्वारा काल के उस अलक्षित और अप्राप्य छोर पर ही जहाँ से सृष्टि का उदय हुआ, पुराण नामक वाङ्मय की स्थापना कर दी गई थी।

ऋग्वेद में पुराण शब्द प्राचीनता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[२]। सायण ने तो यहाँ तक कहा है कि ऋग्वेद के युग में कुछ ऐसी गाथाएं विद्यमान थीं, जिन्हें उस काल का पुराण कहा जा सकता है। अथर्ववेद में वेद और पुराण दोनों के अनादित्व और अपौरुषेयत्व प्रदर्शित करने हेतु ऋग्, यजुः और साम के साथ-साथ 'पुराण' नाम भी दृष्टिगोचर होता है[३]। सायण ने यहाँ पर 'पुराण' शब्द का अर्थ पुरावृत्तान्तकथन रूप आख्यान किया है[४]। अथर्ववेदद में एक अन्य स्थल पर इतिहास, गाथा और नाराशंसी के साथ 'पुराण' शब्द का उल्लेख यह संकेत करता है कि पुराण की इनसे भिन्नता होने पर भी वह इनकी ही कोटि का था[५]। कालान्तर में इतिहास के साथ समस्त होने के कारण यह 'इतिहास-पुराण' के रूप में प्रतिष्ठित हो गया और इसे पञ्चम वेद की संज्ञा मिली (इतिहास-पुराणानि पञ्चमो वेद उच्यते)। छन्दोग्योपनिषद् में इतिहास-पुराण की वेदरूपता उद्घोषित

---

१. पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥
(मत्स्यपुराण—५३।३)

२. ऋग्वेद—३।५८।६; ३।५९।९; ९।९९।४; १०।१३०।६।

३. ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वं दिवि देवा दिविश्रिताः॥ (अथर्ववेद—११।४।९।२४)

४. पुराणं पुरातनवृत्तान्तकथनरूपमाख्यानम्। (अथर्ववेद—सायणभाष्य)

५. अथर्ववेद—१५।१।६।११।

है (इतिहास-पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्)[1]। भागवतपुराण में 'इतिहास-पुराण' को पञ्चम वेद कहकर वेदों के समान उसे ब्रह्मा के मुख से निःसृत बताया गया है। वहाँ पर इतिहास-पुराण की विशिष्टता बताते हुए कहा गया है कि 'वेदों का तो ब्रह्मा के चारों मुख से अलग-अलग निःसरण हुआ; किन्तु इतिहास-पुराण तो चारों मुख से एक साथ निःसृत हुए हैं'। वह शास्त्र प्रथम देवलोक में प्रतिष्ठित हुआ और बाद में ऋषियों, मुनियों में प्रस्फुरित होता हुआ मानव समाज में प्रसारित हुआ। मार्कण्डेयपुराण में स्पष्ट उल्लेख है कि प्राचीन काल में वेदों के साथ-साथ इतिहास-पुराण भी ब्रह्मा के मुख से निःसृत हुए हैं। उनमें सप्तर्षियों ने वेदों को ग्रहण किया और भृगु आदि ऋषियों ने पुराणशास्त्र को। तदनन्तर भृगु ऋषि से च्यवन ऋषि ने पुराण-शास्त्र का अध्ययन कर अन्य ऋषियों में उसका प्रचार किया[3]। इन उल्लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदों के साथ-साथ इतिहास-पुराण भी प्रतिष्ठित था और वेदों के समान ही समादृत था तथा उसके प्रचार, प्रसार एवं विस्तार में अनेक ऋषियों एवं मुनियों का योगदान रहा है।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि इतिहास-पुराण वेद के पूरक हैं। इतिहास-पुराण के द्वारा वेद का उपबृंहण करना चाहिए, वेदविषयक ज्ञान को पूर्ण करना चाहिए। वेदों का पूरण करने के कारण ही वे पुराण कहे जाते हैं (पूरणात् पुराणम्) और पूरण उसी तत्त्व से किया जाता है जिसका पूरण करना है। जैसे अपूर्ण कनक-वलय का पूरण कनक (स्वर्ण) से ही किया जा सकता है, त्रपु के द्वारा नहीं; उसी प्रकार वेद का पूरण (बृंहण) पुराण (पुराणवेद) के द्वारा ही सम्भव है, अन्य तत्त्वों से नहीं[4]। इस प्रकार वेदों का पूरण करने के कारण

---

१. छान्दोग्योपनिषद्—७।१।२।

२. ततः पुराणमखिलं पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥

(भागवतपुराण—३।१२।३९)

३. मार्कण्डेयपुराण—४५।२०; २३; २५।

४. 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इति पूरणात् पुराणमिति चान्यत्र।
न चावेदेन वेदस्य बृंहणं संभवति, नहि अपूर्णस्य त्रपुणा पूरणमुच्यते॥

(भागवतसन्दर्भ—पृ० १७)

इतिहास-पुराण भी वेदात्मक हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, दोनों एक रस हैं, दोनों अनादि और अपौरुषेय हैं। यही कारण है कि ब्राह्मणों, उपनिषदों और स्वयं पुराणों में भी इतिहास-पुराण को पञ्चम वेद कहा गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ एक ओर वेद साधारण जन से दूर परमतत्त्व की आराधना में निमग्न तथा ज्ञान के गूढ़ एवं दुर्गम तत्त्वों में विचरने वाली ऋषि-परम्परा में अपने स्वरूप को स्थिर करता आया, वहीं दूसरी ओर इतिहास-पुराण साधारण जन-जीवन के बीच धर्म, अर्थ एवं काम की सिद्धि करने वाले आचरण को प्राचीन इतिवृत्त आख्यानों के माध्यम से अतिरञ्जित होकर लोकहृदय में अन्तर्भूत होता चला आया। अतः वेद की दिशा दूसरी रही और इतिहास-पुराण की दूसरी। प्राचीन भारतीय वाङ्मय का इस प्रकार दो विधाओं में स्वतः ही विभक्त हो उठना अस्वाभाविक भी नहीं जान पड़ता। आज के ज्ञानभण्डार और साहित्य को विषय-वस्तु की दृष्टि से जिस प्रकार हमने सैकड़ों विभागों में समादृत किया है, उसी प्रकार उस प्राचीनतम विगत में भारतीय वाङ्मय भी दो भागों में विभक्त हो गया होगा। इस विषय में सन्देह करने का कोई अवसर नहीं दिखाई देता। इस सम्भावना की पुष्टि इस बात से भी होती है कि आरम्भ में वेद एक ही था और पुराण भी एक ही था (**एक एव पुरा वेदः**[1] —महाभारत। **पुराणमेकमेवासीत्**[2])। वेद का संकलन और विभाजन महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने किया, जिससे वे वेद-व्यास कहलाये और उन्होंने ही इतिहास को महाभारत का रूप और एक पुराण को अठारह भागों में विभाजित कर अठारह पुराणों का कलेवर प्रदान किया। इस प्रकार एक ही परब्रह्म से आविर्भूत और एक दूसरे के पूरक वेद और पुराण दोनों का दो विधाओं के रूप में चिरन्तनकाल से ही अस्तित्व रहा है। वेदों ने अपने उस अनादि स्वरूप को यथावत् अक्षुण्ण रखा और शत-कोटिप्रविस्तर-पुराण कालान्तर से चतुर्लक्षात्मक रूप ग्रहण कर अष्टादश ग्रन्थ के रूप में बिखर गया[3]।

---

१. महाभारत, आदिपर्व।

२. मत्स्यपुराण—५३।४।

३. देवी भागवत—१।२।१९–२१; पद्मपुराण सृष्टिखण्ड। १।५१–५२;
स्कन्दपुराण—रेखामहात्म्य—१।२३।२३।

भारतीय परम्परा महर्षि वेदव्यास को वेदों का संग्राहक, अष्टादश पुराणों का संपादक एवं महाभारत का लेखक मानती रही है जो कुरु-पाण्डवीय युद्ध के समकालीन थे। पौराणिक मान्यता के अनुसार प्रत्येक द्वापर के अन्त में और कलियुग के प्रारम्भ में एक व्यास उत्पन्न होते हैं जो लोककल्याण हेतु वेदों एवं पुराणों का विभाजन एवं सम्पादन करते हैं[1]। उन्होंने एक वेद को चार भागों में विभाजित कर अपने चार शिष्यों पैल्य, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु को उसके प्रचार एवं प्रसार का कार्य सौंपा और शतकोटिप्रविस्तर पुराण को अठारह भागों में विभाजित कर अठारह पुराणों का कलेवर प्रदान कर उसे रोमहर्षण को पढ़ाया, तथा उन्हीं को उसके प्रचार एवं प्रसार का कार्य सौंपा। तदनन्तर रोमहर्षण ने व्यास के आधार पर अपनी अलग पुराणसंहिता तैयार कर सुमति, अकृतवर्ण, काश्यप, अग्निवर्चा भारद्वाज, सौमदत्ति सावर्णि, मित्रायु और शांशपायन इन छः शिष्यों को पढ़ाया[2]। इनमें से कश्यप, सावर्णि तथा शांशपायन अपनी अलग-अलग पुराण-संहिताएँ तैयार कीं और रोमहर्षण के पुत्र सौति उग्रश्रवा ने व्यास-प्रणीत संहिताएँ सम्पादित कीं। इस प्रकार कुल चार संहिताएँ निष्पन्न हुईं जिनका प्रचार-प्रसार का कार्य सूत लोगों ने किया। यहाँ पर सूत शब्द सूत जाति का बोधक नहीं, जो वर्णसंकर जाति थी। पौराणिक सूत अलग थे, जो जाति के ब्राह्मण थे और कथा-वाचन का कार्य करते थे[3]। इससे प्रतीत होता है कि ये सूत लोग ही प्राचीन इतिहास-पुराण के कर्त्ता एवं प्रवक्ता थे। आज भी इतिहास-पुराण के प्रवाचक एवं पाठक जाति के ब्राह्मण होते हैं।

आजकल जो पुराण उपलब्ध होते हैं वे रोमहर्षण के पुत्र सौति उग्रश्रवा

---

१. भारतीय परम्परा एवं पुराणों में प्राप्त विवरण के अनुसार पुराणों की संख्या अठारह है—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त्त, वराह, लिङ्ग, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड। कुछ आचार्य वायुपुराण के स्थान पर शिवपुराण और भागवत के स्थान पर देवीभागवत की गणना करते हैं।

विष्णुपुराण—३।३।२; मत्स्यपुराण—५३।९-११। देवीभागवत—१।३।१९-२०। स्कन्दपुराण (रेखाखण्ड) ३।२७-२९; पद्मपुराण (सृष्टिखण्ड) १।५१-५२।

२. विष्णुपुराण—३।६।१७ तथा वायुपुराण—६१।५५-५६।

३. पौराणिकस्त्वन्य सूतो मागधश्च ब्राह्मणात् क्षत्राद्विशेषः।
(कौटल्लीय अर्थशास्त्र—३।७।२९-३१ ॥ (सूतस्तु पौराणिको द्विजः)।

द्वारा सम्पादित एवं संशोधित हैं। यह बात इनसे प्रमाणित होती है कि सभी पुराणों में सूत एवं उग्रश्रवा सौति प्रवक्ता कहे गये हैं। ये सूत समय-समय पर उसमें नूतन कथाओं का समावेश कर उसे रोचक बनाये रखते थे और उनके कलेवर में नई सामग्री का समावेश कर उन्हें नित्य नूतन बनाये रखते थे, इसीलिए उसकी उपादेयता समाज में समादृत थी और इसीलिए उन्हें पुराण कहा जाता है. (पुरा नवं भवति) जो प्राचीन होते हुए भी नवीन हैं, वे पुराण हैं।

अग्निपुराण

अग्निपुराण और वह्निपुराण—पुराणवाङ्मय में अग्निपुराण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे 'आग्नेयपुराण' भी कहते हैं। यह पुराण अग्नि और वसिष्ठ के संवाद से प्रारम्भ होता है। इसमें विविध विद्याओं का सार वर्णित है। इसके अतिरिक्त एक 'वह्निपुराण' भी उपलब्ध होता है। म० म० काणे महोदय इन दोनों पुराणों को पृथक् पृथक् मानते हैं। डा० हाजरा वह्निपुराण को ही मूल अग्निपुराण मानते हैं। उनका कहना है कि "प्राचीन निबन्धकारों ने अग्निपुराण से जो वचन उद्धृत किये हैं वे वर्तमान अग्निपुराण में न मिलकर वह्निपुराण में ही उपलब्ध होते हैं। किन्तु डा० हाजरा का उक्त मत अधिक युक्तिसंगत और प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि दोनों पुराणों के विषयानुक्रम में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। प्रथम अग्निपुराण में ३८३ अध्याय है और वह्निपुराण में १८१ अध्याय। वह्निपुराण अभी तक अप्रकाशित है। वह्निपुराण का प्रतिपाद्य विषय निम्न प्रकार है—

"ऋषियों के द्वारा प्रश्न, अग्नि की स्तुति, ब्रह्मा की स्तुति, स्नान-भोजन विधि, अग्नि का तप, वेणुकथा, पृथुकथा, गायत्रीकल्प, ब्राह्मणप्रशंसा, सर्गानुशासन, गणभेद, योगनिर्णय, सर्गानुकीर्त्तन, सती-रुद्र कथा, काश्यप-सृष्टि, प्राजापत्यसृष्टि, वाराहावतार तथा नृसिंहावतार वर्णन, देव-अम्बरीष संवाद के अन्तर्गत वैष्णवधर्म निरूपण, व्रत, ज्ञान, माहात्म्य, पूजा आदि (२९-४९), च्यवन-नहुष संवाद में तुलापुरुषदानादि निरूपण, यज्ञ, आरम्भवृक्षप्रतिष्ठा, वामन की कथा, क्रियायोग, मुञ्जलोपाख्यान, शिव की कथा, दान-तप निर्णय, संग्राम प्रशंसा, रोहिणी का अष्टमी कल्प (४९-६७), वैवस्वतानुकीर्त्तन, सगरोपाख्यान, गङ्गावतरण, सूर्यवंश-

माहात्म्य, सीताशाप, विश्वामित्र यज्ञ, रामचरित्र रामायण के अनुसार (९३-१८१), श्रवणफल, अनुक्रमवर्णन तथा पुराणसमाप्ति।"

अग्निपुराण का प्रतिपाद्य विषय—

"ऋषिसूत सम्वाद, ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य, मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह आदि अवतारों का वर्णन (१-४), रामायण तथा महाभारत की कथा, बुद्ध, कल्कि अवतारों का वर्णन (५-१६), सृष्ट्युत्पत्ति, स्वायंभुव मनु, कश्यपवंशवर्णन तथा विष्णु आदि देवों की पूजाविधि (१७-२२), विविध कर्मकाण्ड विधियों की चर्चा (२३-३३), देवालयादिनिर्माण फल, मूर्त्तिस्थापना विधि, शिल्पविद्या, प्रासाद लक्षण, मूर्त्तिलक्षण, प्रतिमालक्षण, कूप, सरोवर आदि की प्रतिष्ठा (३४-७०), गणेश, शिव, अग्नि, चन्द्र आदि देवों की पूजा, दीक्षा संस्कार, अभिषेकादि कथन, नाना प्रकार की प्रतिष्ठा-विधि, गृह - नगरादि - सम्बन्धी वास्तुविद्या - विज्ञान (७१-१०६), स्वायंभुवसर्गवर्णन, भुवनवर्णन (१०७-१०८), विभिन्न तीर्थों का माहात्म्य तथा श्राद्धवर्णन (१०९-११३), जम्बूद्वीप वर्णन, ज्योतिषशास्त्र, युद्धविद्या, तान्त्रिक उपासना पद्धति आदि का वर्णन (१०८-१४९), मन्वन्तर, वर्णाश्रमधर्म, गृहस्थधर्म, अशौच, आचार, वानप्रस्थ, यतिधर्म, प्रायश्चित्त, नरक आदि वर्णन (१५०-२०७), दान, मन्त्र, सन्ध्याविधि का वर्णन (२०८-२१७), राजधर्म, स्वप्न-विज्ञान, शकुन-ज्ञान, कामशास्त्र, स्त्रीपुरुषलक्षण, रत्नादिपरीक्षा, धनुर्वेद, अस्त्रादिविद्या, व्यवहार - निरूपण, दण्डनीति, दायभाग आदि का वर्णन (२१८-२५५), कर्मकाण्ड विधि, विविध राजवंश वर्णन (२५६-२७८), आयुर्वेद-विज्ञान, अश्वविद्या, गजशास्त्र, सर्पविषादि चिकित्सा, वृक्ष-विज्ञान, बालरोग चिकित्सा का वर्णन (२७९-३००), विविधविधिविधान, त्वरिताविद्या आदि का वर्णन (३०१-३२७), छन्दःशास्त्र, शिक्षानिरूपण (३२८-३३६), काव्य, नाट्य, रस, अलङ्कार, गुण-दोषादि वर्णन (३३७-३४७), व्याकरणशास्त्र तथा कोष-वर्णन (३४८-३६७) प्रलय-वर्णन, योगचर्चा, वेदान्त, गीतासार, यमगीता, माहात्म्य वर्णन (३६८-३८३)।

इस प्रकार अग्निपुराण और वह्निपुराण दोनों के विषय-प्रतिपादन में पर्याप्त अन्तर होने से दोनों पुराण एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं। यद्यपि अग्निपुराण की कुछ प्रतियों में वह्निपुराण का भी उल्लेख मिलता है। उस दृष्टि से कुछ विद्वान्

अग्निपुराण का पर्याय वह्निपुराण मानकर दोनों की एकता सिद्ध करते हैं किन्तु वह्निपुराण एक अलग पुराण भी उपलब्ध होता है और उसका प्रतिपाद्य विषय भी प्रचलित अग्निपुराण से भिन्न है अतः वह्निपुराण एक पृथक् पुराण है। इसे उप पुराण की कोटि में रखा जा सकता है और अग्निपुराण महापुराण की कोटि में।

अग्निपुराण की श्लोक संख्या

मत्स्यपुराण[1], देवीभागवत[2] और शिवपुराण[3] के अनुसार अग्निपुराण में १६००० श्लोक हैं, श्रीमद्भागवत[4] १५४०० श्लोक बताता है, किन्तु अग्निपुराण ने स्वतः इसकी संख्या १२००० मानी है[5]। सम्प्रति उपलब्ध अग्निपुराण में ११००० से १५००० श्लोक उपलब्ध होते हैं। अग्निपुराण की प्रकाशित अप्रकाशित सभी प्रतियों में अग्निपुराण की श्लोक संख्या १२००० बताई गयी है और गणना करने पर आनन्दाश्रम (पूना) संस्करण में ११४५७ और एशियाटिक सोसाइटी (बंगाल) तथा सरस्वती यन्त्रालय और गुरुमण्डल ग्रन्थमाला कलकत्ता द्वारा प्रकाशित संस्करणों में ११००० श्लोक उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार गणना में प्राप्त तथा स्वयं अग्निपुराण की प्रतियों में निर्दिष्ट श्लोकों की संख्या ५०० से १००० तक का अन्तर मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि या तो पाण्डुलिपियों में प्रमादवश छूट गये होंगे या मुद्रण के समय प्रूफ की गलती से रह गये होंगे, हाँ यदि 'अग्निः उवाच' आदि वाक्यांशो तथा मन्त्रों की गणना कर ली जाय तो सम्भवतः श्लोकों की उक्त संख्या पूर्ण हो सकती है। इस प्रकार अग्निपुराणोक्त श्लोक संख्या और गणना के द्वारा उपलब्ध संख्या में विशेष अन्तर नहीं परिलक्षित होता।

अग्निपुराण का वैशिष्ट्य

अग्निपुराण के सम्बन्ध में विन्टरनिट्ज[6] का कथन है कि 'अग्निपुराण एक विश्वकोष है अर्थात् भारतीय वाङ्मय में अन्तर्भूत अनेक विषयों का समावेश इस

---

१. काण—संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० - ४।
२. मत्स्यपुराण—५३।२८-२९।
३. देवीभागवत—३।९।
४. शिवपुराण।
५. श्रीमद्भागवत—१२।१३।५।
६. अग्निपुराण—२७२।११।

पुराण में उपलब्ध होता है। जैसे—अग्निपुराण में विभिन्न विषयों के साथ व्याकरण कोष, काव्यशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, संस्कृति, राजनीति और कला का भी विवेचन किया गया है। वरदाचार्य[२] ने भी इस पुराण की मान्यता 'विश्वकोष' के रूप में स्वीकृत की है। इस पुराण में 'परा' और 'अपरा' नामक दो विद्याओं का प्रतिपादन किया गया है। पराविद्या ब्रह्मज्ञान को कहते हैं और अपराविद्या का अर्थ है सासांरिक ज्ञान, जिसके अन्तर्गत चारों वेद, शिक्षा, कला, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष, व्याकरण ये छः शास्त्र मीमांसा, धर्मशास्त्र, पुराण, न्याय, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, धनुर्वेद और अर्थशास्त्र आदि सभी का समावेश है। इस प्रकार परा-अपरा उभयविध विद्या का प्रतिपादन करने कारण इस पुराण का महत्त्व अन्य पुराणों की अपेक्षा अधिक है।

इसके अतिरिक्त संस्कृत वाङ्मय की काव्यशास्त्रादि परम्परा में अग्निपुराण की महती देन है। अन्य पुराणों में इस विषय का विवेचन नहीं मिलता। वस्तुतः अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय विवेचन सस्कृत काव्यशास्त्र का मूलस्रोत कहा जा सकता है। यह पुराण सर्वविद्यामय और सर्वज्ञानमय है। यह विद्यार्थियों के लिए विद्याप्रद, धर्मार्थियों के लिए धर्मप्रद, अर्थार्थियों के लिए लक्ष्मी एवं धन-सम्प्रति का प्रदाता, कामार्थियों के लिए कामनाप्रद, मोक्षार्थियों के लिए मोक्षप्रदाता, राज्यार्थियों के लिए राज्य-प्रद, पुत्रार्थियों के लिए पुत्र-पद, विजयेच्छु को विजय प्रदान करने वाला और सर्वेप्सु को सर्व-प्रदाता है। इस पुराण में तात्कालिक विविध विद्या, कला, विज्ञान तथा व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी शिक्षाएँ मिलती हैं, यही कारण है कि यह पुराण अन्य पुराणों की परम्परा से हटकर विविध विद्याओं और कलाओं के कोष के स्वरूप को धारण करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि करने वाले सम्पूर्ण विषयों का विवेचन ही इसकी मुख्य विशेषता है और इसी विशेषता के कारण इसे 'ज्ञानकोष' की महनीय उपाधि से विभूषित किया जा सकता है।

अग्निपुराण के प्रवक्ता एवं रचयिता

भारतीय परम्परा के अनुसार सभी पुराणों के प्रवक्ता महर्षि वेद व्यास माने जाते हैं, अतः अग्निपुराण के भी प्रवक्ता महर्षि वेदव्यास हैं। अग्निपुराण के अनुसार इस पुराण के प्रवक्ता अग्नि और श्रोता वसिष्ठ हैं। मत्स्यपुराण के

अनुसार अग्निदेव ने ईशानकल्प सम्बन्धी जिस ज्ञान को वसिष्ठ से कहा था, वही अग्निपुराण में व्याख्यात है[1]। किन्तु इस पुराण में ईशानकल्प का वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होता, बल्कि इस पुराण के द्वितीय अध्याय में वाराहकल्प का वृत्तान्त अवश्य प्राप्त होता है[2]। अग्निपुराण के रचना के विषय में अग्निपुराण के प्रथम अध्याय में एक विवरण प्राप्त होता है जिसके अनुसार एक बार शौनकादि सूत से कहा कि आप एक ऐसी सारवस्तु का उपदेश करें, जिसके जानने से हम सर्वज्ञ हो जायँ। तत्पश्चात् सूत ने महर्षि व्यास से श्रुत सारभूत परा और अपरा नामक दो विद्याओं की चर्चा की, जिसे अग्निदेव ने वसिष्ठ को सुनाया था और वसिष्ठ ने महर्षि व्यास को उपदेश दिया था, और व्यास ने सूतादि शिष्यों को पढ़ाया[3]। इस प्रकार सूत ने गुरु-परम्परासे परा-अपरा विद्या की प्राप्ति की थी, इस आधार पर इस पुराण के प्रथम प्रवक्ता अग्निदेव माने जाते हैं। अग्निदेव ने इस पुराण का प्रवचन वसिष्ठ को किया था और वसिष्ठ ने व्यास को तथा व्यास ने सूतादि शिष्यों को पढ़ाया। किन्तु अग्निपुराण में कुछ प्रसङ्ग ऐसे भी मिलते हैं। जिनके वक्ता एवं श्रोता भिन्न-भिन्न है। राजनीति तथा दान विवेचन के अवसर पर 'पुष्कर' को प्रवक्ता कहा गया है। इसी प्रकार आयुर्वेद के प्रवक्ता धन्वन्तरि और सुश्रुत, गजशास्त्र के पालकाप्य, अश्वशास्त्र के शालिहोत्र और व्याकरण के कात्याययन प्रवक्ता कहे गये हैं। वस्तुतः इस पुराण के प्रवक्ता का विचार इसे विश्वकोषीय रूप प्रदान करना था, इस उद्देश्य से इसमें विविध विषयों का समावेश किया गया है और उन-उन विषयों के प्राचीन आचार्यो का उल्लेख प्रवक्ता के रूप में कर दिया गया होगा। वस्तुतः अग्नि ही इस पुराण के प्रवक्ता है जिन्होंने वसिष्ठ को उपदेश दिया था और उपदेश के अवसर वर अन्य आचार्यों के विचारों को भी प्रस्तुत करना था, अतः उन लोगों के नामों की निर्देश भी कर दिया गया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वे अंश, जो अन्य आचार्यों के नाम से उल्लिखित हैं, अवश्य ही प्राचीन रहे होंगे इसी आधार पर कहा जाता है कि अग्निपुराण के ये विषय राजनीति, आयुर्वेद, व्याकरण आदि प्राचीन हैं।

---

१. अग्निपुराण, प्रथमाध्याय।

२. मत्स्यपुराण—५३।२७।

३. अग्निपुराणं—२।१७।

अग्निपुराण का रचना-काल

प्राचीन भारतीय वाङ्मय के काल-निर्धारण की समस्या बड़ी जटिल है। विभिन्न विद्वान् अलग-अलग दृष्टिकोणों से प्राचीन वाङ्मय का काल-निर्धारण करते हैं। इस प्रकार अग्निपुराण का काल निर्धारण करना भी विद्वानों के लिए एक समस्या बन गई है। यहाँ हम ऐसे आकर-ग्रन्थ के रचना-काल के सम्बन्ध में आभ्यन्तर एवं बाह्य सामग्रियों की समीक्षा के साथ-साथ प्राचीन ग्रन्थों एवं आधुनिक विद्वानों के विचारों का विश्लेषण कर समस्या का समाधान करने का प्रयास करेंगे।

अग्निपुराण और पुराणसाहित्य—पुराणकर्त्ता व्यास, जैसा कि उन्हें प्रचलित मत के अनुसार स्वीकार किया जाता है, कुरु-पाण्डवीय युद्ध के समकालिक थे। अतः पुराणों की रचना उसी काल में उन्होंने की होगी। वेदों की पाठ्य-परम्परा की भाँति पुराणों की पाठ्य-परम्परा भी पहले से प्रचलित थी। क्योंकि गुरु-शिष्यों के माध्यम से पुराणेतिहास का अध्ययन-अध्यापन चलता था। इतना ही नहीं, बल्कि वंश-परम्परा से प्राचीन इतिहास-पुराणों की रक्षा तथा प्रचार करना सूत लोगों का कर्त्तव्य था। ये सूत लोग वर्णसंकर सूत जाति के नहीं थे। ये पौराणिक सूत अलग थे जो ब्राह्मण थे (सूतस्तु पौराणिको द्विजः) और कथावाचन का कार्य करते थे। लोमहर्षण तथा उग्रश्रवा इसी वंश के थे। इन्हीं के द्वारा पुराणों के प्रवचन तथा कथावाचन की परम्परा चल रही थी। पुराणों की इस कथा-परम्परा के कारण ही कालान्तर में पुराणों के कलेवर में वृद्धि हो गई। अतः कुछ विद्वान् पुराणों की रचना किसी एक काल की न मानकर विभिन्न कालों की मानते हैं और कुछ विद्वान् इस बात के निर्दिष्टीकरण का भार अपने ऊपर लेना ही नहीं चाहते हैं कि पुराणों की रचना कब हुई, जैसा कि विभिन्न उद्धरण से ज्ञात होता है—

(१) 'पुराण किसी एक शताब्दी की रचना नहीं है, समय-समय पर उसमें नये-नये अध्याय जोड़े गये हैं। गुप्तकाल तक वे अपने पूर्ण रूप को प्राप्त कर चुके थे[१]।'

---

१. संस्कृतसाहित्य का इतिहास (बलदेव उपाध्याय, पृ० ५५)

(२) 'पुराण-काल का प्रारम्भ समय ईसवीय सन् द्वितीय शतक से अधिक अर्वाचीन नहीं माना जा सकता[1] ।'

(३) 'पुराण ईसवीय सन् के प्रारम्भिक शताब्दियों के बाद के नहीं हो सकते । पुराणों में अग्निपुराण सबसे प्राचीन है[2] ।

इस सम्बन्ध में अन्य मत भी प्राप्त होते हैं, किन्तु उनका उल्लेख करके हम इस प्रसङ्ग की कलेवर-वृद्धि नहीं करना चाहते । उपर्युक्त मतों को ही दृष्टि में रखकर हम अपनी मान्यता का विवेचन प्रस्तुत करेंगे । प्रथमतः पुराणों में समय-समय पर वृद्धि होती रही, इस कथन के समर्थन में विद्वानों ने ऐसा कोई भी विवरण प्रस्तुत नहीं किया है कि किस पुराण में किस समय पर कितने अंश की वृद्धि की गई ? और उससे पूर्व उसका क्या स्वरूप था ? अग्निपुराण की उपलब्ध पाण्डुलिपियाँ भी इस विषय पर कुछ भी प्रकाश नहीं डालतीं, जैसा कि महाभारत, रामायण, अभिज्ञानशाकुन्तल आदि की पाण्डुलिपियाँ । ऐसा लगता है कि अग्निपुराण की पाण्डुलिपियाँ अन्तिम संस्करण की ही प्रतियाँ हैं, क्योंकि उनके मौलिक स्वरूप में कुछ अन्तर दिखाई नहीं देता । हाँ, पुराणों के वे अंश अलग करके तार्किक दृष्टि से उनका पौर्वापर्यभाव निश्चित किया जा सकता है । इतना तो सत्य है ही कि इस पुराण का कलेवर प्राचीनतम है और आधुनिकतम समझे गए अंश भी उतने अर्वाचीन नहीं हैं, जितना कि उन्हें समझा जाता है ।

इस सम्बन्ध में हम अपना एक दृष्टिकोण और प्रस्तुत कर रहे हैं कि प्रारम्भ में पुराण जब कभी ग्रन्थ रूप में आये होंगे, कालान्तर में उन्हें सुरक्षित रखने के लिए समय-समय पर उनके संस्करण होते रहे होंगे । किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यह केवल तर्कमात्र है या वस्तुस्थिति ? ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि प्रथमतः पुराणों की आदि प्रति से अनेक प्रतियाँ की गई होंगी और उसके बाद उन अनेक प्रतियों से भिन्न-भिन्न लेखकों के द्वारा अलग-अलग स्थानों पर विभिन्न प्रतियाँ की गई होंगी । अतः उसमें मिलावट होना सम्भव है । इस प्रकार भिन्न-भिन्न कालखण्ड के संस्करणों में जो प्रक्षिप्त अंश

---

१. गीता रहस्य (तिलक, पृ० ५६६)

२. जर्नल ऑफ दि रायल ऐशियाटिक सोसायटी, लंदन, १९१२, पृ० २५४-२५५ (हिन्दु गणितशास्त्र के इतिहास से उद्धृत)

सम्मिलित किए गए, वे बाद की हर एक प्रतियों में एक साथ ही कैसे सम्मिलित कर दिए गए होंगे ? क्योंकि इनकी समस्त प्रतियाँ देश के विभिन्न स्थानों पर रही होंगी, तो फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है कि किसी स्थान-विशेष पर कोई संस्करण कर्त्ता इस ग्रन्थ में अपनी ओर से प्रक्षेप जोड़कर देश भर में व्याप्त उनकी एकरूपता को नष्ट करने का साहस करता ? यदि किसी दिशा में किसी व्यक्ति ने ऐसा किया भी होगा तो बहुत न्यून मात्रा में, तो क्या उसे पाठभेद समझा जाय या प्रक्षेप ? हाँ, इस सम्बन्ध में एक सम्भावना यह भी की जा सकती है कि जब कभी किसी अवसर पर प्रश्नोत्तर रूप में या व्याख्या रूप में श्रोताओं की जिज्ञासा शान्त करने या कथा को हृदयग्राही बनाने की दृष्टि से जो वार्त्ता सुनाई गई होगी, उसने कालान्तर में व्यापक रूप ले लेने के पश्चात् इस ग्रन्थ के अगले संस्करण में स्थान प्राप्त कर लिया हो। किन्तु इस प्रकार से जन-जन तक पहुँचने में कितना समय लगा होगा ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। अतः यह मानना पड़ेगा कि किसी समय राजाश्रय में विद्वत्परिषद् द्वारा कोई मान्यतम संस्करण अवश्य निकाला गया होगा जो कि समस्त देश में प्रचलित रहा।

अग्निपुराण के रचना-काल के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत म०म० काणे ने अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का समय ९०० ई० या इसके बाद सम्भवतः १०५० ई० के बाद का माना है[1]। श्री सुशीलकुमार डे अग्निपुराण के अलङ्कार प्रकरण को ९०० ई० का मध्य भाग मानते हैं[2]। डॉ० हाजरा अग्निपुराण का समय ८०० ई० के समीप कुछ अंश इसके पूर्व और कुछ इसके बाद का मानते हैं[3]। डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र का कथन है कि अग्निपुराण मुसलिम आक्रमण के पूर्व तथा तांत्रिक पूजा प्रणाली के प्रचलन के बाद ही कभी लिखा गया होगा ? एम० एन० दत्त अग्निपुराण के निश्चित समय निर्देशन के झमेले में न पड़कर केवल इतना कहते हैं कि "यह कहना कठिन है कि यह विश्वकोष कब लिखा गया, किन्तु यह तथ्य निर्विवाद सत्य है कि यह रचना मुगलों के आक्रमण के बहुत पहले की गई है[4]।" कन्हैयालाल पोद्दार अग्निपुराण का समय भरत के बाद और

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (कार्ण, पृ० ९)
२. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स (डे, पृ० ९७-९९)
३. इण्डियन कल्चर (हाजरा, भाग १२, पृ० ६८२)
४. अग्निपुराण की भूमिका (अँग्रेजी अनुवाद, पृ० ५)

भामह एवं दण्डी के पूर्व का निश्चित करते हैं[१]। डा० सुरेशमोहन भट्टाचार्य अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का रचना काल नवम शताब्दी मानते हैं[२]। श्री चन्द्रकान्त बाली का मत है कि अलङ्कारशास्त्र का प्राचीनतम स्रोत अग्निपुराण ही है। इसी प्रकार धर्मशास्त्रेतिहास, विज्ञान, शिल्पसाहित्य आदि अङ्गों का भी मूलस्रोत अग्निपुराण ही है। अतः अग्निपुराण की रचना ईसवीं प्रथम शताब्दी में अवश्य हो चुकी थी[३]।

अग्निपुराण में उल्लिखित पूर्वाचार्य एवं प्राचीनग्रन्थ—अग्निपुराण में विविध विषयों की विवेचना के सन्दर्भ में प्राचीनकाल के अनेक आचार्यों एवं ग्रन्थों का उल्लेख आता है। छन्द के सम्बन्ध में पिङ्गल[४], गजशास्त्र के सम्बन्ध में पालकाप्य[५], अश्वविद्या के सम्बन्ध में शालिहोत्र[६], आयुर्वेद के सम्बन्ध में धन्वन्तरि[७], और सुश्रुत[८], रामायण[९], और हरिवंश[१०], का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त ३८०वें अध्याय में ५८ श्लोकों में श्रीमद्भगवद्गीता का संक्षिप्त विवरण भी मिलता है[११]। इन आचार्यों और ग्रन्थों के नामोल्लेख से इतना तो निश्चित है कि ये आचार्य अग्निपुराण की रचना के समय तक परमख्याति को प्राप्त कर चुके थे और उनका मत उस समय तक अत्यन्त मान्य हो चुका था। इससे उन प्राचीन आचार्यों के साथ-साथ अग्निपुराण की प्राचीनता का स्पष्ट बोध होता है।

अग्निपुराण और शब्दाङ्कपद्धति—स्थानमान सिद्धान्त के साथ शब्दाङ्कपद्धति का आधुनिक रूप में प्रयोग सर्वप्रथम अग्निपुराण में मिलता है[१२]। जिसकी रचना ईसवीं सन् प्रारम्भिक शताब्दियों में हो चुकी थी। ध्यातव्य है कि यह सिद्धान्त प्रथम भारत में प्रचलित हुआ और बाद में लगभग ४०० ई० के बाद यह

---

१. अग्निपुराण, अध्याय १२२, १२३, १३१, १४०, १४६, ३२८-२३५
२. संस्कृत साहित्य का इतिहास (पोद्दार, पृ० ६९)
३. S. N. Bhattacharya—The Alankara Section of the Agnipurans. 1976 PP. 127-128.
४. अलङ्कारशास्त्र का आदिस्रोत-माधुरी अगस्त १९४१, पृ० ९५
५. अग्निपुराण, अध्याय ३२८
६. वही अध्याय २८६
७. वही अध्याय २८९-२९०
८. वही अध्याय २७९
९. वही
१०. वही अध्याय ५-११
११. वही अध्याय १२
१२. वही अध्याय ३८०

भारत से अरब देश को गया। इससे स्पष्ट है कि स्थानमान के साथ शब्दप्रयोग की पद्धति भारत में ४०० ईसवीं के पूर्व प्रचलित हो चुकी थी इसका सर्वप्रथम प्रयोग अग्निपुराण में मिलता है[1]। इस प्रकार यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अग्निपुराण की रचना कम से कम ज्योतिष विषय की रचना ईसापूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर द्वितीय शताब्दी के मध्य अवश्य हो चुकी थी।

अग्निपुराण और स्मृति-साहित्य—मत्स्य, वायु, ब्राह्मण आदि पुराणों के समान अग्निपुराण में भी स्मृति-कालीन सामग्री प्राप्त होती है। अग्निपुराण में राजधर्म-निरूपण के अवसर पर २५२-२५७ तक छः अध्यायों में 'व्यवहारों' का विवेचन किया गया है। इनमें से लगभग ३० श्लोक नारदस्मृति से और दो सौ अस्सी श्लोक याज्ञवल्क्य स्मृति से मिलते-जुलते हैं। किन्तु इनमें कौन-सा ग्रन्थ किस ग्रन्थ का ऋणी है? निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। यदि परम्परानुसार यह मान लिया जाय कि दोनों का उद्देश्य जन-जन में धर्म प्रचार करना था, तो दोनों के विषय-निरूपण में समानता हो सकती है और दोनों समकालिक सिद्ध हो सकते हैं।

अग्निपुराण और अमरकोश—अग्निपुराण के ३५९ से ३६६ अध्यायों में शब्दकोश का निरूपण है, जो अमरकोश से तादात्म्य रखता है। म० म० काणे महोदय ने इस सादृश्यता के आधार पर अग्निपुराण को अमरकोश का ऋणी बताया है[2]। किन्तु काणे महोदय का तर्क दुर्बल एवं प्रमाणहीन प्रतीत होता है। क्योंकि अमरसिंह ने अमरकोश के प्रारम्भ में स्वयं लिखा है कि "मैंने अन्य तन्त्रों से संग्रह कर तथा वहाँ पर वर्णित संक्षिप्त विषय का विस्तृत प्रतिसंस्कार कर नामलिङ्गानुशासन को कहता हूँ[3]" तो अमरकोश के पूर्व कौन से अन्य तन्त्र थे? जिससे ग्रहणकर अमरसिंह ने प्रतिसंस्कार किया था। इस पर काणे महोदय कुछ भी नहीं कहते। हमारे विचार से अमरसिंह का संकेत अग्निपुराण की ओर

---

१. हिन्दु गणितशास्त्र का इतिहास पृ० ४८, ५१

२. संस्कृत काव्यशास्त्र काणे इतिहास (का, पृ० ६)

३. समाहृत्यान्यतन्त्राणि संक्षिप्तैः प्रतिसंस्कृतैः।
सम्पूर्णमुच्यते वर्गैर्नामलिङ्गानुशासनम्॥ (अमरकोश १/२)

ही रहा होगा, क्योंकि इसके पूर्व अन्य तन्त्र कोई ऐसा नहीं मिलता, जिससे अमरकोश की समानता हो। अतः हम अग्निपुराण को ही अन्य तन्त्र क्यों न मान लें, जिससे अमरसिंह ने ग्रहण कर अमरकोश का प्रतिसंस्कार किया हो। इस बात की पुष्टि ललितासहस्त्र नाम के इस उद्धरण से भी होती है कि अमरकोश ने अग्निपुराण का अनुसरण किया[1]।" यह भी सम्भावना की जा सकती है कि अमरसिंह बौद्धधर्मावलम्बी[2] होने के कारण इस ब्राह्मण ग्रन्थ का नाम स्पष्ट रूप से उल्लेख न करना चाहते हों, और अन्य तन्त्र के नाम से उल्लेख किया हो। दूसरे यह भी विचारणीय है कि अमरसिंह के सम्बन्ध में एक लोकोक्ति प्रचलित है कि "अमरसिंहो हि पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत्[3]।" यह वार्त्ता एक ऐसी शङ्का उत्पन्न कर देती है कि अमरसिंह ने ही बाहर से विषयों को ग्रहण कर तथा उसे अपने अनुकूल सुव्यवस्थित कर अग्निपुराण की रचना की होगी। दोनों ग्रन्थों की वर्णन-शैली की समीक्षा के बाद यही सिद्ध होता है कि अमरसिंह ने अग्निपुराण से लेकर ही अमरकोश की रचना की होगी।

अग्निपुराण और नाट्यशास्त्र—भरतमुनिप्रणीत नाट्यशास्त्र में नाट्यशास्त्रीय विषयों का विस्तृत विवेचन है। अग्निपुराण में वर्णित नाट्यविषय नाट्यशास्त्र से साम्य रखता है। इसी समानता को देखकर काव्यादर्श के लेखक भहेश्वर ने यह प्रतिपादित किया है कि भरत ने सुकुमार राजकुमारों को स्वादु-काव्य की प्रवृत्ति के द्वारा अलङ्कारशास्त्र में प्रवृत्त कराने के लिए ही अग्निपुराण से उद्धृत कर अलङ्कारशास्त्र का प्रणयन किया है[4] इसी परम्परा के अनुयायी विद्याभूषण ने भी यही मान्य किया है कि "भरत ने वह्निपुराण में दृष्ट साहित्य-

---

१. अमरसिंहः खलु अग्निपुराणमनुसृतवान्। भास्कराचार्यः—केयूरमङ्गददोर्भूषेत्यग्निपुराणं तु भुजभूषणत्वेन अनुगमयकथनपरम्। तदनुसारित्वात् अमरसिंहोऽपि तत्पर एवेत्यदोषः।

(ललितासहस्रनामभाष्य, पृ० ३५)

२. अमरकोश, भूमिका—पृ० ६

३. वही पृ० ८

४. सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा अलङ्कारशास्त्रे प्रवर्त्तयितुमग्निपुराणा-दुद्धृत्य काव्यरसास्वादनकरणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनि प्रणीतवान्।

(संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, काणे, पृ० ४)

प्रक्रियां को लेकर नाट्यशास्त्र की रचना की[1]।" इसी परम्परा के पोषक सिल्वाँलेवी ने भी यह प्रतिपादित किया है कि नाट्यशास्त्र की कारिकाएँ अग्निपुराण से ली गई है।[2] उपर्युक्त उद्धरण से यही ज्ञात होता है कि भरत ने अग्निपुराण को अपना उपजीव्य मानकर नाट्यशास्त्र का प्रणयन किया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि व्यासकृत अग्नि के ही काव्यशास्त्रविषयक वे अध्याय होंगे, जिससे लेकर भरत नाट्यसंग्रह बनाया है। अग्निपुराण का यह एक वैशिष्ट्य भी बताया गया है कि इसमें समस्त विद्याओं का सार है।[3] किन्तु काणे महोदय इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि वृत्तियों के विवेचन में स्वयं अग्निपुराणकार ने भरत का नामोल्लेख किया है।[4] अतः अग्निपुराण से पूर्व भरतकृत नाट्यशास्त्र की सत्ता सिद्ध होती है। मेरे विचार से नामोल्लेख से ही यह कल्पना कर लेना कि नाट्यशास्त्र अग्निपुराण के पूर्व विद्यमान था, तर्कसङ्गत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि इस सम्बन्ध में काणे महोदय ने कोई प्रबल प्रमाण नहीं प्रस्तुतः किया है। दूसरे, एक ग्रन्थ में दूसरे ग्रन्थकारों के नामोल्लेख की यह प्रथा पुराणकाल में प्रचलित रही है। यही कारण है कि हर एक पुराणों में दूसरे पुराणों एवं उनके प्रवक्ताओं का नामोल्लेख आता है। एक और भी बात है कि भरत ने स्वयं नाट्यशास्त्र में वृत्तियों के निरूपण के प्रसङ्ग में भरत का नामोल्लेख किया है।[5] इससे यह समस्या और भी उलझ जाती है कि भारतीवृत्ति का सम्पादक यह 'भरत' कौन है ? जिसके मत को अग्निपुराण और नाट्यशास्त्र दोनों में उद्धृत किया गया गया है। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि दोनों ग्रन्थकारों ने किसी अन्य भरत के द्वारा प्रयुक्त 'भारती' वृत्ति का उल्लेख किया होगा। नाट्यशास्त्र के प्रमुख टीकाकार अभिनवगुप्त के कुछ सीमा तक इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि नाट्यशास्त्र के उपर्युक्त उद्धरण में 'भरतैः' बहुवचन का प्रयोग है, जिससे यह सिद्ध होता है कि

---

१. काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिर्निबबन्ध। (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, काणे पृ० ४)।

२. संस्कृत पोयटिक्स पृ० ३१।

३. विद्यासारं पुराणं यत् सर्वं सर्वस्य कारणम्। (अग्निपुराण, १/१३)

४. भरतेन प्रणीतत्वाद् भारतीरीतिष्यते। (वही, ३३९/६)

५. स्वनामधेयैः भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम तु भवेद्वृत्तिः। (नाट्यशास्त्र, २०/२५)

यह शब्द किसी व्यक्ति विशेष का बोधक न होकर सामान्य (जाति) 'नटमात्र' का बोधक है।[1] शारदातनय ने भी अपने 'भावप्रकाशन' में 'भरत' शब्द का अर्थ 'नट' परक ही किया है। अतः निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि अग्निपुराण में नाट्यशास्त्र से यह अंश उद्धृत किया गया है। बल्कि यही सिद्ध होता है कि इन दोनों 'ग्रन्थकारों' ने किसी अन्य 'भरत' द्वारा प्रयुक्त 'भारती' वृत्ति का उल्लेख किया है, जिसे आदि भरत या वृद्धभरत के नाम से सम्बोधित किया जाता है। दूसरे, नाट्यशास्त्र में पुराण का नाम भी आया है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर यह सिद्ध होता है कि भरत ने अग्निपुराण का अनुसरण किया है किन्तु यहाँ हम परम्परागत मत को ही स्वीकार करते हैं, कि—अग्निपुराण नाट्यशास्त्र के बाद का है।[2]

अग्निपुराण और भामह—अग्निपुराण में रूपक, आक्षेप, समासोक्ति, पर्यायोक्त और अप्रस्तुत प्रशंसा ये पाँचो ध्वनिमूलक अलङ्कार माने गए हैं। ये भामह के काव्यालङ्कार में प्रतिपादित लक्षणों से ज्यों के त्यों मिलते हैं:—

रूपक

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य कथ्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः॥ (अग्निपुराण ३४४/२२७)

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः॥ (काव्यालङ्कार २/२१)

आक्षेप

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषोऽभिधित्सया।
तमाक्षेपं ब्रुवन्त्यत्र..... ॥ (अग्निपुराण ३४५/१५)

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषोऽभिधित्सया।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधं यत्॥ (काव्यालङ्कार २/६८)

---

१. भरतैरिति नटैः स्वतो वशंकरं नामधेयं येषां (तैः) भरतसन्तानत्वात्तद्धिते भरताः।
—(अभिनवभारती, पृ० ९१)

२. "अग्निपुराण और नाट्यशास्त्रः एक विचार" नामक हमारा एक लेख शीघ्र प्रकाशित होने वाला है, जिसमें इस विषय पर विस्तृत विचार किया जायगा।

समासोक्ति

यत्रोक्तं गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणम् ।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षेपार्थतया तथा ॥ (अग्निपुराण ३४५/१७)

यत्रोक्तं गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः ।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षेपार्थतया यथा ॥ (काव्यालङ्कार २/७९)

पर्यायोक्त

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते । (अग्निपुराण ३४५/१८)
पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते । (काव्यालङ्कार ३/८)

अप्रस्तुत प्रशंसा

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः । (अग्निपुराण ३४५/१६)
अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा..... ॥ (काव्यालङ्कार ३/९)

इस आधार पर काणे महोदय अग्निपुराण को भामह के बाद की रचना मानते हैं और अग्निपुराण में प्रतिपादित उपर्युक्त पाँचों अलङ्कारों को भामह से लिया गया बतलाते हैं[1] । किन्तु उनका यह कथन युक्ति सङ्गत प्रतीत नहीं होता, जैसा कि निम्न समीक्षा से स्पष्ट होता है।

'रूपक' अलङ्कार का लक्षण अग्निपुराण और काव्यालङ्कार में एक-सा मिलता है, किन्तु भामह के रूपक का लक्षण अन्य से लिया गया प्रतीत होता है जैसा कि भामह ने स्वयं कहा है—

अनुप्रासः समयको रूपकं दीपकोपमे ।
इति वाचामलङ्काराः पञ्चैवान्यैरुदाहृताः ॥ (का० अ० २/४)

जब दोनों ग्रन्थकारों का रूपक का लक्षण एक समान है और भामह ने रूपक का लक्षण अन्य से लिया है तथा अग्निपुराण से अतिरिक्त अन्य किसी से भामह का रूपक लक्षण नहीं मिलता है तो यह क्यों न मान लिया जाय कि भामह ने अग्निपुराण से ही रूपक का लक्षण लिया होगा । इसी प्रकार भामह अनुप्रास अलङ्कार को अन्य मत के अनुसार उद्धृत करते हैं। अग्निपुराण में अनुप्रास अलङ्कार का विस्तृत विवेचन किया गया है और नाट्यशास्त्र में तो अनुप्रास का

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ८।

नामोल्लेख तक नहीं है। इसके अतिरिक्त भामह के पूर्व का और किसी अन्य आचार्य का अलङ्कारशास्त्र विषयक ग्रन्थ भी नहीं मिलता जिसमें अनुप्रास अलङ्कार का विवेचन किया गया हो और उससे भामह ने ग्रहण किया हो। भामह ने आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति और अतिशयोक्ति इन छः अलङ्कारों को उपमा से विशिष्ट कहा है और अग्निपुराण में भी इन अलङ्कारों को उपमा से विशिष्ट कहा गया है। अग्निपुराण में आक्षेप और समासोक्ति को ध्वनिमूलक अलङ्कार कहा गया है। भामह 'वक्रोक्ति' को समस्त अलङ्कारों का मूल मानते हैं। उनका कहना है कि वक्रोक्ति के बिना कोई अलङ्कार हो ही नहीं सकता। यहाँ तक कि वे अतिशयोक्ति को भी वक्रोक्ति ही मानते हैं और हेतु, सूक्ष्म एवं लेश को अलङ्कार नहीं मानते, क्योंकि उनमें 'वक्रोक्ति' नहीं है।[1] अग्निपुराण में 'वक्रोक्ति' को केवल शब्दालङ्कार मात्र माना गया है और 'अतिशयोक्ति' को अर्थालङ्कार मात्र। जब कि भामह दोनों को एक समान मानते हैं। इसके अतिरिक्त अग्निपुराण में 'हेतु' एक प्रमुख अलङ्कार स्वीकार किया गया है। जबकि भामह 'हेतु' को अलङ्कार मानते ही नहीं। यदि अग्निपुराण का आधार काव्यालङ्कार होता, तो भामह द्वारा प्रतिपादित प्रमुख अलङ्कारों को वे क्यों छोड़ देते ?

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि भामह ने अग्निपुराण से प्रेरणा लेकर उक्त अलङ्कारों का विवेचन किया होगा और उन्होंने अग्निपुराण का उल्लेख न करके 'अन्यैः' के द्वारा उसकी ओर सङ्केत किया हो। क्योंकि उन्होंने मेधाविन्, रामशर्मा आदि आचार्यों का नामोल्लेख पूर्वक उनके मत का निरूपण किया है और अग्निपुराण का नामोल्लेख न करना केवल व्यक्तिगत रागद्वेष कहा जा सकता है। भामह 'काव्यालङ्कार' के प्रारम्भ में यह प्रतिज्ञा करते हैं कि 'अन्य विद्वानों के शास्त्रीय ग्रन्थों का अवलोकन कर काव्य प्रणयन में प्रवृत्त होना चाहिए[2]।

---

१. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥

हेतुः सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥ (काव्यालङ्कार २/८५-८६)

२. विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः (काव्यालंकार १/१०)

इससे यह सिद्ध होता है कि भामह अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों से अवश्य प्रभावित रहे हैं। दूसरे अलंकारों के सम्बन्ध में उनका कहना है कि मैंने अनेक ग्रन्थों का परिशीलन कर उनका स्वयं विचार किया है और अपने द्वारा रचे गए उदाहरणों से ही मैंने अलङ्कारों का निरूपण किया है[1]। इससे भी सिद्ध होता है कि उन्होंने अलङ्कारों को अन्य ग्रन्थ से भी संग्रहीत किया है। भामह लक्षण और स्वयंकृत उदाहरणों के द्वारा अलङ्कारों का विवेचन करते हैं; जबकि अग्निपुराण में केवल लक्षणमात्र दिए गये हैं। यदि अग्निपुराण का आधार भामह का काव्यालङ्कार होता तो वे अलङ्कारों के उदाहरणों को क्यों नहीं प्रस्तुत करते ? इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भामह के काव्यालङ्कार के पूर्व अग्निपुराण अवश्य विद्यमान था। जिसकी छांया काव्यालङ्कार पर लक्षित होती है।

अग्निपुराण और दण्डी—अग्निपुराण में निर्दिष्ट रूपक, उत्प्रेक्षा अपह्नुति, विभावना, विशेषोक्ति और समाधि अलङ्कारों के लक्षण अग्निपुराण और काव्यादर्श में एक-से मिलते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पद एवं वाक्यांशों में भी समानता पाई जाती है—

रूपक

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमेव वा। (अग्निपुराण ३४४/२३)

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते। (काव्यादर्श २/६६)

विभावदा

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्या यत्किञ्चित् कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना॥(अग्निपुराण ३४४/२७-२८)

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्या यत्किञ्चित् कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्य सा विभावना॥ (काव्यादर्श २/१९९)

उत्प्रेक्षा

अन्यथोपस्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य च।
अन्यथा मन्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते॥ (अग्निपुराण ३४४/२४-२५)

अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा।
अन्यथोत्प्रेक्षते तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा॥ (काव्यादर्श २/२२१)

---

३. काव्यालङ्कार १/९५-९६।

विशेषोक्ति

गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम् ।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरुच्यते ॥ (अग्निपुराण ३४४/२६-२७)

गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम् ।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥ (काव्यादर्श २/३२३)

अपह्नुति

अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम् । (अग्निपुराण ३४५/१८)

अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम् । (काव्यादर्श २/३०४)

समाधि

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र सा समाधिरिह स्मृता ॥ (अग्निपुराण ३४५/१३)

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र सा समाधिः स्मृतो बुधैः ॥ (काव्यादर्श १/९३)

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली । (अग्निपुराण ३३७/६)

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली । (काव्यादर्श १/१०)

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरित द्विधा ।
सा विद्यानौस्तितूर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम् ॥
(अग्निपुराण ३३७/२१-२२)

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ।
सा विद्या नौस्तितूर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम् ॥ (काव्यादर्श १/११-१२)

उपर्युक्त आधार पर काणे महोदय अग्निपुराण को काव्यादर्श का ऋणी मानते हैं। किन्तु काणे महोदय की यह कल्पना युक्तिसंगत न होने के कारण उपादेय नहीं प्रतीत होती। काणे महोदय के उपर्युक्त मत के खण्डन में कन्हैयालाल पोद्दार ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया है—

अग्निपुराण में 'सम' नामक एक उभयालंकार माना गया है। उसके भेदों में आक्षेप, समासोक्ति, अपह्नुति और पर्यायोक्त ये चार अलङ्कार निर्दिष्ट हैं, जिसे ध्वनिमूलक अलङ्कार कहा गया है। किन्तु काव्यादर्श में 'सम' नामक कोई अलङ्कार नहीं है। और आक्षेप, समासोक्ति, अपह्नुति, पर्यायोक्त ये चार स्वतन्त्र

अलङ्कार माने गये हैं। अग्निपुराण में केवल तेईस अलङ्कारों का विवेचन किया गया है, जबकि काव्यादर्श में सैंतीस अलंकार निर्दिष्ट किए गए हैं। अग्निपुराण में उपमा के बाईस भेद बताये गये हैं और काव्यादर्श में उपमा के बत्तीस भेद निरूपित हैं। उनमें से तेरह अलंकारों के नामों में समानता है और पाँच अलंकारों के लक्षण एक-से मिलते हैं। इसके अतिरिक्त चार भेद ऐसे हैं, जिनका काव्यादर्श में नामोल्लेख तक नहीं है। अग्निपुराण में 'अतिशयोक्ति' को एक सामान्य अलंकार माना गया है, जबकि काव्यादर्श में 'अतिशयोक्ति' को समस्त अलंकारों में श्रेष्ठ बताया गया है। इसी प्रकार अग्निपुराण में 'श्लेष' अलंकार का नामोल्लेख तक नहीं है, जबकि काव्यादर्श में 'श्लेष' को प्रमुख अलंकार माना गया है। अग्निपुराण में अलकारों की केवल परिभाषाएँ दी गई हैं और काव्यादर्श में परिभाषाओं के साथ-साथ उदाहरण भी प्रस्तुत किये गए हैं। अग्निपुराण में केवल 'ज्ञापक हेतु' अलकार का उदाहरण दिया गया है। और काव्यादर्श में 'हेतु' अलंकार का पचीस कारिकाओं में स्पष्ट किया गया है[1]।"

अग्निपुराण में शब्दगत सात, अर्थगत छः और उभयगत छः कुल उन्नीस गुणों का विवेचन किया गया है। किन्तु दण्डी ने काव्यादर्श में केवल वैदर्भ मार्ग के दस गुण बताये हैं। अग्निपुराण में 'दोष' के वक्तृगत, वाचकगत और वाक्यगत तीन भेद किए गए हैं, किन्तु दण्डी का दोष निरूपण सर्वथा विलक्षण है। दण्डी दस दोषों का ही विवेचन करते हैं। इस प्रकार दोनों के रस-निरूपण में भी भिन्नता है। अग्निपुराण में रस के स्वरूप एवं उनके भेदोपभेदों का विस्तृत विवेचन किया गया है जबकि काव्यादर्श में 'रस' को एक अलंकारमात्र स्वीकार किया गया है जो भामह की परम्परा के अनुसार है।

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों की तुलनात्मक समीक्षा के पश्चात् यह प्रतीत होता है कि काव्यादर्श से अग्निपुराण में कुछ भी नहीं लिया गया है, बल्कि काव्यादर्श ही अग्निपुराण का ऋणी है। क्योंकि यदि अग्निपुराण में काव्यादर्श से अलङ्कारादि लिये गए होते तो वे अलङ्कार जिन्हें दण्डी प्रमुख अलङ्कारों में परिगणन करते हैं उन्हें अग्निपुराण में क्यों छोड़ दिया जाता ? दूसरे, अग्निपुराण में जिन विषयों का संक्षिप्त विवेचन है, काव्यादर्श में उनका विस्तृत विवेचन किया गया है। तीसरे, दण्डी ने काव्यादर्श के प्रारम्भ में ही लिख दिया है कि "मैंने पूर्व शास्त्रों से संग्रह

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास—कन्हैयालाल पोद्दार।

कर अपना ग्रन्थ लिख रहा हूँ[1]।" यहाँ पर 'अन्यशास्त्र' से अग्निपुराण का ही ग्रहण हो सकता है। क्योंकि भामह और दण्डी दोनों ने ही अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है और कहीं-कहीं उनके मत की आलोचना भी की है। इससे प्रतीत होता है कि उनके पूर्व अनेक आचार्यों के काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ विद्यमान थे। उनमें एक अग्निपुराण भी रहा होगा। जैसा कि अग्निपुराण का बहुत-सा विषय दोनों के ग्रन्थों में मिलता है। अतः अग्निपुराण भामह और दण्डी से पूर्व का प्रतीत होता है।

अग्निपुराण और आनन्दवर्धन—अग्निपुराणकार ने पर्यायोक्त, अपह्नुति, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा और आक्षेप इन पाँच अलंकारों में 'ध्वनि' का अन्तर्भाव किया है[2]।" इस आधार पर काणे महोदय अग्निपुराण में निरूपित 'ध्वनि' को 'ध्वन्यालोक' से प्रभावित मानते हैं[3]। किन्तु काणे महोदय का यह कथन तथ्यहीन प्रतीत होता है क्योंकि आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में स्वयं इन अलंकारों की ध्वन्यात्मकता का खण्डन किया है[4]। यदि अग्निपुराण का आधार ध्वन्यालोक होता तो अग्निपुराणकार ध्वन्यालोक में खण्डित इन अलंकारों की ध्वनि के रूप में मान्यता क्यों देते? इससे भी हमारे ही मत की पुष्टि होती है कि ध्वनिकार ने अग्निपुराण में निर्दिष्ट उपर्युक्त पाँचों अलंकारों की ध्वन्यात्मकता का खण्डन किया हैं। यही नहीं, बल्कि ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक में अग्निपुराण से दो श्लोक भी ज्यों के त्यों उद्धृत किए हैं।[5] इन दोनों श्लोकों के पूर्व ध्वनिकार ने "तथा चेदमुच्यते"—यह लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि ध्वनिकार ने इन दोनों श्लोकों को अन्य ग्रन्थ से उद्धृत किया है और यह ग्रन्थ 'अग्निपुराण' ही हो सकता है, क्योंकि अग्निपुराण में ही ये दोनों श्लोक मिलते हैं।

---

१. पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च। (काव्यादर्श १/२)

२. अग्निपुराण (अध्याय ३४५/१४,१८)।

३. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (पृ० ९-१०)।

४. ध्वन्यालोक (प्रथम उद्योत)।

५. तथा चेदमुच्यते—
अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स चेत् कविर्वीतरागः नीरसं काव्यमेव तत्॥
(अग्निपुराण ३३९/१०-११ तथा ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत)

अग्निपुराण और विष्णुधर्मोत्तरपुराण—डा० सुशील कुमार दे विष्णुधर्मोत्तरपुराण का समय ४०० ई० के पश्चात् और ५०० ई० के पूर्व मानते हैं[1]। किन्तु काणे महोदय विष्णुधर्मोत्तर पुराण का रचना-काल ५७५-६५० ई० मानते हैं[2]। इनमें डा० दे का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है; क्योंकि उन्होंने अनेक आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर विष्णुधर्मोत्तर पुराण का रचनाकाल नाट्यशास्त्र के बाद और भट्टि, भामह तथा दण्डी से पूर्व ४०० ई० के बाद ५०० ई० के पूर्व निर्धारित किया है। विष्णुधर्मोत्तर तथा अग्निपुराण दोनों पौराणिक ग्रन्थ हैं और दोनों की विश्वकोष के रूप में मान्यता है किन्तु विष्णुधर्मोत्तर पुराण एक उपपुराण है जबकि अग्निपुराण की महापुराणों में गणना है। इससे अग्निपुराण की श्रेष्ठता एवं ज्येष्ठता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त दोनों के प्रतिपाद्य विषयों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि विष्णुधर्मोत्तरपुराण में बहुत से विषय अग्निपुराण से लिये गए हैं। यहाँ एक-दो उदाहरण दिये जा रहे हैं। जैसे अग्निपुराण में काव्य को शास्त्र और इतिहास से भिन्न बताया गया है, विष्णुधर्मोत्तरपुराण (अध्याय १५) में भी उसी प्रकार काव्य को शास्त्र और इतिहास से पृथक् प्रतिपादन किया गया है। अग्निपुराण में अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत यमक का विवेचन है, विष्णुधर्मोत्तर पुराण में यमक को अलग अलंकार माना गया है; किन्तु अग्निपुराण में यमक का जो लक्षण दिया गया है वह प्राचीनतम है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में अग्निपुराण के अनुसार ही अनुप्रास एवं यमक अलंकारों का विवेचन है। इस प्रकार दोनों के तुलनात्मक समीक्षा के पश्चात् अग्निपुराण की प्राचीनता सिद्ध होती है। यतश्च विष्णुधर्मोत्तर का रचना काल ४०० ई० से ५०० ई० के मध्य माना जाता है अतः अग्निपुराण का रचनाकाल इससे पूर्व तृतीय-चतुर्थ शताब्दी के मध्य मानना युक्तिसगत प्रतीत होता है।

अग्निपुराण और अन्य शास्त्रीय ग्रन्थ—भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में स्पष्ट रूप से तो 'अग्निपुराण' का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उनके द्वारा विवेचित विषयों को अपने ग्रन्थ का आधार अवश्य बनाया है। सरस्वतीकण्ठाभरण में बहुत से विषय अग्निपुराण से लिए गए हैं और उनकी विवेचन शैली अग्निपुराण जैसी

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स—यस० के० डे०, पृ० ९८-९९।

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—पी० वी० काणे, पृ० ९०।

है।[1] अभिनवगुप्त (ग्यारहवीं शताब्दी) ने अपने 'ध्वन्यालोकलोचन' में अग्निपुराण से निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत किया है[2]। अल्बेरुनी (ग्यारहवीं शताब्दी) की "अल्बेरुनी का भारत" नामक पुस्तक में पुराणों की सूची दी हुई है, जिसमें अग्निपुराण का उल्लेख है[3]। गौड़ाधिप बल्लालसेन (बारहवीं शताब्दी) ने 'अद्भुतसागर' में अग्निपुराण का उल्लेख किया है[4]। शारदातनय (तेरहवीं शताब्दी) ने अपने "भावप्रकाशन" नामक ग्रन्थ में अग्निपुराण के मतों के विवेचन के साथ-साथ अग्निपुराणकार व्यास का नामोल्लेख भी किया है[5]। विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में अग्निपुराण का बड़े गौरव के साथ उल्लेख किया है[6]। इन विवरणों से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि 'अग्निपुराण' का अस्तित्व ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व अवश्य विद्यमान था।

अग्निपुराण के अन्तरङ्ग प्रमाणों पर यदि हम विचार करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि अग्निपुराण में भाषा की दृष्टि से काव्य के दो प्रकार बताये गये हैं— संस्कृत और प्राकृत[7]। अपभ्रंश को अग्निपुराण में काव्यभेद के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। भामह अपभ्रंश को काव्य का तीसरा भेद स्वीकार करते हैं[8]। अपभ्रंश का उदय लगभग छठी शताब्दी माना जाता है। अतः स्पष्ट होता है कि छठी शताब्दी के पूर्व अग्निपुराण का अन्तिम संस्करण हो चुका था। स्थूल दृष्टि से यदि अग्निपुराण में आये हुए विषयों की ओर दृष्टि-क्षेप किया जाय, तो स्पष्ट होता है कि अग्निपुराण एक वैष्णव पुराण है। इसलिए "सर्गश्च प्रतिसर्गश्च....." इन अनुक्रम को छोड़कर इसमें विष्णु के दशावतारों विशेषकर रामावतार एवं कृष्णावतार का प्रारम्भ में ही वर्णन किया गया है। वैष्णव सम्प्रदाय का पुनरुद्धार

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण—अध्याय ५।

२. अभिधेयेन सारूप्यात् सामीप्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मताः॥
—अग्निपुराण ३/४५११-१२ तथा ध्वन्यालोकलोचन—प्रथम उद्योत।

३. अल्बेरुनी का भारत—पृष्ठ ३६-३७।

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—पृ० ११।

५. भावप्रकाशन। (पृ० २, ६९, २५१)।

६. काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेप्युक्तम्॥ (साहित्यदर्पण, पृ०-४)।

७. अग्निपुराण (३३७-८)।

८. काव्यालङ्कार (भामह-१/१६)।

गुप्तकाल में ही हुआ था, ऐसा अन्य प्रमाणों से भी ज्ञात होता है[1]। यद्यपि कुछ अन्य पुराण भी वैष्णव पुराण माने जाते हैं किन्तु उन सभी पुराणों का संस्करण गुप्तकाल में ही हुआ है ऐसा माना जाता है।

अग्निपुराण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसमें तान्त्रिक आगमों का प्रभाव अधिक मात्रा में पड़ा है[2]। यद्यपि आथर्वण अभिचार-मन्त्रों का प्रचार प्राचीन काल से ही राजनीति में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है, तथापि अग्निपुराण का तान्त्रिक भाग बौद्धकाल के तान्त्रिक प्रचार से साम्य रखता है। योनिपूजा आदि वामपन्थ का निर्देश भी इस ग्रन्थ में मिलता है। बौद्धों का उच्छेद वैदिक कर्मकाण्ड के पुनरुत्कर्ष के बाद हो गया था। यह समय पाँचवीं शताब्दी के करीब माना जाता है। अतः अग्निपुराण का अस्तित्व इसके पूर्व का सिद्ध होता है।

मनुस्मृति की अपेक्षा अग्निपुराण तथा अन्य स्मृतिभागों में जो परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होता है उससे प्रतीत होता है कि उस समय की सामाजिक परिस्थिति अत्यन्त नीतिभ्रष्ट तथा निकृष्ट-सी हो गई थी। अग्निपुराण में प्राप्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि उस समय विधवा-विवाह का प्रचलन समाज में व्याप्त था और प्रतिलोम विवाह भी होता था। विधवा होने पर अथवा पति के सन्यास ले लेने पर स्त्रियाँ अन्य पुरुष के साथ विवाह कर सकती थीं। पति के मरने पर देवर के साथ विवाह कर सकती थीं, और देवर के न होने पर अपनी इच्छा से किसी भी पुरुष के साथ विवाह कर सकती थीं[3]। अग्निपुराण के अनुसार स्त्रियाँ सदैव पवित्र रहती थीं। वह जार (उपपति) के साथ संसर्ग करने पर भी दूषित नहीं होती थीं[4]। यहाँ तक कि असवर्ण के साथ संसर्ग करने पर यदि गर्भ रह जाता था, तो

---

१. गुप्तकालीन वैष्णव स्मारकों की पुराणिका (दे० रा० पाटिल)।
बी० डी० सी० आर० आई०, भाग २,१९४०-४१, १४८-१६५ पी० पी०।

२. अग्निपुराण, अध्याय २१, २५, २७, ३३, ३४, ७४, ७८, ८२, ९२, १४२, १४८ आदि।

३. नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥
मृते तु देवरे देयात् तदभावे यथेच्छया। (अग्निपुराण १५४/५-६)

४. न स्त्री दुष्यति जारेण। (अग्निपुराण १६५/६)
नैताः दुष्यन्तिः केनचित्॥ (वही, १६५/१९)

वह शल्यमोचन के बाद शुद्ध हो जाती थीं[1]। ऐसा लगता है कि बौद्धों को हिन्दू समाज में अन्तर्भाव करने की दृष्टि से बाह्य-आचरण को संस्कारित करने का प्रयत्न भी इसमें अनिवार्य रूप से किया गया होगा। यह समय गुप्तकाल के आस-पास का प्रतीत होता है। अतः गुप्तकाल में उसका अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह मानना पड़ता है कि अग्निपुराण का प्रचलित संस्करण गुप्तकाल का ही है और गुप्तकाल तृतीय शताब्दी से पंचम शताब्दी के मध्य माना जाता है। अतः अग्निपुराण के संस्करण का समय चतुर्थ शताब्दी के लगभग होना चाहिए। तभी तो भामह और दण्डी उससे प्रभावित हुए होंगे। अग्निपुराण की हस्तलिखित प्रतियों से यह ज्ञात होता है कि अग्निपुराण में प्रक्षिप्त अंश प्रायः प्राप्त नहीं हैं। भिन्न-भिन्न हस्तलिखित प्रतियों में जो अन्तर पाया जाता है, उसे पाठभेद या अशुद्धिजन्य अन्तर कहा जा सकता है। यद्यपि ये पाण्डुलिपियाँ सोलहवीं शताब्दी के पहले की नहीं हैं, फिर भी इन प्रतियों के विभिन्न स्थानों से प्राप्त होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि ये सभी प्रतियाँ किसी एक ही प्रति से प्रतिलिपि की गई होंगी। अतः हम यह नहीं कह सकते कि इस पुराण में गुप्तकालीन अन्तिम संस्करण के बाद बहुत से प्रक्षिप्त अंशों का समावेश किया होगा। म० म० काणे तथा सुरेन्द्रनाथ दीक्षित आदि विद्वान् नाट्यशास्त्र का समय तृतीय शताब्दी से पूर्व का मानते हैं। चूँकि अग्निपुराण के अन्तिम संस्करण का सम्पादन नाट्यशास्त्र के समकालिक या इससे कुछ बाद का होगा। अतः अग्निपुराण का समय तृतीय-चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना जा सकता है।

अग्निपुराण के प्रकाशित और अप्रकाशित ग्रन्थ

प्राचीनकाल में हर प्रकार के साहित्य के प्रकाशन एवं प्रसारण की एक ही पद्धति थी और उस पद्धति में साहित्य को सुरक्षित रखने का उत्तरदायित्व धर्म-प्राण राजाओं, श्रेष्ठियों, मनीषियों एवं ऋषियों आदि विशिष्ट व्यक्तियों पर ही था,

---

१. असवर्णेन यो गर्भः स्त्रीणां योनौ निषिच्यते।
अशुद्धा तु भवेन्नारी यावच्छल्यं न मुञ्चति॥
निःसृते तु ततः शल्ये रजसा शुध्यते ततः।
ध्यानेन सदृशं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम्॥ —(अग्निपुराण १६५/२०-२१)

किन्तु इस यन्त्रयुग में यह उत्तरदायित्व हम सभी लोगों पर है, फिर भी हम देखते हैं कि हमारा ध्यान उस ओर उतना नहीं गया, जितना होना चाहिए था। जबसे मुद्रणकला का आविष्कार हुआ तब से आजतक इस दिशा में हमारी जितनी प्रगति आवश्यक थी, उतनी नहीं हो सकी। पुराणवाङ्मय की ओर तो हमारा ध्यान बहुत ही कम गया है। यही कारण है कि 'अग्निपुराण' जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का मुद्रण एवं प्रकाशन उतना नहीं हो सका। इस समय अग्निपुराण की जितनी मुद्रित प्रतियाँ विभिन्न भाषाओं एवं लिपियों में उपलब्ध है उनकी सख्या ग्यारह है किन्तु वे सभी उपलब्ध नहीं है। केवल छः प्रतियाँ ही उपलब्ध हैं। जिनका संग्रह कर मैंने स्वयं अध्ययन किया है।

प्रकाशित संस्करण

(१) अग्निपुराण का सर्वप्रथम मुद्रण एवं प्रकाशन एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल द्वारा विक्रमी सम्वत् १९३३ में किया गया था। इसके सम्पादक श्रीराजेन्द्रलाल मित्र हैं। यह ग्रन्थ पूर्ण एवं तीन भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में ११४ अध्याय, द्वितीय में ११५-२६८ अध्याय और तृतीय भाग में शेष २६९-३८२ अध्याय हैं। इस संस्करण में कुल ३८२ अध्याय और १११०० श्लोक हैं। इस संस्करण में ११ पाण्डुलिपियों का उपयोग कर शुद्ध संस्करण निकाला गया है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(२) द्वितीय संस्करण सरस्वती यन्त्रालय, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित है जिसका सम्पादन जीवानन्द विद्यासागर ने किया है। इसका प्रकाशन १८८२ ई० में हुआ है। इसमें कुल ३८२ अध्याय और १११०० श्लोक है और लिपि देवनागरी है।

(३) तृतीय संस्करण वङ्गवासी स्टीम यन्त्रालय, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित है। इसका सम्पादन पञ्चानन तर्करत्न ने किया है। इसमें कुल ३८३ अध्याय है। यह १८९२ ई० में प्रकाशित है।

(४) चतुर्थ संस्करण आनन्दाश्रम, पूना से १९०० ई० में देवनागरी लिपि में प्रकाशित है, इस संस्करण के प्रकाशक श्री हरनारायण आप्टे हैं। इसमें कुल ३८३ अध्याय और ११४५७ श्लोक है। इसमें तीन पाण्डुलिपियों का उपयोग किया गया है।

(५) पञ्चम संस्करण बेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई से खुले पत्रों में देवनागरी लिपि में प्रकाशित है। यह आनन्दाश्रम से प्रकाशित संस्करण पर आधारित है।

(६) षष्ठ संस्करण गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता द्वारा १९५७ ई० में देवनागरी लिपि में प्रकाशित है। इसके प्रकाशक मनसुखराय भोर है। इसमें ३८२ अध्याय और १११०० श्लोक हैं।

(७) सप्तम संस्करण बङ्गवासी स्टीम यन्त्रालय, कलकत्ता द्वारा बंगला सन् १३१४ में बंगला लिपि में प्रकाशित है। इसमें ३८३ अध्याय और ७९९ पृष्ठ हैं। इसका बंगला भाषा में अनुवाद भी किया गया है। अनुवादक है भी तारानाथ काव्यतीर्थ। श्री पञ्चानन तर्करत्न ने बङ्गवासी प्रेस से जो संस्करण देवनागरी लिपि में प्रकाशित किया है, उसी का बंगला भाषा में अनुवाद है।

(८) अष्टम संस्करण आङ्गल भाषा में अनूदित है। इसके अनुवादक भी एम० एन० दत्त हैं।

उपर्युक्त मुद्रित संस्करणों में एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल द्वारा प्रकाशित संस्करण सबसे प्राचीन है। सरस्वती यन्त्रालय तथा गुरुमण्डल ग्रन्थमाला कलकत्ता द्वारा प्रकाशित दोनों संस्करण एशियाटिक सोसाइटी बंगाल द्वारा प्रकाशित संस्करण के आधार पर प्रकाशित है, क्योंकि इन तीनों संस्करणों में ३८२ अध्याय एवं १११०० श्लोक हैं और इनके पाठभेदों में भी विशेष अन्तर लक्षित नहीं होता। इसी प्रकार आनन्दाश्रम, पूना से प्रकाशित संस्करण के आधार पर ही बेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई वाला संस्करण प्रकाशित हुआ होगा, क्योंकि दोनों में ३८३ अध्याय और लगभग ११५०० श्लोक है।

इस प्रकार अग्निपुराण के मुद्रित संस्करणों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम कलकत्ता संस्करण और दूसरा पूना सस्करण। इन दोनों संस्करणों के आधार भिन्न-भिन्न पाण्डुलिपियां तैयार की गईं होगी। जैसाकि पूना वाले सस्करण के सम्बन्ध में ज्ञात हुआ है कि यह संस्करण तीन पाण्डुलिपियों और तीन मुद्रित संस्करणों के आधार पर प्रकाशित हुआ है। ये पाण्डुलिपियाँ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल वाली पाण्डुलिपियों से भिन्न प्रतीत होती है।

अप्रकाशित अग्निपुराण

अग्निपुराण की पाण्डुलिपियाँ देश के विभिन्न स्थानों पर प्राप्त होती हैं। इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, लन्दन के पुस्तकालयाध्यक्ष से पत्र व्यवहार करने पर उन्होंने केवल पाण्डुलिपि ही नहीं भेजी, किन्तु 'कौटलोगुरु कैटलोगोरम्' के आधार तेईस अन्य स्थानों के पते भी दिये, जहाँ पर अग्निपुराण की पाण्डुलिपियाँ विद्यमान थी। उनका विवरण निम्न प्रकार है—

१. आक्सफोर्ड—बोलयेन लाइब्रेरी, आक्सफोर्ड।
२. अलवर—लाइब्रेरी आफ द महाराज आफ अलवर।
३. कलकत्ता—(१) लाइब्रेरी आफ द एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल।
(२) संस्कृत साहित्य परिषद्, कलकत्ता।
४. ग्वालियर—मातृभूमि कार्यालय, ग्वालियर।
५. जोधपुर—आर्कोऑलाजिकल विभाग, जोधपुर।
६. ढाका—लाइब्रेरी आफ द यूनिवर्सिटी, आफ ढाका।
७. तञ्जौर—सरस्वती महाल लाइब्रेरी, तञ्जौर।
८. त्रिवेन्द्रम्—केरल विश्वविद्यालय, लाइब्रेरी, त्रिवेन्द्रम्।
९. पूना—(१) लाइब्रेरी आफ आनन्दाश्रम।
(२) भारतीय इतिहास, संशोध मण्डल।
(३) भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इस्टीट्यूट।
(४) माण्डलिक लाइब्रेरी, फर्गुसन कालेज।
१०. पेरिस - बिब्लिद्योतेक नास्योनाल, पेरिस।
११. बनारस—सरस्वती भवन, लाइब्रेरी बनारस कालेज।
१२. बम्बई—लाइब्रेरी आफ दि बम्बई ब्राञ्च आफ दि एशियाटिक सोसाइटी।
१३. बीकानेर—अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर।
१४. मद्रास—गवर्नमेण्ट ओरियन्टल मैनस्क्रिप्टस लाइब्रेरी।
१५. मैसूर—लाइब्रेरी आफ दि म० आफ शारदापीठ, शृङ्गेरी, मैसूर।
१६. लण्डन—इण्डिया आफिस लाइब्रेरी।
१७. लाहौर—लालचन्द रिसर्च लाइब्रेरी डी० ए० वी० कालेज, लाहौर।
१८. राजशाही—वीरेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही।
१९ शान्तिनिकेतन—विश्वभारती पुस्तकालय, शान्तिनिकेतन।

इण्डिया आफिस लाइब्रेरी लण्डन के पुस्तकाध्यक्ष के निर्देशानुसार मैंने उपर्युक्त सभी पुस्तकालयों से अग्निपुराण की पाण्डुलिपियाँ मगाँने के लिए पत्र व्यवहार किया तो पता चला कि कुछ पुस्तकालयों में इस समय पाण्डुलिपियाँ ही नहीं हैं और कुछ संस्थाएँ ही इस समय नहीं रह गई तथा कुछ संस्थाएँ पाण्डुलिपियाँ भेजने में असमर्थता प्रकट की, और कुछ संस्थाओं ने पाण्डुलिपियाँ भेजकर मुझे उपकृत किया है, तदर्थ मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। जिन संस्थाओं ने मुझे पाण्डुलिपियाँ प्रदान की हैं उनका विवरण निम्न प्रकार है—

१—इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, लण्डन से प्राप्त पाण्डुलिपि। क्रम संख्या आर० एस० ३५ डब्लू ४ आर० आर० २४ बी० लसेन नील बि० ल० १७१४ लिपि बंगला है। यह पाण्डुलिपि पूर्ण है।

२—भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीटयूट, पूना से प्राप्त चार पाण्डुलिपियाँ इनका क्रमांक क्रमशः १६६, ५८, २० तथा ६० है। ये सभी देवनागरी लिपि में है। इनमें तीन पाण्डलिपियाँ पूर्ण और चौथी पाण्डुलिपि अपूर्ण है।

३—सरस्वती भवन लाइब्रेरी, संस्कृत यूनिवर्सिटी, बनारस से प्राप्त तीन पाण्डुलिपियाँ। इनका क्रमाङ्क क्रमशः १५८१२, १५७६५, १४४६८ है। इनमें प्रथम क्रमाङ्क १५८१२ पूर्ण है और अन्य दोनों अपूर्ण है। सभी देवनागरी लिपि में है। इनके अतिरिक्त काव्यप्रभावृत्ति सहित आग्नेयालङ्कारशास्त्र की प्रति सं० ५७ लेखनकाल बंगला सन् १२९२ लिपि देवनागरी।

४—एशियाटिक सोसाइटी बम्बई से प्राप्त पाण्डुलिपि। क्रमाङ्क ८९२ और लिपि देवनागरी है।

५—मद्रास विश्वविद्यालय से प्राप्त पाण्डुलिपि। क्रम संख्या २१०६ और लिपि तामिल है। यह अपूर्ण है और इसका पाठ अत्यन्त अशुद्ध है।

६—डिपार्टमेन्ट आफ ओरियण्टल लाइब्रेरी, आक्सफोर्ट। क्रमाङ्क १२९ लिपि बंगला है। यह १८२१ ई० में प्रति की गई है।

७—विविलओतेक वास्योनाल की पाण्डुलिपि। क्रमांक ४०८ व ४०९ लिपि बंगला, लेखनकाल विक्रमी सम्बत् १८८६ पन्ना २९१ साइज १९१० × ५५ मिलीमीटर है।

पुराणवाङ्मय के अध्ययन के लिए प्रत्येक पुराण की संशोधित एवं पाठ-संग्राहक आवृति प्रकाशित होना आवश्यक है। इस दृष्टि से मैंने अग्निपुराण के कुछ अशों का संशोधित आवृत्ति तैयार करने का प्रयास किया है। ऐसा कहा जाता है कि हमारा बहुत-सा साहित्य नष्ट हो गया है। जिनका उद्धार शुङ्गकाल तत्पश्चात् गुप्तकाल में हुआ। इसके पश्चात् पुराणों का पुनरुज्जीवन काल पृथ्वीराज चौहान का समय माना जाता है। किन्तु किसी भी पुराण को (श्रीमद्भागवत को छोड़कर) प्राचीनतम पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं होती। प्रायः पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद की ही पाण्डुलिपियाँ सर्वत्र मिलती हैं। लोक-प्रवाद है कि पुराणवाङ्मय में अधिकतर अनेक प्रक्षेप प्रविष्ट हो गये हैं। इस दृष्टि से अनेक पाण्डुलिपियों का संग्रह कर तथा उपलब्ध पाठों का समीक्षा कर मूलपाठों की

संशोधित आवृत्ति प्रकाशित करना आवश्यक है। उपलब्ध पाण्डुलिपियों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर तथा सूचि-ग्रन्थों में अग्निपुराण के हस्तलिखित प्रतियों का विवरण देखने पर भी अपेक्षाकृत प्रक्षेप तथा विपुल पाठ-वैविध्य नहीं मिल सका है। मैंने समीक्षात्मक एवं संशोधित आवृत्ति तैयार करने के लिए जिन पाण्डुलिपियों तथा प्रकाशित संस्करणों का उपयोग किया है उनका विवरण निम्न प्रकार है—

(क) भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना—हस्तलिखित अग्निपुराण, क्रमसंख्या १६६ आफ १८९२-९५, पन्ना (फोलियो) ४०२ पन्ना ५० तथा ३७५ द्विरावृत्त तथा पन्ना १२२, १२३, ३८१, ३८२ नहीं है। पूर्णश्लोक संख्या ११५०० लेखनकाल विक्रमी सम्वत् १८१२ शाके १६७७।

(ख) इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, लन्दन—अग्निपुराण हस्तलिखित ग्रन्थ संख्या आर० एस० ३५ डब्लू ४ आर० आर० २४ बी। लेखनकाल विक्रमी सम्वत् १७१४ लिपि बंगला है।

(ग) एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई– हस्तलिखित क्रमाङ्क ८९२ बी० डी० २५५/१ पन्ना (फोलियो) संख्या ३०६ साइज १३½" × ८½" प्रति पृष्ठ पर १६ लाइन, लिपि देवनागरी है, कुल पन्ना १–९२, ७–७७३, २०४ अध्याय १–१३४ (श्लोक ४३) तथा अध्याय १९६-३८३ (श्लोक संख्या ७६ से) अध्याय १३५–१९५ तक नहीं है। लेखनकाल का निर्देश नहीं है।

(घ) भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीयूट, पूना—अग्निपुराण हस्तलिखित क्रमाङ्क ५८/१९१९–२४, पन्ना (फोलियो) ५६८, पन्ना संख्या ३९ तथा ३९ से २७३ तक पन्ने नहीं है। ४५१ वाँ पन्ना द्विरावृत्त है और अन्तिम पृष्ठ पर ६०३ अङ्कित है। पन्ना १ व २ फटा हुआ है। लेखनकाल शके १७०६ लिपि देवनागरी है।

(ङ) भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना—अग्निपुराण हस्तलिखित ग्रन्थ संख्या २०/१८८१-८२ पन्ना (फोलियो) सख्या ४४१ पृष्ठ १० तथा २२ द्विरावृत्त पृष्ठ १५१-१६५ तक नहीं है। लेखनकाल विक्रमी संवत् १६६७ लिप देवनागरी है।

(च) भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना—अग्निपुराण हस्तलिखित संख्या ६० अपूर्ण विशुद्ध II पन्ना (फोलियो) ४२६, पन्ना २०८ अप्राप्त, लिपि देवनागरी है।

(छ) सरस्वती भवन पुस्तकालय, संस्कृत कालेज, बनारस—अग्निपुराण हस्तलिखित संख्या १५८१२, साइज १३×५×६९, लेखनकाल विक्रमी सम्वत् १८९०, पृष्ठ १-२७६, २७६-२७९, २८१-४९८, ४९८ ४९९, ४९९-५१०, लेखनकाल विक्रमी सम्वत् १८९०, लिपि देवनागरी है।

(ज) सरस्वती भवन पुस्तकालय, संस्कृत कालेज बनारस—अग्निपुराण हस्तलिखित संख्या १५७६५, साइज १५″×५·६, पृष्ठ १-१२२ यह प्रति अपूर्ण है।

(झ) एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल—अग्निपुराण हस्तलिखित प्रति पन्ना (फोलियो) ३८६, साइज १४″×५½″ प्रति पृष्ठ ११ पंक्तियाँ, लेखनकाल का अनुल्लेख, लिपि देवनागरी।

(ञ) राजा यतीन्द्रमोहन टैगोर लाइब्रेरी—अग्निपुराण हस्तलिखित पन्ना (फोलियो) ३३०, साइज १९½″×७″, प्रति पृष्ठ पर १० पंक्तियाँ, लिपि बँगला, लेखन काल का अनुल्लेख।

(ट) राजा कोमलकृष्ण बहादुर, लाइब्रेरी—अग्निपुराण हस्तलिखित, पन्ना (फोलियो) ३९५, साइज १८″×३″, प्रति पृष्ठ पर ६ से ८ पंक्तियाँ, लिपि बँगला, लेखनकाल का अनुल्लेख।

(ठ) राजा राजेन्द्रबहादुर लाइब्रेरी—अग्निपुराण हस्तलिखित, पन्ना (फोलियो) ४२९, साइज १९″×३″, प्रति पृष्ठ पर ६ पंक्तियाँ, लेखनकाल शाके सम्वत् १५९५ ग्रन्थ पूर्ण है।

(ड) संस्कृत कालेज कलकत्ता—अग्निपुराण हस्तलिखित पन्ना (फोलियो) ३७७, साइज १४″×९½″, जिल्दबन्ध, मोटे अक्षरों में लिपिबद्ध है।

(ढ) यह प्रति ऊपर के समान किन्तु अशुद्ध है।

(ण) बाबू सांवलदास मलिक लाइब्रेरी कलकत्ता—अग्निपुराण हस्तलिखित पन्ना (फोलियो) ३७८, साइज १८″×६½″, प्रति पृष्ठ पर ११ पंक्तियाँ, लिपि बँगला, लेखनकाल का अनुल्लेख है।

(त) राजा प्रमददास मित्र, बनारस—अग्निपुराण हस्तलिखित, पन्ना (फोलियो) १८९, साइज १३″×६½″, प्रति पृष्ठ पर १८ पंक्तियाँ, लिपि देवनागरी, लेखन काल का अनुल्लेख।

(थ) लल्लूभाई मोतीलाल बड़ौदा से प्राप्त अग्निपुराण हस्तलिखित, पन्ना (फोलियो) ३७२, साइज १२½″×४५½″, प्रति पृष्ठ पर १० पंक्तियाँ, लिपि देवनागरी।

(द) वाराणसी—अग्निपुराण हस्तलिपि, पन्ना (फोलियो) ४१२, साइज १६" × ५½", प्रति पृष्ठ पर ९ पंक्तियाँ, लिपि बँगला, लेखन काल १७६९ है।

(ध) डा० ए-सी० वर्नल, मंगलोर—अग्निपुराण हस्तलिखित, पन्ना (फोलियो) ३८६, फुलस्केप साइज, प्रति पृष्ठ पर २१ पंक्तियाँ पूर्ण तथा शुद्ध हैं।

(न) राय साहब दायले, पूना—अग्निपुराण की हस्तलिखित प्रतिपूर्ण, लेखनकाल शक सम्वत् १७१९, विक्रमी सम्वत् १८५४ है।

(प) रा० हरिमहादेव पण्डित, नागपुर—अग्निपुराण हस्तलिखित, प्रति पूर्ण, लेखनकाल शक सम्वत् १७३७।

(फ) वे० शा० रा० वासुदेव गङ्गाधर शास्त्री शेण्ड्ये, पूना—अग्निपुराण हस्तलिखित, प्रति पूर्ण, लेखनकाल शक सम्वत् १६९१ है।

मुद्रित अग्निपुराण की प्रतियाँ

(ब) गुरुमण्डल ग्रन्थमाला कलकत्ता द्वारा प्रकाशित अग्निपुराण प्रथम संस्करण १९५७ ई०, पृष्ठ संख्या ८०६, अध्याय ३८२, श्लोक संख्या १११०० है।

(भ) एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल द्वारा प्रकाशित गणेश यन्त्रालय में मुद्रित—प्रकाशक राजेन्द्रलाल मित्र विक्रमी संवत् १९३३, अध्याय ३८२, श्लोक संख्या ११००० है।

(म) सरस्वती यन्त्रालय कलकत्ता से प्रकाशित अग्निपुराण—प्रकाशक जीवानन्द विद्यासागर प्रथम संस्करण १८१२ ई०, पृष्ठ संख्या १०३९, अध्याय ३८२, श्लोक संख्या ११००० है।

(य) आनन्दाश्रम पूना से प्रकाशित अग्निपुराण ग्रन्थांक ४१, प्रकाशक हरिनारायण आप्टे शक सन्वत् १८२२ सन् १९०० ई०, अध्याय ३८३, श्लोक संख्या ११४५७ है।

(र) विलिओथिका इण्डिका द्वारा प्रकाशित अग्निपुराण। अपूर्ण मात्र ३४२ अध्याय तक।

(ल) तात्यासाहेब रनासगी काव्ये से प्राप्त अग्निपुराण पूर्ण।

(व) वे शा रा० रा० यज्ञेश्वर दीक्षित बड़लीकर से प्राप्त अग्निपुराण पूर्ण।

(श) सरस्वती भवन, संस्कृत कालेज, बनारस से प्राप्त आग्नेयालङ्कारशास्त्र की पाण्डुलिपि सं० ५७ पन्ना (फोलियो) ८० प्रत्येक पृष्ठ पर १२ पंक्ति लेखनकाल बंगीय सन् १२९२ लिपि बंगला है।

निम्नलिखित पाण्डुलिपियों मैंने तत्तत् स्थानों से प्राप्त कर ली थी, किन्तु अत्यन्त अशुद्ध त्रुटिपूर्ण भ्रष्ट पाठ होने के कारण उनका उपयोग मैंने नहीं किया है। उनका विवरण निम्न प्रकार है—

१—(ष) मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास से प्राप्त अग्निपुराण हस्तलिखित प्रति डी० म० २१०६ अध्याय २०१ तथा २०२ के अध्याय में केवल ७ पंक्तियाँ है। इस पाण्डुलिपि के भीतर कुछ पन्नों पर 'अग्निपुराण' तथा कुछ पन्नों पर 'आग्नेयपुराण' लिखा हुआ है। इस ग्रन्थ में अशुद्धियाँ अधिक है, बीच-बीच में कुछ अंश छूट गये हैं। इस ग्रन्थ को पाठशोध के लिए लिया था, किन्तु अध्ययन करने पर देखा कि यह अत्यन्त अशुद्ध, एवं भ्रष्ट पाठ-युक्त तथा त्रुटिपूर्ण है। अतः इसका उपयोग मैंने नहीं किया।

२—(ह) सरस्वती भवन लाइब्रेरी, संस्कृत कालेज बनारस, से प्राप्त अग्निपुराण हस्तलिखित प्रति सं० १४४६८ साइज १३" × ३·३" पृष्ठ संख्या ८२ गणनया अपूर्ण और भ्रष्टपाठ तथा त्रुटिपूर्ण होने के कारण इसका भी उपयोग नहीं किया गया है।

अग्निपुराण की पाण्डुलिपियाँ देश के विभिन्न स्थानों पर प्राप्त है किन्तु इनमें से दो क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ ये पाण्डुलिपियाँ विपुल मात्रा में उपलब्ध होती हैं। उनमें प्रथम पूर्वीभारत और द्वितीय दक्षिणभारत। पूर्वभारत में बंगाल में सर्वाधिक पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होती है जिनमें अधिकांश बंगला लिपि में हैं। इण्डिया आफिस लाइब्रेरी लन्दन का पेरिस वाली प्रति बंगला लिपि में होने के कारण पूर्वभारत से सम्बन्धित मानी जा सकती है। दक्षिण भारत में पूना में अधिक पाण्डुलिपि प्राप्त होती है।

इन उपलब्ध और अनुपलब्ध पाण्डुलिपियों में कुछ में समय का निर्देश है और कुछ में नहीं है, जिन पाण्डुलिपियों में समय का निर्देश है। उनमें सबसे प्राचीन पाण्डुलिपि राजा राजेन्द्र बहादुर लाइब्रेरी की है जिसका संग्रह एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल में हैं। यह लगभग ३२५ वर्ष पुरानी है। इसके बाद की

प्रति भाण्डरकर ओरियन्टल इन्स्टीटयूट की क्रमांक २०।१८८१-८२ लेख वाक्य १६६७ है जो २४० वर्ष प्राचीन है। संभव है कि पूना की अन्य दो प्रतियाँ क्रम० संख्या १६६।१८९ : ९५ संख्याकाल १६७७ तथा क्रमसः ५८।१९१९-२४ शाके १७०६ इसी प्रति से प्रति की गई होगी। यह भी सम्भव है कि ये सभी प्रतियाँ किसी अन्य प्रति से प्रति की गई हों, क्योंकि इनमें विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता।

इस प्रकार एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल में संगृहीत पाण्डुलिपियों में राजा राजेन्द्र बहादुर लाइब्रेरी की प्रति सबसे प्राचीन है। यह लगभग ३२५ वर्ष प्राचीन है। सम्भवतः इसी आधार पर बंगाल की अन्य पाण्डुलिपियाँ तैयार की गई हों। इसी प्रकार द्वितीय प्रति भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट पूना की है जो लगभग २४० वर्ष प्राचीन है। इस पाण्डुलिपि के आधार पर पूना की अन्य पाण्डुलिपियाँ तैयार कराई गई होंगी।

ऐसा प्रतीत होता है कि जब कभी भी अग्निपुराण की एक पाण्डुलिपि से कई प्रतियाँ तैयार कराई गई होंगी और वे विभिन्न स्थानों पर भेज दी गई होंगी, कुछ समय के बाद उनसे अन्य प्रतियाँ तैयार कराई होंगी तो उसमें प्रक्षिप्त अंश के जुड़ने की आशंका प्रतीत होती हैं; किन्तु उन पाण्डुलिपियों में ऐसा कुछ विवरण नहीं मिलता, जिनके आधार पर यह कहा जाय कि अग्निपुराण में प्रक्षिप्त अंश जुड़ गये हैं। क्योंकि यदि ऐसा होता तो किसी न किसी प्रति में तो कुछ पाठभेद अवश्य मिलता। यद्यपि एशियाटिक सोसाइटी बंगाल की प्रति में ३३ अध्याय परिशिष्ट में प्राप्त हुए हैं किन्तु उसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह अंश किसी अन्य ग्रन्थ का भाग रहा होगा और भूल से अग्निपुराण की प्रति के साथ लग गया होगा और कालान्तर में जब इसका संस्करण किया हो तो वह परिशिष्ट भी उसी के साथ मिल गया होगा।

पाठ समीक्षा

आज की रूढि-सम्पादन परम्परा के अनुसार किसी भी ग्रन्थ के सम्पादन में हस्तलिखित प्रतियों का संग्रह करके उनमें से सब से अच्छी पाण्डुलिपि को शुद्ध मानकर उसी का प्रकाशन कर दिया जाता है और अन्य हस्तलिखित प्रतियों में उपलब्ध पाठान्तरों को नीचे टिप्पणी में दे दिया जाता है, किन्तु इस प्रणाली से प्रकाशित ग्रन्थ में भी दोष रह जाते हैं। अतः उनके शुद्ध पाठ के लिए चिकित्सात्मक आवृत्ति आवश्यक हो जाती है। किसी भी ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व चिकित्सात्मक आवृत्ति के साथ-साथ व्याकरण तथा अर्थसंगति पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि हस्तलेखों के प्रमाद, असावधानी तथा

अन्य कारणों से भी हस्तलिखित प्रतियों में भूल हो सकती है। उस भूल के सुधार के लिए भाषातत्त्व तथा अर्थसंगति आदि पर विचार कर लेना आवश्यक है।

प्रश्न यह है कि किस आधार पर पाठ शुद्ध किया जाय ? क्योंकि चिकित्सात्मक आवृत्ति का एक मात्र उद्देश्य केवल संहिता तैयार करना ही नहीं, किन्तु पाठ निश्चित कर शुद्ध संहिता तैयार करना भी है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि सर्वोत्तम संहिता को ऊपर देनी चाहिए और अन्य संगृहीत पाठ नीचे टिप्पणी में। किन्तु मैंने संहिता तैयार करने में जिन नियमों का आश्रय लिया है वह यह है कि व्याकरण, भाषा, अर्थसंगति तथा प्रसङ्गादि पर विचार कर शुद्ध पाठ तैयार करके ऊपर दिया है और अन्य अप्रकाशित तथा प्रकाशित पाठ भेदों (पाठान्तरों) को नीचे टिप्पणी में दिया है। वस्तुतः यही पद्धति उचित प्रतीत होती है कि व्याकरण, भाषा अर्थसंगति एवं प्रसङ्गादि पर विचार कर पाठ शुद्ध करके शुद्ध संहिसा तैयार करना।

अग्निपुराण की संशोधित आवृत्ति तैयार करने के लिए जिन पाण्डुलिपियों का उपयोग किया गया है। उन्हें पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१—प्रथम वह जिन हस्तलिखित प्रतियों का संग्रह कर तथा स्वयं अवलोक कर पाठ-शोधन में उपयोग किया है। उनका क्रम क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, ष, ह है।

२—द्वितीय वह जिनका उपयोग एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल से प्रकाशित अग्निपुराण में किया गया है। उनका क्रम अ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध है।

३—तृतीय वह जिन हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग आन्नदाश्रम पूना से प्रकाशित अग्निपुराण में किया गया है, उनका क्रम न, प, फ है।

४—चतुर्थ वह, जो अग्निपुराण विभिन्न स्थानों से प्रकाशित हैं उनका क्रम ब, भ, म, य, र, ल, व है।

५—पञ्चम वह है जो सरस्वती भवन पुस्तकालय से काव्य प्रभावृत्ति सहित आग्नेयालङ्कारशास्त्र मात्र प्राप्त है। उसका क्रमांक 'श' है।

उक्त हस्तलिखित प्रतियों के पाठ यत्र तत्र अशुद्ध मिलते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि हस्तलेख का कार्य संस्कृत भाषा के अनभिज्ञ लोग करते रहे हैं। यही कारण है कि इनमें अशुद्धियाँ अधिक मात्रा में प्राप्त होती हैं। अनेक प्रकार की ऐसी भी अशुद्धियाँ प्राप्त हुई है। जिनसे ज्ञात होता है कि प्रति लेखन काल के समय

भाषा पर ध्यान नहीं देते रहे हैं और पूर्वापर प्रसङ्ग पर भी उनका ध्यान नहीं जाता था। वस 'माक्षिका-स्थाने माक्षिका' वाली कहावत के अनुसार जहाँ पर जैसा लिखा रहता था, चाहे वह अशुद्ध ही क्यों न हो, वैसा ही लिख देते थे। अत एव उन प्रतियों में प्रमाद-जन्य, अज्ञान-वश एवं दृग्भ्रम की अशुद्धियाँ अधिक मिलती हैं। किसी भी हस्तलिखित प्रति में अध्याय ठीक से नहीं लिखे गये हैं, कुछ प्रतियों में तो कहीं-कहीं संख्या भी नहीं दी गई है और कहीं-कहीं बीच में कुछ अंश छूट गये है।

अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्र

अग्निपुराण के ग्यारह अध्याओं में काव्यालङ्कारशास्त्र का महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया है। इसे ही काव्यालङ्कारशास्त्र का आदिस्रोत माना गया है[1]। महेश्वर ने काव्यप्रकाशादर्श की टीका में प्रतिपादित किया है कि 'भरत ने सुकुमार राजकुमारों को स्वादुकाव्य प्रवृत्ति के द्वारा अलङ्कारशास्त्र में प्रवृत्त कराने के लिए अग्निपुराण से उद्धृत कर अलङ्कारशास्त्र का प्रणयन किया[2]। इसी परम्परा के अनुयायी विद्याभूषण ने भी यही मान्य किया है कि 'भरत ने वह्निपुराण में दृष्ट साहित्य-प्रक्रिया को संक्षेप में कारिकाओं से निबन्ध किया[3]। इसी परम्परा के पोषक सिल्वा लेवी ने भी यही प्रतिपादित किया है कि नाट्य-शास्त्र की कारिकाए अग्निपुराण से ली गई हैं[4]। ये उद्धरण इसी बात को द्योतित करते हैं कि काव्यालङ्कारशास्त्र का आदिस्रोत अग्निपुराण ही है। इसी प्रकार भामह, दण्डी, आनन्द, भोज आदि के उद्धरणों से भी उपर्युक्त बात की पुष्टि होती है कि अग्निपुराण काव्यालङ्कार शास्त्र का मूलग्रन्थ है।

---

१. इण्डियन एण्टिक्वरी (खण्ड ४६, १९१७) पृ० १७३।

२. सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा अलङ्कारशास्त्रे प्रवर्त्तयितुमग्निपुराणा-दुद्धृत्य काव्यरसास्वादनकरणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्।
(काणे-संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४)

३. काव्यरसास्वादनाय बह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यविद्यां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिर्निबबन्ध।
(काणे-संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४)

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—पृ० ३१।

जैसा कि बताया गया है कि अग्निपुराण के ग्यारह अध्यायों में काव्यालङ्कार-शास्त्र का महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया है[1]। किन्तु काव्यप्रभावृत्ति के साथ प्राप्त अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्र की पाण्डुलिपि में तेरह अध्यायों में काव्यालङ्कारशास्त्र विवेचन प्राप्त होता है। उक्त पाण्डुलिपि में नाटकादिविशेषलक्षण नामक सप्तम अध्याय अतिरिक्त प्राप्त होता है। यह अध्याय तथा इस अध्याय का प्रतिपाद्य विषय मुद्रित अग्निपुराण में प्राप्त नहीं होता; किन्तु उक्त पाण्डुलिपि में यह उपलब्ध है और इस पर काव्यप्रभावृत्ति भी लिखी गई है। अतः विषय प्रतिपादन की दृष्टि से इस अध्याय को मैंने नाटकादिसामान्यलक्षण नामक द्वितीय अध्याय के बाद तृतीय अध्याय के रूप में सम्पादित किया है। रसादि-निरूपण नामक तृतीय अध्याय को चतुर्थ अध्याय के रूप में सम्पादित किया गया है और इसी अध्याय में मुद्रित अग्निपुराण में षष्ठ अध्याय में प्रतिपादित शृङ्गारादि रसों के भेदों को भी जोड़ दिया गया है। रीतिवृत्तिलक्षण नामक चतुर्थ अध्याय को पञ्चम अध्याय के रूप में सम्पादित किया गया है। मुद्रित अग्निपुराण के पञ्चम अध्याय तथा पाण्डुलिपि के पञ्चम अध्याय तथा षष्ठ अध्याय के विषय षष्ठ अध्याय के रूप में सम्पादित किया गया है। मुद्रित अग्निपुराण के षष्ठ अध्याय में प्रतिपादित शब्दालङ्कार को सप्तम अध्याय में प्रतिपादित शब्दालङ्कार के साथ दिया गया है; क्योंकि दोनों में एक ही विषय शब्दालङ्कार का प्रतिपादन है। पाण्डुलिपि के अष्टम एवं नवम अध्याय में प्रतिपादित शब्दालङ्कारों को एक अध्याय में जोड़कर सप्तम अध्याय के रूप में प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार शब्दालङ्कारों का एक अध्याय (सप्तम) में सम्पादन किया गया है। शेष अष्टम अध्याय में अर्थालङ्कार, नवम में उभयालङ्कार, दशम में गुण-विवेक तथा एकादश में दोषों का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार ११ अध्यायों में समस्त काव्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन है।

---

१. बिब्लियोथिका इण्डिका ग्रन्थमाला संस्करण में ३३६-३४६ तथा आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला संस्करण में ३३७-३४७ तक ११ अध्यायों में काव्यालङ्कारशास्त्र का विवेचन है। सरस्वती भवन, संस्कृत कालेज, बनारस से प्राप्त काव्यप्रभावृत्ति सहित काव्यालङ्कार-शास्त्र की पाण्डुलिपि में १३ अध्यायों का काव्यालङ्कारशास्त्रीय विषय का प्रतिपादन है। इनमें नाटकादि विशेष लक्षण नामक सप्तम अध्याय अधिक प्राप्त होता है जिसका निरूपण मुद्रित अग्निपुराण में नहीं है। शब्दालङ्कार के दो अध्याय कर दिये गये हैं। इस प्रकार १३ अध्याय हैं।

वाङ्मय तथा काव्य-स्वरूप-विमर्श

अग्निपुराण में प्रथम वाङ्मय के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए बताया गया है कि ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य ये मिलकर वाङ्मय कहलाते हैं। शास्त्र, इतिहास और काव्य तीनों वाङ्मय के अन्तर्गत आते हैं। अग्निपुराण के अनुसार ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य ये चार वाणी के अधिष्ठान हैं। वहाँ पर आक्षेप को ध्वनि कहा गया है और अभिव्यक्ति-विशेष ही आक्षेप है। वह आक्षेप वर्ण, पद, वाक्य से भिन्न अनेक वर्ण, अनेक पद और अनेक वाक्य के संयोग से अर्थान्तर को ध्वनित करता है, इसलिए उसे 'ध्वनि' कहते हैं। ध्वनि दो प्रकार की होती है—प्रथम केवल ध्वनिरूप वीणा आदि से उत्पन्न निरर्थक-ध्वनि और द्वितीय सार्थक वर्णरूप। अकारादि ध्वनि ही वर्ण हैं। विभक्त्यन्त (सुप् और तिङ् विभक्तियों से युक्त) वर्णसमूह को पद कहते हैं और अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन करने वाली पदावली (पदसमूह) को वाक्य कहा जाता है। इस प्रकार ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य ये सब मिलकर वाङ्मय कहलाते हैं। शास्त्र, इतिहास और काव्य ये तीनों वाङ्मय के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। शास्त्र के अन्तर्गत वेदादि आते हैं। शास्त्र में शब्दप्रधान होता है। अतः वेदादि शास्त्र शब्दप्रधान होते हैं। इतिहास के अन्तर्गत रामायण, महाभारत और पुराणादि का समावेश है। इतिहास में अर्थ की प्रधानता होती है; क्योंकि इतिहास पुरावृत्त का अभिधायक होता है। काव्य अभिधा प्रधान होता है। अब यह कि शास्त्र में शब्द की प्रधानता होती है। और इतिहास में अर्थ की। किन्तु काव्य इन दोनों से भिन्न (विलक्षण) होता है। उसमें शब्द, अर्थ और अभिधा तीनों का मिश्रण रहता है किन्तु प्रधानता अभिधा की ही होती है। इस प्रकार अभिधा प्रधान वाङ्मय काव्य कहा जाता है। यहाँ पर अभिधा का अर्थ व्यापार अभिप्रेत है। अभिधेय से तात्पर्य अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीनों प्रकार के व्यापारों से है, किन्तु प्रधानता अभिधेय की है। अग्निपुराणकार ने अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीनों को उभयालङ्कार के रूप में परिगणित किया है। इस प्रकार अग्निपुराणकार के अनुसार ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्यरूप दोष-रहित, गुणसहित, स्फुरदलङ्कारयुत अभिधेय अर्थ से युक्त वाङ्मय काव्य है।

काव्य-प्रकार

अग्निपुराण में काव्य के तीन भेद बताये गये हैं—गद्य, पद्य और मिश्र (गद्यं पद्यं मिश्रञ्च काव्यं हि त्रिविधं स्मृतम्)। इनमें पाद-रहित पदसमूह को 'गद्य' कहते हैं। वह गद्य चूर्णक, उत्कलिका और वृत्तगन्धि भेद से तीन प्रकार का होता है। अग्निपुराण के अनुसार गद्यकाव्य के पाँच भेद होते हैं—आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा और कथानिका। श्लोक के चतुर्थांश को पाद कहते हैं और चार पाद वाले श्लोक को 'पद्य' कहते हैं। पद्य के दो भेद होते हैं—वृत्त और जाति। अग्निपुराण के अनुसार पद्यकाव्य सात प्रकार का होता है—महाकाव्य, कलाप, पर्याबन्ध, विशेषक, कुलक, मुक्तक और कोष। मिश्र काव्य में गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण होता है, इसलिए इसे मिश्रकाव्य कहते हैं। मिश्र-काव्य के दो भेद होते हैं—चम्पू और प्रकीर्णक। इनमें चम्पूकाव्य श्रव्य होता है और प्रकीर्णक अभिनेय होता है।

नाटकादि-लक्षण

अग्निपुराण में काव्यालङ्कारशास्त्र के अन्तर्गत नाट्यशास्त्र का भी विवेचन किया गया है। भरतमुनि के पश्चात् अग्निपुराण में ही नाट्य-चर्चा है। अग्निपुराण में नाट्य के सत्ताइस भेदों का निरूपण किया गया है—

"नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, सभवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अङ्क, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, संलापक, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लापक और प्रेङ्खण।"

नाट्यशास्त्र में दस रूपकों का विवेचन है किन्तु अग्निपुराण में सत्ताइस प्रकार के रूपक गिनाये गये हैं। परवर्ती आचार्यों ने इनमें से आदि के दस भेदों को रूपक और शेष सत्तरह भेदों को उपरूपक माना है। विश्वनाथ ने तो अग्निपुराण का ही अनुसरण कर दस रूपक और अठारह उपरूपक माने हैं। उन्होंने अग्निपुराणोक्त सत्तरह उपरूपकों में 'विलासिका' नामक एक उपरूपक भेद जोड़कर उपरूपकों की संख्या अठारह गिनाई है। सागरनन्दी ने अग्निपुराण के अनुसार सत्तरह उपरूपकों को ही स्वीकार किया है।

अग्निपुराण में नाटक-लक्षण की द्विधा प्रवृत्ति बतलाई है—सामान्य और विशेष। इनमें सामान्य प्रवृत्ति सर्वत्र रहती है और विशेष की कहीं-कहीं। अग्निपुराण में नाट्य को धर्म, अर्थ और काम का साधन बताया गया है (त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्)। अग्निपुराण के अनुसार नाट्य के प्रारम्भ में पूर्वरङ्ग का विधान करना चाहिए। वहाँ पूर्वरङ्ग के बत्तीस अङ्ग बताये गये हैं। पाँच प्रकार की नान्दी, नान्दी के बाद पाँच निर्देश, तीन प्रकार के आमुख, दो प्रकार के इतिवृत्त (सिद्ध = प्रख्यात और उत्प्रेक्षित = उत्पाद्य), पाँच अर्थ प्रकृतियाँ, पाँच चेष्टाएँ पाँच सन्धियाँ और देश-काल का संकलन इन बत्तीस अङ्गों का पूर्वरङ्ग में निर्वाह करना इतिकर्त्तव्यता है। इसके बाद अर्थात् पूर्वरङ्ग के नान्दी प्रभृति बत्तीस अङ्गों का निर्वहन के पश्चात् अभीष्ट अर्थ (इतिवृत्त) की योजना, वृत्तान्त का अनुपक्षय, प्रयोग में राग की उत्पत्ति, गोपनीय का गोपन, प्रकाशनीय का प्रकाशन, अलौकिक अर्थ का कथन इन छः नाटकीय गुणों का उल्लेख होना चाहिए। इन उपर्युक्त गुणों से रहित काव्य अङ्गहीन मनुष्य की भाँति श्रेष्ठ नहीं माना जाता। रस, भाव, विभाव, अनुभाव, अभिनय, अङ्क आदि की स्थिति यथावसर करनी चाहिए। ये सत्ताइस प्रकार के नाटकादि के सामान्य लक्षण है। इसके बाद नाटकादि के विशेष लक्षण बताये गये हैं।

इस प्रकार अग्निपुराण में सत्ताइस प्रकार के प्रकीर्ण (अभिनेय) काव्य (नाट्यकाव्य) तथा चम्पूकाव्य (मिश्रकाव्य), आख्यायिका आदि पाँच प्रकार के गद्यकाव्य तथा महाकाव्य आदि सात प्रकार के पद्यकाव्य बताये गये हैं। अग्निपुराण में यथास्थान इनके लक्षण भी प्रतिपादित किये गये हैं।

रस-विमर्श

अग्निपुराण में रस के विषय में स्वतन्त्र मौलिक विचार-धारा प्रतिपादित है। अग्निपुराणकार दार्शनिक धरातल पर रस का चिन्तन कर एक नई दिशा प्रस्तुत की है जो परवर्त्ती रस-विवेचन का आधार है। अग्निपुराण के अनुसार अक्षर, अज, सनातन, अद्वितीय, चैतन्यरूप, ज्योतिर्मय परब्रह्म की सहज आनन्द रूप अभिव्यक्ति रस है। वेदान्त में इसी अभिव्यक्ति को चैतन्य कहा गया है। इसी सहज आनन्द रूप अभिव्यक्ति को चमत्कार या रस कहते हैं। चैतन्य रूप परब्रह्म का गुणत्रय रूप प्रथम विकार महत्तत्व (महान्) है। महत्तत्व से ही अहङ्कार या

अभिमान की अनुभूति होती है। महत्तत्त्व के समान ही यह अहङ्कार या अभिमान भी त्रिगुणात्मक है। जब रजस् और तमस् के संस्पर्श से रहित सत्त्व का उद्रेक होता है तब सहृदयों के द्वारा रस की अनुभूति होती है। यह अनुभूति ही आस्वाद है, यही चैतन्य है, यही चमत्कार या रस है।

अग्निपुराण के अनुसार अभिमान अहङ्कार का ही एक रूप है। इसे अभिमान इसलिए कहते हैं कि इसमें समस्त सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ आनन्दप्रद होने के कारण अभिभत हो जाती हैं। यहाँ पर अभिमान उत्तेजना-जन्य मिथ्या गर्व नहीं है वह तो आत्मस्थित विशेष गुण है, जो रस्यमान होने के कारण 'रस' है। इसी अहङ्कार या आत्म-प्रतीति अभिमान का दूसरा नाम शृङ्गार है। इसे शृङ्गार इसलिए कहते हैं कि क्योंकि यह मनुष्य को शृङ्ग तक पहुँचा देता है। अग्निपुराण का यह शृङ्गार स्त्री-पुरुष का वासनात्मक प्रेम (रति) का प्रकर्ष नहीं है, अपितु आत्मनिष्ठ रति (निरपेक्ष) प्रेम है। इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार अभिमान या अहङ्कार ही रस है और वही शृङ्गार है और इसी शृङ्गार से शृङ्गार, हास्य आदि अन्य रस अभिव्यक्त होते हैं।

रस और भाव

अग्निपुराणकार का कथन है कि इस अपार काव्य-जगत् का सर्जक कवि है, उसे जैसा रुचता है वैसी सृष्टि (रचना) कर डालता है। यदि वह सहृदय है तो सरस काव्य-रचना करेगा और यदि वह विरागी (नीरस) है तो उसकी काव्य-रचना भी नीरस होगी। अग्निपुराणकार ने रस को भावाश्रित और भाव को रसाश्रित कहा है। भावहीन रस और रसहीन भाव की कल्पना नहीं की जा सकती। भाव और रस एक दूसरे के उपकारक हैं। रसों को भावित करने के कारण वे भाव कहे जाते हैं। अग्निपुराण में आठ स्थायीभाव, आठ सात्त्विक भाव और तैंतीस व्यभिचारीभाव प्रतिपादित हैं। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय ये आठ स्थायीभाव हैं। ये स्थायीभाव जहाँ पर और जिसके द्वारा विभावित होते हैं उसे विभाव कहते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं— आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन विभाव के उद्बुद्ध एवं परिष्कृत भावों के द्वारा मन, वाणी, बुद्धि एवं शरीर के स्मृति, इच्छा, द्वेष और यत्न से जो आरम्भ किया जाता है उसे 'अनुभाव' कहते हैं। यह अनुभाव चार प्रकार का होता है—

चित्तारम्भ (मन आरम्भ), वागारम्भ, बुद्ध्यारम्भ और शरीरारम्भ। इनमें मानसिक व्यापार के आधिक्य को 'मन आरम्भ' कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—पौरुष और स्त्रैण। इनमें पुरुषगत (पौरुष) मनोभाव शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य और तेज ये आठ हैं। हाव, भाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य, औदार्य, स्थैर्य और गाम्भीर्य ये बारह स्त्रीगत (स्त्रैण) मनोभाव हैं। वाणी का कथन वागारम्भ व्यापार है। यह बारह प्रकार का होता है—आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, सन्देश, निर्देश, अतिदेश, अपदेश, उपदेश और व्यपदेश। बुद्धि के द्वारा उपदिष्ट व्यापार 'बुद्ध्यारम्भ' है। बुद्ध्यारम्भ व्यापार तीन प्रकार का होता है—रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों द्वारा किया गया आरम्भ (चेष्टा) 'शरीरारम्भ' है। ये बारह हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित्, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, विकृत, क्रीडित और केलि। अग्निपुराण में इन चारों व्यापारों का सम्बन्ध चार अभिनयों से जोड़ा गया है। इनमें मन आरम्भ का सम्बन्ध सात्त्विक अभिनय से है। इसमें सात्त्विक भावों के द्वारा मनोगत भावों को प्रकट किया जाता है। वागारम्भ अनुभाव का सम्बन्ध वाचिक अभिनय है। बुद्ध्यारम्भ का सम्बन्ध आहार्य अभिनय से है। इसके अन्तर्गत रीति, वृत्ति और प्रवृत्तियाँ आती हैं। शरीरारम्भ का सम्बन्ध आङ्गिक अभिनय से है। इसमें अङ्ग-प्रत्यङ्गों के द्वारा चेष्टाओं का प्रदर्शन किया जाता है। अङ्ग-प्रत्यङ्गों की विशेष चेष्टाएँ शरीराम्भ अनुभाव है। इस प्रकार अग्निपुराण का यह रस-भावादि चिन्तन सर्वथा मौलिक एवं वैज्ञानिक है।

रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति विचार

अग्निपुराण में बुद्ध्यारम्भ (बुद्धि के व्यापार) के तीन भेद निर्दिष्ट हैं—रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति। यहाँ वक्तृत्वकला की शैली को रीति नाम से अभिहित किया गया है और उसके चार भेद प्रतिपादित किये गये हैं—वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी। वहाँ पर इनका अलग-अलग स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। रीति के पश्चात् भारती, आरभटी, कौशिकी और सात्त्वती इन चार वृत्तियों का निरूपण किया गया है। अग्निपुराण के अनुसार रस के भावों की अनुभाविका क्रिया को वृत्ति कहते हैं। भरत कायिक, वाचिक, मानसिक व्यापार को वृत्ति कहते हैं। इसी को आनन्द व्यवहार और अभिनव नायक का चेष्टाव्यापार माना है।

धनन्जय नायकादि के व्यापार को तथा भोज एवं राजशेखर चेष्टाविन्यासक्रम को वृत्ति कहते हैं। अग्निपुराणकार के अनुसार भरत नामक राजा के द्वारा प्रकाशित होने के कारण भारतीवृत्ति, अरभट के द्वारा की गई क्रिया आरभटी, कुशिक राजा के द्वारा प्रकाशित होने से कौशिकी और सात्त्वत राजा के द्वारा प्रकाशित होने से सात्त्वती वृत्ति कहलाती है। यह अग्निपुराण की मौलिक कल्पना है। अग्निपुराण में इनके अनेक भेदोपभेदों का वर्णन है।

अभिनयादि-निरूपण

अग्निपुराण के अनुसार जिसके द्वारा नाट्य के नानाविध अर्थों (अर्थात् रस के निष्पादक रत्यादि भावों) को सामाजिकों के समक्ष ले जाकर रसास्वादन कराया जाता है, उसे 'अभिनय' कहते हैं। यह अभिनय चार प्रकार का होता है—आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य। अङ्ग, प्रत्यङ्ग, एवं उपाङ्गों द्वारा किया जाने वाला 'अभिनय' आङ्गिक अभिनय कहलाता है। आङ्गिक अभिनय के द्वारा नायक-नायिकादि की विशेष चेष्टाएँ प्रदर्शित की जाती है। ये चेष्टाएँ बारह होती हैं—लीला, विच्छित्ति, विलास, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, विकृत, क्रीडित और केलि। नाट्य के छः अङ्ग और छः प्रत्यङ्ग होते हैं। ये छः अङ्ग शिर हस्त, उरस्, पार्श्व, कटि और पाद हैं तथा भ्रू, नेत्र, नासिका, ओष्ठ, कपोल और चिबुक ये छः प्रत्यङ्ग हैं।

अग्निपुराण के अनुसार शिरोऽभिनय के तेरह भेद होते हैं। हस्ताभिनय दो प्रकार का होता है—असंयुतहस्त और संयुतहस्त। इनमें असंयुत हस्त के चौबीस भेद होते हैं और संयुतहस्त के तेरह भेद होते हैं। उरस् के पाँच भेद, उदर के तीन, पार्श्व के पाँच और जङ्घा के पाँच कर्म बताये गये हैं। अग्निपुराण में भृकुटिपात के सात भेद बताये गये हैं और छत्तीस प्रकार की दृष्टियाँ बताई गई हैं, इनमें रसजा दृष्टि आठ प्रकार की, स्थायिभावजा दृष्टि आठ प्रकार की और संचारी-भाव की दृष्टियाँ बीस प्रकार की होती है। इन दृष्टियों के द्वारा विविध रसों का उन्मेष होता है। अग्निपुराण के अनुसार तारका के कर्म नौ प्रकार के, नासिका के छः प्रकार के और निःश्वास की गति नौ प्रकार की होती है, ओष्ठ के कर्म छः प्रकार के और चिबुक के कार्य सात प्रकार के होते हैं, मुख का प्रदर्शन छः प्रकार का होता है और ग्रीवा के कार्य नौ प्रकार के होते हैं। इस प्रकार आङ्गिक अभिनय का विवेचन किया गया है। स्तम्भादि सात्त्विक भावों का प्रदर्शन

सात्त्विक अभिनय कहलाता है। इसके अन्तर्गत नायक-नायिकाओं के शृङ्गार-सम्बन्धी हाव-भावादि का निरूपण होता है। वाणी के द्वारा किया गया अभिनय वाचिक अभिनय कहलाता है। वाचिक अभिनय को नाट्य का शरीर कहा गया है। वाचिक अभिनय का सम्बन्ध वाणी से होता है। आहार्य अभिनय बुद्धयारम्भक होता है। वेशभूषाविन्यास और अङ्ग-रचना आदि 'आहार्य' अभिनय है। इसके द्वारा सामाजिकों के हृदय में रसका संचार किया जाता है।

अलङ्कार-विमर्श

अग्निपुराण में काव्य के शोभाकरक धर्म को अलङ्कार कहा गया है और शोभा के अनुग्राहक तत्त्व को गुण। इस प्रकार अग्निपुराण में गुण और अलङ्कारों का समान महत्त्व प्रतिपादित है। यही नहीं, बल्कि अभिव्यक्ति तथा अभिधा, आदि को भी अलङ्कारों के अन्तर्गत समावेश कर लिया गया है। अग्निपुराण की अलङ्कार विवेचना मौलिक है। अग्निपुराण में अलङ्कार के तीन भेद निरूपित किये गये हैं—शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार। इनमें शब्दालङ्कार के नौ भेद प्रतिपादित हैं—छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फन, वाकोवाक्य, अनुप्रास, चित्र और दुष्कर। इनमें प्रत्येक उपभेद भी निरूपित हैं। अग्निपुराण में चित्रालङ्कार का विस्तृत विवेचन है। अग्निपुराणकार ने चित्रालङ्कार के प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्तपद, च्युतपद, दत्तपद, समस्या और बन्ध ये सात भेद बताये हैं और इनके कई उपभेद भी प्रतिपादित किये गये हैं। अर्थालङ्कार के आठ भेद होते हैं—स्वरूप, सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभावना, विशेष, विरोध और हेतु। अग्निपुराण में इनके उपभेद भी वर्णित हैं। उभयालङ्कार छः प्रकार होता है—प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता और अभिव्यक्ति। अग्निपुराण में अभिव्यक्ति को एक अलङ्कार माना गया है। अभिव्यक्ति के अन्तर्गत अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियों का समावेश कर लिया गया है। अग्निपुराणकार ने ध्वनि को भी अलङ्कार के रूप में प्रतिपादित किया है। यह अग्निपुराणकार की मौलिक विचार-धारा है। जिसे परवर्त्ती आचार्यों ने प्रकारान्तर से प्रतिपादन किया है। इस प्रकार अग्निपुराण की अलङ्कार-परम्परा प्राचीन एवं मौलिक है। इस परम्परा का अनुसरण भोज आदि आलङ्कारिकों ने किया है।

गुण-विमर्श

अग्निपुराण का गुण-विवेचन अग्निपुराणकार की नवीन उद्भावना है। अग्निपुराणकार ने गुण को भावात्मक माना है। उनके अनुसार काव्य में महती

शोभा के अनुग्राहक भाव को गुण कहा गया है। अग्निपुराण में गुण के दो भेद किये गये हैं—सामान्य और वैशेषिक। इनमें सामान्य गुण तीन प्रकार के बताये गये हैं—शब्दगुण, अर्थगुण और उभयगुण। शब्दगुण के सात भेद बताये गये हैं—श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदारता, ओज, और यौगिक। अर्थगुण छः प्रकार के हैं—माधुर्य, संविधान, कोमलत्व, उदारता, प्रौढ़ि और सामयिकत्व। इनमें सामयिकत्वगुण सर्वथा मौलिक एवं प्राचीन है। शब्दार्थोभयगुण के छः भेद निर्दिष्ट हैं—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्रशस्ति, पाक, और राग। इनमें पाकगुण और रागगुण ये सर्वथा मौलिक हैं और अग्निपुराणकार की यह नवीन उद्भावना है। इस प्रकार अग्निपुराणकार के मतानुसार कुल उन्नीस गुण प्रतिपादित है। इसी आधार पर भोज, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने आचार्योंने गुण-विवेचन किया है।

दोष-विमर्श

अग्निपुराण के दोष-विवेचन में अग्निपुराणकार की कुछ नवीन उद्भावनाएँ है। सर्वप्रथम वक्तृ, वाचक और वाच्य आदि भेद से सात प्रकार के दोष बताये गये है। इनमें वक्तृ-दोष के तीन भेद बताये गये है—सन्दिहान, अविनीत, सन्नज्ञ और ज्ञाता। वाचकदोष दो प्रकार का होता है - पददोष और वाच्यदोष। अर्थदोष (वाच्यदोष) के दो भेद किये गये हैं—साधारण और प्रातिस्विक। पुनः इनके अनेक भेदोपभेदों का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् दोषों का परिहार भी प्रतिपादित है। अन्त में कवि-समय की चर्चा की गई है। कवियों का समुदाचार कविसमय कहलाता है। इसके अतिरिक्त एक छेकसिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ये सब अग्निपुराणकार की नवीन मौलिक उद्भावनाएँ हैं। राजशेखर ने इस आधार पर कवि-समय का निरूपण किया है।

इस प्रकार अग्निपुराण के ग्यारह अध्यायों मे काव्य एवं नाट्यशास्त्रीय विषयों का महत्त्वपूर्ण विवेचन हुआ है। इसे ही काव्यशास्त्र का मूलस्रात माना जा सकता है। प्रायः सभी आचार्यों ने अग्निपुराण का ही अनुसरण कर काव्य-शास्त्रीय तत्त्वों को पल्लवित, पुष्पित एवं फलित किया है।

पारसनाथ द्विवेदी

विषय-सूची

भूमिका

पुराणवाङ्मय और अग्निपुराण १;

अग्निपुराण—६, अग्निपुराण और वह्निपुराण ६, अग्निपुराण का प्रतिपाद्य विषय, अग्निपुराण की श्लोक संख्या ८, अग्निपुराण का वैशिष्ट्य ८, अग्निपुराण के प्रवक्ता एवं रचयिता ९।

अग्निपुराण का रचनाकाल—अग्निपुराण और पुराणसाहित्य ११, अग्निपुराण के रचनाकाल के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत १३, अग्निपुराण में उल्लिखित पूर्वाचार्य १४, अग्निपुराण और शब्दाङ्कपद्धति १४, अग्निपुराण और स्मृति-साहित्य १५, अग्निपुराण और अमरकोश १५, अग्निपुराण और नाट्यशास्त्र १६, अग्निपुराण और भामह १८, अग्निपुराण और दण्डी २१, अग्निपुराण और आनन्दवर्धन २४, अग्निपुराण और विष्णुधर्मोत्तरपुराण २५, अग्निपुराण और अन्य शास्त्रीय ग्रन्थ २५, अन्तरङ्ग प्रमाण २६, निष्कर्ष २८।

अग्निपुराण के प्रकाशित और अप्रकाशित संस्करण—२८ प्रकाशित संस्करण २९, अप्रकाशित संस्करण ३०, मुद्रित अग्निपुराण की प्रतियाँ ३५ पाठ-समीक्षा ३७।

अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्र– ३८, वाङ्मय तथा काव्य-स्वरूपविमर्श ४१, काव्य-प्रकार ४२, नाटकादिलक्षण ४२, नाटक लक्षण की द्विधा प्रवृत्ति ४३, पूर्वरङ्ग और उसके बत्तीस अङ्ग ४३, छः नाटकीय गुण ४३, रस-विमर्श ४३, रस और भाव ४४। **रीति-वृत्ति-प्रवृत्ति-विचार**—४५, **अभिनयादि-निरूपण**—४६, अलङ्कार-विमर्श ४७, गुण-विमर्श ४७, दोष-विमर्श ४८।

प्रथम अध्याय

[काव्यादि लक्षण] ३–३१

वाङ्मय का स्वरूप ४, वाङ्मय के भेद—शास्त्र, इतिहास और काव्य ४, काव्य-हेतु ७, वर्ण और पद ९, वाक्य का स्वरूप १०, काव्य-लक्षण ११, काव्य का कारण १५, काव्य-भेद १६।

गद्यकाव्य का स्वरूप १७, गद्य काव्य के प्रकार—चूर्णक, उत्कालिका और वृत्तगन्धि १७।

गद्यकाव्य के भेद—आख्यायिका १९, कथा २०, खण्डकथा २०, परिकथा २०, कथानिका २१।

पद्य का लक्षण २२, पद्य काव्य के भेद २३, महाकाव्य का लक्षण २३, कलापक का लक्षण २९, विशेषक और कुलक का लक्षण २९, मुक्तक का लक्षण ३०, कोष का लक्षण ३०।

मिश्रकाव्य का लक्षण ३१, मिश्रकाव्य के भेद ३१, चम्पूकाव्य ३१।

द्वितीय अध्याय

[**नायकादि लक्षण**] ३२–४७

मिश्रकाव्य नाटक के सत्ताइस भेद ३३, नाटक के लक्षण की द्विविध प्रवृत्ति—सामान्य और विशेष ३४, सामान्य लक्षण ३४, पूर्वरङ्ग के बत्तीस अङ्ग ३४, पूर्वरङ्ग का लक्षण, ३५, नान्दी का लक्षण, ३५,

आमुख का लक्षण—(प्रस्तावना), ३६, आमुख के तीन भेद—प्रवृत्तक ३७, कथोद्घात ३७, और प्रयोगातिशय ३७।

इतिवृत्त—३८, इतिवृत्त के दो भेद—सिद्ध और उत्प्रेक्षित ३८, पाँच अर्थप्रकृतियाँ ३८, पाँच अवस्थाएँ ३८, पाँच सन्धियाँ ३८।

पाँच अर्थप्रकृतियाँ—बीज ३९, विन्दु ३९, पताका ३९, प्रकरी ४०, और कार्य ४०।

पांच चेष्टाएँ—आरम्भ ४०, यत्न ४०, प्राप्तिसम्भव ४०, नियताप्ति ४० और फलयोग ४०।

पाँच सन्धियाँ—मुख ४१, प्रतिमुख ४१, गर्भसन्धि ४२, विमर्श ४२, और निर्वहण, ४२, देश और काल, ४६, सन्ध्यङ्ग-निरूपण, ४७।

तृतीय अध्याय

[**नाटकादि—विशेषलक्षण**] ४८–७०

नाटक का लक्षण, ४८ प्रकरण का लक्षण ४९, डिम का लक्षण ५०, ईहामृग का लक्षण ५१, समवकार का लक्षण ५२, प्रहसन, ५४, व्यायोग ५६, भाण ५६, वीथी ५७, अङ्क ५८, तोटक ५९, नाटिका ५९, शाटक ६०, शिल्पक ६१, संलापक ६२, दुर्मल्ली ६२, प्रस्थान ६३, भाणिका ६४, भाणी ६५, गोष्ठी ६५, हल्लीसक ६६, काव्य ६६, श्रीगदित ६७, नाट्यरासक ६७, रासक ६८, उल्लाप्य ६९, प्रेङ्क्षण ७०।

चतुर्थ अध्याय

[**रसादि निरूपण**] ७१–१०८

रस का स्वरूप—७१, रस के भेद ७५, शृङ्गार रस और उसके भेद ७८, हास्यरस और उसके भेद ८२, करुणरस और उसके भेद ८३, रौद्ररस और उसके भेद ८४, वीररस और उसके भेद ८४, भयानकरस और उसके भेद ८५, वीभत्सरस और उसके भेद ८५, अद्भुतरस और उसके भेद ८६, शान्तरस ८७।

रस और भाव—८९, स्थायीभाव ८९, सात्त्विकभाव ९३, व्यभिचारीभाव ९४ ।

विभाव—विभाव का लक्षण ९८, आलम्बन विभाव ९८, नायक केभेद ९९, नायक के सहायक ६०१ नायिका भेद १०२, उद्दीपन विभाव १०३ ।

अनुभाव—अनुभाव का लक्षण १०४, अनुभाव के प्रकार १०४, पौरुष मनोऽनुभाव १०५ भावादिलक्षण १०३, वागारम्भ १०६ वागारम्भ के भेद १०७बु द्धयारम्भ १०८ बुद्धयारम्भ के भेद ।

पञ्चम अध्याय

[रीति-वृत्ति-लक्षण] १८९–११८

रीति-स्वरूप-विवेचन—१०९, रीति के भेद ११० पाञ्चाली ११०, गौड़ी ११०, वैदर्भी १०१०, लाटी १११ ।

वृत्ति-विवेचन—वृत्ति का स्वरूप १११, वृत्ति के भेद १११,

भारती वृत्ति ११२, भारती वृत्ति के अङ्ग ११३ वीथी ११३, प्रहसन ११५, आमुख ११५, प्ररोचना ११५ ।

आरभटी वृत्ति ११६, आरभटी के भेद ११६ ।

कैशिकी वृत्ति ११७, कौशिकी वृत्ति के भेद ११७ (नर्मस्फुर्ज, नर्मगर्भ, नर्मस्फोट, नर्म) ।

सात्त्वती वृत्ति —११८ सात्त्वती वृत्ति के भेद ११८ ।

षष्ठ अध्याय

[अभिनयादिनिरूपण] ११९–१२९

अभिनय का लक्षण ११९ अभिनय के भेद ११९ सात्त्विक १२०, वाचिक १२०, आङ्गिक १२०, आहार्य १२० अङ्ग-प्रत्यङ्गादि चेष्टाएँ १२१, लीला आदि बारह चेष्टाएँ १२२ ।

आङ्गिक अभिनय—अङ्ग-प्रत्यङ्ग विचार १२४, शिरोऽभिनय १२४, हस्ताभिनय १२५, हस्ताभिनय के भेद १२५, असंयुतहस्त १२५, संयुतहस्त १२६, उरोऽभिनय के भेद १२७, उदर के भेद १२७, पार्श्वाभिनय १२७, जङ्घाकर्म १२७, पादकर्म १२७ ।

प्रत्यङ्ग के लक्षण एवं भेद—१२८, भ्रूकर्म १२८, त्रिधा दृष्टि १२८, रसजादृष्टि १२८, स्थायीभावजदृष्टि १२८, संचारीभाव की दृष्टियाँ १२८ । तारकाकर्म १२९, नासिकाकर्म १२९, निःश्वास १२९, ओष्ठकर्म १२९, चिबुक-क्रिया १२९, ग्रीवा के कार्य १२९ ।

सप्तम अध्याय

[शब्दालङ्कार-विवेचन] १३०–२१४

अलङ्कार का स्वरूप १३०, अलङ्कार के प्रकार १३०, शब्दालङ्कार का लक्षण १३३, शब्दालङ्कार के भेद १३४ ।

(१) छायालङ्कार—छायालङ्कार का लक्षण १३४, छाया के भेद १३४ लोकोक्ति १३५ छेकोक्ति १३५ अर्भकोक्ति १३७ ।

(२) मुद्रालङ्कार—मुद्रालङ्कार का लक्षण १३७ ।

(३) उक्ति अलङ्कार—उक्ति अलङ्कार का लक्षण तथा भेद १३८ ।

(४) युक्ति अलङ्कार—युक्ति अलङ्कार का लक्षण तथा भेद १४१ ।

(५) गुम्फना अलङ्कार—गुम्फना का लक्षण तथा भेद १४३ ।

(६) वाकोवाक्य अलङ्कार—वाकोवाक्य का लक्षण तथा भेद १४५, ऋजूक्ति १४५ वक्रोक्ति १४५ ।

(७) अनुप्रास अलङ्कार—अनुप्रास का लक्षण १४७, अनुप्रास के भेद १४७, एकवर्णावृत्ति अनुप्रास तथा भेद १४८, मधुरावृत्ति १४८, ललितावृत्ति १५०, प्रौढ़ावृत्ति १५१, भद्रावृत्ति १५१, परुषावृत्ति १५२ ।

अनेकवर्णावृत्ति अनुप्रास तथा भेद—यमक अलङ्कार का लक्षण १५५, अव्यपेत यमक १५६, व्यपेत यमक १६१ ।

पादावृत्ति अनुप्रास—लक्षण तथा भेद १६५ ।

वाक्यावृत्ति अनुप्रास—लक्षण तथा भेद १६७ ।

(८) चित्रालङ्कार—चित्रालङ्कार का लक्षण तथा भेद १६९ प्रश्न का लक्षण १७० प्रहेलिका १७२ समागता १७३, प्रमुदिता १७४ व्युत्क्रान्ता १७५, वञ्चिता १७६, ग्रथिता १७७ परुषा १७८ संख्याता १७९ प्रकल्पिता १८० समानशब्दोपन्यस्ता १८१, संमूढा १८२ निभृता ४८३ नामान्तरिता १८४ योगमाला १८५ एकच्छन्ना १८७ उभयच्छिन्ना १८६ सङ्कीर्णा १८७ गुप्तचित्रालङ्कार १८८, च्युतचित्रालङ्कार १८८ दत्तचित्रालङ्कार १९० च्युतदत्त १९१ समस्या चित्रालङ्कार १९२ ।

(९) दुष्कर अलङ्कार—दुष्कर का लक्षण १९३ नियम का लक्षण १९३ विपर्यय का लक्षण १९५ बन्ध अलङ्कार का लक्षण तथा भेद १९७ गोमूत्रिका १९८ अर्द्धभ्रमण २०० सर्वतोभद्र २०२ कमलबन्ध (अम्बुज) २०१, चक्रबन्ध २०६ चक्राब्जबन्ध २०९ दण्डबन्ध २१०, मुरजबन्ध २१७ अन्य बन्ध २१४ ।

अष्टम अध्याय

[अर्थालङ्कार-विवेचन] २१४–२५०

अर्थालङ्कार का लक्षण—२१६, अर्थालङ्कार का महत्त्व २१६, अर्थालङ्कार के भेद २१७ ।

(१) स्वरूप अलङ्कार—लक्षण एवं भेद २१७,

(२) सादृश्य अलङ्कार—लक्षण तथा भेद २१९, (क) उपमा अलङ्कार का लक्षण २१९, उपमा के भेद २२० धर्मोपमा २२५ परस्परोपमा २२६ विपरीतोपमा २२७ नियमोपमा २२७ समुच्चयोपमा २२९ व्यतिरेकोपमा २२९ बहूपमा २३० मालोपमा २३१ विक्रियोपमा २३१ अद्भुतोपमा २३२ मोहोपमा २३३ संशयोपमा २३३, निश्चयोपमा २३४ वाक्यार्थोपमा २३५ आत्मोपमा २३५ अन्योपमा २३६ गगनोपमा २३७ प्रशंसोपमा २३७ निन्दोपमा २३८ कल्पितोपमा २३८ सदृशी उपमा २३९ किञ्चित्सदृशी उपमा २३९ ।

(ख) रूपक २४० (ग) सहोक्ति २४१ (घ) अर्थान्तरन्यास २४१ ।

(३) उत्प्रेक्षा अलङ्कार २४२

(४) अतिशयोक्ति अलङ्कार २४३

(५) विभावना २४४

(६) विशेषोक्ति २४५ ।

(७) विरोध २४६

(८) हेतु २४७ (कारक हेतु—ज्ञापक हेतु) ।

नवम अध्याय

[उभयालङ्कार-विवेचन] २५१-२८४

उभयालङ्कार के भेद २५१ ।

(१) प्रशस्ति २५२, (२) कान्ति २५३, (३) औचित्य २५४, (४) संक्षेप २५५, (५) यावदर्थता २५५ ।

(६) अभिव्यक्ति २५६, अभिव्यक्ति के भेद २५७, लक्षणा का स्वरूप २६० ।

लक्षणा के भेद २६०-२६१ । आक्षेप २७१, स्तुत या स्तोत्र २७७, समासोक्ति २७८, अपह्नुति २७९, पर्यायोक्त २८०, समाख्या २८२ ।

दशम अध्याय

[काव्य गुणविवेचन] २८५-३१२

गुण का महत्त्व २८५, गुण-लक्षण २८७, गुणभेद २८७, सामान्यगुण २८९, सामान्यगुण के भेदः २८९ ।

शब्दगुण—लक्षण और भेद २९०, श्लेष २९१, लालित्य २९२, गाम्भीर्य २९३, सौकुमार्य २९४, औदार्य २९५, ओज २९६, यौगिक गुण २९७ ।

अर्थगुण—लक्षण और भेद २९७, माधुर्य २९८, संविधान २९९, कोमलता २९९, उदारता ३००, प्रौढ़ि ३०१, सामयिकत्व ३०२,

शब्दार्थोभयगुण—लक्षण और भेद ३०४, प्रसादगुण ३०४, सौभाग्य ३०५, यथासंख्य ३०५, प्रशस्ति ३०६, पाकगुण ३०७, रागगुण ३०९ ।

एकादश अध्याय

[काव्यदोषविवेक] ३१३–३४३

दोषलक्षण ३१४, दोष भेद ३१४, वक्तृदोष ३१५, वाचकदोष ३१६ । पददोष—लक्षण एवं भेद ३१६, असाधुत्व ३१७ ।

अप्रयुक्तत्व – लक्षण एवं भेद ३१७, छान्दसत्व ३१८, अविस्पष्टार्थता ३१८, असामयिकता ३२०, ग्राम्यता ३२१ ।

अर्थदोष – लक्षण एवं भेद ३२२, साधारण दोष का लक्षण एवं भेद ३२२, क्रियाभ्रंश ३२३, कारकभ्रंश ३२३, विसन्धि ३२३, पुनरुक्तत्व ३२५ व्यस्तसम्बन्धिता २२७ व्यस्तसम्बन्धिता के भेद ३२७ ।

प्रातिस्विकदोष—लक्षण एवं भेद ३३०, पदवाच्य ३२१, वाक्यवाचक दोष ३२२ ।

दोषपरिहार—३३४, असामायिकत्व (समयच्युति) ३३६, छेदसिद्धान्त ३३७ ।

अग्निपुराणोक्तं

काव्यालङ्कारशास्त्रम्

प्रथमोऽध्यायः[1]

काव्यादि-लक्षणम्[2]

अग्निरुवाच

काव्यस्य नाटकादेश्च लक्षणानि[3] वदाम्यथ[4]

काव्यप्रभावृत्तिः

आग्नेयपुराणे शिक्षाध्याये शिक्षोपदेशानन्तरमग्निना वसिष्ठाय यदुक्तं तत् सूत आह—अग्निरुवाचेति। वसिष्ठाय महर्षयेऽग्निरुवाच। यदुवाच तदिदम्—काव्यस्येत्यादि। अथेति शिक्षोपदेशानन्तरं काव्यस्य लक्षणं तथा नाटकादेश्च नाटकस्याऽऽदिना प्रकरणादीनां लक्षणानि तदूर्ध्वं वदामीति वर्तमानसामीप्ये भविष्यति लट्। नाटकादेः काव्यत्वेन प्राप्तौ पृथग्वचनं विशेषधर्मत्वात्। विशेषधर्मश्चायं काव्यानां गद्यानामस्ति प्रभेद आख्यायिकादिः, पद्यानामस्ति महाकाव्यादिः महाकाव्यादेश्च प्रभेदो नास्ति, मिश्रकाव्यप्रभेदयोश्चम्पूप्रकीर्णयोश्चम्पूप्रभेदो नास्ति, सन्ति तु प्रकीर्णस्य प्रभेदा नाटकादय इति पृथगुक्तिः।

अर्थ—अग्निदेव ने कहा है कि अब इसके बाद काव्य, नाटक आदि के लक्षणों का वर्णन करता हूँ।

विमर्श—काव्यप्रभावृत्तिकार ने अथ शब्द का अर्थ 'शिक्षोपदेशानन्तरम्' किया है। अग्निपुराण के ३३६ वें अध्याय में शिक्षा का निरूपण किया गया है। इसके पश्चात् ३३७ वें अध्याय से काव्यादिलक्षण का निरूपण किया जा रहा है। अर्थात् शिक्षा-निरूपण के अनन्तर अग्निदेव ने काव्य, नाटक, प्रकरण आदि के लक्षणों का विवेचन किया है।

---

१. अग्निपुराणे ३३७ तमोऽध्यायो दृश्यते, भ, म पुस्तकयोः ३३६ तमोऽध्यायः, ख पुस्तके ३२१ तमोऽध्यायः।

२. ख, छ, ज पुस्तकेषु 'काव्यादिलक्षणम्' इति नास्ति।

३. अग्निपुराणे प्रायः 'अलङ्कारान्' इति पाठो दृश्यते, वङ्गलालिप्यां हस्तलिखितग्रन्थे 'लक्षणानि' इति पाठः। 'लक्षणानि' इति पाठस्य समीचीनत्वात् तदेव मया गृहीतम्।

४. छ पुस्तके 'वदाम्यहम्' इति पाठः।

तत्र काव्यस्य नाटकादेश्च वाक्स्वरूपत्वादादौ वाङ्मयं वस्तूपदिश्यते—

ध्वनि[1]र्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद्वाङ्मयं मतम् ।
शास्त्रेतिहासकाव्यानां[2] त्रयं यत्र समाप्यते ।। १ ।।

काव्यप्रभावृत्तिः

ध्वनिरुभयालङ्कारप्रकरणेऽभिव्यक्तिविशेष आक्षेपो नाम वक्ष्यते । स च वर्णपदवाक्यव्यतिरिक्तोऽनेकवर्णानेकपदानेकवाक्योगादर्थान्तरं ध्वनयति । श्रुत्यर्थातिरिक्तार्थध्वननाद्ध्वनिरित्युच्यते । वक्तृणा[3] मभिव्यक्तिविशेष आक्षेप इत्युच्यते । तद्ध्वन्यभिव्यङ्ग्योऽर्थोऽपि ध्वनिरित्युच्यते, स एवेह विवक्षितः । वाङ्मयशास्त्रादिविषयत्वात् श्रवणेन्द्रियग्राह्योऽर्थस्तु शब्दो ध्वनिः । स तु ध्वनिः द्विविधः—एको ध्वनिमात्ररूपो वीणादिसम्भवो निरर्थकः, अपरो वर्णमयः सार्थकः । तत्रार्थो मुख्यो लाक्षणिको गौणो व्यङ्ग्यश्चेति । ते चत्वारोऽर्था वर्ण्या, ते च वर्ण्या यैर्ध्वनिभिर्वर्ण्यन्ते, ते वर्णाः । वर्णनं तु तद् यदेवमिति वचनम् । ते च वर्णा अकारादयो ध्वनयः शिक्षाध्याये उपदिष्टाः । श्रुत्यर्थवन्तो ध्वनयः शब्दा वर्णा इति । पदं विभक्त्यन्तमनेकवर्णात्मकम् । वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना तत् पदावलीति । इत्येतद्वाक्यं वाक् ।

अर्थ—प्रथम वाङ्मय का स्वरूप बताते हैं—ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य ये मिलकर वाङ्मय कहलाते हैं । शास्त्र, इतिहास और काव्य तीनों वाङ्मय के अन्तर्गत आते हैं ।।१।।

विमर्श—ध्वनि, वर्ण, पद, वाक्य ये चार वाणी के अधिष्ठान हैं । अग्निपुराण में आक्षेप को ध्वनि कहा गया है और अभिव्यक्तिविशेष ही आक्षेप है । आक्षेप अथवा ध्वनि वर्ण, पद और वाक्य से अतिरिक्त अर्थ का ध्वनन करता है, इसलिए उसे 'ध्वनि' कहते हैं । ध्वनि दो प्रकार की होती है—प्रथम केवल ध्वनिरूप वीणा आदि से उत्पन्न निरर्थक ध्वनि और दूसरा सार्थक वर्णरूप । अर्थ चार प्रकार का होता है—मुख्य, लाक्षणिक, गौण और व्यङ्ग्य । ये अर्थ (वर्ण्य) जिन ध्वनियों से वर्णित होते हैं, वे 'वर्ण' कहे जाते हैं । अकारादि ध्वनि ही वर्ण हैं, जिनका शिक्षाध्याय में विवेचन किया गया है । इस प्रकार सार्थक ध्वनियों को वर्ण कहा गया है । विभक्त्यन्त (सुप्-तिङ् विभक्तियों से युक्त) वर्णसमूह को पद कहते हैं और अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन करनेवाली पदावली (पदसमूह) वाक्य कहा जाता है । ये सब मिलकर वाङ्मय कहलाते हैं ।

---

१. घ पुस्तके 'धृति' इति पाठः ।

२. क, ख, च, छ, ब, भ, य पुस्तकेषु 'वाक्यानाम्' इति पाठः । 'घ' पुस्तके 'वाक्यहाय्यानाम्' । किन्तु 'काव्यानाम्' इति पाठस्य समीचीनत्वात् तदेव गृहीतम् ।

३. अर्थसंगत्यभिप्रायेण 'वक्तृणाम्' इति पाठः समीचीनः प्रतिभाति ।

ननु शास्त्रमितिहासश्चेति द्वयमपि काव्यरूपं त्रयं च वाङ्मयं कथं पृथगुच्यत इत्यत आह—

शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेऽर्थनिष्ठता[1] ।
अभिधाया प्रधानत्वात्काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ।। २ ।।

काव्यप्रभावृत्तिः

शास्त्रेतिहासकाव्यानां तद्वाक्यात्मकानां त्रयं तद्वाक्यात्मकं शास्त्रमितिहासः काव्यञ्च यत्र ग्रन्थे समाप्यते, तदेतत् समाप्तिमच्छास्त्रम्, समाप्तिमानितिहासः, समाप्तं काव्यञ्चेति त्रयं वाङ्मयं मतम् । तत् शास्त्रसमाप्तिपर्यन्तमेकं वाङ्मयं शास्त्रं नाम । तदितिहाससमाप्तिपर्यन्तं द्वितीयं वाङ्मयमितिहासो नाम । तदुभयातिरिक्तकाव्य-समाप्तिपर्यन्तं तृतीयं काव्यं नाम वाङ्मयमिति । तत्र शास्त्रं धर्मादिसाधनं वेदादि, यस्य पाठे तु शुभफलमिहामुत्र च भवति । इतिहासः पुरावृत्तः । काव्यमिह वक्ष्यते ।। १ ।।

शास्त्रे षडङ्गसहितवेदादौ तन्मूलके चार्षे तन्त्रे मन्वादि-संहितादौ यस्य यस्य त्र पाठे फलमुक्तम्, तत्र सर्वत्र फलप्रधानत्वम्, पदानां स्वरतो वर्णतश्चोच्चारणेन पाठे शुभफलजनकत्वात्, स्वरतो वर्णतश्चान्यथात्वेनोच्चारणेन पाठाद्विफलत्वाच्च । इतिहासे तु पुरावृत्तमात्राभिधायके कविकृते सन्दर्भेऽर्थनिष्ठता । तदभिहितवृत्तान्त-

---

शास्त्र, इतिहास और काव्य ये तीनों वाङ्मय कहलाते हैं । जिसकी समाप्ति शास्त्रों तक है, उसे शास्त्र-वाङ्मय कहते हैं । शास्त्र के अन्तर्गत वेदादि आते हैं, जिनके अध्ययन से इहलोक तथा परलोक में शुभ फल होता है । जिस वाङ्मय की इतिहास में समाप्ति होती है, उसे इतिहास वाङ्मय कहते हैं । इतिहास के अन्तर्गत रामायण, महाभारत, पुराणादि का समावेश होता है । इन दोनों के अतिरिक्त समस्त वाङ्मय काव्य के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार वाङ्मय तीन प्रकार का होता है—शास्त्र, इतिहास और काव्य ।।१।।

अब प्रश्न यह उठता है कि शास्त्र और इतिहास ये दोनों काव्यरूप ही हैं, तो काव्य को तीसरा वाङ्मय क्यों कहते हैं ? इस पर कहते हैं—

अर्थ—शास्त्र में शब्द प्रधान होता है, इतिहास में अर्थ की प्रधानता होती है और काव्य में अभिधा शक्ति की प्रधानता होती है, यही तीनों का विभाजक तत्त्व है ।। २ ।।

विमर्श—अग्निपुराण में वाङ्मय की त्रिविध शैली का निर्देश किया गया है—शब्दप्रधान, अर्थप्रधान और अभिधाप्रधान । शब्दप्रधान वेदादि शास्त्र हैं; क्योंकि वेदादि शास्त्रों का अक्षरशः शुद्ध उच्चारण करने पर शुभ फल की प्राप्ति होती है और स्वर

---

१. क, ख, ग, ब, भ, म, य पुस्तकेषु 'इतिहासेषु निष्ठता' इति पाठः, न, ल पुस्तकयोः 'इतिहासेषु तिष्ठता' तथा घ, छ पुस्तकयोः 'इतिहासेऽव्यनिष्ठता' पाठः । किन्तु अर्थसंगत्याभिप्रायेण 'इतिहासेऽर्थनिष्ठता' इत्येव पाठः समीचीनः । अतस्तदेव गृहीतम् ।

काव्यप्रभावृत्तिः

ज्ञानमात्रम्, न तत्पाठे फलमन्यत् किञ्चिदस्ति शुभाशुभरूपमभ्युदयाय। ततः शास्त्राद्भेद इतिहासस्य इति तत्रार्थमात्रनिष्ठता, न तु शब्दप्रधानत्वम्। स्वरतो वर्णतश्चोच्चारणेन पाठेऽन्यथा वा पाठे शुभाशुभफलजनकत्वाभावात्। अभिधायाः शब्दानामर्थाभिधाने शक्तेः प्रधानत्वाद् वाक्यसमाप्तिपर्यन्तं वाङ्मयं काव्यं ताभ्यां शास्त्रेतिहासाभ्यां विभिद्यते। नहि काव्ये शब्दप्रधानत्वं स्वरतो वर्णतश्चोच्चारणेन परत्रेह च किञ्चिदभ्युदयसाधनफलमस्ति, न वा तदर्थज्ञानेन केवलं पुराकल्पज्ञानं भवति। यथा—

मातर्गृहोपकरणं सर्वं निष्पादितं त्वया।
तद्ब्रूहि किं मया कार्यमेवं स्थास्यति किं दिनम्॥

इत्येवं शास्त्रेतिहासकाव्यानां भेदैः शास्त्रे चेतिहासे चालङ्कारगुणयोगाद्दोषाभावे च काव्यत्वं भवति, तच्च शास्त्रकाव्ययोरितिहासकाव्ययोर्मिश्रीभावे तु तदुभयप्राधान्यं शास्त्रेतिहासमिश्रवदिति। त्रयाणां मिश्रीभावे शब्दार्थाभिधानां तिसृणां प्राधान्यं बोध्यमिति। इत्येवं शास्त्रेतिहासकाव्यानां भेदवचनेन शब्दप्रधानवाङ्मयं शास्त्रम्। अर्थप्रधानवाङ्मयमितिहासः, अभिधाप्रधानवाङ्मयं काव्यमिति लक्षणं ख्यापितम्॥ २॥

अथवा वर्ण से अशुद्ध उच्चारण करने पर अशुभ फल की प्राप्ति होती है। अतः वेदशास्त्रादि के अध्ययन में शब्दों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसीलिए वे शब्दप्रधान कहे जाते हैं। इतिहास में शब्द-प्रधान नहीं होता है, उसमें अर्थ की प्रधानता होती है; क्योंकि इतिहास पुरावृत्त मात्र का अभिधायक होता है। राजशेखर ने इतिहास के दो भेद बताये हैं—पुराकल्प और परिक्रिया।

वाङ्मय की तीसरी विधा अभिधा-प्रधान काव्य है। इस काव्य में न शब्द की प्रधानता होती है, न अर्थ की, बल्कि दोनों से भिन्न अभिधा शक्ति की प्रधानता होती है। भट्टनायक ने भी अग्निपुराणोक्त वाङ्मय-विभाग को ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार वेद में शब्द की प्रधानता और आख्यान (इतिहास) में अर्थ की प्रधानता होती है; किन्तु काव्य में व्यापार की प्रधानता होती है। महिमभट्ट ने भी उक्त विभाजन को स्वीकार किया है। इस प्रकार शब्द-प्रधान वाङ्मय को शास्त्र, अर्थप्रधान वाङ्मय को इतिहास और अभिधा-प्रधान वाङ्मय को काव्य कहा जाता है। जैसे—

मातर्गृहोपकरणं सर्वं निष्पादितं त्वया।
तद् ब्रूहि किं मया कार्यमेवं स्थास्यति किं दिनम्?॥

कोई नायिका कहती है—'हे मातः! घर का सारा कार्य तुमने कर लिया है। अब बताओ, मुझे क्या करना चाहिए? इस प्रकार दिन तो स्थायी नहीं रहेगा।' यहाँ पर नायिका स्वच्छन्द विहार के लिए उपपति के पास जाना चाहती है, यह अभिधेय है।

ननु शास्त्रे चेतिहासे चालङ्कारगुणयोगाद् दोषाभावे च वाङ्मय-कविकर्मत्वाच्च काव्यत्वं भवति। तच्च शास्त्रकाव्ययोरितिहासकाव्ययोर्मिश्रीभावे तु तदुभयप्राधान्यं शास्त्रेतिहासमिश्रवत्। त्रयाणां मिश्रीभावे शब्दार्थाभिधानां तिसृणां प्राधान्ये बोध्यमिति। एवंविधकाव्यकर्त्तृत्वं न सर्वस्य भवति, तदाह—

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा[1]।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा[2] ॥३॥

काव्यप्रभावृत्तिः

इह लोके जायमानेषु प्राणिषु मध्ये नरत्वं मनुष्यजात्यां जन्म दुर्लभम्, बहुपुण्येन दुःखकृतेन लभ्यम्। यदि बहुपुण्येन नरजात्यां जायते, तत्र च तस्य नरस्य विद्या दुर्लभाऽतिशयपुण्येन विद्या लभ्यते। यदि कश्चिन्नरोऽतिशयपुण्येन विद्यावान् भवति, तत्र विद्यावतां कवित्वं काव्यरचनाकर्त्तृत्वं दुर्लभम् ॥३॥

शास्त्र और इतिहास में गुण और अलङ्कार का योग होने पर तथा दोष का अभाव होने पर कवि कर्म होने से काव्य कहा जाता है। शास्त्र में शब्द की प्रधानता होती है और इतिहास में अर्थ की। जब शास्त्र और इतिहास का मिश्रीभाव होगा तो उसमें शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता रहेगी और वह 'शास्त्रेतिहास' कहलायेगा। इसी प्रकार जब शास्त्र और काव्य का मिश्रीभाव होगा, तो तदुभयप्रधान शास्त्रकाव्य (काव्यशास्त्र) कहलायेगा और इसी प्रकार जब इतिहास और काव्य का मिश्रीभाव होगा, तो अर्थ और अभिधा की प्रधानता होने से तदुभयप्रधान इतिहासकाव्य (काव्येतिहास) कहलायेगा। शास्त्र, इतिहास और काव्य तीनों का मिश्रण होने पर शब्द, अर्थ और अभिधा तीनों की प्रधानता रहेगी। इस प्रकार के काव्य-रचना की शक्ति सब में नहीं होती, इसी बात को अग्निदेव कहते हैं—

अर्थ—'संसार में मानव-जन्म प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है और यदि मानव-जन्म मिल भी जाय तो उसमें विद्या-प्राप्ति दुर्लभ है, यदि विद्या भी प्राप्त हो जाय तो कवित्व होना तो अत्यन्त दुर्लभ है और कवित्व भी यदि हो तो उसमें 'शक्ति' अति दुर्लभ है। यदि शक्ति भी हो तो व्युत्पत्ति का ज्ञान कठिन है, यदि व्युत्पत्ति का भी ज्ञान हो तो 'विवेक' अत्यन्त दुर्लभ है। अविद्वान् पुरुष सारा शास्त्र खोजने पर भी विवेक-ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता' ॥३-४॥

विमर्श—अग्निदेव का कथन है कि संसार में मानव-जन्म दुर्लभ है, यदि किसी पुण्य से मानव-जन्म मिल भी जाय, तो उसमें विद्या दुर्लभ है, यदि किसी पुण्य से विद्या की प्राप्ति भी हो जाय, तो उसमें काव्य-रचना-कौशल होना अत्यन्त दुर्लभ है और कोई मनुष्य

---

१. क, छ, ध पुस्तकेषु 'च दुर्लभा' इति पाठः।
२. 'सुदुर्लभा' इति पाठान्तरम्।

व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः ।
सर्वं शास्त्रमविद्वद्भिर्मृग्यमाणं न सिद्धयति ॥४॥

काव्यप्रभावृत्तिः

यदि कश्चिन्नरो बहुपुण्येन कविर्भवति, तत्र च तस्य नरस्य शक्तिः काव्य-रचनाकरणसमर्थता दुर्लभा । यदि कश्चिन्नरः काव्यरचनाकरणसामर्थ्यवान् भवति, तत्र शक्तिमतो व्युत्पत्तिः शास्त्रार्थव्यापारशक्तिः दुर्लभा । तत्र यदि कश्चिन्नरो विद्यावान् कविः शक्तिमान् व्युत्पन्नश्च भवति, तत्र शास्त्रार्थानां विवेकस्तेषां दुर्लभः । कस्मात् ? सर्वशास्त्रमविद्वद्भिर्मृग्यमाणो न सिद्धयति । यतः सर्वे नरा न सर्वाणि शास्त्राणि विदन्ति, कश्चित्तु किञ्चित् । शास्त्रार्थविवेकस्तु सर्वशास्त्रमविद्वभिर्नरैः, किञ्चित् शास्त्रं विद्वद्भिर्मृग्यमाणो विवेको न सिद्धयति । तस्मात्तत्र विवेकोऽतिदुर्लभ इति । विद्याव्युत्पत्तिविवेकवांस्तु कविर्भवति । तस्मात् कवित्वमतिदुर्लभमिति ख्यापितम् ॥ ४ ॥

प्रतिभा काव्य-रचना-कौशल भी प्राप्त कर ले तो उसमें 'शक्ति' का होना अति दुर्लभ है तथा यदि शक्ति (प्रतिभा) भी हो तो व्युत्पत्ति-ज्ञान होना दुर्लभ है । यदि किसी पुरुष में विद्या, कवित्व, शक्ति, व्युत्पत्ति सभी हों, तो उनमें 'विवेक' अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि सभी मनुष्य सभी शास्त्रों को नहीं जानते हैं । अतः सभी शास्त्रों को न जानने वाले मनुष्य को 'विवेक' नहीं मिल सकता है, इसलिए विवेक को अत्यन्त दुर्लभ कहा गया है ।

काव्यशास्त्र में शक्ति, व्युत्पत्ति (निपुणता) और अभ्यास तीनों को काव्य का हेतु कहा गया है । सर्वप्रथम महर्षि वेदव्यास ने अग्निपुराण में शक्ति (प्रतिभा), व्युत्पत्ति (निपुणता) और विवेक (अभ्यास) को काव्य के हेतु के रूप में निर्देश किया है । उनका कथन है कि कवि में शक्ति (प्रतिभा) होना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि शक्ति ही कवित्व का बीज है, जिसके विना कवि काव्य का निर्माण नहीं कर सकता । यदि कवि में कवित्व-शक्ति भी हो तो भी व्युत्पत्ति (निपुणता) अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि बिना व्युत्पत्ति-ज्ञान के काव्य का निर्माण हो ही नहीं सकता । शक्ति और व्युत्पत्ति के साथ-साथ विवेक (अभ्यास) भी आवश्यक है । जब तक कवि में विवेक नहीं होगा, तब तक वह काव्य निर्माण कर ही नहीं सकता, अतः काव्य-निर्माण में तीनों को आवश्यक बताया गया है । मम्मट ने तो तीनों के समुदित रूप को काव्य का हेतु कहा है; क्योंकि काव्यरूप कार्य के प्रति वे तीनों अलग-अलग कारण नहीं हो सकते ।

वर्णादीनाह—

आदिवर्णा द्वितीयाश्च महाप्राणां[1]स्तुरीयकाः ।
वर्गेषु[2] वर्णवृन्दं स्यात् पदं सुप्तिङ्प्रभेदतः[3] ॥५॥

काव्यप्रभावृत्तिः

आदयोऽकारादयो हकारान्ता वर्णाः । तत्र कादयः पञ्च पञ्च वर्गसंज्ञाः प्रसिद्धाः । कवर्ग-चवर्ग-टवर्ग-तवर्ग-पवर्गाश्च पञ्च । तेषु पञ्चसु वर्गेषु खल्वेकैकवर्गे ये द्वितीयाः ख-छ-ठ-थ-फाः, ये च तुरीयकाश्चतुर्थकाश्च घ-झ-ढ-ध-भास्ते महाप्राणाः, बलाधिकवेगेनोच्चार्या भवन्ति । शेषाः स्वल्पप्राणा वर्णाः । ललिताख्यानुप्रासे महाप्राणादिवर्गप्रयोगः प्रयोजनमिति । वर्णानुपदिश्य पदमाह—वर्णवृन्दं पदं स्यात् सुप्तिङ्प्रभेदवत् । सुप्प्रभेदः स्वौजसादिः, तिङ्प्रभेदस्तिप्तसादिः । सुबन्तं तिङन्तञ्चेति द्विधा प्रभेदयुतं तेन भू-पचादिकं वर्णवृन्दं न पदम् ॥ ५ ॥

ध्वनि का निरूपण करने के पश्चात् अब वर्ण और पद का निरूपण करते हैं—

अर्थ—अ से लेकर ह पर्यन्त वर्ण वर्गों में बद्ध हैं । इनमें वर्ग के द्वितीय एवं चतुर्थ अक्षर महाप्राण हैं (शेष अल्पप्राण हैं) । सुबन्त और तिङन्त भेद से वर्ण समूह को पद कहते हैं ॥ ५ ॥

विमर्श—आदिवर्णा—आदयो वर्णा, आदिवर्णाः, अ (अकारः) आदिर्येषां ते आदयः—अकारादयः । अ है आदि में जिसके ऐसे वर्ण अर्थात् अ से लेकर ह पर्यन्त 'वर्णवृन्द' कहे जाते हैं । इनमें कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग ये पाँच वर्ग हैं । इन पाँचों वर्गों के प्रत्येक वर्ग के द्वितीय एवं चतुर्थ अक्षर महाप्राण हैं और शेष अर्थात् प्रथम, तृतीय एवं पञ्चम अल्पप्राण हैं ।

इसके पश्चात् वर्णों का उपदेश करके अब पद का स्वरूप बताते हैं—वर्णसमूह को पद कहते हैं । यह सुप् और तिङ् भेद से दो प्रकार का होता है—सुबन्त और तिङन्त । सुबन्त में सु, औ, जस् आदि विभक्तियाँ लगती हैं और तिङन्त में तिप्, तस्, झि आदि प्रत्यय लगते हैं । इस प्रकार सुबन्त और तिङन्त ये पद कहलाते हैं और भू, पच् आदि धातुओं को पद नहीं कहा जाता; क्योंकि इनमें सुप् या तिङ् विभक्ति नहीं लगी है, अतः ये न सुबन्त पद हैं और न तिङन्त ॥ ५ ॥

---

१. ग पुस्तके 'महाप्राणाः सनाशब्दः' पाठः ।
२. घ पुस्तके 'संख्येषु' पाठः । 'छ' पुस्तके 'पर्णेषु' पाठः ।
३. 'उ०' पुस्तके 'भेदवत्' इति पाठः ।

वाक्यमाह—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।

काव्यप्रभावृत्तिः

इष्टार्थेन खलु विवक्षितार्थेन व्यवच्छिन्ना अविवक्षितार्थाद् व्यच्छिद्यते या पदावली तद्वाक्यं संक्षेपात् सामान्यवचनाद् भवति, न तु विशेषवचनात्, यथा देवदत्तो ग्रामं गच्छतीति। इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली वाक्यं भवति इति सर्वेषां वाक्यानामेकमेव लक्षणम्, न तु प्रत्येकवाक्यस्यैतल्लक्षणमित्यत आह—संक्षेपादिति। नानार्थपदानां यत्रार्थे विवक्षया प्रयोगस्तदर्थ एव तत्पदस्य तद्वाक्यघटकत्वं न चाविवक्षितार्थे, यथा—बुभुक्षितो धावति सत्वरं हरिरिति। सिंहे विवक्षया प्रयुक्तो हरिशब्दो वाक्यघटको न वानराद्यविवक्षितेऽर्थे वाक्यघटक इति वानराद्यर्थे तन्न वाक्यम्। पदावलीतिवचनादेकं पदं न वाक्यमिति। इष्टार्थेति वचनेन पदावलेः परस्परमन्वययोगत्वे सन्निधाने च सति योऽर्थो वक्तुमिष्टः, सोऽर्थ इष्टार्थः। तेन भुङ्क्ते वीणां देवदत्तोऽन्नं शृणोतीति न वाक्यमन्वयाभावात् सन्निधानाभावाच्च। वह्निना सिञ्चति वृक्षमिति च न वाक्यं योग्यत्वाभावादिति ॥

वाङ्मयेषु शास्त्रेतिहासकाव्येषु वर्ण-पद-वाक्यानि लक्षयित्वा शास्त्रेतिहासाभ्यां भिन्नं वाङ्मयं काव्यं यदुक्तं तच्च कवेरिष्टार्थ-समाप्तिमदभिधाप्रधानवाङ्मयं

इसके पश्चात् वाक्य का निरूपण करते हैं—

अर्थ—इष्ट अर्थ से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं।

विमर्श—पद का निरूपण करने के पश्चात् वाक्य का निरूपण करते हैं कि 'इष्ट (विवक्षित) अर्थ से युक्त पदावली वाक्य है'। यह सभी वाक्यों का सामान्य लक्षण है। अनेकार्थक पदों का जिस अर्थ में विवक्षा होती है, वही अर्थ उस पद का विवक्षित अर्थ है। जैसे—'बुभुक्षितो धावति सत्वरं हरिरिति' अर्थात् 'भूखा शेर शीघ्र दौड़ता है' इस उदाहरण में सिंह की विवक्षा में हरि शब्द का प्रयोग है, वानर आदि अविवक्षित अर्थ में उसका प्रयोग नहीं हैं, अतः वह वाक्य नहीं कहलायेगा। पदों का परस्पर अन्वय योग्यता और सन्निधान होने पर जो अर्थ कहने के लिए अभीष्ट हो, वही 'इष्टार्थ' है। अत एव 'भुङ्क्ते वीणां देवदत्तोऽन्नं शृणोति' यह वाक्य नहीं कहलायेगा, क्योंकि इसमें परस्पर अन्वय नहीं हैं—'वीणा का भक्षण नहीं होता और अन्न सुना नहीं जाता है'। 'वह्निना सिञ्चति वृक्षम्' यह भी वाक्य नहीं कहलायेगा, यहाँ योग्यता का अभाव है, अर्थात् अग्नि में सेचन क्रिया की योग्यता नहीं है।

काव्यस्वरूपमाह—

काव्यं[1]स्फुरदलङ्कारं[2] गुणवद्दोषवर्जितम्[3] ॥६॥

काव्यप्रभावृत्तिः

काव्यमिति लक्षणं सामान्यतः काव्यस्य ज्ञापयित्वा प्रशस्तकाव्यं लक्षयति—काव्यमित्यादि। तदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली वाक्यं समाप्तिमदेवाभिधाप्रधानवाङ्मयं यत् स्फुरदलङ्कारगुणवद्दोषवर्जितश्च भवति, तत्काव्यं श्रेष्ठं काव्यमित्युन्नेयम्। निरलङ्कारमथवा गुणहीनं दोषवच्च यद्वाङ्मयं काव्यम्, तन्न श्रेष्ठं काव्यं भवति, न त्वकाव्यं स्यात्। वक्ष्यते हि—

अङ्गहीननरो यद्वन्न श्रेष्ठः काव्यमेव तत्।
गुणालङ्काररहितं न श्रेष्ठं काव्यमित्यतः॥

वक्ष्यते च—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।

तथा—

सुभगङ्करणोऽर्थानामर्थालङ्कार इष्यते।
तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्।
अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती॥

अर्थ—स्पष्ट अलङ्कार युक्त, गुणवत् (गुणयुक्त) और दोष-रहित पदावली (वाक्यसमूह) को काव्य कहते हैं ॥ ६ ॥

विमर्श—शास्त्र, इतिहास, काव्यरूप वाङ्मय के अन्तर्गत वर्ण, पद और वाक्य का लक्षण करने के पश्चात् शास्त्र और इतिहास से भिन्न अभिधा प्रधान वाङ्मय को काव्य कहा गया है। यह काव्य का सामान्य लक्षण है। अब प्रशस्त काव्य का लक्षण-निरूपण करते हैं—

'इष्ट अर्थ से युक्त पदावली को वाक्य कहते हैं और स्फुट अलङ्कारयुक्त, गुणयुक्त तथा दोष-रहित अभिधाप्रधान वाङ्मय को उत्तम काव्य कहते हैं। जो अलङ्कारहीन, गुण-विहीन एवं दोषसमन्वित वाङ्मय है, उसे न उत्तम काव्य कहेंगे और न अकाव्य। जैसा कि आगे कहेंगे—

---

१. 'क' पुस्तके 'वाक्यम्' इति पाठः।
२. ख, च, छ, ब, म पुस्तकेषु स्फुटदलङ्कारं इति पाठः।
३. क पुस्तके गुणवर्गोथवर्जितम्।

काव्यप्रभावृतिः

तथा वक्ष्यते—

अलङ्कृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत् ।
वपुष्यलङ्कृते स्त्रीणां भारो हारायते परम् ॥
शब्दार्थावुपकुर्वाणो नाम्नोभयगुणः स्मृतः ।
उद्वेगजनको दोषः सभ्यानां स च सप्तधा ॥

तस्मात्स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितमारम्भपरिसमाप्तिपर्यन्तं वाङ्मयं काव्यं श्रेष्ठं भवति । तच्च काव्यमिह वक्ष्यते—गद्यात्मकमाख्यायिकादिपञ्चविधम्, पद्यात्मकं महाकाव्यादिकं गद्य-पद्य-मिश्रकाव्यं चम्पूनाटकादिकमष्टाविंशतिविधमिति । तत्र नाटके किं गद्यं वा पद्यं वा गद्यपद्यमिश्रं वा काव्यम् । तस्मादिदमुक्तम्—सगुणौ सालङ्कारौ निर्दोषौ चार्थशब्दौ न्यस्तावेव काव्यम् । तत् त्रिविधमुत्तमं मध्यममधमञ्चेति ।

जिस प्रकार अङ्गों से रहित मनुष्य श्रेष्ठ नहीं कहा जाता है, उसी प्रकार गुण और अलङ्कारों से रहित काव्य भी श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है । दण्डी ने भी कहा है कि 'काव्य के शोभाकारक धर्म अलङ्कारों को कहते हैं ।' इस प्रकार अलङ्कार काव्य के शोभाकारक धर्म हैं और भी 'अर्थों के अलङ्करण को अर्थालङ्कार कहते हैं, उसके विना शब्द सौन्दर्य होने पर भी काव्य हृदयहारी नहीं हो सकता है । अर्थालङ्कार से रहित सरस्वती (वाणी) विधवा स्त्री के समान है ।' इसके पश्चात् आगे कहते हैं कि जिस प्रकार नारी के असुन्दर शरीर में रत्नों का हार भार बन जाता है, उसी प्रकार अलङ्कृत होने पर भी गुणों से रहित काव्य आह्लादक नहीं होता है । शब्द और अर्थ दोनों के उपकार करनेवाले गुणों को उभयगुण कहा गया है । सहृदयों के हृदय को उद्विग्न (क्षुब्ध) करने वाला तत्त्व काव्य-दोष कहा जाता है ।

इस प्रकार स्फुट अलङ्कारों से युक्त, गुणों से समन्वित एवं दोषों से रहित वाङ्मय ही श्रेष्ठ काव्य होता है । उस काव्य का आगे निरूपण करेंगे । गद्यात्मक काव्य के आख्यायिका आदि पञ्च प्रकार होते हैं, पद्यात्मक काव्य के महाकाव्य आदि और गद्य-पद्य मिश्रित काव्य के चम्पू, नाटक आदि अट्ठाइस भेद होते हैं । इस प्रकार सगुण, सालङ्कार और निर्दोष शब्दार्थ काव्य कहलाते हैं । जैसा कि मम्मट ने कहा है—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ।"

काव्य के तीन भेद होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम । जहाँ पर वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य में अधिक चमत्कार पाया जाता है, उसे उत्तमकाव्य (ध्वनिकाव्य) कहते हैं । इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ से रहित गुणीभूतव्यङ्ग्य मध्यम काव्य कहा जाता है और व्यङ्ग्य-रहित

काव्यप्रभावृत्तिः

तत्र वाच्यार्थादतिशयितव्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनिः काव्यमुत्तमम्। तादृशव्यङ्ग्यार्थरहितगुणीभूतो व्यङ्ग्योऽर्थो मध्यमं काव्यम्। अर्थचित्रमव्यङ्ग्यं शब्दचित्रमव्यङ्ग्यश्चाधमं काव्यमिति तत् प्रमादिभिरुक्तम्। आख्यायिकादिमहाकाव्यादिषु चम्पूनाटकादिषु एकैकस्मिन् काव्ये ह्यारम्भसमाप्तिपर्यन्ते वाच्यार्थादतिशयितव्यङ्ग्यार्थासम्भवादुत्तमं काव्यत्वं न सम्भवति। तथा मध्यमाधमकाव्यत्वञ्च न सम्भवति।

स्फुरदलङ्कारमिति—स्फुरन् स्पष्टीभवन्नलङ्कारो यत्र तत् स्फुरदलङ्कारं नत्वस्फुटालङ्कारम्। अलङ्कारगुणदोषा अत्र वक्ष्यन्ते। तत्रालङ्कारेष्वभिव्यक्तनामोभयालङ्कार उक्तः। स च द्विधा—श्रुतिराक्षेपश्चेति। तत्र श्रुतिर्द्विधा—मुख्या, औपचारिकी चेति। मुख्या त्वभिधा नाम शक्तिः सर्वेष्वेव शब्देषु वर्तते। तस्मान्नास्ति वाक्यं निरलङ्कारम्। सर्वं वाक्यं सालङ्कारमपि यदस्फुटालङ्कारं तन्न श्रेष्ठं काव्यं भवतीत्यत उक्तम्—स्फुरदिति। कश्चालङ्कारः कतिविधश्चेति तदभिधानार्थश्चालङ्कारेति। यथा—

हंसो हरिर्गौरमृतं प्रदीव्यति कविर्बुधः।
पयोधराच्युतं क्षीरं पीयतेऽखिलमीप्सुभिः॥

अत्र नानार्थत्वाच्छब्दानामस्फुटैवाभिधा। तस्मान्न काव्यमिदं श्रेष्ठम्।

शब्दचित्र तथा अर्थचित्र अधम काव्य कहा जाता है; किन्तु ऐसा प्रमादी कहते हैं; क्योंकि आख्यायिका, महाकाव्य, चम्पूकाव्य, नाटक आदि में एक-एक काव्य में आरम्भ से समाप्ति पर्यन्त वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ का चमत्कार असम्भव होने से उत्तम काव्य नहीं कहा जायगा। इसी प्रकार मध्यमकाव्य और अधमकाव्य भी नहीं कहा जायगा।

अग्निपुराणोक्त काव्यलक्षण में तीन पद हैं—स्फुरदलङ्कारम्, गुणवत् और दोषवर्जितम्। एक-एक का विवेचन करते हैं—

स्फुरदलङ्कारमिति—यहाँ पर 'स्फुरदलङ्कारम्' से तात्पर्य है जहाँ पर अलङ्कार स्पष्ट हों। अग्निपुराणकार ने श्रुति नामक एक उभयालङ्कार माना है। उन्होंने श्रुति के दो भेद किये हैं—मुख्या और औपचारिकी। इनमें अभिधा नामक शक्ति है, जो सभी शब्दों में रहती है। इसलिए सभी वाक्य अलङ्कारयुक्त होते हैं और अलङ्कार-रहित कोई वाक्य नहीं होता है। मम्मट भी स्फुटालङ्कार रहित शब्दार्थ को वाक्य मानते हैं।

इस प्रकार निर्गुण भी काव्य होता है तो गुणवत् विशेषण क्यों दिया? कहते हैं कि गुणों का स्वरूप क्या है और कितने गुण होते है? यह बताने के लिए गुणवत् विशेषण दिया है। यहाँ गुणों के अभाव को दोष नहीं माना गया है, क्योंकि सभी काव्य गुणयुक्त होते हैं,

काव्यप्रभावृत्तिः

एवं निर्गुणमपि काव्यमस्तीति किमर्थं गुणवदिति विशेषणमिति चेत्, तथापि के गुणाः ? कतिविधाश्चेति तदभिधानार्थं गुणवदिति । अथ न गुणाभावो दोषः । सर्वं हि वाक्यं सगुणं तदनुक्तौ के दोषाः कतिविधाश्चेति तदभिधानार्थं दोषवर्जितामिति गुणालङ्कारदोषा इहाभिधेया इति ख्यापितम् । तथा च विद्याव्युत्पत्तिविवेकवता पुरुषेणेष्टार्थसमाप्तिमद्वाक्यरचनाशक्तिमता कविना कृतं स्फुरदलङ्कारंगुणवद्दोषवर्जितयारम्भपरिसमाप्तिपर्यन्तमाख्यायिकादि । यथोक्तलक्षणं वाक्यं काव्यं श्रेष्ठम् । तथाविधशक्तिमान् हि कविरुच्यते, न त्वन्यविषयकर्मकर्तृपुरुषः कविरुच्यते । आख्यादिकादिषु काव्येष्वेकादिकं गद्यं पद्यं वा पद्यस्फुटालंकारादिविरूपं भवति, न तदाख्यायिकादिकाव्यत्वहानिः स्यादिति । यच्चोक्तं रसात्मकं काव्यमिति, तदपि न साधु । सर्वेषां काव्यानां न ह्यात्मा रस एव, नीरसकाव्यस्य काव्यत्वानुपपत्तेः । न चास्ति नीरसं काव्यमिहि चेन्न दुष्कराख्यशब्दालङ्कारे स्वयमत्र वक्ष्यते—

दुःखेन कृतमत्यर्थं कविसामर्थ्यसूचकम् ।
दुष्करं नीरसत्वेऽपि विदग्धानां महोत्सवम् ॥

पर्याबन्धे काव्ये हि सर्वं दुष्करं भेदबद्धालङ्कारं काव्यं तस्मात् तन्नीरसं काव्यं कथं रसात्मकं स्यादिति ? ॥ ६ ॥

उसके न कहने पर दोष क्या हैं और कितने होते हैं ? यह बताने के लिए 'दोषवर्जितम्' यह कहा है । इस प्रकार गुण, अलङ्कार और दोष यहाँ अभिधेय हैं, ऐसा कहा गया है । विद्या, व्युत्पत्ति एवं विवेक सम्पन्न तथा इष्टार्थ वाक्य की रचना-शक्ति से सम्पन्न कवि के द्वारा किया स्फुट अलङ्कार से युक्त, गुणों से समन्वित तथा दोष-रहित आख्यायिकादि उत्तम काव्य हैं और उक्त प्रकार की शक्ति से युक्त पुरुष कवि कहा जाता है, यदि आख्यायिकादि काव्यों में स्फुट अलङ्कारादि नहीं होंगे, तो आख्यायिकादि काव्य नहीं कहलायेंगे ।

जैसा कि विश्वनाथ ने 'रसात्मक वाक्य को काव्य कहा है' वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि सभी वाक्यों में रस आत्मा नहीं होती है । यदि सभी काव्यों में रस को आत्मा मानेगें तो नीरस काव्य, काव्य नहीं कहलायेगा । यदि यह कहा जाय कि नीरस काव्य काव्य नहीं होता तो 'दुष्कर' नामक शब्दालङ्कार में काव्य नहीं कहलायेगा, जबकि दुष्कर अलङ्कार भी काव्य कहा जाता है । जैसा कि आगे बन्ध काव्यों के विवेचन के अवसर पर कहते हैं कि—

'कवि जिस काव्य का कष्ट से रचना करता है, वह कवि के सामर्थ्य का सूचक होता है । नीरस होने पर भी वह काव्य विदग्धों (पण्डितों) के लिए आह्लादक होता है ।' जब नीरस काव्य भी आह्लादक होता है, तो रसात्मक वाक्य को काव्य कैसे कह सकते हैं ? ॥ ६ ॥

नन्विदं काव्यं किं लोके कविभिरुत्पाद्यतेऽथवा वेदे प्रसिद्धमिति का भवत्यस्य योनिरित्यत आह भगवानग्निः—

योनिर्वेदश्च लोकश्च[1] सिद्धमर्थादयोनिजम्[2] ।
देवादीनां[3] संस्कृतं स्यात्[4] प्राकृतं त्रिविधं नृणाम् ॥७॥

काव्यप्रभावृत्तिः

काव्यमिदनुवर्त्तते । तदिदं काव्यमर्थात्सिद्धं तस्मादयोनिजम् अर्थतः सिद्धत्वेनायोनिकत्वेऽपि चास्य काव्यस्य योनिराकरः प्रकाशस्थानं वेदश्च लोकश्च । वेदे सिद्धं काव्यमस्ति, लोके स्वर्लोके नागलोके भूलोके च कविनिष्पाद्यं काव्यमस्ति । तत्र देवादीनां काव्यं संस्कृतं त्रिविधं स्यात् । आदिना यक्षरक्षःसिद्धसाध्यगुह्यकनागादीनाम् । ये च नरादयः संस्कृतं जानन्ति, तेषां च संस्कृतं वाक्यं त्रिविधं स्यात् । नृणां संस्कृतमविदुषां च स्वदेशभाषया निष्पाद्यं त्रिविधं काव्यं स्यात् । वेदे प्रसिद्धं काव्यं त्वधीतवेदानामिति ख्यापितमिति ॥ ७ ॥

अब प्रश्न यह है कि यह काव्य लोक में कवियों के द्वारा उत्पाद्य होता है अथवा वेद में प्रसिद्ध है ? काव्य की योनि (कारण) क्या है ? भगवान् अग्निदेव कहते हैं—

अर्थ—'काव्य का आधार लोक और वेद है । अर्थ की दृष्टि से काव्य अयोनिज है । देवताओं की भाषा संस्कृत है और मनुष्यों की भाषा तीन प्रकार की प्राकृत है' ॥७॥

विमर्श—अयोनिज होने पर काव्य का प्रकाशस्थान (उद्भवस्थान) वेद है और लोक भी । वेद में काव्य स्वतः सिद्ध है और लोक में काव्य कवि-निष्पाद्य होता है । उनमें देवता तथा मनुष्यों के संस्कृत काव्य तीन प्रकार के होते हैं और संस्कृत न जाननेवाले मनुष्यों की भाषा स्वदेशीय भाषा होती है । यह भी तीन प्रकार की होती है ।

---

१. 'ख' पुस्तके 'लोकेन' पाठः ।

२. ख, ङ, च, व, भ, म, य, क, पुस्तकेषु 'सिद्धभन्नादयोनिजम्' इति पाठः । 'छ' पुस्तके 'सिद्धमन्त्रादयोनिजम्' पाठः ।

३. प, फ पुस्तकयोः 'वेदादीनाम्' इति पाठः ।

४. क पुस्तके 'स्यात् प्राकृतं' नास्ति ।

अथ तावद्वेदे लोके च त्रिविधं काव्यं कीदृशमित्यत आह—

गद्यं पद्यञ्च मिश्रञ्च काव्यं हि त्रिविधं स्मृतम् ।

काव्यप्रभावृत्तिः

वेदे वैदिकं संस्कृतं गद्यं पद्यं मिश्रञ्चेति त्रिविधं काव्यं स्मृतम् । लोकेऽपि लौकिकं संस्कृतं गद्यं पद्यं मिश्रञ्चेति त्रिविधं काव्यं देवादीनाम् । नृणां तु प्राकृतं तत्तत्स्वदेशभाषया कृतं गद्यं पद्यं मिश्रञ्चेति त्रिविधं काव्यं स्मृतम् । तेन मिश्रमिति गद्यपद्यमिश्रम् । वैदिकं संस्कृतं गद्यपद्यमिश्रं वेदे । लोके लौकिकं संस्कृतं गद्यपद्यमिश्रं देवादीनाम् । प्राकृतं गद्यपद्यमिश्रं नृणामिति, न तु संस्कृत-प्राकृतमिश्रं वेदे देवानीनाञ्च तदसम्भवात् । देवादीनां हि संस्कृतं काव्यं त्रिविधं स्यात् । तत्र प्राकृतस्यावचनात् । नृणाञ्च प्राकृतं त्रिविधं काव्यं स्यात्, तत्र संस्कृतस्यावचनाच्च । नाटके तु संस्कृतेऽपि भारतीवृत्तौ—

वाक्प्रधाना नरप्राया स्त्रीयुक्ता प्राकृतोक्तिता ।
भरतेन प्रणीतत्वाद् भारती रीतिरुच्यते ॥

इति यदुक्तं स्त्रीप्रयुक्तं प्राकृतोक्तिविधानम्, तन्न दुष्यति देवादीनां सर्वेषामेव प्राकृतभाषाज्ञानवत्वात् ॥

लोक और वेद में तीन प्रकार के काव्य होते हैं । उनका स्वरूप क्या है? कहते हैं कि—

अर्थ—गद्य, पद्य और मिश्र तीन प्रकार के काव्य होते हैं ।

विमर्श—जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि वैदिक, लौकिक और प्राकृत तीन प्रकार की संस्कृत होती है । वेद में (वैदिक संस्कृत में) गद्य, पद्य और मिश्र ये तीन प्रकार के काव्य होते हैं, लोक में भी (लौकिकसंस्कृत में) गद्य, पद्य और मिश्र ये तीन प्रकार के काव्य देवादि के होते हैं । मनुष्यों की प्राकृतभाषा में भी गद्य, पद्य और मिश्र ये तीन प्रकार के काव्य होते हैं । इस प्रकार गद्य-पद्य मिश्रित काव्य को मिश्रकाव्य कहते हैं ।

तत्रादौ गद्यं लक्षयति—

अपादः[1]पदसन्तानो गद्यं तदपि गद्यते ।
चूर्णकोत्कालिकावृत्तगन्धि[2]भेदात् त्रिरूपकम् ॥ ८ ॥

तत्र चूर्णकोत्कलिके द्वे लक्षयति—

अल्पाल्पविग्रहं[3] नातिगूढसन्दर्भनिर्भरम् ।
चूर्णकं नामतो दीर्घसमासोत्कलिका[4] भवेत् ॥ ९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

पादः पद्यचतुर्थांशरूपेण निर्देशस्तत्पादरहितः पदसन्तानः पदसमूहो वाक्यं गद्यमुच्यते । तदपि गद्यं त्रिरूपकं गद्यते—चूर्णकमुत्कलिकावृत्तगन्धि चेति भेदादिति ॥ ८ ॥

अल्पाल्पो विग्रहो गद्यस्य यस्य शरीरं तदल्पाल्पविग्रहं गद्यम् । यद्यनतिगूढ-सन्दर्भनिर्भरं नातिगूढो नास्त्यतिसंवृतार्थशब्देन सन्दर्भस्यात्यस्फुटार्थतया ग्रन्थनस्य निर्भरमातिशय्यं यत्र तत् । अतिगूढार्थरहितं तद् गद्यं नामतश्चूर्णकं भवति । यथा—"प्रातरुत्थाय ब्राह्मणोऽभीष्टं स्मृत्वा देवं, कृत्वा च मैत्राणि कर्माणि सरस्तडागादिषु देवखातेषु स्नायादिति ।"

उत्कलिकां लक्षयति—दीर्घसमासोत्कलिका भवेदिति । यत्र गद्ये दीर्घः समासः सोत्कलिका नामतो गद्यं भवेत् । यथा—

"नीलसरसिरुहकान्तिकान्तनयनयुगखञ्जनशोभितमुखारविन्दा युवतिः रात्रिसहचरी चरति भुवि युवजनगजकुम्भविदारणपञ्चशरनखरमदनपञ्चवदन-सहाया इति" ॥ ९ ॥

अब गद्य का लक्षण बताते हैं—

अर्थ—पाद-रहित पद-समूह को 'गद्य' कहते हैं । वह चूर्णक, उत्कलिका और वृत्तगन्धि भेद से तीन प्रकार का होता है ॥ ८ ॥

विमर्श—पद्य या श्लोक का चतुर्थांश भाग 'पाद' कहा जाता है । पाद से रहित पदसमूह अर्थात् जिस वाक्य में पाद (चरण) न हों, ऐसे पदसमूह को 'गद्य' कहते हैं । यह गद्यकाव्य तीन प्रकार का होता है—चूर्णक, उत्कलिका और वृत्तगन्धि ।

अब चूर्णक और उत्कलिका नामक गद्य का लक्षण लिखते हैं—

अर्थ—अत्यल्प समास से युक्त अर्थात् छोटे-छोटे समासों से युक्त अत्यन्त गूढ़ शब्दावली से रहित गद्य चूर्णक गद्य कहलाता है और दीर्घ अर्थात् लम्बे-लम्बे समास से युक्त गद्य को उत्कलिका गद्य कहते हैं ॥९॥

---

१. 'अपदः' इति पाठान्तरम् ।
२. य पुस्तके 'वृत्तसन्धिभेदात्' इति पाठः । क, ग, घ पुस्तकेषु 'सन्धिवृत्त' इति पाठः ।
३. न, ल पुस्तकयोः 'अल्पन्याविग्रहजाति' इति पाठः ।
४. 'दीर्घसमासात् कालिका भवेत्' इति पाठान्तरम् ।

अथ वृत्तगन्धि नाम गद्यं लक्षयति—

भवेन्मध्यमसन्दर्भं नातिकुत्सितविग्रहम् ।
वृत्तच्छायाहरं वृत्तं गन्धिनैतत्[1] किलोत्कटम् ॥१०॥

त्रिविधगद्यस्वरूपमुक्त्वा गद्यभेदानाह—

आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा ।
कथानिकेति[2] मन्यन्ते गद्यकाव्यं च पञ्चधा ॥११॥

काव्यप्रभावृत्तिः

वृत्तगन्धिकाव्यं मध्यमसन्दर्भं नातिदीर्घ-ग्रन्थं नात्यल्पं ग्रन्थं नातिकुत्सित-विग्रहम् अतिकुत्सितं पदमङ्गश्रुतिकट्वादिशब्दघटितो विग्रहो न यत्र, तथाविधं गद्यं यदि वृत्तस्य लौकिकीकृतिप्रभृतिच्छन्दसश्छायां पादार्ध-पादार्धश्लोकान्यतमं हरति, तत्तच्छन्दः पादद्विपादादिमत् सद् यदि चोत्कलिकोत्कटमुत्कलिकावहनं न स्यात्तदा वृत्तगन्धि नाम गद्यं भवेत् । यथा—

"इमामधिरोढुकामः पञ्चशरान् गृहीत्वा पादजानूरूकटिवक्षःकण्ठवक्त्राणि सोपानमारुरोह क्रमेणेति ।"

इत्येवं चूर्णकैर्वाक्यैः काव्यं यत्र समाप्यते, स वाङ्मयो ग्रन्थश्चूर्णकं नाम काव्यम्, तथोत्कलिकाभिर्वाक्यैर्यत्र समाप्यते काव्यं स वाङ्मयो ग्रन्थ उत्कलिका नाम गद्यकाव्यम्, तथा वृत्तगन्धिभिर्वाक्यैर्यत्र काव्यं समाप्यते स वाङ्मयो ग्रन्थो वृत्तगन्धिनाम गद्यकाव्यम् । एवमेषां त्रिविधगद्यानामन्यतरैस्त्रिविधैर्वा गद्यैर्यत्काव्यं समाप्यते, तच्च गद्यकाव्यम् । संस्कृतवन्नराणां प्राकृतगद्यकाव्यं च द्रष्टव्यम् । ॥१०॥

विमर्श—काव्यप्रभावृत्तिकार का कथन है कि अतिगूढ़ अर्थ से रहित गद्य चूर्णक तथा दीर्घ समासों से युक्त गद्य 'उत्कलिका' गद्य कहलाता है ॥९॥

इसके बाद वृत्तगन्धि नामक गद्य का लक्षण करते हैं—

अर्थ—जहाँ पर अत्यन्त दीर्घ एवं अत्यन्त लघु और अत्यन्त कर्कश प्रौढ़ समास न हो तथा वृत्त की छाया अत्यन्त क्षीण हो, उसे वृत्तगन्धि गद्य कहते हैं ॥१०॥

विमर्श—जहाँ पर चूर्णक नाम गद्य से काव्य की समाप्ति होती है, वह वाङ्मय चूर्णक गद्य-काव्य और जहाँ उत्कलिका नाम गद्य वाक्यों से ग्रन्थ की समाप्ति होती है उसे उत्कलिका गद्य काव्य तथा जहाँ वृत्तगन्धि नामक गद्य से ग्रन्थ की समाप्ति होती है उसे वृत्तगन्धि गद्यकाव्य कहते हैं । इस प्रकार त्रिविध गद्यों में किसी एक गद्य से जहाँ ग्रन्थ की समाप्ति होती है उसे गद्यकाव्य कहते हैं । इसी प्रकार प्राकृत गद्य काव्यों के भी लक्षण होते हैं ।१०॥

---

१. य पुस्तके 'सन्धिनैतत्' इति पाठः ।

२. 'कथा नैकेन' इति पाठन्तरम् ।

तत्राख्यायिकां लक्ष्यति—

कर्त्तुर्वंशप्रशंसा स्याद्यत्र[1] गद्येन विस्तरात् ।
कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भविपत्तयः ॥१३॥
भवन्ति यत्र दीप्ताश्च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः ।
उच्छ्वासैश्च[2] परिच्छेदो यत्र या चूर्णकोत्तरा ॥
वक्त्रं चापरवक्त्रं च यत्र साऽऽख्यायिका स्मृता ॥१४॥

काव्यप्रभावृत्तिः

यत्र सन्दर्भे कर्त्तुस्तद्ग्रन्थकर्त्तुः स्ववंशप्रशंसा विस्तराद् बाहुल्यात् गद्येन चूर्णकादिना कृता स्यात् तथा स्वयम्वरादिषु कन्याहरणञ्च संग्रामो युद्धं विप्रलम्भः पूर्वानुराग-मान-प्रवास-करुणा विपत्तिरशुभोत्पत्तिश्चेत्येते भवन्ति । तथा यत्र सन्दर्भे चतुर्धा वृत्तिः प्रवृत्तिश्च दीप्ताः स्फुटीभवन्ति, यत्र च सन्दर्भे वक्तुरुच्छ्वासैर्निःश्वासनिवृत्तौ पुनरुच्छ्वासे प्रवर्त्तमाने व्यवच्छेदो भवति । या च तत्सन्दर्भरूपा चूर्णकोत्तरा चूर्णकाख्यगद्यमुच्छ्वासैर्व्यवच्छेदे शेषे वर्त्तते, न चोत्कालिकावृत्तगन्धिका एवं तत्र वाक्यं नामानुष्टुप्छन्दोऽथवाऽपरवक्त्रं नाम स्यान्नान्यछन्दः·····स्यात् सा आख्यायिका नाम गद्यवाक्यम् ग्रन्थः स्मृता ॥१३-१४॥

अर्थ—गद्यकाव्य पाँच प्रकार होते हैं—आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा और कथानिका ॥ १२ ॥

इनमें प्रथम आख्यायिका का लक्षण बताते हैं—

अर्थ—जिस गद्य में ग्रन्थकर्त्ता के वंश की प्रशंसा विस्तार से वर्णित हो, कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ आदि विपत्तियाँ वर्णित हों, जहाँ पर रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति चमत्काररूप में स्फुट प्रस्तुत हो, जिसके परिच्छेद उच्छ्वासों में वर्णित हो, जिसमें चूर्णक नाम गद्य का प्रयोग हो तथा जहाँ पर वक्त्र तथा अपरवक्त्र नामक छन्दों का प्रयोग हो, उसे 'आख्यायिका' कहते हैं ॥ १३-१४ ॥

---

१. ग पुस्तके 'स्यात्सूत्र' इति पाठान्तरम् ।

२. घ पुस्तके, 'उच्छासैश्च' इति पाठः ।

अथ कथां लक्षयति—

श्लोकैः स्ववंशं संक्षेपात्कविर्यत्र प्रशंसति ।
मुख्यार्थस्यावताराय[1] भवेद्यत्र कथान्तरम् ॥१६॥
परिच्छेदो न यत्र स्याद्भवेद्वा लम्बकैः[2] क्वचित् ॥
सा कथा नाम सन्दर्भो निबध्नीयाच्चतुष्पदीम् ॥१७॥

खण्डकथां परिकथां च लक्षयति—

भवेत् खण्डकथा या सा न निबन्धचतुष्पदी ।
कथाऽऽख्यायिकयोर्मिश्रीभावात् परिकथा स्मृता ॥१८॥

काव्यप्रभावृत्तिः

यत्र सन्दर्भे गद्यग्रन्थे कविः प्रथमं स्ववंशं श्लोकैः पद्यैः संक्षेपात् प्रशंसति तथानन्तरं मुख्यस्याभिधेयस्यावतरणार्थं कथान्तरं यत्र प्रशंसति ततो मुख्यार्थस्यावतरणं भवेत् । यत्र परिच्छेदो नास्ति अथवा क्वचिद्विप्रलम्भैः परिच्छेदः स्यात् या निबन्धचतुष्पदी स्याच्चतुष्पद्या पुनर्न निबध्यते या सा कथा नाम गद्यकाव्यं स्यात् ॥ १६ ॥

यत्र सन्दर्भे सर्वकथा समं किन्तु यत्र कथायां कर्त्तुर्वंशं श्लोकैश्चतुष्पदीभिर्न प्रशंसति इत्यनिबन्धचतुष्पदी या कथा सा खण्डकथा भवेत् । अथ परिकथां लक्षयति-कथा चाऽऽख्यायिका च तयोर्मिश्रीभावात् परिकथानाम गद्यकाव्यग्रन्थो भवति । तथा कवेः स्ववंशप्रशंसां बाहुल्यात् गद्येन कृत्वा संक्षेपेण श्लोकैः कृत्वा मुख्यस्याभिधेयस्यावतरणार्थं कथान्तरं निरूप्य मुख्याभिधानं कर्त्तव्यम् । तत्र च कन्याहरणादीनि सर्वाण्याख्यायिकोक्तानि कथोक्तानि च सर्वाणि वर्तन्ते, परिच्छेदो न वर्तते सा परिकथा नाम गद्यकाव्यं ग्रन्थः स्यात् ॥ १७ ॥

इसके पश्चात् कथा का लक्षण बताते हैं—

अर्थ—जहाँ पर कवि पद्य में अपने वंश का संक्षेप में वर्णन करता है और मुख्य कथा के अवतरण के लिए अवान्तर कथा का सन्निवेश होता है तथा जहाँ परिच्छेद नहीं होते अथवा प्रलम्बकों में विभाजन होता है और चतुष्पदी का प्रयोग होता है उसे 'कथा' कहते हैं ॥१६॥

इसके बाद खण्डकथा का निरुपण करते हैं—

अर्थ—जहाँ पर कथा कवि अपने वंश का वर्णन चतुष्पदी के द्वारा नहीं करता है उसे 'खण्डकथा' कहते हैं । तदनन्तर 'परिकथा' का लक्षण करते हैं—कथा और आख्यायिका के मिश्रण को 'परिकथा' कहते हैं । परिकथा में कवि अपने वंश का वर्णन अधिकांश गद्य में और कुछ पद्य में करके मुख्यकथा के अवतरण के लिये अवान्तर कथा का निरूपण करता है । इसमें कन्याहरण आदि आख्यायिका तथा कथा के सभी लक्षणों का वर्णन होता है ॥१७॥

---

१. 'मुख्यस्यार्थ' इति पाठान्तरम् ।
२. क, ख, ग, घ, च, ध पुस्तकेषु 'लम्भकैः' इति पाठान्तरम् ।

अथ खण्डकथापरिकथयोर्विशेषान्तरमाह—

भवेत्खण्डकथा याऽसौ[1] याऽसौ परिकथा तयोः ।
अमात्यं[2] सार्थकं वापि द्विजं वा नायकं विदुः ॥१८॥
स्यात्तयोः करुणं विद्धि विप्रलम्भश्चतुर्विधः ।
समाप्यते तयोर्नाद्या सा कथामनुधावति ॥१९॥

अथ कथानिकां लक्षयति—

भयानकं सुखपरं गर्भे च[3] करुणो[4] रसः ।
अद्भुतोऽन्ते सुक्लृप्ता[5]र्था नोदात्ता सा कथानिका ॥२०॥

काव्यप्रभावृत्तिः

याऽसौ खण्डकथा प्रोक्ता भवेत्, या चासौ परिकथा चोक्ता तयोर्द्वयोरेव नायकं कर्तृपुरुषं तदभिधेयार्थस्य मुख्यस्यामात्यं विदुरथवा सार्थकं सङ्घिपुरुषं विदुरथवा द्विजं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याऽन्यतमं विदुः। रसस्तयोर्द्वयोः करुणो नाम चतुर्विधो विप्रलम्भश्च पूर्वरागमानप्रवासकरुणभेदात्। एवं तदुभयं गद्यकाव्यं समाप्यते। तयोः खण्डकथापरिकथयोराद्या खण्डकथा कथां नानुधावति, निबद्ध-चतुष्पदीत्वाभावात् इत्येवं लक्षणलक्षितग्रन्थोऽनुसन्धेयः ॥ १९ ॥

यत्र गद्यकाव्ये प्रथमं सुखपरं सुखबहुलं भयानकं प्रतिभयं वस्तु निर्दिश्यते। ततो गर्भे मध्ये करुणो रसो वर्ण्यते। अन्ते शेषे सुक्लृप्तार्थोऽद्भुतरसो वर्ण्यते। सा चेन्नोदात्तधीरोदात्तनायकरहिता स्यात् तदा कथानिका नाम गद्यकाव्यं ग्रन्थः स्यादिति। इत्येवं प्रकाराभावे एकद्वित्र्यादिगद्यवचनं न गद्यकाव्यं भवति, किन्तु गद्यमात्रमुच्यते ॥ २० ॥

यहाँ खण्डकथा और परिकथा का अन्तर निरूपण करते हैं—

अर्थ—जो खण्डकथा कही गयी है और जो परिकथा कही गयी है दोनों में नायक अमात्य अथवा सार्थक (व्यापारी) अथवा द्विज होता है। दोनों में ही चार प्रकार के (पूर्वराग, मान, प्रवास और विप्रलम्भ) करुण रस होता है। इन दोनों में खण्डकथा कथा का अनुसरण नहीं करती ॥ १८-१९ ॥

अब कथानिका का लक्षण करते हैं—

अर्थ—जिस काव्य में प्रथम सुखपरक भयानक रस होता हैं और गर्भ (मध्य) में करुण रस तथा अन्त में अद्भुत रस होता है और जिसका नायक धीरोदात्त नहीं होता है उसे 'कथानिका' कहते हैं ॥ २० ॥

---

१. 'क' पुस्तके 'याऽसौ' नास्ति ।
२. 'ङ' पुस्तके 'अमात्यं' इति पाठान्तरम् ।
३. 'घ' पुस्तके 'गर्भे वा' इति पाठः ।
४. 'घ' पुस्तके 'वरुणो रसः' इति पाठान्तरम् ।
५. 'क' पुस्तके 'सुकृतप्लतार्थो' इति पाठः ।

अथोद्देशक्रमादादौ पद्यलक्षणमाह—

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा[1] ।
वृत्तमक्षरसंख्ये[2]यमुक्थाद्युत्कृतिशेषकम्[3] ॥२१॥
मात्राभिर्गणना यत्र सा जातिरिति काश्यपः[4] ।
सममर्धसमं वृत्तं विषमं पैङ्गले[5] त्रिधा ॥२२॥
छन्दोविचित्यां सकलस्तत् प्रपञ्चो निर्दशितः[6] ।
सा विद्या नौस्तितूर्षाणां गम्भीरं काव्यसागरम् ॥२३॥

काव्यप्रभावृत्तिः

पादैर्निष्पाद्यं पद्यं पादः, श्लोकचतुर्थांशश्छन्दोऽनुशासनेऽभिहितः । नन्वस्ति छन्द एकपाद्द्विपाद्त्रिपाच्चतुष्पादित्येवमादि, तत्सर्वं किं पद्यमित्यत आह—चतुष्पदीति । काव्यशास्त्रे चतुर्णां पदानां समाहार इति यच्चतुष्पदीश्लोकस्तत्पद्यं न त्वेकपदी द्विपदी त्रिपदी वाऽन्यत् । वेदे तु यदेकादिपदी तद्वेदे पद्यं न तु काव्यम् । यच्च चतुष्पदी पद्यं तत्काव्यं शास्त्रं चेति मिश्रं वेदेऽपि ज्ञेयम् । तच्च पद्यं द्विधा—वृत्तं जातिश्चेति । तत्र कश्यप आह—

वृत्तमक्षरसंख्यातं यावदुक्थान्यत्कृत्यन्तम्

छन्दोऽनुशासने । तत्र लोके एकाक्षरादिक्रमेणैकादशाक्षरान्ता उक्था, इत्युक्था - मध्या - प्रतिष्ठा - सुप्रतिष्ठा - गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपंक्तित्रिष्टुपः । तथा षड्विंशत्यक्षरान्तानां मध्ये विशेषेण कतिपयाः वंशस्था-इन्द्रवंशा-तोटक-द्रुत-विलम्बादयः पूर्वं छन्दःसारे दर्शिताः । वेदे तु द्वादशाक्षरा जगती त्रयोदशाक्षराति-

---

अब पद्य काव्य का निरूपण करते हैं, पहले पद्य का लक्षण प्रतिपादित करते हैं—

अर्थ—श्लोक के चतुर्थांश को पाद कहते हैं । चार पाद वाले श्लोक को पद्य कहते हैं । पद्य दो प्रकार का होता है—वृत्त और जाति । जहाँ पर नियमानुसार अक्षरों की संख्या निर्धारित होती है उसे 'वृत्त' कहते हैं । वृत्त एक अक्षर पादवाले उक्था से लेकर २६ अन्तर के पाद वाले उत्कृति तक छब्बीस वृत्त होते हैं । आचार्य कश्यप कहते है कि जहाँ पर मात्राओं की गणना की जाती है उसे 'जाति' कहते हैं । छन्दःशास्त्र के अनुसार

---

१. क, ख, च, छ, ज, ष, न, र पुस्तकेषु 'त्रिधा' इति पाठः ।
२. न, ल पुस्तकयोः वृत्तमक्षरसंक्षेपम् इति पाठः ।
३. क, ख, च, क, ज पुस्तकेषु 'कृति शेषजम्' इति पाठः ।
४. त, द, ध पुस्तकेषु 'कश्यपः' इति पाठः ।
५. ग्रन्थान्तरेषु 'पैङ्गलम्' इति पाठान्तरम् ।
६. कारिकार्धेयं ग्रन्थान्तरेषु नास्ति ।

गद्यमुक्त्वा पद्यकाव्यं विभजते—

महाकाव्यं कलापश्च पर्याबन्धो विशेषकम् ।
कुलकं मुक्तकं कोष इति पद्यकदम्बकम्[1] ॥ २४ ॥

तन्महाकाव्यं लक्षयति—

सर्गबन्धो[2] महाकाव्यमारब्धं संस्कृतेन यत् ।
तदर्थं[3] सहजं तत्र[4] तत्समं नातिदुष्यति ॥ २५ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

जगती चतुर्दशाक्षरा शक्वरी पञ्चदशाक्षरातिशक्वरी षोड़शदशाक्षराऽष्टिः सप्तदशाक्षराऽत्यष्टिः अष्टादशाक्षरा धृतिरेकोनविंशत्यक्षरातिधृतिरेवं विंशत्यक्षरादि षड्विंशत्यक्षरपर्यन्ताः क्रमेणैकाक्षरवृद्ध्याकृतिप्रकृत्याकृतिविकृतिसंकृत्याभिकृत्युत्कृतय इत्यत चतुष्पदी गायत्र्यादिकञ्च वृत्तम् ।

जातिस्तु यत्र छन्दसि मात्राभिर्गणना पादे पादे सा सा जतिरार्यादिरिति काश्यपमतमुक्त्वा पिङ्गलमतमाह—समभित्यादि । पैङ्गले छन्दःशास्त्रे वृत्तं त्रिधा—समं चत्वारः पादाः समा इत्येकविधं वृत्तम्, अर्धसमं चतुष्पादमित्यपरविधं वृत्तम्, विषमं चतुष्पादमिति तृतीयं वृत्तमिति, इत्येवं प्रपञ्चश्छन्दसाम् । छन्दोविचित्यां छन्दोविचये पूर्वं छन्दःसारे पिङ्गलमते निर्दशितः । सा छन्दोविद्या गम्भीरं काव्यं सागरं तितीर्षूणां पाराय नौनौंकावदिति ॥ २३ ॥

महाकाव्यादिकं सप्तविधं पद्यकदम्बकं पद्यसमूहभूतं पद्यकाव्यं ग्रन्थः ॥ २४ ॥

छन्द सम, अर्धसम और विषम भेद से तीन प्रकार के होते हैं । छन्दोविचिति में यह सब विस्तार से निरूपित है । छन्दःशास्त्र का ज्ञान काव्यरूपी गम्भीर सागर को पार करने के लिए नौका के समान है ॥ २१-२३ ॥

अब पद्य काव्य का विभाजन करते हैं—

अर्थ—पद्यकाव्य सात प्रकार का होता है—महाकाव्य, कलापक, पर्याबन्ध, विशेषक, कुलक, मुक्तक और कोष ॥ २४ ॥

इनमें प्रथम महाकाव्य का लक्षण बताते हैं—

अर्थ—महाकाव्य सर्गबन्ध होना चाहिए अर्थात् महाकाव्यों की रचना सर्गों में होनी चाहिए और उसका आरम्भ संस्कृत से होना चाहिए । क्योंकि संस्कृत का अर्थ जहाँ सुस्पष्ट होता है वहाँ महाकाव्य में सुस्पष्ट अर्थ से युक्त संस्कृत प्राकृत के समान दोषयुक्त नहीं होता है ॥ २५ ॥

---

१. ग पुस्तके पद्यकुटुम्बकमिति पाठः ।
२. 'सर्गबन्धं' इत्यपि पाठः ।
३. 'क' पुस्तके 'तदास्यमजहत्' 'त' पुस्तके 'तदर्थमजहत्' ।
कुत्रचित् तादात्म्यमजहत्तम इत्यपि पाठोऽवलोक्यते ।
४. 'क' पुस्तके 'ततः' इति पाठः ।

इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
मन्त्रदूतप्रयाणाजि नियतं नातिविस्तरम् ॥ २६ ॥
श[1]क्वर्याऽतिजगत्याऽति शक्वर्या त्रिष्टुभा[2] तथा ।
पुष्पिताग्रादिभिर्वक्त्राभिजनैश्चारुभिः समैः ॥ २७ ॥

काव्यप्रभावृतिः

महाकाव्यं नाम खलु तत् यत् सर्गबन्धम् । प्रथमादिपरिच्छेदस्य सर्गति शब्देन बन्धो यत्र तत्सर्गबन्धम् । तत्पुनः संस्कृतेनारब्धं कुर्यात् । ननु संस्कृतवाङ्मयं काव्यं संस्कृतेनैवारभते न प्राकृतेन, किमर्थं पुनरिदं वचनमिति उच्यते देवादीनां संस्कृतं महाकाव्यमथवा नृणां प्राकृतं महाकाव्यं तत्प्रथमतः संस्कृतेनारभ्येत । ननु संस्कृतेन प्राकृतमहाकाव्यारम्भे मिश्रत्वं च दोषः स्यादित्यत आह—अत्र तदर्थं संस्कृतेनारम्भार्थं सहजं तस्य संस्कृतस्यार्थः सहजः सुस्फुटो यत्र तत्राभिधार्थं सहजं प्राकृतेऽपि महाकाव्ये तत्सहजार्थसंस्कृतं तत्समं प्राकृतसमं तस्मान्नातिदुष्यति प्रायशो नृणां बुद्धिगम्यत्वात् । सर्वेषां नृणां बुद्धिगम्यत्वाभावाद् किञ्चिद् दुष्यति, तदिष्टमेव ॥

तत् खल्वितिहासकथोद्भूतम् । तत्र महाकाव्ये पुरावृत्तं किमपि प्रस्तारमाश्रित्य रचयितव्यमथवा किञ्चित् सद्वृत्तान्तमाश्रित्य रचयितव्यम् । तत् पुनर्मन्त्रदूतप्रयाणाजिनियतं स्यात् । मन्त्रणा नियतेव तत्र स्यात् । विना मन्त्रणां न रचयितव्यम् । तथा दूतप्रयाणं तत्र नियतं वर्त्तेत । तथा आजिनियतं युद्धवर्णनमवश्यं तत्र कर्तव्यम् । तच्च नातिविस्तरम् । मध्यरूपेण कार्यमित्येवं महाकाव्यमारम्भसमाप्तिपर्यंतं ज्ञेयम् ।

अर्थ—महाकाव्य का इतिवृत्त इतिहास कथा से सम्बन्धित हो अथवा सज्जनों के वृत्तान्त से सम्बन्धित हो । इसमें मन्त्रणा, दूत-प्रेषण, युद्ध आदि का वर्णन होना चाहिए किन्तु अति विस्तार नहीं होना चाहिए ॥ २६ ॥

अर्थ—महाकाव्य शक्वरी, अतिशक्वरी, अतिजगती, त्रिष्टुप्, पुष्पिताग्रा, वक्त्रादि छन्दों से युक्त होना चाहिए ॥ २७ ॥

---

१. 'क' पुस्तके शकर्घ्यातिजगत्पतिशकर्य्या । 'ख' पुस्तके 'सर्गजातिजगत्यातिसर्गजात्यं 'ग' पुस्तके 'सक्वर्याति, 'ज' पुस्तके 'शक्कर्याति' इति पाठान्तराणि ।

२. 'घ' पुस्तके 'न शुभा' इति पाठः । 'द' पुस्तके 'अनुष्टुभा' इति पाठः ।

[1]युक्तं तु भिन्नवृत्तान्ता नातिसंक्षिप्तसर्गकम् ।
अतिशक्वरिका[2]ख्याद्यात्मकसंकीर्णकः[3] परः ॥ २८॥
मात्रयाऽप्यपरः सर्गः प्राशस्त्येषु[4] च पश्चिमः ।
कल्पोऽतिनिन्दितस्तस्मिन् विशेषानादरः सताम् ॥२९॥

काव्यप्रभावृत्तिः

तत्र प्रथमसर्गो नातिसंक्षिप्तः कर्तव्यः । शक्वर्या छन्दसा लौकिके नियतया चतुर्दशाक्षरपादया त्वसम्बाधया चापराजितयाऽथवा प्रहरणकलितया वसन्ततिलकया नत्वाभ्यश्चतसृभ्योऽन्याया शक्वर्या वैदिकत्वात् । अथवाऽतिजगत्या लौकिके नियतया त्रयोदशाक्षरपादया प्रहर्षिण्याऽथवा रुचिरयाऽथवा मत्तमयूराख्ययाऽथवा गौर्या नत्वन्ययाऽतिजगत्या वैदिकत्वात् । अतिशक्वर्या च लौकिके नियतया पञ्चदशाक्षरपादया, चन्द्रावर्त्याऽथवा मालयाऽथवा मणिगुणनिराख्ययाऽथवा मालिन्या वा नत्वन्ययातिशक्वर्या वैदिकत्वात् । अथवा त्रिष्टुभा खल्वेकादशाक्षरपादया सर्वया । अथवा पुष्पिताग्रादिभिरर्धसमचतुष्पदीभिः पुष्पिताग्राजगतीशिखाखञ्जाविरीतखञ्जाभिस्तथावक्राख्याभिः समं समवृत्तैः शक्वर्यातिशक्वर्यातिजगतीत्रिष्टुब्भ्यो भिन्नैश्चतुर्भिः पादैश्चारुभिर्मनोज्ञैः छन्दोभिर्युक्तं च ।

भिन्नवृत्तान्ता नातिसंक्षिप्तसर्गकमिति शक्वर्याद्यन्यतमैकेन छन्दसा पूर्वसर्गं पूर्वं पद्यं रचयेदन्ते तस्माद् वृत्ताद्भिन्नेन वृत्तेन काव्यं रचयिता नातिसंक्षेपं प्रथमसर्गसमाप्तिं कुर्याद् । द्वितीयसर्गं संकीर्णवचनादित्येवं शक्वर्यादिभ्यो भिन्नवृत्तेन न काव्यं विरचयेदिति । प्रथमे सर्गे रचनानियमः ततः परः सर्गः शक्वर्यातिजगत्यातीत्याद्युक्तातिशक्वरीप्रभृतिपुष्पिताग्रादिभिर्वक्रचारुसमवृत्तिलौकिकछन्दोभिः यथाभिलषितः संकीर्णः कर्तव्य इति । ततः परोऽपरः सर्गो मात्रया कथितैरार्यादिभिश्छन्दोभिरतिशक्वर्यादिभिश्च कार्य इत्येवं नियमेनादौ त्रयः सर्गाः कार्याः । पश्चिमः सर्वशेषसर्गः प्राशस्तेषु ग्रन्थपाठादि प्रशस्तफलेषु कर्तव्यः ।

अर्थ—सर्ग के अन्त का छन्द बदल देना चाहिए और सर्ग अत्यन्त संक्षिप्त नहीं होना चाहिए । कोई एक सर्ग अतिशक्वरी आदि छन्दों से संकीर्ण हो और दूसरा कोई सर्ग आर्या आदि मात्रा छन्दों से समन्वित हों, अन्तिम सर्ग में जहाँ सज्जनों का विशेष अनादर हो, ऐसा कल्प अतिनिन्दित है ॥ २८-२९ ॥

---

१. क, ख, ग, च, छ, ज पुस्तकेषु 'मुक्ता' इति पाठः । न, ल 'युक्ता' 'द' पुस्तके 'व्यक्ता' इति पाठान्तराणि ।

४. 'क' पुस्तके अतिशक्वरिकायाम्यां । ग, प, ल, पुस्तकेषु 'अतिशक्वरिकाद्याम्यां' 'घ' पुस्तके 'अतिशर्कदिकाष्टिभ्यां' इति पाठान्तरम् ।

३. क, ख, ग, घ, च, छ, ज पुस्तकेषु 'सङ्कीर्णकैः' इति पाठान्तरम् ।

४. 'ग' पुस्तके 'प्राशस्तेषु' इति पाठः ।

नगरा[1]र्णवशैलर्तुचन्द्रार्काश्रमपादपैः ।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ॥३०॥
दूती[2] वचनविन्यासैरसती[3] चरिताद्भुतैः ।
तमसा[4] मरुताप्यन्यैर्विभावैरपि निर्भरैः ॥३१॥
सर्ववृत्तिप्रवृत्तिभ्यां सर्वभावैः प्रभावितम् ।
सर्वरीतिरसैर्जुष्टं पुष्टं गुणविभूषणैः ॥३२॥

काव्यप्रभावृत्तिः

एवं तस्मिन्नेव पश्चिमे सर्गेऽतिनिन्दितः कल्पो, यावान् विवक्षितः सतां विशेषानादरश्चर्वणयितव्य इति नियमः चतुर्थादिषु सर्गेषु तन्महाकाव्यं नगरादिवर्णनम्, उद्यानक्रीड़ा, जलक्रीड़ा, मद्यपानोत्सवः, सुरतोत्सवः, दूतीवचनविन्यासः अद्भुतचरितमसतां, तपस्या, वायुवर्णनमित्येतैर्विभावैः तथान्यैर्यावदिष्टेस्तथा निर्भरैरतिशयितैर्विभावैरालम्बनविभावैरुद्दीपनविभावैश्च जुष्टं सर्ववृत्तिप्रवृत्तिभ्यां सर्वाभिर्भारत्यारभटीकैशिकीसात्वतीभिर्वृत्तिभिः, सर्वाभिश्च प्रवृत्तिभिरंगप्रत्यंगक्रियाभिः शिरः कम्पभिर्जुष्टं सर्वभावैः स्थायीभावैर्व्यभिचारिभावैश्च प्रभावितं कार्यम् । तथा सर्वाभिः रीतिभिः सर्वैश्च रसैर्जुष्टम् । गुणैर्विभूषणैरलङ्कारैःच पुष्टं यत्काव्यं तन्महाकाव्यमतएव सर्गबन्धादि महत्वात् तन्महाव्यकर्ता महाकविरुच्यते । एवंभूतमहाकाव्यकर्तृत्वं हि कवीनां महत्त्वमुच्यते न त्वन्यादृशकाव्यकर्तृत्वमिति ।

अर्थ—महाकाव्य नगर-वर्णन, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्र, सूर्य, आश्रम, वृक्ष, उद्यान क्रीड़ा, जलक्रीड़ा, मधुपान, रतिक्रीड़ा तथा दूती-वचन, कुटिलाओं के अद्भुत चरित, अन्धकार, वायु तथा अन्य विभाव (आलम्बन-उद्दीपन) आदि वर्णनों से युक्त होना चाहिए ॥ ३०-३१ ॥

अर्थ—महाकाव्य का कथानक समस्त प्रकार के वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों से समन्वित, समस्त प्रकार के भावों से संकलित, समस्त रीतियों एवं रसों से संयुक्त तथा गुण एवं अलङ्कारों से पुष्ट होना चाहिए ॥ ३२ ॥

---

१. 'क' पुस्तके 'नगरान्तु' प, फ 'नारान्तर' ।
२. 'क' तृतीवचन विन्यासैः । 'कृतीविचनविन्यासैः । इति पाठान्तरम् ।
३. 'घ' पुस्तके 'रमणीचरितादभुतैः, इति पाठान्तरम् ।
४. 'तपसा' इत्यपि पाठः उपलभ्यते ।

अत एव महाकाव्यं तत्कर्त्ता च महाकविः ।
वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ॥ ३३ ॥
पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यः वाग्वक्रिम्णिरसाद्वपुः ।
चतुर्वर्गफलं विश्वग् व्याख्यातं नायकाश्रया ॥३४॥

काव्यप्रभावृत्तिः

नन्वीदृशं महाकाव्यस्य वाङ्मयस्य किमारम्भसमाप्तिपर्यन्तं वाक्यवाक्यार्थोभयमेव काव्यमित्यत आह—वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितमिति। कवेर्वाग्वैदग्ध्यं पाण्डित्यम्। सुकौशल्येन वक्तृत्वं प्रधानं यत्र तथाभूतेऽत्र महाकाव्ये रस एव जीवितमायुर्भवति नत्वर्थो न वा स्थाय्यादिभावाः। कवेर्वाग्वैदग्ध्यात्प्रयुक्ते वाक्येऽभिव्यज्यते यो रसस्तेनैव काव्यं जीवतीव लक्ष्यते। यथा शरीरात्मनःसंयोगात्मकमायुरिव। वाक्यवाक्यार्थयोर्योगान्न स एव काव्यस्यायुः। तस्माद्रसो न काव्यस्य वपुः, कस्मात्? पृथक् प्रयत्ननिर्वर्त्यवाग्विक्रिम्णिरसाद्वपुरिति। प्रयत्नेन कवेर्येन प्रयत्नेन, पदयोजनादिशक्त्यादिव्यापारेण पद्यरचना स्यात्ततः प्रकृष्टयत्नेन वक्तृणान्वितवाग्विन्यासकविव्यापारशक्तिरूपेण निर्वर्त्यं उत्पाद्यो यो वाचा वक्रिमा-वक्तृका यत्र स एव शृंगारादिरसस्तस्माद्रसात्पृथक् काव्यस्य वपुः। जीवितमित्यायुषः पर्यायः। उक्तश्चरकेण शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगोधारिजीवितं नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते। नत्वात्मनः पर्याया जीवितमिति। तर्हि कवेर्वाग्वैदग्ध्यप्रयुक्तं वाक्यं महाकाव्यस्य किमित्यत आह—वपुरिति। कवेर्वाग्वैदग्ध्येन निर्मितं वाक्यं महाकाव्यस्य वपुरर्थस्तत् एवात्मा। विना ह्यर्थमात्मानं वाक्यं वपुर्न भवति न च वपुर्विनात्मा वर्तते।

अर्थ—इस प्रकार के विशेषणों से युक्त काव्य महाकाव्य कहलाता है और उसका रचयिता महाकवि होता है। महाकाव्य में विविध वाक्-कौशलों (पाण्डित्य) की प्रधानता होने पर भी उसकी आत्मा 'रस' ही है ॥ ३३ ॥

अर्थ—इस प्रकार समस्त वाक्विन्यास (पदयोजना) आदि प्रयत्नों से उत्पाद्य (निर्मित) महाकाव्य का कलेवर रस से पृथक् होता है और चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के फल की प्राप्ति नायक के लिए होनी चाहिए ॥ ३४ ॥

विमर्श—अग्निपुराणकार का महाकाव्यलक्षण विशद एवं अपने में पूर्ण है। अग्निपुराण के अनुसार महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए और संस्कृत से आरम्भ होना चाहिए। अब प्रश्न यह उठता है कि जब संस्कृत वाङ्मय में सभी काव्य संस्कृत से ही प्रारम्भ होते हैं प्राकृत से नहीं, तो ऐसा क्यों कहते हैं? इस पर कहते हैं कि चाहे देवादिकों का संस्कृत

काव्यप्रभावृत्तिः

ईदृशन्तु महाकाव्यं चतुर्वर्गफलं विश्वमिव विश्वं निखिलवस्तुवर्णनाधिकरणत्वात् महर्षिभिर्नायकाख्यं यत् सर्वकाव्यानां नायकमित्याख्यया व्याख्यातम्। अस्यावयवभूतमपरं सर्वं पद्यकाव्यमतोनायकमिति विश्वमिव च। सर्वकाव्यास्वादफलश्चात्रास्तीति महाकाव्यमेवं लक्षणं यत्र तदनुसन्धेयमिति। एतन्महाकाव्यलक्षणादन्ययादृशं यन्महाकाव्यलक्षणं तदनार्षत्वादग्राह्यमिति तल्लक्षणलक्षितं यत्तन्महाकाव्यमिति ॥ २५-३४ ॥

महाकाव्य हो अथवा मनुष्यों का प्राकृत महाकाव्य, उसे पहले संस्कृत से आरम्भ करे। अब प्रश्न यह है कि यदि प्राकृत महाकाव्य संस्कृत से प्रारम्भ होगा तो मिश्रत्व तथा मनुष्यों के लिए अबोध्यत्व दोष उत्पन्न होगा; क्योंकि मनुष्यों की भाषा प्राकृत थी। इस पर कहते हैं कि प्राकृत महाकाव्य में भी यदि संस्कृत का अर्थ सुस्पष्ट हो तो वह दोषयुक्त नहीं होता है। अतः प्राकृत में भी रचित महाकाव्य का प्रारम्भ सरल (स्फुट) संस्कृत में होने पर भी प्राकृत के समान दोषपूर्ण नहीं होता।

महाकाव्य का कथानक इतिहास प्रसिद्ध होना चाहिए अथवा किसी सज्जन पुरुष का इतिवृत्त निबद्ध करना चाहिए। उसमें मन्त्रणा, दूत-प्रयाण, युद्ध आदि निश्चित रूप से वर्णित होने चाहिए; किन्तु उसका विस्तार नहीं होना चाहिए।

काव्यप्रभावृत्तिकार का कथन है कि प्रथम सर्ग में शक्वरी आदि छन्दों में से किसी एक छन्द का प्रयोग हो और सर्ग में उससे भिन्न छन्द का प्रयोग होना चाहिए, द्वितीय सर्ग शक्वरी, पुष्पिता आदि छन्दों से सङ्कीर्ण होना चाहिए तथा तृतीय सर्ग की रचना आर्या आदि मात्रिक छन्द में करनी चाहिए। इस प्रकार नियमानुसार तीन सर्गों की रचना होनी चाहिए। शेष सर्गों की रचना इस प्रकार करनी चाहिए कि जिससे सहृदयों को विशेष आनन्दानुभव और रसचर्वणा हो। इनमें नगरादि का वर्णन होना चाहिए। इस प्रकार की विशेषताओं से रचित काव्य महाकाव्य कहलाता है और उसका रचयिता महाकवि कहलाता है।

काव्य की आत्मा—अग्निपुराणकार का कथन है कि महाकाव्य में वाक्-कौशल की प्रधानता होने पर भी रस आत्मा है। इस प्रकार रस काव्य की आत्मा हैं और आत्मा बिना शरीर के नहीं रह सकती। अतः कवि की वाक्-कौशल से रचित वाक्य महाकाव्य का शरीर है और रस काव्य की आत्मा। वाक्विन्यास व्यापार से उत्पाद्य (रचित) जो वाणी की वक्रिमा है वह काव्यशरीर शृङ्गारादि रस से पृथक् होता है। इस प्रकार कवि की वाणी की विचित्रता (वक्रिमा) से रचित वाक्य महाकाव्य का शरीर है और उसका अर्थ (रस) काव्य की आत्मा।

अथोद्दिष्टक्रमेण कलापककाव्यं लक्षयति—

समानवृत्तनिर्व्यूढः कैशिकीवृत्तिकोमलः ।
कलापोऽत्रप्रवासः प्रागनुरागाह्वयो[1]रसाः ॥ ३५ ॥

अथ क्रमिकं विशेषकं कुलकञ्च काव्यं लक्षयति—

विशेषकं स्यात्[2] प्राप्त्यादिसंस्कृतेनेतरेण च ।
श्लोकैरनेकैः कुलकं स्यात् सन्दानितकानि[3] च ॥३६॥

काव्यप्रभावृत्तिः

समानवृत्तं समाक्षरचतुष्पाच्छन्दोवृत्तं नत्वर्धसमं विषमं वा वृत्तं तैर्निव्यूढः निर्वाहकृतः सन्दर्भः कैशिकीवृत्तिकोमलः वक्ष्यमाणया कैशिक्या वृत्या कोमलः काठिन्यादिविनिर्मुक्तवर्णपदसन्निवेशयोगयुक्तः । कलापो नाम पद्यकाव्यं ग्रन्थः उच्यतेऽत्र प्रवासः पूर्वरागाह्वयाश्च विप्रलम्भः शृंगारो रसः, नत्वन्यो रसः । एतल्लक्षणलक्षितं पद्यकाव्यमनुसन्धेयम् ॥ ३५ ॥

अथोद्देशक्रमेण पर्याबन्धम् । परिसर्वत एव यद् बध्यते तत् पर्याबन्धः । शब्दालंकारेषु त्रिविधं दुष्करं काव्यमुक्तं तत्र बन्धाख्यं वक्ष्यते । तस्मादिह पर्याबन्धो नाम बन्धकाव्यं नोक्तम् । गोमूत्रिकादि बन्धकाव्यं द्रष्टव्यमिति ।

प्राप्त्यादि यत्र वर्ण्यते तद्विशेषकं नाम पद्यकाव्यं सन्दर्भः । तत्संस्कृतेन देवादीनामितरेण नृणां प्राकृतेन । प्राप्त्यादीत्यादिशब्देन दानार्थनाशादिग्रहणम् । कुलकस्तु—साकांक्षैरनेकैः श्लोकैर्यन्निबध्यते तत् पद्यकाव्यं कुलकं नाम । तत्र कृतिप्रभृतिसप्तच्छन्दो ज्ञेयमेतद्विद्वांस आहु :—

श्लोकाभ्यां युग्मकं द्वाभ्यां त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।
कालापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं समृतम् ॥

इति तदनार्षत्वादग्राह्यम् ॥ ३६ ॥

इसके बाद कलापक काव्य का लक्षण बताते हैं—

अर्थ—जिसमें समाक्षर (चतुष्पाद) छन्द का प्रयोग हो और जो कैशिकी वृत्ति से कोमल बनाया गया हो, उसे 'कलापक' कहते हैं । कलापक में प्रवास तथा पूर्वरागादि रसों का समावेश होना चाहिए ॥ ३५ ॥

विशेष—कलापक के बाद 'पर्याबन्ध' का विवेचन होना चाहिए था, किन्तु शब्दालङ्कार के अन्तर्गत दुष्कर काव्य के तीन भेद बताये गये हैं । उनमें 'बन्ध' का भी निरूपण किया गया है और उसके गोमूत्रिकादि आठ भेद बताये गये हैं । इसलिए यहाँ उसका विवेचन नहीं किया गया है ।

---

१. 'प्रागनुरागादयो रसः' इति पाठान्तरम् ।

२. 'सविशेषकञ्च' इति पाठान्तरम् ।

३. स्याच्छब्दः कृतिकमदिकम् । न, ल पुस्तकयो स्याच्छब्दानितकादित इति पाठभेदाः ।

अथ मुक्तकं लक्षयति—

मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम् ।
सूक्तिभिः कविसिंहानां सुन्दरीभिः समन्वितः ।। ३७।।

कोषं लक्षयति—

कोषो ब्रह्माऽपरिच्छिन्नः स विदग्धाय[1] रोचते ।
आभासौ यम[2]शक्तिश्च सर्गे यद्भिन्नवृत्ता[3] ।।३८।।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ मुक्तकं लक्षयति—

श्लोकैरनेकैरित्यनुवर्तते । अनेकैः श्लोकैः रचयितव्यं पद्यकाव्यं यत्र एकैकः श्लोकः सतां जनानां चमत्कारकरणक्षमः । कविसिंहानां कविश्रेष्ठानां सुन्दरीभिः सूक्तिभिः समन्वितो भवति यन्मुक्तकं नाम पद्यकाव्यं सन्दर्भ उच्यते । नत्वेम्विध एक श्लोको मुक्तकमिति ।। ३७ ।।

कोषं लक्षयति—

ब्रह्मणा वेदेन योऽपरिच्छिन्नः । अर्थतोऽविशेषः स तु विदग्धाय पण्डिताय रोचते । स हि ब्रह्मणो वेदस्य चाभासः वेदार्थानुवादपरत्वात् । यमशक्तिर्लोकानां नियमकरणक्षमः कर्तव्याकर्तव्योपदेशेन नियमयति । सर्गे प्रतिपरिच्छेदे यत्र भिन्नावृत्तिर्भारती क्वचित् क्वचित् परिच्छेदे आरभटी वृत्तिः, क्वचित्सर्गे कैशिकी वृत्तिः, क्वचित् सर्गे सात्वतीवृत्तिः तत् पद्यकाव्यं स कोष उच्यते । मन्वादिसंहितादिरिवेति । इति सप्तविधं महाकाव्यादिकं पद्यकाव्यं नाधिकमस्ति ।। ३८ ।।

अब सविशेषक एवं कुलक काव्य का लक्षण कहते है—

अर्थ—जिसमें संस्कृत भाषा अथवा प्राकृतादि अन्य भाषा में प्राप्ति, दान, अर्थनाश आदि काव्य-सामाग्री की प्राप्ति हो उसे 'सविशेषक' कहते हैं और अनेक श्लोकों में निबद्ध काव्य 'कुलक' कहलाता है । इसे 'संदानितक' भी कहते हैं ।। ३६ ।।

विशेष—विश्वनाथ ने संदानितक को 'विशेषक' काव्य माना है किन्तु अभिनवगुप्त और हेमचन्द ने 'सन्दानितक' को 'युग्मक' काव्य कहा है और अभिनव तथा हेमचन्द्र ने जिसे विशेषक कहा है, विश्वनाथ उसे 'सन्दानितक' मानते है ।

इसके बाद मुक्तक काव्य का लक्षण कहते हैं—

अर्थ—जिस काव्य का एक-एक श्लोक चमत्कार-जनक होता है और श्रेष्ठ कवियों की सुन्दर सूक्तियों से समन्वित होता है उसे 'मुक्तक' काव्य कहते है ।। ३७ ।।

अर्थ—जो ब्रह्म (रस) से अपरिच्छिन्न हो अर्थात् जिसमें रस का प्रवाह सततप्रवहमान होता हो और जो सहृदयों को रुचिकर हो, जहाँ पर ब्रह्मरस का आभास हो और जिसमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य के उपदेश द्वारा नियामक शक्ति हो तथा एक ही सर्ग में भिन्न छन्दों का प्रयोग हो, उसे 'कोष' नामक काव्य कहते हैं ।। ३८ ।।

---

१. क, ग पुस्तकयोः 'सर्वविश्वाय' इति पाठान्तरम् ।

२. आभासोपमशक्तिश्च इति पाठः । 'वामासौपम' इति पाठान्तरम् ।

३. 'वृत्तिकम्' इति पाठान्तरम् ।

अथोद्देशक्रमेण मिश्रकाव्यं लक्षयति—

मिश्रं चम्पू[1]रितिख्यातं प्रकीर्णमिति च द्विधा ।
श्रव्यञ्चैवाभिनेयञ्च प्रकीर्णं सकलोक्तिभिः ।
गद्यपद्यमयी चम्पूः प्रकीर्णं त्वथ भिद्यते ।। ३९ ।।

इत्याग्नेये काव्यादिलक्षणं नाम प्रथमोऽध्यायः

काव्यप्रभावृत्तिः

मिश्रं यत्काव्यं देवादीनां संस्कृतं गद्येन संस्कृतेन पद्येन संस्कृतेन मिश्रीभूतं तद्देवादीनां संस्कृतं मिश्रकाव्यं चम्पूरिति ख्यातम् । नृणाञ्च यत् प्राकृतं काव्यं प्राकृतेन गद्येन सह प्राकृतं पद्यं मिश्रं तन्नृणां प्राकृतं चम्पूरिति प्रकीर्णमिति च द्विधा मिश्रं ख्यातम् । तच्च द्विधा–श्रव्यञ्चेवाभिनेयञ्चेति । श्रव्यमवश्यं श्रोतुमर्हतीति । नानाविधोत्कृष्टार्थवत्वात् तच्छ्रव्यं काव्यं चम्पूरिति ख्यातम् । अभिनेयञ्चेति काव्यं यदर्थचमत्काराल्लोकानभिमुखीकृत्य तैर्नेतुमर्हतीत्यभिनेयं नाटकादि नाद्यकाव्यम् ।

अभिनयस्तत्र वक्ष्यते । तच्च गानागानगद्यसकलोक्तिभिर्मिश्रं काव्यं प्रकीर्णमुच्यते । संस्कृतगद्यपद्यमिश्रं काव्यं देवादीनाम् । प्राकृतगद्यपद्यमिश्रं नृणां काव्यमिति न तु संस्कृतमिश्रं प्राकृतं मिश्रकाव्यं तद्धि न देवादीनां न वा नृणां भवति । तच्च द्विधा—चम्पूः प्रकीर्णकञ्च । गद्यपद्यमयीचम्पूरित्यर्थान्मिश्रत्वादिति । तत्र प्रकीर्णमतद्दूर्ध्वं नाटकादिभेदेन सप्तविंशतिधा वक्ष्यते । गानागानगद्यपद्यमिश्रमिति गद्य-पद्य-मिश्र-भेदेन त्रिविधं काव्यमुक्तं भवति । एषामेकेकस्य, गद्यस्य, पद्यस्य स्फुटालङ्कारस्य, सगुणस्य दोषहीनस्यापि न काव्यत्वमाख्यायिकादि गद्यकाव्यलक्षणाभावान्महाकाव्यादि पद्यकाव्यलक्षणाभावाच्च ।

इसके बाद मिश्र काव्य का लक्षण बतलाते हैं—

अर्थ—मिश्र काव्य को चम्पू काव्य कहते हैं । इसे प्रकीर्णक भी कहते हैं । इस प्रकार मिश्र काव्य दो प्रकार का होता है—चम्पू और प्रकीर्णक । इनमें 'चम्पू' काव्य श्रव्य होता है और प्रकीर्ण अभिनेय होता है । इस प्रकार गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू-काव्य प्रकीर्ण काव्य से पृथक् होता है ।। ३९ ।।

---

१. 'वपुः' इति पाठान्तरम् ।

काव्यप्रभावृत्तिः

किन्तु तद् गद्यं पद्यञ्चत्युच्यते। मिश्रं तु तस्य तस्य चेकैकस्य गद्यस्य पद्यस्य वा चेत् कियद् गद्यं कियद् पद्यं तदा सम्भवति? न ह्येकस्य पदस्य कियद् पद्यं सम्भवति तथाविधत्वे पद्यत्वभंगाच्चतुष्पदीत्वाभावात्। ततो गद्यस्य पद्यस्य चैकैकस्य त्रिविधत्वाभावान्न काव्यत्वमिति। यत्तु व्यंग्यार्थातिशययुक्तं काव्यमुत्तमम्, व्यंग्यार्थहीनमधमम्, किञ्चित् व्यंग्ययुतं मध्यमं चोच्यते। तथा चाख्यायिकादिषु गद्यकाव्येषु महाकाव्यादिषु पद्यकाव्येषु तयोर्भिन्नेषु चम्प्वादिषु समाप्तिपर्यन्तेषु केवलं-व्यग्यार्थवत्त्वादुत्तमत्त्वं सम्भवः। सर्वत्र व्यंग्यार्थाभावादधमत्वसम्भवश्च। कतिषुचिद्व्यङ्ग्यार्थवत्त्वात् कतिषुचिन्निर्व्यङ्ग्यत्वान्मध्यमत्वं सम्भवति? नैवमाद्यन्त-पर्यन्तेष्वाख्यायिकादिषु महाकाव्यादिषु चम्पूनाटकादिषु चोपपद्यते इति। तस्माद् भ्रान्ता यत् काव्यस्योत्तमत्वमध्यमत्वाधमत्वानि वदन्ति सव्यंग्यत्वे, गूणीभूतव्यंग्यत्वे, निर्व्यङ्ग्यत्वे तदसाधु, न चार्षञ्च इति। अध्यायं समापयति ॥ ३९ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे काव्यलक्षणं नाम प्रथमोऽध्यायः

विमर्श—गद्य और पद्य से मिश्रित काव्य 'चम्पू' काव्य कहलाता है और उसे 'प्रकीर्ण' भी कहते हैं। इस प्रकार मिश्र काव्य के दो भेद होते हैं—चम्पू और प्रकीर्णक। इसमें चम्पू काव्य श्रव्य होता है और प्रकीर्ण काव्य अभिनेय भी होता है। प्रकीर्ण काव्य के गद्य, पद्य, और समस्त उक्तियों से समन्वित होता है अर्थात् गद्य, पद्य से मिश्रित और अलंकार, गुण, रस, दोषभाव आदि समस्त उक्तियों (चमत्कारों) से समन्वित होता है। प्रकीर्ण काव्य नाटकादिभेद से सत्ताइस प्रकार का होता है जिसका निरूपण आगे किया जायगा ।। ३९ ॥

इस प्रकार अग्निमहापुराण का काव्यलक्षण नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

द्वितीयोऽध्यायः

नाटकादि-लक्षणम्

अग्निरुवाच

[1]नाटकं सप्रकरणं डिम[2]ईहामृगोऽपि वा ।
ज्ञेयः समवका[3]रश्च भवेत् प्रहसनं तथा ॥ १ ॥
व्यायोगभाणवीथ्यङ्कत्रोटकान्यथ नाटिका ।
सट्टकं शिल्पकः संलापको[4] दुर्मल्लिका तथा ॥ २ ॥
प्रस्थानं भाणिका भाणी गोष्ठी हल्लीशकानि च ।
काव्यं श्रीगदितं नाट्यरासकं रासकं तथा ॥ ३ ॥
उल्लाप्यकं[5] प्रेङ्खणञ्च सप्तविंशतिधैव[6]तत् ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ यत् प्राक्प्रतिज्ञातं "काव्यस्य नाटकादेश्च लक्षणानि वदाम्यथ" इति तत् काव्यात् पृथग्वचनान्नाटकादीनां काव्यत्वाभावख्यापनाशंकायां काव्यनिरूपणे तद्भेदमिश्रकाव्यप्रभेदनाटकादीनाह—

तत् काव्यनिरूपणात् परिशेषं प्रकीर्णं नाम मिश्रकाव्यं नाट्यं नाटकादिभेदेन सप्तविंशतिधैव, नातिरिक्तम् । तेन विलासिका नाम यन्नाटकादिषु अधिकमुच्यते तदनार्षत्वादमूलकमिति ॥ १-४ ॥

अर्थ—मिश्र काव्य का एक भेद नाटक होता है । नाटक के सत्ताइस भेद होते हैं—नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अङ्क, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, संलापक, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लाप्यक, प्रेङ्खण ॥ १-४ ॥

---

१. घ, ङ पुस्तकयोः 'नाटकमित्यारम्भ' 'करणं च यत्' इति यावत् सप्त श्लोकाः न सन्ति ।
२. क, ग पुस्तकयोः 'हिम' इति पाठः ।
३. क, ग, प, क 'समकारश्च' इत्यपि पाठः ।
४. 'कर्णा एकौ' इति पाठान्तरम् ।
५. 'उल्लापाकं' इति पाठान्तरम् ।
६. 'सप्तविंशतिरेव तत्' इति पाठान्तरम् ।

एषां नाटकादीनां लक्षणमाह—

सामान्यञ्च विशेषश्च लक्षणस्य द्विधा गतिः ॥ ४ ॥
सामान्यं सर्वविषयं विशेषः[1] क्वापि वर्तते[2] ।
विशेषोऽवसरे वाच्यः सामान्यं पूर्वमुच्यते ॥ ५ ॥
पूर्वाङ्गानीतिवृत्ते द्वे[3] अर्थप्रकृतयस्तथा ।
पञ्चचेष्टाः सन्धयश्च देशकालावुभावपि[4] ॥ ६ ॥
रस-भाव-विभावानुभावा अभिनयास्तथा ।
अंकः स्थितिश्च सामान्यं सर्वत्रैवोपसर्पणात् ॥ ७ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

सर्वस्यैव लक्षणस्य द्विधा गतिः—सामान्यं विशेषश्च । तत्र सर्वविषयं सामान्यं सर्वत्रैव गच्छति । शेषो विशेषः खलु क्वापि यस्य लक्षणं तन्मात्रे प्रवर्तते । तस्मात् प्रथमं सामान्यं नाटकादेर्लक्षणमुच्यते । अवसरे जाते विशेषो वाच्यः विशेषलक्षणं नाटकादेर्वक्ष्यते ॥ ५ ॥

सर्वत्रैव नाटकादौ सप्तविंशतिविधे नाट्ये पूर्वाङ्गानि त्रयोदश, तत्र नान्दी पञ्चधा, नान्द्यन्ते पञ्चनिर्देशाः, आमुखानि त्रीणि इति त्रयोदश । द्वे इतिवृत्ते, पञ्चार्थप्रकृतयः, पञ्चचेष्टाः, पञ्चसन्धयो, द्वौ देशकालाविति द्वाविंशदङ्गानि पूर्वरङ्गे वक्ष्यन्ते । ततः परं रसभावादयो निबद्धव्याः । ततोऽङ्क इति । स्थितिस्तत् प्रस्तावसमाप्तौ परिच्छेद इति । नाटकादिषु सप्तविंशतिविधेषु नाट्येषु सर्वत्रैवोपसर्पणादुपगमात् सामान्यं लक्षणं भवतीति ॥ ६-७ ॥

अर्थ—नाटक लक्षण की दो प्रकार की प्रवृत्ति होती है—सामान्य और विशेष । इनमें सामान्य प्रवृत्ति सभी नाटकों में होती और विशेष कहीं-कहीं होती है । उनमें विशेष का यथावसर प्रतिपादन किया जायगा, पहले सामान्य का विवेचन करते हैं ॥ ५ ॥

अर्थ—पूर्वरङ्ग के बत्तीस अङ्ग होते हैं—पांच प्रकार का नान्दी (देवता का नमस्कार, गुरुजन की प्रशंसा, गौ, ब्राह्मण और राजा आदि के आशीर्वाद का गायन ये पांच नान्दी हैं) नान्दी के बाद पांच निर्देश (कवि की गुरु-परम्परा, वंश-प्रशंसा, पौरुष (काव्यशक्ति), काव्य की पूर्वकथा का सम्बन्ध और नाट्य का अभिधेय अर्थ ये पांच निर्देश हैं), तीन आमुख (प्रवृत्तक, कथोदघात और प्रयोगातिशय), दो प्रकार के इतिवृत्त (प्रख्यात, उत्पाद्य); पांच अर्थ प्रकृतियां, पांच चेष्टाएँ, पांच सन्धियां और देश-काल का संकलन । रस, भाव, विभाव, अनुभाव, अभिनय, अङ्क और स्थिति ये सभी नाट्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ है । इनकी स्थिति सर्वत्र रहती है ॥ ६-७ ॥

---

१. क, ख, ङ पुस्तकेषु इति पाठान्तरम् । २. क, ख, ङ पुस्तकेषु प्रवर्तते इति पाठान्तरम् ।
३. ख, ग, ङ पुस्तकेषु 'द्वौ' इति पाठः । ४. 'अभिनयः' इति पाठान्तरम् ।

त्रिवर्गसाधनं नाट्यमित्याहुः करणञ्च यत् ।
इतिकर्तव्यता तस्य पूर्वरंगो यथाविधि ॥ ८ ॥
नान्दीमुखानि द्वात्रिंशदंगानि पूर्वरंगके ।

तत्र नान्दी माह—

देवतानां नमस्कारो गुरूणामपि च स्तुतिः ॥ ९ ॥
गोब्राह्मणनृपादीनामाशीर्वादश्च[1] गीयते ।
नान्द्यन्ते सूत्रधारोऽसौ रूपकेषु निबध्यते ॥ १० ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

नाट्यं नृत्यगीतवाद्यञ्चेति तौर्यत्रिकं, त्रिवर्गसाधनं धर्मार्थकामसाधनं भवतीत्याहुः कवयो महर्षयः । तस्य नाट्यस्य यथाविधिपूर्वं यत् करणं क्रिया सा खल्वितिकर्तव्यता पूर्वरंग उच्यते । तथा च पारिपार्श्विकसहितः सूत्रधारो रङ्गस्थानं गत्वा नान्द्यादिकामितिकर्तव्यतां कुर्यादिति ॥ ८ ॥

का पुनः सा तस्य पूर्वेतिकर्तव्यतेत्यत आह—नान्दीत्यादि । पूर्वरंगके रंगस्य पूर्वं नान्दीमुखानि चेति नान्दीप्रभृतीनि द्वात्रिंशदङ्गानि भवन्ति ॥ ९ (१) ॥

नान्दीमाह—सूत्रधारेण पारिपार्श्विकैः सह रङ्गं गत्वा देवतानां नमस्कारो गीयते । गुरूणामपि स्तुतिर्गीयते । गौर्ब्राह्मणश्च नृपस्तद्देशे राजा तदादि वैश्यशूद्र-सज्जन इत्येक इति त्रयाणामाशीर्वादश्च गीयते, इत्येवं देवतानमस्काराद्दीनां पञ्चानां गानानि कविः पूर्वरंगे रचयेत्, इत्येषा नान्दी । तस्या अन्ते किं कुर्यादित्यत आह—देवतानमस्कारादि पञ्चाङ्गीं नान्दीं रचयित्वा कविना रूपकेषु शब्द तत्र वेदं नान्द्यन्ते सूत्रधार इति निबध्यते ॥ ९-१० ॥

पूर्वरङ्ग का लक्षण

अर्थ—(नाटक) त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का हेतुभूत साधन है । उस नाट्य की विधिपूर्वक जो क्रिया है उसे इतिकर्त्तव्यता पूर्वरङ्ग कहते हैं ॥ ८-९ ॥

विमर्श—नाटक के प्रारम्भ में पूर्वरङ्ग का विधान करना चाहिए और पूर्वरङ्ग में नान्दी आदि बत्तीस अङ्गों का निर्वाह करना चाहिये । पूर्वरङ्ग में नान्दी आदि बत्तीस अङ्गों का निर्वाह इतिकर्त्तव्यता है ॥ ८-९ ॥

नान्दी का लक्षण—

अर्थ—सूत्रधार पारिपार्श्विक के साथ रङ्गमञ्च पर जाकर देवताओं को नमस्कार, गुरुजनों की स्तुति, गो, ब्राह्मण और राजा आदि के आशीर्वाद का गायन करता है, इसे ही 'नान्दी' कहते हैं ॥ ९-१० ॥

---

१. 'आशीर्वादादि' इति पाठान्तरम् ।

गुरुपूर्वक्रमं वंशप्रशंसा पौरुषं कवेः ।
सम्बन्धार्था च काव्यस्य पञ्चैतानि च निर्दिशेत् ॥ ११॥

अथामुखं लक्षयति—

नटी विदूषको वाऽपि पारिपार्श्विक एव वा ।
सहिताः सूत्रधारेण संलापं यत्र कुर्वते ॥ १२ ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्यार्थे वीथ्यंगैरन्यथापि वा[1] ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनापि सा[2] ॥ १३ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

सूत्रधारोऽसौ नान्द्यन्ते नान्दीगानं कृत्वा कवेस्तन्नाट्यरचनाकर्त्तुर्गुरुपूर्वक्रमं वंशप्रशंसां निर्दिशेत् । तत् कवेः पूर्वं गुरुप्रशंसां निर्दिशेत् । ततः स्ववंशप्रशंसां निर्दिशेदिति । गुरुपूर्वक्रमं तत्कवेर्वंशप्रशंसां निर्दिशेत् । तत् कवेः पौरुषं पुरुषकारत्वं निर्दिशेत् । काव्यस्यार्थेन सह वाच्यवाचकभावः समय एव सम्बन्धः काव्यस्यार्थोऽभिधेय इति द्वौ निर्दिशेदिति । एतानि पञ्चनिर्दिशेदिति । कविरेतानि पञ्च तन्नाटकादिषु विरचयेत्, सूत्रधारस्तन्निर्दिशेत् इति पञ्चनिर्देशाः ॥ ११ ॥

तत्रामुखं लक्षयति—पञ्चनिर्देशानन्तरं पुनरामुखं नाद्यं कर्त्तव्यमित्यभिप्रायेणामुखमुच्यते । यत्र तत्र नाटकादिषु नटदले या स्त्रीरूपधारिणी सा नटी । विदूषको वैहासिको विशिष्टहासजनको नटः स वा । अथवा पारिपार्श्विकः तस्मिन् नाट्ये नटदले सूत्रधारं परितश्चतुर्दिक्षु यो यो नटो वर्तते गानायानुगतः स । न गायकः पारिपार्श्विकः । एते क्रमेण व्यस्ता वा यत्र तन्नाट्याभिधेयेऽर्थे विषये सूत्रधारेण सह संलापं यत्तन्नाट्यादिविषये चित्रैराश्चर्यवाक्यैश्चित्रैश्च सुवाक्यार्थे वीथ्यङ्गैरुद्घातादिभिस्त्रयोदशभिरन्यथा प्रकारान्तरेण वा परस्परमालापं कुर्वते तदामुखं ज्ञेयम् । सैव बुधैः प्रस्तावना ज्ञेया ॥ १२ ॥

अर्थ—तदनन्तर सूत्रधार कवि की गुरु-परम्परा, कवि के वंश की प्रशंसा, पौरुष (काव्यशक्ति) काव्य (रूपक) की पूर्वकथा का सम्बन्ध और काव्य के अभिधेय का कथन ये पांच निर्देश करे ॥ ११ ॥

अर्थ—नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक ये सूत्रधार के साथ अपने कार्य के लिए चित्र-विचित्र वाक्यों से अथवा वीथी के अङ्गों के सहित अथवा अन्यप्रकार से परस्पर जो वार्तालाप करते हैं उसे आमुख कहते हैं । इसी को 'प्रस्तावना' भी कहते हैं ॥१२-१३॥

विमर्श—आमुख का अपरनाम प्रस्तावना है । दशरूपककार के अनुसार जहाँ सूत्रधार, नटी, पारिपार्श्विक अथवा विदूषक के साथ प्रस्तुत कार्य का आक्षेप करते हुए विचित्र उक्तियों के द्वारा अपने कार्य का वर्णन करे, उसे आमुख या प्रस्तावना कहते हैं । साहित्यदर्पणकार भी इसी को स्वीकार करते हैं ॥ १२-१३ ॥

---

१. द, ध, न मुदित पुस्तकेषु 'स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः' इति पाठान्तरम् ।
२. क, ग, ध, पुस्तकेषु 'वा' इति पाठान्तरम् ।

प्रवृत्तकं[1] कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ।
आमुखस्य त्रयो भेदाः वीथ्यङ्गेषूपजा मताः[2] ॥ १४ ॥
कालं प्रवृत्तिमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्तु[3]वर्णयेत् ।
तदाश्रयस्य पात्रस्य प्रवेशस्तत् प्रवृत्तकम्[4] ॥ १५ ॥
सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्या[5]र्थमेव वा ।
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातः स उच्यते ॥ १६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

निरुक्तस्यामुख्यस्य त्रयो भेदाः प्रवृत्तकं कथोद्घात प्रयोगतिशया भेदा वीथ्यंगेषु वक्ष्यमाणेषूपजा उपजायन्ते ॥ १४ ॥

यस्मिन्काले विदूषकादि यो नटो युक्तो भवति तथा दर्शकानां यस्मिन्नटे प्रवृत्तिः स्यात्तं कालं ताञ्च प्रवृत्तिमाश्रित्य सूत्रधारो वर्णयेत्तन्नटी गानं गायेत् । ततस्तदाश्रयस्य तद्वर्णनाश्रयस्य पात्रस्य तस्य नटस्य रंगस्थाने यः प्रवेशस्तत् प्रवृत्तकं नामामुखं भवति । तथा च सूत्रधारः सपारिपार्श्विको रंगस्थानमागत्य नान्दीं गीत्वा गुर्वादीन् निर्दिश्य कालं प्रवृत्तिञ्चाश्रित्य पारिपार्श्विकेन केनचित् सह नटी विदूषकागमनविषये संलप्य नटी विदूषकागमनं वर्णयेत् । ततो नटी वा रंगस्थानमागच्छेत् । आगत्य वैहासिकं यावत् कुर्यात्ततो नटीनामागमनविषये पारिपार्श्विकेन विदूषकेन वा सह संलप्य दर्शकानां प्रवृत्तिञ्चाश्रित्य नट्यागमन-मन्यद्वा वर्णयेत् । ततो नटो रंगस्थानमागच्छेयुरित्येवं नटीनां नटानां पात्राणां रंगस्थाने प्रवेशः प्रवृत्तकममामुखम् ॥ १५ ॥

कथोद्घातं लक्षयतीति—अथ नट्यादिभिः सह सूत्रधारो यद्गेयगानार्थ-मालप्य वाक्यं ब्रवीति तद्गानपात्रं नटो विदूषकादि नटी वा सूत्रधारस्य तद्वाक्यं गृहीत्वाऽथवान्यत् कार्यार्थं गृहीत्वा यत्र गानादिकर्मणि प्रविशेत् प्रवर्त्तेत स कथोद्घातो नामामुखमुच्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—प्रवृत्तक, कथोद्घात और प्रयोगातिशय ये आमुख के तीन भेद होते हैं । ये तीनो ही नाटक के बीजांश से उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

अर्थ—जहाँ पर सूत्रधार काल (समय) और दर्शकों की प्रवृत्ति को लेकर वर्णन करे और उस वर्णन का आश्रय लेकर अर्थात् उस वर्णन के साथ पात्र का जो प्रवेश होता है, उसे 'प्रवृत्तक' आमुख कहते है ॥ १५ ॥

अर्थ—जहाँ पर सूत्रधार के वाक्य अथवा वाक्यार्थ का उच्चारण करता हुआ रङ्गमञ्च पर प्रवेश करे, उसे 'कथोद्घात' नायक आमुख कहते है ॥ १६ ॥

---

१. घ पुस्तके 'प्रवर्त्तकं' इति पाठः । २. 'बीजांशेषूपजायते' इति पाठान्तरम् ।
३. 'यत्र' इति पाठान्तरम् । ४. 'प्रवर्त्तकम्' इत्यपि पाठः ।
५. कार्यार्थमेव इति पाठान्तरम् ।

प्रयोगेषु प्रयोगस्तु[1] सूत्रधृग्यत्तु[2] वर्णयेत्
ततश्च प्रविशेत् पात्रं प्रयोगातिशयो हि सः ॥ १७ ॥
शरीरं नाटकादीनानितिवृत्तं प्रचक्षते ।
सिद्धमुत्प्रेक्षितञ्चेति तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।
सिद्धमागमदृष्टञ्च सृष्टमुत्प्रेक्षितं कवेः ॥ १८ ॥
बीजं विन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्च चेष्टा अपि क्रमात्[3] ॥ १९ ॥
प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च प्राप्तिसम्भव[4] एव च ।
नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः ॥ २० ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

पुनः प्रयोगातिशयं लक्षयतीति—कथोद्घातात् किञ्चिद्गेयेषु सत्सु प्रयोगेषु क्रियमाणेषु सूत्रधारः पुनर्यद्गेयविषये प्रयोगं वर्णयेत्, ततो वर्णनात् तद्गेये कर्त्तां नटी नटो वा पात्रं यत् प्रविशेत् तद्गातु प्रवर्त्तेत् स प्रयोगातिशयो नामामुखमुच्यते। इत्येवं त्रिविधमामुखं प्रस्तावना इति पूर्वाङ्गानि त्रयोदश व्याख्यातानि भवन्ति ॥१७॥

नाटकादीनां शरीरमारम्भसमाप्तिपर्यन्तं ग्रन्थः। तच्छरीरमितिवृत्तं कवयः प्रचक्षते व्याचक्षते। तस्येतिवृत्तस्य खलूभौ द्वौ भेदौ। एकं सिद्धमितिवृत्तं द्वितीयमुत्प्रेक्षितमिति। तत्र यदागमदृष्टं प्रसिद्धमृषिभिः पुराणेतिहासेषु वृत्त्यन्तं प्रकाशितं तत्सिद्धं, नाटकादीनां शरीरं सिद्धमितिवृत्तम्। यदीदानीं कवेः सृष्टं नाटकादिकमारम्भसमाप्तिपर्यन्तं शरीरं तदुत्प्रेक्षितमितिवृत्तमुच्यते, इति द्वे ॥१८॥

अर्थ—जहाँ पर सूत्रधार नाट्यप्रयोग में अन्य प्रयोग का वर्णन करे तब पात्र का प्रवेश हो, उसे 'प्रयोगातिशय' नामक आमुख कहते हैं ॥ १७ ॥

अर्थ—नाटक आदि के शरीर को इतिवृत्त कहते हैं। भाव यह कि इतिवृत्त नाटक का शरीर होता है। इतिवृत्त के दो भेद होते हैं—सिद्ध और उत्प्रेक्षित। इनमें आगम (शास्त्र, पुराणेतिहास) से प्राप्त कथानक 'सिद्ध' कहलाता है और कवि के द्वारा कल्पित इतिवृत्त उत्प्रेक्षित कहलाता है। भाव यह कि इतिहास-पुराण में प्रसिद्ध कथानक प्रख्यात होता है और कवि कल्पित कथानक उत्पाद्य कहलाता है ॥ १८ ॥

अर्थ—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य ये पांच अर्थप्रकृतियाँ फल की सिद्धि के कारण हैं। प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्तिसम्भव, फलप्राप्ति और फलयोग ये पांच चेष्टाएँ (कार्यावस्थायें) होती हैं। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण ये पांच सन्धियां हैं ॥ १९-२१ ॥

---

१. 'प्रयोगन्तु' इति पाठान्तरम्।
२. 'यत्र' इति पाठान्तरम्।
३. 'घ' पुस्तके श्लोकार्धोऽयं नास्ति।
४. 'सद्भावं' इति पाठान्तरम्।

मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्शश्च तथैव च ।
तथा निर्वहणञ्चेति क्रमात्पञ्चैव सन्धयः ।२१ ॥

एतानि पंचदश क्रमेण व्याख्यायन्ते—

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यत् प्रसर्पति
फलावसानं यच्चैव बीजं तदभिधीयते[1] ॥ २२ ॥
अवान्तरार्थविच्छेदे विन्दुरच्छेदकारणम् ।
व्यापि प्रासंगिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते[2] ॥ २३ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

बीजादयः पंचनाटकादीनामभिधेयार्थस्य प्रकृतयः । प्रारम्भादयः पंचक्रमा चेष्टा भवन्ति । नाट्ये मुखादयः पंचसन्धय एव भवन्ति इति पंचदशांगानि पूर्वैः पंचदशभिः सह त्रिंशदङ्गानि । तथा वक्ष्यमाणौ देशकालौ चेति द्वात्रिंशदंगानि नाटकादीनां नाट्यानां पूर्वरंगे भवन्ति । प्राङ्नाट्यप्रवृत्तेरिमानि द्वात्रिंशदङ्गानि पूर्वलक्षणानि सामान्यतो भवन्तीति सामान्यपूर्वलक्षणं नाटकादीनामुक्तम् ॥१९-२१॥

बीजमाह—सूत्रधारो नाटकादीनामितिवृत्तं सिद्धं वोत्प्रेक्षितं वा तद्बीजेनादौ ब्रूयात् । तच्च कविबीजं विरचयेत् । बीजन्तु तदभिधीयते यदल्पमात्रं समुद्दिष्टं संक्षेपवचनेनोक्तं बहुधा प्रसर्पति आद्यन्तसन्दर्भार्थं ज्ञापयति, फलावसानं फलनिष्पत्तिपर्यन्तं च यत् स्यादिति । कविस्त्वेवमाद्यन्तग्रन्थार्थं संक्षेपेण विरचयेत् । बीजमिव हीदं बीजञ्च भूमावुप्तमङ्कुरादिक्रमेण फलान्तं प्रादुर्भवति ॥ २२ ॥

विन्दुपताके व्याख्येते—नाटकादीनां ग्रंथानामारम्भसमाप्तिपर्यन्तं कविर्यद्विरचयेत् तत्राङ्कसमाप्तिश्छेदस्तस्य कारणाभावेऽङ्कसमाप्तिं न कृत्वाऽवान्तरार्थस्य समाप्तौ विच्छेदे कर्तव्ये योऽवच्छेदकारणं स विन्दुरुच्यते । तत्रांकसमाप्तिं न कृत्वा बिन्दुर्देय इति । तथा तत्तत् परिच्छेदे प्रासंगिक प्रसंगतो यदन्यद्वापि वृत्तं वर्तते यत्तदुपयोगि वृत्तान्तं सा पताकेत्यभिधीयते ॥ २३ ॥

इन पन्द्रह का क्रमशः लक्षण प्रस्तुत करते हैं, उनमें प्रथम बीज का लक्षण करते हैं—

बीज—जो संक्षेप में कहा जाय और जो फलप्राप्ति पर्यन्त अनेक रूपों में विस्तार को प्राप्त होता जाता है उसे 'बीज' नामक अर्थ प्रकृति कहते हैं ॥ २२ ॥

विन्दुः—अवान्तर कथा के विच्छेद हो जाने पर जो उसे प्रधान कथा के साथ जोड देने का हेतु (अवच्छेदकरण) है, उसे 'विन्दु' कहते हैं ॥ २३ ॥

पताका—जो प्रासङ्गिक इतिवृत्त व्यापक होता है और प्रधान इतिवृत्त का उपकारी (सहायक) होता है, उसे 'पताका' कहते हैं ॥ २३ ॥

---

१. 'तत्र बीजमाह' इति योजनीयम् ।
२. २२ तः २६ पर्यन्तं तथा च २८ तः ३१ तमं कारिकाः मुद्रितग्रन्थेषु न वर्तन्ते ।

प्रासंगिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता ॥ २४ ॥
अपेक्षितञ्च यत् साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः ।
समापनन्तु यत् सिद्धौ कार्यं तदितिसम्मतम् ॥ २५ ॥
भवेत् प्रारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये ।
प्रयत्नस्तु फलप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ॥ २६ ॥
उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः ।
अपायाभावतः प्राप्तिः फलप्राप्तिस्तु निश्चिता ॥ २७ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

प्रकरीमाह—कविनैवं विरच्यमाना नाटकादौ नाट्ये काव्ये वर्णनीया भीष्टार्थप्रसंगात् यत्प्रदेशस्थं तत् स्वमतं देशस्थं चरितं विरच्यते सा प्रकरीनाम प्रकृतिर्मता ॥२४॥

कार्यमुच्यते—एवमेव नाटकादीनि नाट्यानि विरचयतः कवेः कार्यन्तु तत् यत्साध्यमपेक्षितं क्रियया साधनेनापेक्षितम् । यन्निबन्धेन आरम्भः तत्तं नाटकादिषु कवेर्रचनारम्भः शरीरवाङ्मनःप्रवृत्तिः । यत् सिद्धौ आरब्धं तन्नाटकादिरचनासिद्धौ क्रियायाः समापनं तत्फलनिष्पत्तिपर्यन्तं कवेः कार्यमिति सम्मतः ।

कविर्यन्नाटकादिकं रचयितुमिच्छति, तत्र यद्वृत्तान्तं रचयेत् सूत्ररूपेण सर्वं संक्षेपेण रचयित्वा वृत्तान्तावान्तरं तत् प्रासंगिकमपरं किञ्चिद्वृत्तान्तं रचयेत् । ततः कविः प्रकृतप्रस्तावप्रासंगिकं व्यापकवृत्तान्तमपरं रचयेत् । ततः परं स्वसम्मतदेशस्थचरितं रचयेत् । ततः परं यदभिधेयशेषमपेक्ष्यं वर्तते तद्रचयेत् । ततस्तन्नाटकादिसमाप्तिं रचयेदिति अर्थप्रकृतयः पञ्च व्याख्याताः ॥ २४-२५ ॥

प्रकरी—जो प्रासाङ्गिक इतिवृत्त अल्पदेश व्यापक होता है अर्थात् थोड़ी दूर तक चलता है और मुख्य नायक का सहायक होता है उसे 'प्रकरी' कहते हैं । प्रकरी नायक का सहकारी चरित है ॥ २४ ॥

कार्य—जो साध्य अपेक्षित हो और जिसके लिए आरम्भ (नाट्यारम्भ) होता है तथा जिसकी सिद्धि के लिए क्रिया का समापन है, उसे 'कार्य' कहते हैं । अर्थात् जिस अपेक्षित साध्य के लिए आरम्भ उपाय में प्रवृत्ति होती है और जिसकी सिद्धि में कार्यारम्भ की समाप्ति हो, उसे 'कार्य' कहते हैं ॥ २५ ॥

पञ्चचेष्टाएँ—आरम्भ—मुख्य फल की सिद्धि के लिए जो औत्सुक्य है अर्थात् मन की प्रवृत्ति है, उसे 'आरम्भ' कहते हैं । **प्रयत्न**—प्रधान फल की प्राप्ति के लिए अत्यन्त त्वचा युक्त व्यापार को 'प्रयत्न' कहते हैं । **प्राप्ति सम्भव**—उपाय (साधन) और उपाय (विघ्न-बाधाओं) की आशंकासेयुक्त फल की प्राप्ति की सम्भावना या आशा को 'प्राप्तिसम्भव' (प्राप्त्याशा) कहते हैं । **नियताप्ति**—अपायाभाव अर्थात् विघ्न-बाधाओं के दूर हो जाने से निश्चित फल की प्राप्ति 'नियताप्ति' (प्राप्ति) होती है । **फलयोग**—जब समग्र फल की प्राप्ति हो जाती है, तो उस अवस्था को 'फलयोग' (फलागम) कहते हैं ॥ २६-२७ ॥

साऽवस्था फलयोगःस्याद्यत् समग्रफलोदयः ।
यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ॥
काव्यशरीरानुगतं तन्मुखं परिकीर्तितम् । २८ ॥
फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः ॥
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत् ॥२९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

नाटकादिः चिकीर्षया कवेर्यन्मुख्यफलनिष्पत्यर्थमौत्सुक्यं मनः प्रवृत्तिः स प्रारम्भः प्रथम आरम्भः। कविस्तन्नाट्ये तद्विरचयेत्। तत उत्सुकः सन् कविस्तन्नाट्यकाव्यनिष्पत्तिफलप्राप्तौ त्वरान्वितः सन् यतन्नाट्यरचनां करोति स त्वरान्वितो व्यापारः प्रयत्नः। तमपि कविः तद्ग्रन्थे विरचयेत्। तत उपायशंकापायशंकाभ्यां यत् तन्नाट्यरचनासमाप्तिफलस्य प्राप्त्याशा स प्राप्तिसम्भवस्तच्च कविः विरचयेत्। ततो निष्पाद्यमानायाः क्रियाया अपायाभावतो निश्चिता तु फलप्राप्तिः प्राप्तिरुच्यते। तामपि कविर्विरचयेत्। ततः समग्रफलोदयो यदिति यदा स्यात् सावस्था फलयोग उच्यते। इत्येतासां पञ्चानां चेष्टानां पूर्वरंगे नाट्ये तु उपदेशस्य प्रयोजनं लोके सर्वत्रैव क्रियाप्रारम्भादि पञ्चाङ्गानि लोकशिक्षार्थं विरचयेत्, फलन्तु वनलाभकीर्तिशुभोदयाशुभनाशादिः, मुखादयः पञ्चसन्धयो व्याख्यायन्ते तत्र इति पञ्चचेष्टाः व्याख्याताः भवन्ति ॥ २६-२७ ॥

अल्पमात्रमुद्दिष्टं यत् फलान्तं बहुधा च यत् प्रसर्पति तस्य बीजस्य यत्र नानार्थरससम्भवा समुत्पत्तिः काव्यशरीरानुगता काव्यस्यारम्भसमाप्तिपर्यन्तं वाङ्मयशरीरस्योत्पत्तिः तन्मुखं काव्यस्यारम्भः विरचियितव्यस्य प्रस्तावनारम्भस्थानं मुखं प्रथमम् ॥ २८ ॥

निरुक्तमुखाभिधे सन्धौ निवेशी फलकाव्यसमाप्तिलक्षणं प्रधानं यत्र स फलप्रधान उपायस्तस्य लक्ष्यालक्ष्य इव क्वचिल्लक्ष्यते क्वचिन्नलक्ष्यत इव यत्रोद्भेदस्तदुद्भेदस्य लक्ष्यत्वालक्ष्यत्त्ववत् स्थानं प्रतिमुखं नाम सन्धिः यथा करोति स उपायः निष्पत्तिकरणप्रकारः। बहुलप्रसर्पणशीलाल्पमात्रोद्दिष्टवाक्यवचनानन्तरं तन्मुखनिविष्टस्योपायस्य फलप्रधानस्य लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेद उन्मुखीभावो यत्र रचनायां सा रचना प्रतिमुखमिति ॥ २९ ॥

मुखसन्धि

अर्थ—जहाँ पर अनेक अर्थ, एवं रस आदि से युक्त 'बीज' की उत्पत्ति होती है उसे 'मुख सन्धि' कहते है। मुख सन्धि आरम्भ और बीज का संयोग है ॥ २७ ॥

प्रतिमुख सन्धि

अर्थ—जहाँ पर मुखसन्धि में निविष्ट (स्थित) फल के प्रधान उपाय (बीज) का कहीं लक्ष्य (दृश्य) की तरह और कहीं अलक्ष्य अदृश्य की तरह उद्भेद (प्रकाश) होता है, उसे 'प्रतिमुखसन्धि' कहते हैं। ॥ २८ ॥

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ।
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः ॥३०॥
यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः
सापावः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः ॥३१॥
बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्
ऐक्यार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणन्तु तत्[1] ॥३२॥

काव्यप्रभावृत्तिः

गर्भं लक्षयातीति—कवेस्तन्नाट्यरचनायां धनलाभादिफलयान्त उपायाश्चेष्टाव्यारप्रकारास्तेषु मध्ये फलप्राप्तिसिद्धौ प्रधानमुपायो यस्तस्य प्रागुद्भिन्नस्य पूर्वमुत्पन्नस्य पूर्वोद्भेद काले यत्र किञ्चिदुद्भेदः, स मुहुर्ह्रासान्वेषणवान् गर्भो नाम सन्धिरुच्यते ॥ ३० ॥

कवेस्तनाट्यकाव्यरचनायां यत्र मुख्यः फलस्यप्र योजनल्योपायः स खलु गर्भतोऽधिकः। गर्भे यथा किन्चित् ह्रासो मुहुर्मुहुरन्वेषणीयो भवति ततोऽधिकः ह्रासस्तु गुरुजनादिवृत्तसापाथैः सान्तरायश्च विघ्नयुक्तः स्यात् स विमर्श इत्युच्यते। ॥ ३१ ॥

मुखप्रतिमुखगर्भाविमर्शा यथायथं यस्य यो भवति, सर्वे यत्रक्यार्थमेकीकरणार्थं प्रकीर्णा उपनीयन्ते तत्तु निर्वहणं कार्यनिर्वाह उच्यते ॥३२॥

गर्भसन्धि

अर्थ—पहले (मुख और प्रतिमुख सन्धि में) किञ्चित् (कुछ) उत्पन्न (प्रकट) फल के प्रधान उपाय (बीज) का जहाँ पर पुनः पुनः ह्रास (तिरोभाव) और अन्वेषण होता है, उसे 'गर्भसन्धि' कहते हैं ॥ २९ ॥

विमर्शसन्धि

अर्थ—जहाँ पर मुख्य फल का उपाय (कारण) गर्भसन्धि की अपेक्षा अधिक विकसित होता है और शाप आदि के कारण विघ्न से युक्त होता है, उसे 'विमर्श' सन्धि कहते हैं ॥ ३० ॥

निर्वहण-सन्धि

अर्थ—जहाँ पर यथास्थान प्रकीर्ण (उपन्यस्त किये हुए) बीज से युक्त मुखादि अर्थ प्रधान प्रयोजन के लिये प्राप्त कराये जाते हैं, वहाँ 'निर्वहण' सन्धि होती हैं ॥ ३१ ॥

विमर्श—मुखसन्धि में इतिवृत्त का बीज निहित होता है, प्रतिमुख सन्धि में उसका उद्भेद होता है, गर्भसन्धि में वह उत्कर्ष को पाता है, विमर्शसन्धि में फलोन्मुख होता है और निर्वहण सन्धि में पूर्ण सिद्धि को प्राप्त करता है। इस प्रकार मुखसन्धि में निहित बीज निर्वहण सन्धि में फल के रूप में परिणत हो जाता है ॥३१॥

---

१. कारिकेयं मुद्रितप्रतिषु नास्ति ।

काव्यप्रभावृत्तिः

इति पञ्चभिः सान्धिभिस्तन्नाट्यकाव्यसन्दर्भः संहितो भवति इति संश्लिष्टः सन् सम्पूर्यते। एषाञ्च सन्धीनामङ्गानि तत्रान्तरे प्रोक्तानि। तद्यथा—

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम्।
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना॥
उद्भेदः करणं भेदः एतान्यङ्गानि वै मुखे।
काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः॥
समुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः परिकरो बुधैः।
तन्निष्पत्तिः परिन्यासो गुणाख्यानं विलोभनम्॥
सम्प्रधारणमर्थानां युक्तिः प्राप्तिः सुखागमः।
बीजस्यागमनं यत्तु तत् समाधानमुच्यते॥
सुखदुःखकृतो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम्।
कुतुहलोत्तरा वाचः प्रोच्यते परिभावना॥
बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः करणं पुनः।
प्रकृतार्थसमारम्भो भेदः संघातभेदनम्॥

अथ प्रतिमुखस्याङ्गानि त्रयोदश। यथा—

विलासः परिसर्पश्च विधूतं तापनं तथा।
नर्म नर्मद्युतिश्चैव तथा प्रशमनं पुनः॥
विरोधः पर्युपासा च पुष्पं वज्रं तथैव च।
उपन्यासः प्रतिमुखे वर्णसंहार इत्यपि॥
समीहा रतिभोगार्था विलास इति कथ्यते।
इष्टनष्टानुसरणं परिसर्पश्च कथ्यते॥
कृतस्याभिनयस्यादौ विधूतं त्वपरिग्रहः।
उपायादर्शनं यत्तु तापनं नाम तद् भवेत्॥
परिहासवचो नर्म वृत्तिस्तु परिहासजा।
नर्मद्युतिः प्रशमनं वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम्॥
विरोधो व्यसनप्राप्तिः कृतस्यानुनयः पुनः।
स्यात्पर्युपासनं पुष्पं विशेषवचनं स्मृतम्॥
प्रत्यक्षनिष्ठुरं वज्रमुपन्यासः प्रसादनम्।
चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार उच्यते॥

अथ त्रयोदशगर्भस्याङ्गानि भवन्ति। तथा—

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणक्रमाः।
संग्रहश्चानुमानञ्च प्रार्थना क्षिप्तिरेव च॥

काव्यप्रभावृत्तिः

त्रोटकाधिवलोद्वेगा गर्भे ल्युर्विद्रवस्तथा ।
तत्र व्याजाश्रयं वाक्यमभूताहरणं मतम् ॥
तत्त्वार्थकथनं मार्गो रूपं वाक्यं वितर्कवत् ।
उदाहरणमुत्कर्षयुक्तं वचनमुच्यते ॥
भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रमः स्यात् संग्रहः पुनः ।
सामदानार्थसम्पत्तिर्लिङ्गादूहोऽनुमानकम् ॥
रतिःहर्षोत्सवानान्तु प्रार्थनं प्रार्थना भवेत् ।
रहस्यार्थस्य तद्भेदः क्षिप्तिः स्यात् त्रोटकः पुनः ॥
संरब्धवागधिजलममिसन्धिच्छलेन यः ।
नृपादिजनिता भीतिरुद्वेगः परिकीर्त्तितः ॥
शंकाभयवासकृतः सम्भ्रमो विद्रवो मतः ।

अथ त्रयोदशविमर्शस्यांगानि भवन्ति । यथा—

अपवादोऽथ संफेटो व्यवसायो द्रवो द्युतिः ।
शान्तिः प्रसंगः खेदश्च प्रतिषेधो विरोधनम् ॥
विरोचनाविमर्शे स्यादादानं छादनं तथा ।
दोषप्रख्यापवादः स्यात् संफेटो रोषभाषणम् ॥
व्यवसायस्तु विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसम्भवः ।
तर्जनोद्वेजने प्रोक्ता द्युतिः शान्तिस्तु कथ्यते ॥
विरोधस्य प्रशमनं प्रसंगो गुरुकीर्तनम् ।
मनश्चेष्टासमुत्पन्नः श्रमः खेद इति स्मृतः ॥
ईप्सितार्थप्रतीघातः प्रतिषेधो हि कथ्यते ।
कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमितीरितम् ॥
प्ररोचना तु विज्ञेया संहारार्थप्रकाशिनी ।
कार्यसंग्रह आदानमथाहुश्छादनन्तु तत् ॥
कार्यार्थमपमानादेः सहनं यद्भवेदिति ।

अथ चतुर्दशनिर्वहणस्यांगानि भवन्ति । तद्यथा—

सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ।
कृतिः प्रसाद आनन्दः समयोऽप्युपगूहनम् ॥
भाषणं पूर्ववाक्ययञ्च काव्यसंहार एव च ।
प्रशस्तिरिति चांगानि सन्धेर्निर्वहणस्य तु ॥
बीजोपगमनं सन्धिविबोधः कार्यमार्गणम् ।
उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रथनं निर्णयः पुनः ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अनुभूतार्थकथनं यथोक्तं परिभाषणम् ।
परिवादकृतं वाक्यं लब्धार्थशमनं कृतिः ॥
शुश्रूषादिः प्रसादः स्यादानन्दो वाछिवागमः ।
समयो दुःखनिर्याणमथस्यादूपगूहनम् ॥
सम्प्राप्तिरद्भुतस्यैव सामदानादिभाषणम् ।
पूर्ववाक्यन्तु विज्ञेयं यथोक्तार्थोपदर्शनम् ॥
वरप्रदानसम्प्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते ।
नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते ॥

इति नाटकादीनां सर्वेषां पूर्वरंगे द्वात्रिंशदङ्गानि प्रोक्तानि । तत्र पञ्च ये सन्धय उक्तास्तेऽपि नाटकादीनां सर्वेषामेव पूर्वरंगाङ्गानि । तेषामेकैकस्य सन्धेर्यानि यान्युक्तानि परैस्तानि सर्वत्र नाटकादिषु नोपयुक्तानि भवन्तीत्यतस्तद्वचनमनार्षत्वादग्राह्यमिति ॥ ३१ ॥

---

१. अब सन्धियों के अङ्गों का विवेचन करते हैं । उनमें मुखसन्धि के बारह अङ्ग होते हैं—
(१) उपक्षेप (२) परिकर (३) परिन्यास (४) विलोभन (५) युक्ति (६) प्राप्ति (७) समाधान (८) विधान (९) परिभावना (१०) उद्भेद (११) कारण (१२) भेद ।

२. प्रतिमुख सन्धि के तेरह अङ्ग होते हैं—
(१) विलास (२) परिसर्प (३) विद्युत (४) तापन (५) नर्म (६) नर्मद्युति (७) प्रशमन (८) विरोध (९) पर्युपासन (१०) पुष्प (११) वज्र (१२) उपन्यास (६३) वर्णसंहार ।

३. गर्भसन्धि के तेरह अङ्ग होते हैं—
(१) अभूताहरण (२) मार्ग (३) रूप (४) उदाहरण (५) क्रम (६) संग्रह (७) अनुमान (८) प्रार्थना (९) क्षिप्ति (१०) त्रोटक (११) अधिवल (१२) उद्वेग (१३) विद्रव ।

४. विमर्श सन्धि के तेरह अङ्ग होते हैं—
(१) अपवाद (२) संफेट (३) व्यवसाय (४) द्रव (५) द्युति (६) शक्ति (७) प्रसङ्ग (८) खेद (९) प्रतिषेध (१०) विरोधन (११) प्ररोचना (१२) आदान (१३) छापन ।

५. निर्वहण-सन्धि के चौदह अङ्ग होते हैं—
(१) सन्धि (२) विबोध (३) ग्रथन (४) निर्णय (५) परिभाषण (६) कृति (७) प्रसाद (८) आनन्द (९) समय (१०) उपगूहन (११) भाषण (१२) पूर्ववाक्य (१३) काव्य संहार (१४) प्रशस्ति ।

इस प्रकार सन्धि के कुल चौसठ अङ्ग कहे गये गये हैं । किन्तु गणना करने पर कुल पैंसठ अङ्ग होते हैं । कुछ विद्वान् निर्वहण सन्धि में 'प्रशस्ति' को स्वीकार नहीं करते । इस प्रकार सन्धि के चौसठ अङ्ग कहे गये हैं ॥ ३१ ॥

देशकालौ विना किञ्चिन्नेतिवृत्तं प्रवर्तते ।
अतस्तयोरुपादानं नियमादिदमुच्यते ॥ ३२ ॥
देशेषु भारतं वर्षं काले कृत्तयुगत्रयम् ।
वर्तेताभ्यां प्राणभृतां सुखंदुःखोदयः क्वचित् ॥
मध्ये स्वर्गादिवार्ता च प्रसज्जन्ती न दुष्यति ॥ ३३ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ नाटकादीनां पूर्वरंगे त्रिंशदंगान्युक्त्वा शेषौ द्वौ देशकालौ आह—नाटकादीनामारम्भसमाप्तिपर्यन्तं शरीरं सिद्धमुत्प्रेक्षितञ्च यत् किञ्चिदितिवृत्तसंज्ञं तत् किञ्चिदपि देशकालौ विना न प्रवर्तते, इत्यस्मात् पूर्वरंगेऽङ्गेषु तयोर्देश-कालयोरुपादानम् ॥३२॥

तत्र देशकालयोर्मध्ये नियमादिदमुच्यते-देशेष्वित्यादि । सप्तसु द्वीपेष्वनन्तेषु देशेषु मध्ये भारतं वर्षमिदं । कालेषु च कृत्यादियुगत्रयम् । ताभ्यां द्वाभ्यां भारतवर्षदेशकृतत्रेताद्वापर कालाभ्यां प्राणभृतां सुखं नाटकादिषु कविर्वर्तेत वर्णयेत् क्वचिच्छुखोदयश्च वर्तते वर्णयेत्, न तु देशान्तरजातानां कलिकालजातानां प्राणभृतामिति । कृतत्रेताद्वापरकाले भारतवर्षे जातानां प्राणिनां वार्तायां नाटकादिषु वर्त्तमानायां मध्येषु स्वर्गादिवार्त्ता प्रसज्जति । तदा प्रसज्जन्ती सा स्वर्गादिवार्त्ता नाटकादिषु वर्णने न दुष्यति । नत्वारम्भसमाप्तिपर्यन्तं स्वर्गादिदेशान्तरवार्त्तां वर्णयन्नाटकादिषु ॥ ३३ ॥

नाटक के पूर्वरङ्ग के तीस अङ्गों का निरूपण करने के पश्चात् अब देश और काल का निरूपण करते हैं :—

अर्थ—प्रख्यात एवं उत्पाद्य कोई भी इतिवृत्त (कथानक) देश और काल के विना प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । अतः नाटक में देश और काल की उपस्थिति नियमपूर्वक होनी चाहिए ॥ ३२ ॥

अर्थ—समस्त देशों में भारतवर्ष और कालों में सत्ययुग, त्रेता और द्वापर ये तीनों युग ग्राह्य (श्रेष्ठ) हैं । नाटक में इन दोनों देश और काल के द्वारा प्राणियों के सुख-दुःख का वर्णन करें और मध्य में स्वर्गादि वार्त्ता का वर्णन भी दोषपूर्ण नहीं होता है ॥ ३३ ॥

विमर्श—नाटक का इतिवृत्त देश और काल के अनुसार चयन करना चाहिए । सात द्वीपों और समस्त देशों में भारतवर्ष श्रेष्ठ है और कालों सत्ययुग, द्वापर और त्रेतायुग श्रेष्ठ है । उक्त तीनों युगों के प्राणियों के सुख का निरूपण नाटक में करना चाहिए । कलियुग तथा देशान्तर में उत्पन्न प्राणियों के सुख का वर्णन न करें और मध्य में स्वर्गादि वार्त्ता का वर्णन भी दोषपूर्ण नहीं होता ॥३३॥

इष्टस्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ।
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गुह्यानाञ्चैव गूहनम् ॥ ३४ ॥
आश्चर्यवद्भिरव्यातं प्रकाश्यानां प्रकाशनम् ।
अंगहीनौ नरौ यद्वत् न श्रेष्ठः काव्यमेव तत् ॥ ३५ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे नाटकादिलक्षणं नाम द्वितीयोऽध्यायः

काव्यप्रभावृत्तिः

तर्हि नाटकादिषु कविं किं किं वर्त्तयेदित्यत आह—कविना नाटकादिश्चिकीर्षुणा पूर्वरंगे नान्दीप्रभृतीनि द्वात्रिंशदंगानि विरच्य स्वाभीष्टस्य कृतत्रेताद्वापरयुगोत्पन्नानां भारतवर्षजानां प्राणिनामर्थस्य वृत्तान्तस्य रचनाकार्यात् एतस्य वृत्तान्तस्यानुपक्षयो निःशेषः कार्यो न तु तद्वृतान्तः सावशेषः कार्यः। तद्वृतान्ते यस्य यस्य यावन्तः प्रयोक्तव्या भावा भवन्ति तावन्तः प्रयोगस्य रागप्राप्तिस्तस्य तस्य रचयितव्या भवति तद्वृत्तान्ते यस्य यस्य यानि गुह्यानि तेषां गुह्यानां गोपनं कृत्वा रचयितव्यं न प्रकाश्य रयितव्यम्, तस्य तस्य च यद्भूतमाश्चर्यवत् प्रख्यातं लोके तदूरचयितव्यम्। तस्य तस्य यानि प्रकाश्यानि तेषां प्रकाश्यानां वृत्तानां प्रकाशनं रचयितव्यमिति। यथा रसभावविभावानुभावाभिनया यथा स्युस्तथा सर्वमिदं कविर्नाटकादिषु रचयेदिति। तत्रांको यथार्हं विधातव्यस्ततो ग्रन्थं समाप्य स्थितिः कार्येति नाटकादीनां सप्तविंशतेः समान्यलक्षणं व्याख्यातं भवतीति।

नन्वेवं लक्षणाभावे नाटकादिकं किं न स्यात् तत्राह—अंगहीनेत्यादि। यथाऽङ्गहीनो नरो न श्रेष्ठः स्यात्तद्वत् काव्यङ्गहीनं यस्य गद्यकाव्यस्य पद्यकाव्यस्य मिश्रकाव्यस्य यल्लक्षणं तु उक्तं अंगहीनं काव्यं न श्रेष्ठं स्यादिति। तथा स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषविर्जितं स्वस्वलक्षणाक्रान्तं गद्यवाङ्मयं पद्यवाङ्मयं मिश्रवाङ्मयं काव्यं श्रेष्ठम्। तदन्यथा तु काव्यम् काव्यमपि न श्रेष्ठं स्यादिति ॥३५॥

इत्याग्नेये महापुराणे नाटकादिलक्षणं नाम द्वितीयोऽध्यायः।

इसके बाद नाटक में सन्ध्यङ्गों के फल का निरूपण करते हैं—

अर्थ—अभीष्ट अर्थ (वस्तु) की योजना, वृत्तान्त (कथा) का अनुपक्षय, प्रयोग में राग की उत्पत्ति, गोपनीय का गोपन, प्रकाशनीय विषयों का प्रकाशन, आश्चर्यमय (अलौकिक) अर्थ का कथन इन छः नाटकीय गुणों का उल्लेख नाटक में होना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार अङ्गहीन मनुष्य श्रेष्ठ (उत्तम) नहीं माना जाता, उसी प्रकार उपर्युक्त छः गुणों से रहित (अङ्गहीन) काव्य भी श्रेष्ठ नहीं होता ॥ ३४ ॥

इस प्रकार अग्निपुराण का नाटकादि लक्षण नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

तृतीयोऽध्यायः

नाटकादि-विशेषलक्षणम्

अग्निरुवाच

नाटकादीनि सर्वाणि विशेषेण वदामि ते ।
चतुर्वृत्तिपञ्चसन्धिचतुःषष्ट्यङ्गसंयुतम् ॥ १ ॥
द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतमलङ्कारोपशोभितम् ।
महारसं महाभोगमुदात्तवचनान्वितम् ॥ २ ॥
महापुरुषसत्कारं साध्वाचारजनप्रियम् ।
सुश्लिष्टसन्धियोगञ्च सुप्रयोगं सुखाश्रयम् ॥ ३ ॥
मृदुशब्दाभिधानञ्च कविः कुर्य्याच्च नाटकम् ।
युक्तं सर्व्वपताकाभिर्दशाङ्कं नाटकं महत् ॥ ४ ॥

नाटकादि के सामान्य लक्षण निरूपण करने के पश्चात् अब विशेष लक्षण प्रस्तुत करते हैं—

१. नाटक का लक्षण

अग्निदेव ने कहा—

अर्थ—नाटक गद्य-पद्य मिश्रित होता है। उसमें भारती, आरभटी, कौशिकी और सात्वती ये चार वृत्तियाँ होनी चाहिए। चौसठ अङ्गों सहित पाँच सन्धियाँ होनी चाहिए। नाटक नान्दी आदि बत्तीस लक्षणों से युक्त और अलङ्कारों से अलंकृत होना चाहिए। (रस, भाव, विभाव, अनुभाव आदि) श्रृङ्गारादि रसों से युक्त, सम्भोगादि भोगों से युक्त, धीरोदात्त नायक के मुखादि वचनों से युक्त, महापुरुषों के सत्कार, साधु आचरण एवं लोकरञ्जक (जनप्रिय), सुसङ्गत सन्धियों से युक्त सुन्दर प्रयोग (अभिनय) से युक्त सुख का आश्रय और कोमल शब्दों के प्रयोग वाले नाटक की रचना कवि को करनी चाहिए और समस्त पताकाओं से युक्त दश अङ्कों में महानाटक की रचना करनी चाहिये ॥ १–४ ॥

प्रकरणलक्षणम्—

भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् ।
शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्राऽमात्योऽथवा वणिक् ॥५॥
स्वपोषधर्म्मकामार्थपरो धीरः प्रशान्तकः ।
नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयी क्वचित् ॥६॥
तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः ।
कितवद्यूतकारादि विटचेटकसङ्कुलः ॥ ७ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

नाटकादीनां सामान्यलक्षणममिधायेदानीं विशेषलक्षणमुच्यते—तत्र नाटकं गद्य-पद्य-मिश्रम् देवादीनां द्रष्टव्यं श्रोतव्यं संस्कृतेन कविना कर्त्तव्यम् । तत्र चतस्रो वृत्तयो भारत्याऽऽरभटीकौशकीसात्वत्यो यत्र तथाविधं रचयेत् । तत्र भारत्यां पञ्चसन्धिचतुःषष्ठ्यङ्गसंयुतं स्यात् । तत्र मुखस्याङ्गानि उपक्षेपादीनि द्वादश, वृत्तौ स्त्रीयुक्ताप्राकृतोक्तिकेति नियतास्त्रीप्रयुक्ता प्राकृतोक्तिरस्ति । यावत्पर्यन्तं भारत्या वृत्त्या रचना तत्र सा प्राकृतोक्तिर्न दुष्यति । नराणां प्राकृतनाटके निर्विवादयः पञ्चसन्धयो मुख-प्रतिमुख - गर्भ - विमर्श - निर्वहणाख्याः यत्र । तच्च प्रतिमुखस्याङ्गानि विलासादीनि त्रयोदश, गर्भस्याङ्गानि अभूताहरणादीनि त्रयोदश, विमर्शस्याङ्गानि अपवादादीनि त्रयोदश, निर्वहणस्य चाङ्गानि सन्धिप्रभृतीनि चतुर्दश इति चतुःषष्ट्यङ्गानि । ततो रसभावविभावानुभावा अभिनया ये तत्र महारसशृङ्गारादिरसयुक्तं महाभोगदीर्घकालसम्भोगादिभोगयुक्तम् उदात्तानां धीरोदात्तनायकानां वचनयुक्तं, महापुरुषाणां सत्कारवाक्ययुक्तं, साध्वाचारजनप्रियं, वैधकर्म्मशीलपुरुषाणां प्रियं, धर्माविरोधिवाक्ययुक्तं, सुश्लिष्टसन्धिसंयोगं सुन्दररूपेण श्लिष्टौ सन्धियोगौ यत्र सुविहितसन्धिकाव्यं, पदानां सान्निध्यप्रयोगेण सुचारु श्रुतिजनकं, सुप्रयोगं, कष्टशब्दघटनारहितं, प्रयोगं, सुखाश्रयं, मृदुशब्दाभिधानमकष्टोच्चारणश्रवणशब्दाख्यानयुक्तं, कविर्नाटकंकुर्यात् । तत्र यदि सर्व्वपताकायुक्तं, दशस्वङ्केषु पताकाभिर्युक्तं दशभिरङ्कैश्च युक्तं कविर्नाटकं कुर्यात् स्यात्तदामहानाटकमुच्यते । इति नाटकलक्षणमुक्तम् ॥ १-४ ॥

---

२. प्रकरण का लक्षण

अर्थ—प्रकरण का इतिवृत्त लौकिक एवं कवि-कल्पित होना चाहिये । इसमें शृङ्गार रस मुख्य होता है, प्रकरण का नायक अमात्य, विप्र, वणिक् में से कोई एक होता है और वह नायक धर्म, अर्थ, काम में परायण धीरप्रशान्त होता है । प्रकरण में कुलजा (कुलीन) नारी नायिका होती है और कहीं वेश्या नारी नायिका होती है तथा कहीं

डिमाख्यं नाट्यं लक्षयति—

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।
उपरागैश्च भूयिष्ठो डिमः स्यात् ख्यातवृत्तिकः ॥ ८ ॥
अङ्गी रौद्ररसस्तत्र सर्व्वेऽङ्गानि रसाः पुनः ।
चत्वारोऽङ्का मता नेह विष्कम्भकप्रवेशकौ ॥ ९ ॥
नायका देवगन्धर्व्वयक्षरक्षो महोरगाः ।
भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः ॥ १० ॥
वृत्तयः कौशिकीहीना निर्विमर्शाश्च सन्धयः ।
दीप्ता स्युः षड्रसाः शान्तहास्यशृङ्गारवर्जिताः ॥११॥

काव्यप्रभावृत्तिः

प्रकरणलक्षणम्—प्रकरणं नाम सङ्कीर्णनाट्यकाव्ये पूर्वरङ्गादि सामान्यलक्षणं कविर्विचरयेत् । तत्र यदिष्टस्यार्थस्य रचना तदिष्टार्थो वृत्तम् । तत्तु कविना स्वचेतसा कल्पितं लौकिकं किमपि नत्वलौकिकं न चाकल्पितम् । यत् प्रसिद्धं लोके वृत्तम् । शृङ्गारो रसोऽङ्गी आत्मेव नायकस्तु ब्राह्मणोऽथवामात्योऽथवा वैश्यः । स च नायकः स्वेषां पोषणपरो धर्मकामार्थपरश्च स्यात् । तथा धीरप्रशान्तो भवति । नायिका तु तत्र क्वचित् कुलजा नारी क्वचिद्वेश्या नारी क्वचिद्द्वयी-कुलजा वेश्या चेति । नायिकात्रयभेदात्तस्य प्रकरणाख्यनाट्यस्य त्रयो भेदास्तत्र तृतीयको भेदो यत्र कुलजा वेश्या च द्वयी नायिका स कितवादिसङ्कुलः । कितवो धूर्त्त एव द्यूतकारादिः पाश-क्रीड़कः क्रीडान्तरकारी च धूर्त्तः । विटः श्रीमांस्तद्देशजोऽनुनायकः चेटको दासः । तैः सङ्कुलः बहुलः । इत्येवं प्रकरणं नाम नाट्यसन्दर्भं कविः कुर्य्यादिति ॥ ५-७ ॥

---

३. डिम का लक्षण

दोनों (कुलजा और वेश्या) नायिका होती है । नायिका भेद से प्रकरण के तीनों भेदों में तीसरा भेद (जिसमें कुलजा और वेश्या दोनों नायिकाएँ होती हैं) धूर्त्त, धूतकार, विट, चेट आदि से संकुल (युक्त) होता है ॥ ५–७ ॥

अर्थ—डिम माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्त आदि चेष्टाओं तथा सूर्य-चन्द्र ग्रहण, उल्कापात आदि वर्णनों का बाहुल्य रहता है, डिम का इतिवृत्त प्रख्यात (इतिहास-प्रसिद्ध) होता है । डिम रौद्र रस प्रधान (अङ्गी) रस होता है और अन्य रस अङ्गी (गौण) होते हैं । इसमें चार अङ्क होते हैं तथा विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं होते हैं । इसमें देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महोरग, भूत, प्रेत, पिशाच आदि सोलह नायक होते हैं । इसमें कौशिकी वृत्ति को छोड़कर अन्य तीन वृत्तियाँ होती हैं और विमर्श सन्धि को छोड़कर शेष सन्धियाँ होती हैं । इसमें शान्त, हास्य और शृङ्गार रस को छोड़कर छः रसों की दीप्ति होती है ॥ ८-११ ॥

ईहामृगमाह—

ईहामृगो मिश्रवृत्तश्चतुरङ्कः प्रकीर्त्तितः ।
मुखप्रतिमुखे सन्धी सन्धिनिर्व्वहणं तथा ॥ १२ ॥
नरदिव्यावनियतौ नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्योगूढ़भावादयुक्तकृत् ॥ १३ ॥
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
शृङ्गाराभासमप्येष किञ्चित् किञ्चित् प्रदर्शयेत् ॥१४॥
पताकानायका दिव्या मर्त्या वापि दशोद्धताः ।
युद्धमानीय संरम्भात् परं व्याजान्निदर्शयेत् ॥ १५ ॥
महात्मानो वधप्राप्ता अपि वध्याः स्युरत्र न ।
एकोऽङ्को देव एवाऽत्र नेतेत्याहुः परे पुनः ॥ १६ ॥
दिव्यस्त्रीहेतुकं युद्धं नायकाः षडितीतरे ।

काव्यप्रभावृत्तिः

डिमाख्यं नाट्यं लक्षयतीति—

यत्र सङ्कीर्णनाट्यसन्दर्भे पूर्व्वरङ्गे विमर्शहीनाश्चत्वारः सन्धयो मुखं, प्रतिमुखं, गर्भो, निवर्हणञ्चेति । शेषं सर्वं पूर्व्वरङ्गे रचयेत् । ततो रसभावविभावानुभावाभिनयेषु खल्विष्टार्थविवेचनायां रौद्रो रसोऽङ्गीमुख्य आत्मेव । शान्तहास्यशृङ्गारवर्जिताः पञ्चरसदीप्ताः प्रकाशवन्त इति । वीरभयानकाद्भुतकरुणावीभत्सरौद्रस्याङ्गानि तेन षड्रसा एव दीप्ताः । तेन तेषां भावाः क्रोधादयः षट् । तत्र वृत्तं ख्यातं लोके यत्तद्वदिष्टं कवेर्भवति ख्यातवृत्तकः । आलम्बनविभावास्तत्तत् रसाश्रयाः । पुरुषा देवादयः षोडशात्यन्तमुद्धताः । अनुभावा मायेन्द्रजालसंग्रामकोधोद्भ्रान्तादि चेष्टाः । कौशिकीवृत्तिहीनास्तिस्रो वृत्तयः । यत्र चोपरागाः प्रतिविम्बा भूयिष्ठाः यत्र विष्कम्भक आवरणेन वन्धकारकवस्तुप्रवेशकश्च रङ्गस्थानमागतः पुनर्गृह प्रवेशकश्च न वर्त्तते स नाट्यकाव्यसन्दर्भो डिमो नाम भवति । शृङ्गाररसवर्जनात् सुतरां नायिकाऽत्र नास्तीति ॥ ८-११ ॥

---

४. ईहामृग का लक्षण

अर्थ—ईहामृग का कथानक मिश्र (ऐतिहासिक एवं कल्पित कथाओं का मिश्रण) होता है । इसमें चार अङ्क होते हैं तथा मुख, प्रतिमुख और निर्वहण ये तीन सन्धियाँ होती हैं । इसमें विना नियम के देव और मनुष्य धीरोद्धत्त नायक-प्रतिनायक होते हैं अर्थात् कहीं देवता नायक और मनुष्य प्रतिनायक होता है और कहीं मनुष्य नायक और देवता प्रतिनायक होते हैं । नायक-प्रतिनायक वे सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है । इनमें

समवकारमाह—

वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम् ॥ १७ ॥
सन्धयो निर्विमर्शास्तु त्रयोऽङ्कास्तत्र चादिमे ।
सन्धी द्वावन्त्ययोस्तद्वदेक एको भवेत्पुनः ॥ १८ ॥
नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवमानवाः ।
फलं पृथक् पृथक् तेषां वीरमुख्योऽखिलो रसः ॥ १९ ॥
वृत्तयो हीनकौशिक्यो नात्र विन्दुप्रवेशकौ ।
वीथ्यङ्गानि च तत्र स्युर्यथालाभं त्रयोदश ॥ २० ॥
गायण्युष्णिङ्मुखान्यत्र छन्दांसि विविधानि च ।
त्रिशृङ्गारः त्रिकपटः कार्य्यश्चायं त्रिविद्रवः ॥ २१ ॥
वस्तु द्वादशनाडीभिर्निष्पाद्यं प्रथमाङ्कगम् ।
द्वितीयेऽङ्के चतसृभिर्द्वाभ्यामङ्के तृतीयके ॥ २२ ॥

काव्यप्रभावृतिः

ईहामृगमाह—क्रमिको य ईहामृगो नाम संकीर्णनाट्यकाव्यसन्दर्भस्तत्र पूर्वरङ्गो विशेषस्त्वयं मुखप्रतिमुखनिर्वहणानीतित्रयः सन्धयः । न तु गर्भविमर्शौ सन्धी । शेषं सर्व्वं समानम् । प्रवर्त्तमाने रङ्गे रसभावविभावानुभावाभिनयाङ्काः सर्वे यै वर्णनीयास्तत्र य इष्टार्थौ रचयितव्यः स च इष्टार्थौ मिश्रवृत्तं लोके सिद्धं यत् पूर्ववृतं तथा कविकल्पितश्च वृत्तमित्युभयवृत्तं तत्र रचयेत् । तत्र रसः प्रधानं वीरः शृङ्गाराभासश्चाल्पः । यतोऽनिच्छन्तीं दिव्यस्त्रियमपहारादिनाऽपहरणादिनाखल्विच्छितनायकस्य किञ्चिच्छृङ्गाराभासमेष ईहामृगो दर्शयेत् । विभावस्त्वत्र नायकप्रतिनायकौ योद्धप्रतियोद्धकौ द्वौ धीरोद्धतौ नरौ दिव्यां वा नरदिव्यौ वा न चात्र नियतौ तत्रान्त्ये धीरप्रशान्तो नायकस्तु गूढमावादयुक्तकृत् । गोपनभावे तत्र विपर्य्यय कर्मकृत् । पताकानायकाश्च दिव्या वा मर्त्या वा उद्धता एव दश संरम्भाद्युद्धं खल्वनीय व्याजात् बलात् परमुत्कर्ष निदर्शयेत् । वधप्राप्ताः युद्धकालप्रहारं प्राप्तवन्तो महात्मनां न वध्या न प्रहार्य्याः स्युः । तत्र चत्वारोऽङ्काः । तत्र चैकोऽङ्को देव एव नायक इति परे वदन्ति । इतरे कवय आहुः "दिव्यस्त्री हेतुकं युद्धम्" तत्र नायकाः षडिति । इतीहामृगे शेषं सर्वं सामान्यं बोध्यमिति ॥ १२-१७ ॥

प्रतिनायक प्रच्छन्नरीति से अनुचित कार्य करने वाला होता है । न चाहती हुई दिव्य स्त्री के अपहरण आदि के द्वारा प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले प्रतिनायक शृङ्गाराभास कुछ कुछ दिखाना चाहिए । इसमें दिव्य अथवा मनुष्य उद्धत प्रकृति वाले दस पताका नायक होते हैं । इसमें नायक और प्रतिनायक के आवेश को सर्वोच्च स्थिति में लाकर किसी बहाने युद्ध टाल देना चाहिए तथा बध की स्थिति में आने पर भी महात्मा का बध नहीं

काव्यप्रभावृत्तिः

समवकारमाह—समवकार नाट्यकाव्ये सङ्कीर्णसंज्ञे पूर्वरङ्गे सर्वसामान्यलक्षणोक्तम्। तत्र विशेषः विमर्शं विना चत्वारः सन्धयः मुखप्रतिमुखगर्भनिर्वहणानीति। तत्र त्रयोऽङ्काः कार्य्याः-तत्रादिमेऽङ्के द्वौ सन्धी मुखप्रतिमुखसंज्ञौ, अन्त्योर्द्वयोरङ्कयोः एकः एकः सन्धिर्द्वितीयेऽङ्के गर्भः तृतीयेऽङ्के निवर्हणमिति। तत्र प्रथमाङ्के द्वादशनाडीभिर्घटिकाभिः कालैर्निष्पाद्यं गेयं वस्तु रचयेत्। द्वितीयेऽङ्के चतसृभिर्घटिकाभिर्निष्पाद्यं गेयं वस्तु रचयेत्। तृतीये द्वाभ्यां नाडीभ्यां निष्पाद्य गेयम्। अर्थप्रकृतिषु विन्दुप्रवेशकौ न वर्त्तते वर्त्तमाने रङ्गे। रस-भाव-विभावानुभावाभिनया ये यस्येष्टस्यार्थस्य रचनायां रचयिष्याः स इष्टोऽर्थो वृत्तम् तत्तु लोके प्रख्यातं यद्देवासुराश्रयं तत् रचयेन्न तु कल्पितम्। तत्र वीररसप्रधानोऽखिलोऽष्टरसा ज्ञेयाः। तेषाञ्च भावा उत्साहादयः। तत्रालम्बनविभावा उदात्ता धीरोदात्ता देवमानवा दादश प्रख्याताः कीर्त्तिभिः। तेषां द्वादशानां नायकानां फलं कर्म पृथक् पृथक् नत्वेकफला। द्वादश गायत्र्यादीनि लौकिकादि विविधानि छन्दांस्यत्र प्रयोज्यानि।

अयं समवकारस्त्रिशृङ्गारः कार्यः। धर्मार्थकामैस्त्रिविधः शृङ्गारोऽत्र वर्जनीयः। तत्र स्वदारेषु ऋतुमतीषु यथाकालं शृङ्गारो धर्म्यः अर्थलामाय शृङ्गारोऽर्थ्यः रतिकामेन। प्रहासकृतः हास्य इति। एवमत्र त्रिविधः कपटो वर्णयितव्यः। स्वाभाविकः कृत्रिमो, देवकृतश्च। विद्रवश्च त्रिविधोऽत्र वर्णनीयः। अचेतन कृतश्चेतनकृतश्चेतनाचेतनकृतश्चेति। इह कौशिकीवृत्तिवर्ज्जं तिस्रो वृत्तयस्तत्र वीथ्याङ्गानि भारत्यां त्रयोदश ज्ञेयानि। इति समवकारो नाम नाट्यभेदः ॥१७-२२॥

होना चाहिए। कुछ नाट्याचार्यों के मतानुसार ईहामृग में एक अङ्क होने चाहिए और उसका नायक देवता होना चाहिए। कुछ अन्य आचार्यों का मत है कि इसमें दिव्य स्त्री के कारण युद्ध होना चाहिए और छः नायक होने चाहिए ॥ २४–२८ ॥

५. समवकार का लक्षण

अर्थ—समवकार में देव और असुरों सम्बन्धित प्रख्यात कथावस्तु होनी चाहिए और उसमें विमर्श-सन्धि को छोड़कर शेष चार सन्धियाँ होनी चाहिए। इसमें तीन अङ्क होने चाहिए जिनमें प्रथम अङ्क में दो सन्धियाँ और अन्तिम दोनों अङ्कों में एक-एक सन्धियाँ होनी चाहिए। इसमें देव और दानव बारह नायक होते हैं और वे सभी धीरोदात्त और प्रख्यात होते हैं। उन सभी का फल (प्रयोजन) अलग-अलग होता है इसमें वीर रस प्रधान होता है और अन्य सभी रस गौण होते हैं। इसमें कौशिकी को छोड़कर शेष तीन वृत्तियाँ होती हैं। इसमें विन्दु और प्रवेशक नहीं होते हैं। यथासम्भव वीथी के तेरह अङ्गों का उपन्यास करना चाहिए। इसमें गायत्री और उष्णिक् छन्दों के साथ विविध छन्दों का प्रयोग होना चाहिये। समवकार में तीन प्रकार के शृङ्गार, तीन प्रकार कपट और तीन प्रकार के विद्रव होने चाहिए। इसके प्रथम अङ्क का इतिवृत्त २४ घड़ का, द्वितीय अङ्क का आठ घड़ी का और तृतीय अङ्क का चार घड़ी का होना चाहिए ॥ ८-११ ॥

प्रहसनमाह—

भाणवत् सन्धिसन्ध्यङ्गैर्लास्याङ्गाङ्कैर्विनिर्मिते ।
भवेत् प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम् ॥ २३ ॥
अत्र नारभटी नापि विष्कम्भकप्रवेशकौ ।
अङ्गी हास्यरसस्तत्र वीथ्यङ्गानां स्थितिर्न वा ॥ २४ ॥
तपस्वी भगवद्विप्रप्रभृतिष्वत्र नायकः ।
एको यत्र भवेद्धृष्टो हास्यं तच्छुद्धमुच्यते ॥ २५ ॥
वेश्या चेटनपुंसकविटधूर्त्तबन्धकयो हि यत्र स्युः ।
सुविकृतवेशपरिच्छदचेष्टितकरणं तु सङ्कीर्णम् ॥ २६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

प्रहसनमाह—भाणे पूर्वरङ्गे द्वौ सन्धी मुखं निर्वहणञ्चेति । तयोरङ्गानि—उपक्षेपादीनि द्वादशमुखस्याङ्गानि, सन्धिप्रभृतीनि त्रयोदशङ्गानि निर्वहणस्येति । लास्याङ्गानि दश, तद्यथा—

गेयपदं स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ।
प्रच्छेदकस्त्रिगूढ़श्च सैन्धवाख्यं द्विमूढ़कम् ॥
उत्तमोत्तमकश्चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च ।
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गमुक्तं मनीषिभिः ॥

तद्यथा—

तन्त्रीभाण्डं पुरस्कृत्योपविष्टस्यासने पुनः ।
शुष्कं गानं गेयपदं स्थितापाठ्यन्तु कथ्यते ॥
मदनोत्तापिता यत्र पठति प्राकृतं स्थिता ।

---

६. प्रहसन का लक्षण

अर्थ—प्रहसन में भाण के समान सन्धि, सन्ध्यङ्ग, लास्याङ्ग और अङ्क की योजना होनी चाहिए । प्रहसन में कवि-कल्पित और निन्द्य व्यक्तियों का कथानक (इतिवृत्त) होता है । इसमें आरभटी वृत्ति, विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं होते । इसका मुख्य रस हास्य होता है और बीथी के अङ्गों की स्थिति नहीं होती ।

प्रहसन के दो भेद होते हैं—शुद्ध और सङ्कीर्ण, इनमें जहाँ पर तपस्वी, सन्यासी और ब्राह्मण प्रभृति में से किसी एक को धृष्ट नायक के रूप में चित्रित किया जाता है उसे शुद्ध प्रहसन कहते हैं और जहाँ पर वेश्या, नपुंसक, विट, धूर्त्त आदि का चरित चित्रित होता है तथा विकृत वेष-भूषा एवं चेष्टाओं का अनुकरण किया जाता है, उसे सङ्कीर्ण प्रहसन कहते हैं ॥ २३–२६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

निखिलातोद्यरहितं शोधचिन्तान्विताऽबला ॥
अप्रसाधितगात्रं यदासीनासीनमेव तत् ।
आतोद्यमिश्रितं गेयं छन्दांसि विविधानि च ॥
स्त्रीपुंसयोर्विपर्यास चेष्टितं पुष्पगण्डिका ।
अन्यासङ्गं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना ॥
वीणापुरःसरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदकौ मतः ।
स्त्रीवेशधारिणा पुंसा नाट्यं श्लक्ष्णं त्रिगूढ़कम् ॥
कश्चन भ्रष्टसङ्केतः सुव्यक्तः करुणान्वितः ।
प्राकृतं वचनं वक्ति यत्र तत् सैन्धवं मतम् ॥
चतुरस्रपदं गीतं मुखप्रतिमुखान्वितम् ।
द्विगूढं रसभावाढ्यमुत्तमोत्तमकं पुनः ॥
कोपप्रसादजश्चाविशेषयुक्तं रसोत्तरम् ।
भावहेलान्वितं चित्रश्लौकवन्धमनोहरम् ॥
उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तं सोपालम्भमलीकवत् ।
विलासान्वितगीतार्थमुक्तप्रत्युक्तमुच्यते ॥

इतिदशभिर्लास्याङ्गैरेकेनाङ्केन च कविना विनिर्मिते प्रहसननामके सङ्कीर्णे नाट्यसन्दर्भे पूर्व्वरङ्गे विष्कम्भकप्रवेशकौ च न स्तः । ततो वर्तमाने नाट्ये रसभावविभावानुभावाऽभिनयाकर्त्तव्यास्तत्र पुनरिष्टस्यार्थस्य रचनायामिहेष्टं वृत्तं निन्द्यानां जनानां कविना कल्पितवृत्तान्तस्तत्र रसो हास्यरसोऽङ्गी आत्मैव । वीथ्याङ्गानां स्थितिर्न वा नूतना कार्य्या वीथी नटश्रैणिः । तत्रालम्बनविभावो नायकस्तपस्वी भगवद्भक्ति प्रभृतिर्विष्णुशिवादिवृत्तिः । तत्रारमणीवृत्तिर्वर्जं त्रिस्रो वृत्तयः ।

तच्च हास्यं नाट्यं द्विविधं–शुद्धं सङ्कीर्णञ्च । तत्र शुद्धं तद्धास्यनाट्यमुच्यते यत्र खल्वेको नायक धृष्टो भवेदिति । यत्र नायिका नायकाः वेश्यादयः स्युः सुविकृतवेशादिकरणञ्च वर्त्तते तत् सङ्कीर्ण नाम हास्यभेदेन प्रहसनं नाट्यं द्विविधमिति ॥ २३-२६ ॥

व्यायोगं लक्षयति—

ख्यातेतिवृत्तौ व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः ।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां नरैर्बहुभिराश्रितः ॥ २७ ॥
एकाङ्कश्च भवेदस्त्रीनिमित्तसमरोदयः ।
कौशिकीवृत्तिरहितः प्रख्यातस्तत्र नायकः ॥ २८ ॥
राजर्षिरथ दिव्यो वा भवेद्धीरोद्धतश्च सः ।
हास्यशृङ्गारशान्तेभ्य इतरेऽत्राङ्गिनो रसाः ॥ २९ ॥

भाणं लक्षयति :—

स्याद्धूर्त्तचरितो भाणो नानावस्थान्तरात्मकः ।
एकाङ्क एक एवात्र निपुणः पण्डितो विटः ॥ ३० ॥
रङ्गे प्रकाशयेत् स्वेनानुभूतमितरेण वा ।
सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्तौ कुर्य्यादाकाशभाषितैः ॥ ३१ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

व्यायोगलक्षणमाह—व्यायोगाख्येऽभिनेये सङ्कीर्णे नाट्यकाव्ये पूर्व्वरङ्गे सामान्यतो द्वात्रिंशदङ्गानि, तत्रेतिवृत्ते द्वे—सिद्धमुत्प्रेक्षितञ्च । तत्र ख्यातमितिवृत्तं सिद्धमितिवृत्तं शरीरं ह्यस्य नाट्यस्य, नतु कविकल्पितं स्पल्पस्त्रीजनसंयुतम् । गर्भ-विमर्शाभ्यां हीनः । मुखप्रतिमुखनिर्वहणसन्धियुक्तं ततो वर्त्तमाने रङ्गे कौशिकीवृत्ति-रहितो भारतीवृत्त्याऽऽरभटीवृत्तिसात्त्वतीवृत्तियुक्तो रसभावविभावानुभावाभिनया वर्णनीयास्तत्र रसाः हास्यशृङ्गारशान्तवर्ज वीरभयानकरुणाद्भुतरौद्रवीभत्साः । षडङ्गिन आत्मैव न त्वात्मा, नहि पुरुषे षडात्मानः सन्ति । भावास्तत्र यथा रस-मुत्साहादयः । विभावाश्चात्रालम्बनाख्यो नायको विख्यातो राजर्षिरथवा दिव्यः कश्चिद्देवः । स च धीरोद्धतो ज्ञेयः । अत्रेष्टस्यार्थस्य रचनायां सिद्धेतिवृत्तस्य रचना कर्त्तव्या । तत्र स्त्रीभिन्नविषयनिमित्तयुद्धोदय रचना कार्या । बहुभिः पुरुषैराश्रित एकाङ्कश्चात्र विधेय इति ॥ २७-२९ ॥

---

७. व्यायोग का लक्षण

अर्थ—व्यायोग का कथानक इतिहास प्रसिद्ध होता है। इसमें स्त्रियों की संख्या कम होती है और पुरुषपात्र अधिक होते हैं। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होती। व्यायोग में एक अङ्क होता है और स्त्री-कारण के बिना युद्ध का वर्णन होता है। इसमें कौशिकी वृत्ति नहीं होती। इसका नायक इतिहास प्रसिद्ध धीरोद्धत राजर्षि अथवा देवता होता है। इसमें हास्य, शृङ्गार और शान्त को छोड़कर कोई एक रस मुख्य होता है। शेष रस अङ्ग (गौण) होते हैं ॥ २९ ॥

सूचयेद्वीरश्रृङ्गारौ शौर्य्यसौभाग्यवर्णनैः ।
तत्रेतिवृत्तमुत्प्रेक्ष्यं वृत्तिः प्रायेण भारती ।
मुखनिर्व्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशैव च ॥ ३२ ॥

वीथीं लक्षयति :—

वीथ्यामेको भवेदङ्क एको नेताऽत्र कल्प्यते ।
आकाशभाषितैरुक्तैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः ॥ ३३ ॥

सूचयेद्भूरिश्रृङ्गारं किञ्चिदन्यान् रसानपि ।
मुखनिर्वहणे सन्धी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः ॥ ३४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

भाणं लक्षयतीति—यो भाणो नाम सङ्कीर्णनाट्यकाव्यसन्दर्भस्तत्र पूर्वरङ्गे नान्दीप्रभृतीनि द्वात्रिंशदङ्गानि, तत्र विशेषः सन्धी तु मुखनिर्वहणे द्वे, नत्वन्ये सन्धयः । तयोरङ्गानि सर्वाणि प्रहसने व्याख्यातानि । ततो वर्त्तमाने रङ्गे रसभाव-विभावानुभावाभिनया ये वर्णनीयास्तत्र चेष्टस्यार्थस्य रचनायामितिवृत्तमुत्प्रेक्ष्यं कविना कल्पितं वृत्तान्तनानावस्थान्तररूपो धूर्त्ताचरणश्च । तत्र रासौ वीरश्रृङ्गारौ । शौर्य्येण वीररसं सूचयेत्, सौभाग्येन श्रृङ्गाररसम् । तत्रभावावुत्साहश्च रति-श्चेति यथास्वम् । आलम्बनविभावस्तु निपुणः । पण्डितोऽनुनायको विटस्तद्देशजः पुरुषः । स पुनरङ्गे स्वानुभूतं परानुभूतश्चार्थं प्रकाशयेत् । आकाशभाषितैर्देववा-णीभिरिव भाषितैः सम्बोधनमुक्तिप्रत्युक्ती कुर्य्यात् । शौर्य्यसौभाग्यवर्णनैर्वीर-श्रृङ्गारौ सूचयेत् । इतिवृत्तन्तु तत्रोत्प्रेक्ष्यं कविसृष्टम् । प्रायेण भारतीवृत्तिः क्वचिदन्यापि । लास्याङ्गानि च दश प्रहसने व्याख्यातानीहावतारयेदित्यनुभावा इति । एकाङ्क एवायं सन्दर्भः इति ॥ ३२ ॥

---

८. भाण का लक्षण

अर्थ—भाण में धूर्त्त का चरित्र चित्रित होता है और नाना प्रकार की अवस्थाओं का चित्रण होता है। इसमें एक अङ्क होता है और इसका नायक कुशल एवं पण्डित विट होता है। वह स्वानुभूत अथवा दूसरे के द्वारा अनुभूत विषयों का नाट्यमण्डप में प्रकाशित करता है और आकाशभाषित के द्वारा सम्बोधन और उक्ति-प्रत्युक्ति करता है। वह शौर्य और सौभाग्य के वर्णनों के द्वारा वीर और श्रृङ्गार रस को सूचित करता है। इसका इतिवृत्त कवि-कल्पित होता है और इसमें प्रायः भारती वृत्ति का प्रयोग होता है। इसमें मुख और निर्वहण दो सन्धियाँ होती हैं और लास्य के दस अङ्ग होते हैं ॥ ३०–३२ ॥

अङ्कं नाम काव्यमाह :—

उत्सृष्टिकोऽङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः ।
रसोऽत्र करुणाख्यश्च बहुस्त्रीपरिदेवितः ।
प्रख्यातमितिवृत्तञ्च कविर्बुद्ध्या प्रकल्पयेत् ॥ ३५ ॥
भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गान्यस्मिन् जयपराजयौ ।
युद्धञ्च वाचा कर्तव्यं निर्वेदवचनं बहु ॥ ३६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

वीथीं लक्षयतीति—वीथ्यां सङ्कीर्णे नाट्यकाव्यसंहितायां पूर्वरङ्गे नान्द्यादिद्वात्रिंशदङ्गानि । तत्र सन्धी द्वे मुखनिर्वहणे नत्वन्ये त्रयः, अर्थप्रकृतयस्तु पञ्चैव बीजादयः । ततो वर्त्तमाने रङ्गे रसभावविभावानुभावाभिनया ये वर्णनीयास्तत्रेष्टस्यार्थस्य या रचना तत्र भूरिशृङ्गाररसं सूचयेत् । अन्यांस्तु रसान् किञ्चिदल्परूपान् सूचयेत् । तत्र यथास्वं रत्यादयो भावाः । विभावास्त्वत्रालम्बनो नायक एकः कल्प्यते । स चाकाशभाषितैर्देववाणीभिर्विचित्रामित्युक्तिचित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः स्यात् । अत्राङ्क एक एव नत्वधिकः ॥ ३४ ॥

अङ्कं लक्षयतीति—अङ्क नाम सङ्कीर्णनाट्यकाव्यसंदर्भो यस्तस्य संज्ञान्तरमुत्सृष्टिकस्तत्रैकोऽङ्कस्तस्य पूर्वरङ्गे । सामान्यानि नान्द्यादीनि द्वात्रिंशदङ्गानि । यत्रेतिवृत्तं लोके प्रख्यातं कविर्बुद्ध्या कल्पयेत् । भाणवत् सन्धी मुखनिर्वहणे द्वे । सन्ध्यङ्गानि तयोर्यानि तानि । ततो वर्त्तमाने रङ्गे रसभावविभावानुभावाभिनया ये वर्णनीयास्तत्र पुनरिष्टस्यार्थस्य प्रख्यातवृत्तान्तस्य रचनायां बहुस्त्रीपरिदेवितः कृतशोकः करुणाख्यो रसस्तस्य भावः शोकः। बहुस्त्रीकृत आलम्बनविभावः । बह्वी स्त्री च प्राकृता नरा नायकाश्च । तेषां नायकानां जयपराजयौ वृत्तान्ताङ्गानि । तत्र लोके यद्युद्धं कायिकमिहनाट्ये वाचा तद्युद्धं कर्तव्यम् । लोके युद्धे त्वेकस्य पराजये मरणे लोकश्च निर्वेदनवचनं खेदोक्तिर्वाचा कर्त्तव्यमिति ॥ ३६ ॥

---

९. वीथी का लक्षण

अर्थ—वीथी में एक अङ्क होता है और कोई एक कल्पित नायक होता है वह नायक आकाशभाषित के द्वारा चित्र-विचित्र उक्ति-प्रत्युक्ति का आश्रय लेकर वार्त्तालाप करता है । इसमें शृङ्गार रस को अधिक और अन्य रसों को थोड़ा सूचित किया जाता है । इसमें मुख और निर्वहण दो सन्धियाँ और बीजादि पाँचों अर्थ प्रकृतियाँ होती हैं ॥ ३३-३४ ॥

१०. अङ्क का लक्षण

अर्थ—अङ्क का द्वितीय नाम उत्सृष्टिकाङ्क है । उत्सृष्टिकाङ्क में एक अङ्क होता है । इसका नायक सामान्य मनुष्य होता है । इसमें करुण रस अङ्गी (प्रधान) होता है और बहुत सी स्त्रियों का विलाप वर्णित होता है । इसका इतिवृत्त इतिहास प्रसिद्ध (प्रख्यात)

तोटकं नाट्यमाह—

सप्ताष्टनवपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसंश्रयम् ।
तोटकं नामतः प्राहुः प्रत्येकं सविदूषकम् ॥ ३७ ॥

नाटिकामाह—

नाटिकाक्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका ।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः ॥ ३८ ॥
स्यादन्तःपुरसम्बन्धा संगीतव्यापृताऽथवा ।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा ॥ ३९ ॥
सम्प्रवर्तेत नेताऽस्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः ।
दैवी भवेत् पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥ ४० ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

तोटकं लक्षयतीति—तोटकं नाम नाट्यकाव्यं सर्व्वं पूर्व्वरङ्गे नान्द्यादिद्वात्रिंशदङ्गानि तत्र वर्त्तमाने रङ्गे रसभावविभावानुभावाभिनयाश्च इष्टस्यार्थस्य वचनादिकं सर्वं सामान्यलक्षणं, तत्र विशेषश्चायम् तत्राङ्कभेदेन तोटकं चतुर्विधं भवति—एकं सप्ताङ्कं, द्वितीयमष्टाङ्कं, तृतीयं नवाङ्कं, चतुर्थं पञ्चाङ्कमिति। तत्र दिव्यपुरुषा मानुषाश्चालम्बनविभावाः। तत्र प्रत्येकं चतुर्विधं तोटकं विदूषकाख्यानुनायकयुक्तं ज्ञेयमिति ॥ ३७ ॥

होता है और नाटककार अपनी बुद्धि से उसका विस्तार कर लेता है। इसमें सन्धि, वृत्ति और अङ्गों (लास्याङ्गों) की योजना भाण के समान होती है। इसमें जय-पराजय का वर्णन होता है और वाक्युद्ध तथा निर्वेदप्राय वाक्यों का बाहुल्य होता है ॥ ३५–३६ ॥

११. तोटक का लक्षण

अर्थ—तोटक में पाँच, सात, आठ अथवा नौ अङ्क होते हैं। इसमें देवता और मनुष्य दोनों का मिश्रित चरित्र वर्णित होता है और इसके प्रत्येक अङ्क में विदूषक की उपस्थित होती है ॥ ३७ ॥

विशेष—प्रत्येक अङ्क में विदूषक की उपस्थिति रहने के कारण तोटक में मुख्य रस शृङ्गार होता है। क्योंकि विदूषक शृङ्गारो नायक का सहायक होता है। (साहित्यदर्पण में तोटक के स्थान पर त्रोटक नाम आया है।)

१२. नाटिका का लक्षण

अर्थ—नाटिका का कथानक कवि-कल्पित होता है और इसमें नारी पात्रों का बाहुल्य होता है। इसमें चार अंक होते हैं। नाटिका में प्रख्यात (इतिहास-प्रसिद्ध), धीर-ललित राजा नायक होता है और नायिका अन्तःपुर से सम्बम्द्ध, संगीतकला में अनुरक्त राजवंश में उत्पन्न, नवानुरागवती कन्या नायिका होती है। नायक राजमहिषी, (रानी) के भय

पदे पदे मानवती तद्वशः सङ्गमो द्वयोः ।
वृत्तिश्च कौशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः ॥ ४१ ॥

शाटकं नाम नाट्यं लक्षयति—

शा[1]टकं प्राकृताशेषपाठं स्याद् प्रवेशकम् ।
न च विष्कम्भकोप्यत्र प्रचुररसाद्भुतो रसः ।
अङ्का जवनिकाख्याः स्युः स्यादन्यन्नाटिकासमम् ॥ ४२ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

नाटिकामाह—सा नाटिका नाम प्रकीर्णनाट्यकाव्यसंहिता तत्र पूर्वरङ्गे कविना कल्पितमितिवृत्तमुत्प्रेक्षितं स्वल्पविमर्शाः पञ्चमुखादयः सन्धयः । वर्त्तमाने रङ्गे तदितिवृत्तमिष्टार्थः कविकल्पितो रचयितव्यः । तत्र कौशिकी वृत्तिः, तत्र प्रायः स्त्रियो बद्धयः, स्वल्पाः पुरुषा, तत्र रसभावविभावानुभावाभिनया ये वर्णयितव्याः, तत्र रसः शृङ्गारः । भावो रतिः, तत्रालम्बनविभावो विख्यातो धीरललितो नृपो नायकः । नृपवंशजा नवानुरागवती कन्या नायिका तथा पूर्वपरिणीता ज्येष्ठाया देव्यास्त्रासेन शङ्कान्वितः सन्नस्यां नवानुरागायां नृपवंशजायां कन्यायां नेता नृपो धीरललितः सम्प्रवर्तेत इति अनुभावा अभिनयाश्च मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्भाः । तथा यत्र नाट्येऽन्तःपुरसम्बन्धसंगीतव्यापारो वर्तते सा चतुरङ्कयुक्ता नाटिका नाम नाट्यकाव्यसंहिता भवति ॥ ४१ ॥

शाटकं लक्षयतीति—शाटको नाम सङ्कीर्णनाट्यकाव्यसन्दर्भे सर्व्वं नाटिकासमम् । विशेषस्त्वेषः नाटिकायां संस्कृतपाठः शाटके निःशेषण प्राकृतपाठ इत्येतन्न देवानां काव्यं भवति । शाटके प्रवेशको नास्ति विष्कम्भकश्च नास्ति द्वौ चैतौ नाटिकायाम् । शृङ्गारो रसः । इह प्रचुरोऽद्भुतो रसः । अङ्का नाटिकायां नार्य्यासङ्केतित शब्दाख्याः । शाटके यवनसङ्केतितशब्देनाङ्काख्या यथा—आउलद्वय छय ममचाहर मपन्जमित्यादि शब्दवृत्ता अङ्का इति ॥ ४२ ॥

से शङ्कित होकर नायिका कन्या से प्रेम करता है । देवी (राजमहिषी) प्रगल्भा, राजकुल में उत्पन्न और पग-पग पर मान करने वाली ज्येष्ठा नायिका होती है । नायक-नायिका दोनों का मिलन ज्येष्ठा नायिका (राजमहिषी) की अनुकम्पा से होता है । इसमें कौशिकी वृत्ति और विमर्श सन्धि के अल्प प्रयोग के साथ चार सन्धियाँ होती हैं ॥ ३८–४१ ॥

१३. शाटक का लक्षण

अर्थ—शाटक को 'सट्टक' भी कहते हैं किन्तु अग्निपुराण में शाटक कहा गया है । शाटक में आदि से अन्त तक प्राकृत भाषा का ही प्रयोग होता है । इसमें प्रवेशक और विष्कम्भक दोनों नहीं होते । इसमें अद्भुत रस की अधिकता रहती है । इसमें अङ्कों का नाम 'जवनिका' होता है । शाटक की अन्य विशेषताएँ नाटिका के समान होती हैं ॥ ४२ ॥

---

१. 'सट्टकं' इति पाठान्तरम् ।

शिल्पकं नाम नाट्यमाह :—

चत्वारः शिल्पकेऽङ्काः स्युश्चतस्रो वृत्तयस्तथा।
अशान्तहास्याश्च रसा ब्राह्मणो नायको मतः ॥ ४३ ॥

वर्णनात्र श्मशानादेर्हीनः स्यादुपनायकः।
सप्तविंशतिरङ्गानि भवन्त्येतस्य तानि तु ॥ ४४ ॥

आशंसातर्कसन्देहतापोद्वेगप्रसक्तयः।
प्रयत्नग्रथितोत्कण्ठाऽवहित्थाप्रतिपत्तयः ॥ ४५ ॥

विलासाऽलस्यबाष्पाणि प्रहर्षाश्वासमूढताः।
साधनानुगमश्वासविस्मयप्राप्तयस्तथा ॥ ४६ ॥

लोभविस्मृतिसंफेटा वैशारद्यं प्रबोधनम्।
चमत्कृतिश्चेत्यङ्गानि सप्तविंशतिरस्य तु ॥ ४७ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

शिल्पकं नाम नाट्यं लक्षयतीति—शिल्पके सङ्कीर्णं नाट्यकाव्यसन्दर्भे पूर्वरङ्गे नान्द्यादिद्वात्रिंशदङ्गं बोध्यम्। अथ वर्त्तमाने रङ्गे रसभावविभावानुभावाभिनया ये वर्णनीयास्तत्र रसाःशान्तहास्यभिन्नाः सप्तभावास्तेषां यथास्वं तत्रालम्बनविभावो ब्राह्मणो नायक उपनायकैर्हीनः तत्रानुभावा इष्टस्यार्थस्य रचनायां चतस्रो वृत्तयः। श्मशानदेरिष्टस्य वर्णना स्यात्। अङ्कास्ते चत्वारः एव सप्तविंशतिरस्याङ्गानि तानि तु यथा आशंसेत्यादयः। ग्रथितोत्कण्ठा बद्धोत्कण्ठा दास्यं विषयमिति शिल्पकम् ॥ ४७ ॥

---

१४. शिल्पक का लक्षण

अर्थ—शिल्पक में चार अङ्क होते हैं और वृत्तियाँ भी चार होती हैं। इसमें शान्त और हास्य रस को छोड़कर अन्य रस होते हैं। इसका नायक ब्राह्मण होता है। इसमें स्मशान आदि का वर्णन होता है और उपनायक हीन प्रकृति का होता है—शिल्पक के सत्ताइस अङ्ग होते हैं—(१) आशंसा (२) तर्क (३) सन्देह (४) ताप (५) उद्वेग (६) प्रसक्ति (७) प्रयत्न (८) ग्रथन (९) उत्कण्ठा (१०) अवहित्था (११) प्रतिपत्ति (१२) विलास (१३) आलस्य (१४) बाष्प (१५) प्रहर्ष (१६) आश्वास (१७) मूढ़ता (१८) साधनानुगम (१९) उच्छ्वास (२०) विस्मय (२१) प्रगति (२२) लोभ (२३) विस्मृति (२४) सम्फेट (२५) वैशारद्या (२६) प्रबोधन (२७) चमत्कृति। इनके लक्षण इनके नाम से ही स्पष्ट है ॥ ४३--४७ ॥

संलापकमाह :—

संलापकोऽङ्काश्चत्वारस्त्रयो वा नायकः पुनः ।
पाषण्डः स्याद्रसस्तत्र शृङ्गारकरुणेतरः ॥ ४८ ॥
भवेयुः पुरसंबाधच्छलसंग्रामविद्रवाः ।
न तत्र वृत्तिर्भवति भारती न च कौशिकी ॥ ४९ ॥

दुर्मल्ली नाम नाट्यमुच्यते—

दुर्मल्ली चतुरङ्का स्यात् कौशिकी भारतीयुता ।
अगर्भानागरनराऽन्यूननायकभूषिता ॥ ५० ॥
त्रिनाडिः प्रथमोऽङ्कोऽस्यां विटक्रीड़ा त्रयो भवेत् ।
पञ्चनाडिर्द्वितीयश्च विदूषकविलासवान् ॥ ५१ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ संलापकमाह :—संलापके संकीर्णनाट्यकाव्यसन्दर्भे पूर्वरङ्गे नान्द्यादीनि द्वात्रिंशदङ्गानि । वर्त्तमाने रङ्गे रसभावविभावानुभावाभिनया ये वर्णायितव्यास्तत्र पाषण्डोऽवधूतादिवेशधारीनायक आलम्बनविभावः । तत् कार्याण्यनुभावा मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्भाः पुरसंबाधच्छलेन[1] संग्रामविद्रवाः । वृत्तिस्तु भारती च कौशिकी च नात्र वर्त्तते इति तत्र चत्वारोऽङ्का अथवा त्रयोऽङ्का इति संलापकः ॥ ४९ ॥

दुर्मल्लिकामाह :—दुर्मल्लिकानाम[2] सङ्कीर्णनाट्यकाव्यसंहिता सा यत्र पूर्व्वरङ्गे नान्द्यादिद्वात्रिंशदङ्गानि, तत्र पञ्चसु सन्धिषु गर्भो नाम सन्धिर्नास्ति, चत्वारः सन्धयः सन्ति । ततो वर्त्तमाने रङ्गे रसभावाविभावानुभावाभिनया ये तत्राभीष्टार्थस्य रचनायां सर्वरसा यथा स्वभावास्तथालम्बनविभावाः नागरनराऽन्यूननायकाः । नगरवासिनो नराः सहचरा नायकस्य । तेन भूषितेयं कार्या वृत्तिस्तु

---

१५. संलापक का लक्षण

अर्थ—संलापक में चार अथवा तीन अंक होते हैं । इसका नायक पाखण्डी होता है । इसमें शृङ्गार और करुण से भिन्न रस होता है । इसमें नगरावरोध, छल, संग्राम और विद्रव आदि का वर्णन होता है । इसमें भारतीय और कौशिकी वृत्ति नहीं होती है ॥ ४८–४९ ॥

१६. दुर्मल्ली का लक्षण

अर्थ—दुर्मल्लिका में चार अङ्क होते हैं और इसमें भारती तथा कौशिकी वृत्तियाँ होती हैं । इसमें गर्भ सन्धि नहीं होती । इसके पात्र नागर (चतुर) होते हैं और इसका

---

१. पुरसंबाधो नगरावरोधः इत्यर्थः ।
२. दुर्मल्ली दुर्मल्लिका वा ।

षण्णाड़ीकस्तृतीयस्तु पीठमर्दविलासवान् ।
चतुर्थो दशनालिः स्यादङ्कः क्रीडितनागरः ॥ ५२ ॥

प्रस्थानं नाम नाट्यमाह :—

प्रस्थाने नायको दासो हीनः स्यादुपनायकैः ।
दासी च नायिकावृत्तिः कौशिकी भारती तथा ॥ ५३ ॥
सुरापानसमायोगाद्दुद्दिष्टार्थस्य संहतिः ।
अङ्कौ द्वौ लयतालादिविलासो बहुलस्तथा ॥ ५४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

कौशिकी भारती च, नत्वारभटी न सात्त्वती च। अस्यां चत्वारोऽङ्कास्तत्र प्रथमाङ्के विटस्य तद्देशश्रीमदनुनायकस्य क्रीड़ाश्रयः स्यात्, तिसृभिर्नाडीभिर्गेया यावता ग्रन्थेन भवति तत्र प्रथमाङ्कसमाप्तिः कार्या। नाडीघटिकाद्वयमानः कालः। द्वितीयेङ्के पञ्चनाड़ी कालगेयविदूषकाख्यानुनायकविलासः। तृतीयेऽङ्के षण्णाड़ी कालगेयपीठमर्दाख्यानुनायकविलासः। चतुर्थेऽङ्के दशनाडी कालगेयनागरनरक्रीड़ा। इति दुर्म्मल्लिका ॥ ५२ ॥

प्रस्थानं नाम नाट्यमाह :—प्रस्थानाख्ये नाट्ये पूर्वरङ्गे नान्द्यादिद्वात्रिंशदङ्गानि ततो वर्त्तमानरङ्गे कौशिकी भारती च वृत्तिर्नत्वारभटी न वा सात्त्वती। शेषं सर्व्वसामान्यलक्षणं। तत्रेष्टार्थरचनायां रसभावाविभावानुभावाभिनया ये वर्णयितव्यास्तत्र यदुद्दिष्टं भवति ग्रन्थेऽर्थजातं तदुद्दिष्टार्थसंघातः सुरापानयोगात् कर्तव्यः। तत्र रसः शृङ्गारादयः। तत्रालम्बनविभावोदात्तो नायकः स चोपनायकैर्हीनः। नायिका च तत्र दासी। सुतरां सुरापानसमायोगादुद्दिष्टार्थसंघातः कार्य्यः। तत्र द्वावङ्कौ, बहुलश्च लयतालादिविलासः इति प्रस्थानम् ॥ ५४ ॥

नायक निकृष्ट प्रकृति का होता है। इसका प्रथम अङ्क छः घड़ी (तीन नाली) का और विट की विविध क्रीड़ाओं से युक्त होता है। द्वितीय अङ्क पांच नाड़ी अर्थात् दश घड़ी का और विदूषक के विलासों से युक्त होता है। तृतीय अङ्क छः नाड़ी (बारह घड़ी) का और पीठमर्द के विलास–क्रीड़ाओं से युक्त होता है। चतुर्थ अङ्क दश नाड़ी (बीस घड़ी) का और नागरिक जनों की क्रीड़ाओं से युक्त होता है ॥ ५०–५२ ॥

१७. प्रस्थान का लक्षण

अर्थ—प्रस्थान का नायक कोई दास होता है और उपनायक उससे हीन श्रेणी का होता है। इसकी नायिका कोई दासी होती है। इसमें कौशिकी और भारती ये दो वृत्तियाँ होती हैं। प्रस्तुत इतिवृत्त की समाप्ति मदिरापान के वर्णन के साथ होती है। इसमें दो अङ्क होते हैं, तथा ताल एवं लय आदि संगीतमय विलास अधिक मात्रा में होता है ॥ ५३–५४ ॥

भाणिकां लक्षयति :—

भाणिका श्लक्ष्णनेपथ्या मुखनिर्वहणान्विता ।
कौशिकी भारतीवृत्तियुक्तैकाङ्कविनिर्मिता ॥ ५५ ॥

उदात्तनायका मन्दपुरुषात्राङ्गसप्तकम् ।
उपन्यासोऽथ विन्यासो विबोधः साध्वसं तथा ॥ ५६ ॥

समर्पणं निवृत्तिश्च संहार इति सप्तमः ।
उपन्यासः प्रसङ्गेन भवेत् कार्यस्य कीर्त्तनम् ॥ ५७ ॥

निर्वेदवाक्यव्युत्पत्तिर्विन्यास इति स स्मृतः ।
भ्रान्तिनाशो विबोधः स्यान्मिथ्याख्यानं तु साध्वसम् ॥५८॥

उपालम्भवचः कोपः पीडयेहसमर्पणम् ।
निदर्शनोपन्यासो हि निवृत्तिरिति कथ्यते ।
संहार इति च प्राहुर्यत्कार्यस्य समापनम् ॥ ५९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

भाणिकां लक्षयति :—भाणिका नाम सङ्कीर्णनाट्यकाव्यसंहिता सा भवति यत्र पूर्व्वरङ्गे नेपथ्यश्लक्ष्णाः । कोमलानान्द्यादि द्वात्रिंशदङ्गेषु द्वौ सन्धी मुखं निर्वहणञ्च, नापरे त्रयः प्रतिमुखगर्भविमर्शाः । ततो वर्त्तमाने रङ्गे वृत्तिषु द्वे वृत्ती कौशिकी भारती च, नत्वारभटी न वा सात्त्वती । अनुभावेषु वर्त्तमाने रङ्गे रसभावविभावानुभावाभिनया ये वर्णयितव्यास्तत्रेष्टस्यार्थस्य रचनायां रसाः सर्व्वं यथातथ्यं भावविभावाश्च । धीरोदात्तनायक आलम्बनविभावः अल्पपुरुषास्तत्र वीथी स्यात् । तत्राङ्गसंज्ञकं सप्तकमुपन्यासादिकम् इति भाणिका ॥ ५९ ॥

---

१८. भाणिका का लक्षण

अर्थ—भाणिका सुन्दर वेश-भूषा की रचना से युक्त और मुख एवं निर्वहण सन्धियों से युक्त होती है । इसमें कौशिकी एवं भारती वृत्तियाँ होती हैं । इसमें केवल एक अङ्क होता है । इसकी नायिका उदात्त प्रकृति की कुलजा रमणी होती है इसमें पुरुष पात्र कम होते हैं । भाणिका के सात अङ्ग होते हैं—(१) विन्यास (२) उपन्यास (३) विबोध (४) साध्वस (५) समर्पण (६) निवृत्ति (७) संहार ।

इनमें निर्वेद पूर्ण वचन का कथन **विन्यास** है । किसी प्रसंग से कार्य का कथन **उपन्यास** है । भ्रम का निराकरण **विबोध** है । मिथ्या-भाषण '**साध्वस**' है । क्रोध की पीड़ा से उपालम्भ (उलाहना) वचन **समर्पण** है । निदर्शन (उदाहरण) का उपन्यास **निवृत्ति** है और कार्य की समाप्ति को व्यवहार (उपसंहार) कहते हैं ।: ५५–५९ ॥

भाणीं लक्षयति :—

नाटिकेव भवेद्भाणी सार्थवाहादिनायकाः ।
समानवंशजा नेतुर्भवत्यत्र च नायिका ॥ ६० ॥

गोष्ठीमाह :—

प्राकृतैर्नवभिः पुंभिर्दशभिर्वाप्यलङ्कृता ।
नोदात्तवचना गोष्ठी कौशिकीवृत्तिसंयुता ॥ ६१ ॥
हीना गर्भविमर्शाभ्यां पञ्चषड्योषितान्विता ।
कामश्रृङ्गारसंयुक्ता स्यादेकाङ्कविनिर्मिता ॥ ६२ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

भाणीं लक्षयति :—नाटिकाया यल्लक्षणं तल्लक्षणा भाणी भवति, विशेषश्चात्र सार्थाः सङ्गिनो वाहादयश्च नायका, नाटिकायान्तु प्रख्यातो धीरललितो नृपो नायकः । नायिका च तत्र नवानुरागा नृपवंशजा च प्रगल्भा प्रथमपरिणीता स्त्री चेति द्वे नायिके । इह तु नायिका समानवंशजा भवति इति । शेषं सर्वं तुल्यलक्षणमिति भाणी ॥ ६० ॥

गोष्ठीमाह :—गोष्ठीनाम सङ्कीर्णनाट्यकाव्यसंहिता सा यत्र पूर्व्वरङ्गे नान्द्यादीनि द्वात्रिंशदङ्गानि, तत्र सन्धिषु मध्ये गर्भविमर्षाभ्यां हीना मुखप्रतिमुखानि निर्वहणानि त्रयः सन्धयः । ततो वर्त्तमाने रङ्गे रसभावाविभावानुभावाभिनया ये वर्णनीयास्तत्रेष्टस्यार्थस्य रचनायां त्रिविधश्रृङ्गारमध्ये कामश्रृङ्गारोऽत्र रसो, न तु धर्म्मः । तस्य भावो रतिः विभावस्वालम्बनाख्याः प्राकृताः पुरुषा, नव दश वा पञ्च वा षड् वा योषिताः । नोदात्तवचना नीचैर्वचना । अत्राङ्क एक एवेति । अनुभावा मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्मास्तत्र वृत्तिः कौशिकी नत्वन्या इति गोष्ठी ॥ ६२ ॥

---

१९. भाणी का लक्षण

अर्थ—भाणी को प्रकरणिका भी कहते हैं किन्तु अग्निपुराणकार ने उसके लिए 'भाणी' का प्रयोग किया है । नाटिका ही भाणी होती है । इसमें सार्थवाह (सेठ) वणिक्, अमात्य आदि नायक होते हैं और नायक के समान वंश में उत्पन्न नायिका होती है ॥ ६० ॥

२०. गोष्ठी का लक्षण

अर्थ—गोष्ठी में साधारण श्रेणी के नौ या दस पुरुषों से अलङ्कृत होती है । इसमें उदात्तवचन नहीं पाये जाते हैं । इसमें कैशिकी वृत्ति का ही प्रयोग होता है । इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होती । इसमें पांच-छः स्त्रीपात्र होते हैं । गोष्ठी में केवल एक अङ्क होता है और कामश्रृङ्गार का वर्णन होता है ॥ ६१–६२ ॥

हल्लीसमाह :—

हल्लीस एक एवाङ्कः सप्ताष्टौ दश वा स्त्रियः ।
वागुदात्तैकपुरुषः प्रयोज्या चात्र कौशिकी ।
वृत्तिर्मुखान्तिमौ सन्धी बहुताललयस्थितिः ॥ ६३ ॥

काव्यनाट्यमाह :—

काव्यमारभटीहीनमेकाङ्कहास्यसङ्कुलम् ।
खण्डमात्रा द्विपदिका तालमात्रैरलङ्कृतम् ॥ ६४ ॥
वर्णमात्राहुड्डलिकायुतं शृङ्गारभाषितम् ।
नेता स्त्री वाप्युदात्तात्र सन्धी आद्यस्तथान्तिमः ॥ ६५ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

हल्लीसमाह :—हल्लीससंज्ञको सङ्कीर्णमिश्रकाव्यनाट्यपूर्व्वरङ्गे सामान्यं नान्द्यादि द्वात्रिंशदङ्गानि । तत्र सन्धी मुखनिर्वहणे द्वे इति । विशेषस्ततो वर्त्तमाने रङ्गे रसभावविभावानुभावाभिनया ये वर्णनीयास्तत्र रसाः सर्वयथेष्टं भावाश्च यथास्वं । विभावास्तत्रालम्बनाख्याः, सप्त वाष्टौ वा दश वा स्त्रियः वागुदात्त एकः पुरुषो नायकः । कौशिकीवृत्तिः । अनुभावा मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्भाः । बहुविधा ताललय-युक्तः एकाङ्क एव इति हल्लीसः ॥ ६३ ॥

काव्यनाट्यमाह :—काव्यं नाम सङ्कीर्णनाट्यकाव्यसन्दर्भः तत्र पूर्व्वरङ्गे नान्द्यादि द्वात्रिंशदङ्गानि, तत्र सन्धी आद्यो मुखं नामान्तिमो निर्वहण-मिति द्वौ नात्र प्रतिमुखं गर्भो विमर्शश्च । ततो वर्त्तमाने रङ्गे रसभावविभावानु-भावाभिनया ये वर्णनीयास्तत्र रसो हास्यभूयिष्ठरूपेण । भावश्च हासः । विभावो नायकः उदात्तः स्त्रीवाप्युदात्ता आलम्बनाख्याः । अनुभावा आलम्बनानां मनोवाग्बुद्धिवपुषा-मारम्भाः खण्डमात्रासंज्ञकप्रभृतिपदावली गानं तालश्च तदर्हः वर्णमात्रा हुड्डलिकायुतं शृङ्गाररसभाषितं गीतञ्च इति काव्याख्यनाट्यम् ॥ ६५ ॥

---

२१. हल्लीश का लक्षण

अर्थ—हल्लीश में एक अङ्क होता है । इसमें सात, आठ, दस स्त्रीपात्र होते हैं । उदात्त वाणी का एक पुरुष इसका नायक होता है । इसमें कौशिकी वृत्ति होती है । इसमें मुख और निर्वहण दो सन्धियाँ होती हैं और इसमें अनेक प्रकार के ताल और लय की स्थिति होती है ॥ ६३ ॥

२२. काव्य का लक्षण

अर्थ—काव्य में एक अङ्क होता है । यह एकाङ्की रूपक है । इसमें आरभटी वृत्ति को छोड़कर शेष वृतियाँ होती है और इसमें हास्य रस मुख्य होता है । यह खण्डमात्रा, द्विपादिका, तालमात्रा आदि विशेष गीतों से अलङ्कृत होता है । वर्णमाला और हुड्डलिका नामक छन्दों से युक्त तथा शृङ्गार रस से भाषित गीत होता है । इसके नायक और नायिका दोनों धीरोदात्त होते हैं और इसमें मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं ॥ ६४–६५ ॥

श्रीगदितमाह :—

प्रख्यातवृत्तमेकाङ्कं प्रख्यातोदात्तनायकम् ।
प्रसिद्धनायिकं गर्भविमर्शाभ्यां विवर्जितम् ॥ ६६ ॥
भारतीवृत्तिबहुलं श्रीतिशब्देन मङ्गलम् ।
मतं श्रीगदितं नाम विद्वद्भिः परिकीर्त्तितम् ॥ ६७ ॥

नाट्यरासकं नाम नाट्यमाह :—

नाट्यरासकमेकाङ्कं बहुताललयस्थितिः ।
उदात्तनायकं तद्वत् पीठमर्दोपनायकम् ॥ ६८ ॥
हासोऽङ्गी यत्र सशृङ्गारो नारी वासकसज्जिका ।
मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च ।
केचित् प्रतिमुखं सन्धिमिह नेच्छन्ति केवलम् ॥ ६९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

श्रीगदितं नाम नाट्यमाहः—श्रीगदितं नाम संकीर्णनाट्यकाव्यं तत्र पूर्वरंगे नान्द्यादि द्वात्रिंशदङ्गानि, तत्रगर्भविमर्शभिन्नामुखप्रतिमुखनिर्वहणानि त्रयः सन्धयः । ततो वर्त्तमाने रङ्गे रसभावविभावानुभावाभि .या ये वर्णनीयास्तत्रेष्टस्यार्थस्य रचनायां प्रख्यातं लोके यद्वृत्तं तदिष्टार्थो वर्ण्यः । तत्र रसा यथेष्टं भावस्तद्रसनियतः विभावः प्रख्यातोदात्तधीरः पुरुष एव नायकः । प्रसिद्धा च नायिका आलम्बनाख्याः । अनुभावास्तेषां मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्भास्तत्र भारतीवृत्तिर्बाहुल्येनान्या स्वल्पा । श्रीशब्देन तत्र मङ्गलमाचर्य्यमिति श्रीगदितं नाम नाट्यम्॥ ६७ ॥

---

२३. श्रीगदित का लक्षण

अर्थ—श्रीगदित नामक नाट्य का इतिवृत्त इतिहास प्रसिद्ध (प्रख्यात) होता है । इसमें एक अङ्क होता है । इसका नायक प्रख्यात तथा धीरोदात्त होता है इसकी नायिका भी प्रख्यात होती है । इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियों को छोड़कर शेष सन्धियाँ होती हैं । इसमें भारती वृत्ति का बाहुल्य रहता है 'श्री' शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता है । इसलिए विद्वानों ने इसे 'श्रीगदित' कहा है ॥ ६६–६७ ॥

२४. नाटयरासक का लक्षण

अर्थ—नाट्यरासक में एक अङ्क होता है और इसमें ताल और लय की प्रर्याप्त स्थिति होती है । इसका नायक धीरोदात्त होता है और उसी तरह नायक का सहायक 'पीठमर्द' उपनायक तथा वासकसज्जा नायिका होती है । इसमें शृङ्गार से युक्त हास्य रस अङ्गी रस (मुख्य) होता है । इसमें मुख और निर्वहण दो सन्धियाँ होती हैं और हास्य के दस अङ्ग होते हैं । कुछ नाट्याचार्यों का मत है कि इसमें प्रतिमुख सन्धि नहीं होती ॥ ६८–६९ ॥

रासकं नाम नाट्यमाह :—

रासकं पञ्चपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम् ।
भाषाविभाषाभूयिष्ठं भारतीकौशिकीयुतम् ॥ ७० ॥
असूत्रधारमेकाङ्कमवीथ्यङ्गं कलान्वितम् ।
श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम् ॥ ७१ ॥
उदात्तभावविन्यासमाश्रितश्चोतरोत्तरम् ।
इह प्रतिमुखं सन्धिमपि केचित् प्रचक्षते ॥ ७२ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

नाट्यरासकं नाम नाट्यमाह :—नाट्यरासकं नाम तन्नाटयं यत्र पूर्व्वरंगे नान्द्यादि द्वात्रिंशदङ्गं सामान्यं वर्त्तते, तत्र मुखनिर्वहणे द्वे सन्धी, नान्ये सन्धयः सन्ति, केचित्तु प्रतिमुखवर्जं चतुरः सन्धीनाहुः । ततो वर्त्तमाने रंगे रसभावविभावानुभावाभिनया ये वर्णनीयास्तत्र चेष्टस्यार्थस्य रचनायां शृङ्गारसहितहास्यरस आत्मेवाङ्गी । भावस्तत्ररतिर्हासश्च । तत्रालम्बनविभावो वासकसज्जारीत्या सह वासार्थं कृतसज्जा धीरोदात्तश्चनायकः । अनुनायकः पीठमर्दश्चेति । अनुभावा एषां मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्भाः । तत्र बहवस्तालादयश्च वर्त्तन्ते इति । तालः कालक्रियामानं लयः इति । वृत्तयश्चतस्रस्तत्र लास्याङ्गानि नाट्याङ्गानि दश । अङ्कस्तु यत्र एक एवेति नाट्यरासकं नाट्यमिति ॥ ६९ ॥

रासकं नाम नाट्यं लक्षयतीतिः—रासकं नाम तत् सङ्कीर्णनाट्यकाव्यसन्दर्भः यत्र पूर्व्वरङ्गे सुश्लिष्टनान्दी तथा नान्द्यन्ते पञ्च निर्देशा आमुखे पञ्च पात्राणि । सन्धिषु पञ्चसु मुखं निर्व्वहणञ्च द्वौ सन्धो, केचित् प्रतिमुखसन्धिमाहुः । सूत्रधाररहितं शेषं सर्व्वं पूर्व्वरङ्गे सामान्यम् । वर्त्तमाने तु रङ्गो रसभावविभावानुभावा-

---

२५. रासक का लक्षण

अर्थ—रासक नामक नाट्य में पाँच पात्र होते है और इसमें मुख निर्बहण दो सन्धियाँ होती हैं । इसमें भाषा (संस्कृत) और विभाषा (प्राकृत) का बाहुल्य होता है । भारती और कौशिकी दो वृत्तियाँ होती है । इसमें सूत्रधार से रहित एक अङ्क होता है और वीथी के सभी अङ्गों की योजना तथा नृत्य-गीतादि चौसठ कलायें होती है । इसका नान्दी श्लिष्ट (द्वयर्थक) होता है और इसकी नायिका कोई प्रख्यात नारी होती है तथा नायक कोई मूर्ख पुरुष होता है । इसमें उत्तरोत्तर उदात्त भावों का विन्यास हुआ करता है । कुछ नाट्याचार्य इसमें प्रतिमुख सन्धि का भी विधान मानते हैं ॥ ६०–७२ ॥

अथोल्लाप्यं नाम नाट्यमाह :—

उदात्तनायकं दिव्यकृतमेकाङ्कभूषितम् ।
शिल्पकाङ्कयुतं हास्यशृङ्गारकरुणारसैः ॥ ७३ ॥
उल्लाप्यं बहुसंग्रामत्र्यस्रगीतमनोहरम् ।
चतस्रो नायिकास्तत्र त्रयोऽङ्का इति केचन ॥ ७४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

भिनया ये वर्णनीयास्तत्रेष्टस्यार्थस्य रचनायां भारती कौशिकी च वृत्तिः। तत्र भारती वीथ्यङ्गहीना कलायुक्ता। तत्र रसो यथेष्टं भावस्तथोक्तः विभावो नागरं नगरवासी मूर्खो नायकः। अनुभावास्तस्य मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्भास्तत्र भारती कौशिकीवृत्तिभ्यां रचनायां भाषाविकल्पेन नानाविधा उदात्तभावस्योत्तरोत्तरं विन्यासः कार्यः इति रासकं नामनाट्यकाव्यम् ॥ ७२ ॥

उल्लाप्यं नाम नाट्यकाव्यमाह :—उल्लाप्यं नाम नाट्यकाव्यग्रन्थः स यत्र पूर्वरङ्गे सर्वं नान्द्यादिद्वात्रिंशदङ्गानि ततो वर्त्तमाने रङ्गे रसभावविभावानुभावाभिनया ये वर्णनीयास्तत्रेष्टस्यार्थस्य रचनायां दिव्यवृत्तान्त इष्टार्थस्तस्य रचनायां रसाः शृङ्गारहास्यकरुणाः भावास्तेषां यथायथं रतिहासशोकाः। विभावास्तत्र-धीरोदात्तनायकश्च चतस्रश्च नायिका आलम्बनविभावाः। शिल्पकस्य नाट्यस्याङ्ग-युतमाशंसादिसप्तविंशत्यङ्गयुतम्। वहवस्तत्र संग्रामाः। त्र्यस्रसंज्ञकगीतानि तत्र रचयितव्यानि। एतेऽनुभावाः। अङ्काश्च त्रय एव। इति उलाप्यं नामनाट्यम् ॥ ७४ ॥

---

२६. उल्लाप्य का लक्षण

अर्थ—उल्लाप्य नामक नाट्यकाव्य में एक अङ्क होता है और इसका नायक धीरोदात्त होता है तथा इतिवृत्त देवता विषयक होता है। यह शिल्पक के सत्ताइस अङ्गों से युक्त होता है और इसमें शृङ्गार, हास्य, करुण रसों का चित्रण होता है। यह अनेक संग्रामों के वर्णन से युक्त और त्र्यस्रगीत से मनोहर होता है। इसमें चार नायिकायें होती हैं। कुछ विद्वानों क अनुसार इसके तीन अङ्ग होते हैं ॥ ७३–७४ ॥

प्रेङ्क्षणं नामनाट्यमाह :—

गर्भविमर्शरहितं प्रेङ्क्षणं हीननायकम् ।
असूत्रधारमेकाङ्कमविष्कम्भप्रवेशकम् ॥ ७५ ॥
नियुद्धसंफेटयुतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम् ।
नेपथ्यैर्गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचनाः ॥ ७६ ॥

इति आग्नेये महापुराणे काव्यलङ्कारशास्त्रे नाटकादि-
लक्षणकथनं नाम तृतीयोध्यायः ।

काव्यप्रभावृत्तिः

प्रेङ्क्षणं नाम नाट्यमाह :—प्रेङ्क्षणं नाम तत् सङ्कीर्णनाट्यं यत्र पूर्व्वरङ्गे नान्द्यादिद्वात्रिंशदङ्गं सामान्यम् । तत्र सन्धयो मुखप्रतिमुखनिर्वहणानीति त्रयः, न तु गर्भो विमर्शश्च । न चात्र सूत्रधारोऽस्ति, नान्दीगानन्तु नेपथ्यैर्नटश्रेणीस्वजनैः, क्रियते, तत्र यदि सभ्यानां रुचिर्भवति तथान्यगानैरपि सभ्यानां रोचना रुचिजनं कार्य्यम् । विषकम्भप्रवेशकौ च नात्र स्तः । वर्त्तमाने रङ्गे रसभावाविभानुभावा-भिनया ये तत्र वर्णनीयास्तथेष्टस्यार्थस्य रचनायां रसाः शृङ्गारादींनां यथेष्टं भावास्तन्नियतो रत्यादिः । विभावस्त्वत्र हीननायका नायिकाः अन्ये जनाः । अनुभावास्तासां मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्भास्तत्र नियुद्धे संफेटो रोषभाषणम् । भारत्यादिचतुर्विधवृत्तियुक्तमिति प्रेङ्क्षणं नामनाट्यकाव्यमिति ॥ ७६ ॥

इति सप्तविंशतिविधं मिश्रकाव्यं प्रकीर्णमभिनेयं नाट्यकाव्यं ग्रन्थं चम्पूनां मिश्रकाव्यं तथाख्यायिकादिपञ्चविधं गद्यकाव्यं तथा महाकाव्यादिसप्तविधं काव्यग्रन्थं लोके प्रतिसन्धाय जानीयादिति ।

इति आग्नेये महापुराणे काव्यलङ्कारशास्त्रे नाटकादिविशेषलक्षणकथनं
तृतीयोऽध्यायः ।

---

२७. प्रेङ्क्षण का लक्षण

अर्थ—प्रेङ्क्षण नामक नाट्य में गर्भ और विमर्श सन्धियों से रहित शेष सन्धियाँ होती हैं और इसका नायक अधम प्रकृति का होता है । विना सूत्रधार के एक अङ्क होता है और विष्कम्भक तथा प्रवेशक की योजना नहीं होती । इसमें द्वन्द्वयुद्ध और रोषपूर्ण भाषण आवश्यक हैं और इसमें सभी वृत्तियाँ होती हैं । इसमें नेपथ्य में ही नान्दी-गायन होता है और नेपथ्य में ही प्ररोचना भी कर दी जाती है ॥ ७५–७६ ॥

इस प्रकार [अग्निपुराण में काव्यालङ्कारशास्त्र के नाटकादि के विशेष लक्षण नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ।

चतुर्थोऽध्यायः

रसादि-निरूपणम्

अग्निरुवाच

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम् ।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥ १ ॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन ।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य-चमत्कार-रसाह्वयः ॥ २ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

ननु नाटकादीनां पूर्वरङ्गं द्वात्रिंशदङ्गादुत्तरं शरीरेषु रसभावविभावानुभावाभिनयास्तथेति यदुक्तम्, ते रसादयः कुत उत्पन्नाः ? के वा ? कीदृशाश्च भवन्तीत्यत आह—वेदान्तेषु बहुषु यदक्षरं परमं सनातनञ्चाजञ्च, विभुञ्च, एकञ्च, चैतन्यञ्च, ज्योतिश्चेश्वरश्च वदन्त्यर्षयः, तस्य खलु ईश्वरस्य ब्रह्मणः सहजः स्वभावसिद्ध एवानन्दः तस्य नित्यत्वान्नित्यः । न क्षरतीति अक्षरम् । परमं सर्वतः श्रेष्ठम्, अक्षरं यत् कूटस्थं तद्ब्रह्म, ब्रह्मयोनित्त्वात् । कथं ब्रह्मयोनित्वं तस्य विज्ञायत ? इत्यत आह–सनातनम् । समा भवः सनातनः । स खलु प्रथमं शक्तिब्रह्मणः सम्भूतः । न पुनर्जायत इत्यजः । विभवति सर्वत्र व्याप्तोतीति विभुः । स एको, न द्वितीयः । तच्च सर्वेषां चैतन्यं चेतनावानेव चैतन्यकृत् । ज्योतिः सर्वेषां ज्योतिषां ज्योतिरेकम् ।

रस का स्वरूप

अर्थ—वेदान्त में जिसे अक्षर, परब्रह्म, सनातन, अज, विभु (व्यापक) चैतन्य, ज्योतिर्मान् (स्वयंप्रकाश) और ईश्वर कहा गया है, उसका आनन्द सहज है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति कभी-कभी होती है । उसी अभिव्यक्ति का नाम चैतन्य, चमत्कार या रस है ॥१–२॥

विमर्श—वेदान्त में परब्रह्म को अक्षर (अविनाशी), सनातन, अजन्मा, विभु (व्यापक) चैतन्य, ज्योतिर्मान् और ईश्वर कहा गया है । वह परब्रह्म विद्या और अविद्या के भेद से दो प्रकार का होता है । उनमें विद्या के आश्रय चारों वेद हैं । वही एकीभूत रूप में 'सत्' है, वही महाविष्णु है, उसका 'चित्' रूप क्षेत्रज्ञ आत्मा है और उस 'चित्' का गुणांश प्रधान (ब्रह्मा) है । महाविष्णु काल तथा क्षेत्रज्ञ आत्मा से अधिष्ठित त्रिगुणात्मक प्रधान को संक्षुब्ध कर और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) को विकसित कर सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण अभिव्यक्त होते हैं । वही महाविष्णु से प्रेरित तथा क्षेत्रज्ञ से अधिष्ठित त्रिगुणात्मक प्रधान एकीभूत रूप में

काव्यप्रभावृत्तिः

ननु एतादृशी च भगवती गायत्री भवति। तर्हि किं गायत्री ब्रह्म ? इत्यत आह—ईश्वरमिति। गायत्री पुनरीश्वरी। प्राक्सर्गादिदं सर्वमसदासीत्। एकमेवाद्वितीयं तदसत्तु सदैव, वस्तुरूपमेव। सा शक्तिरचिन्त्यानन्तशक्तिमतीति तदनन्तशक्तिविशिष्टैव, न द्वितीया, शक्तित्वेऽनैक्यात्। विजातीयद्वैतत्त्वे हि द्वैतत्त्वमुक्तम्, न सजातीयद्वैतत्त्वे। सा शक्तिमती शक्तिः परमं ब्रह्ममूलानां मूलम्, सा प्रथमं तेज इव तेजः ससर्ज। तत्तेजश्चाप इव आपः ससर्ज। स आपोऽन्नमिवान्नं ससर्ज। तत्र यं लोहितशुक्लकृष्णवदाभासमनुप्रविशन्ती शक्तिरजा लोहितशुक्लकृष्णवदाभासमेलनादन्यवदाभासा गायत्री वाक्रूपा बभूव। सैव शान्तिर्विद्या-प्रतिष्ठा-निवृत्तिरिति चतस्रः शक्तयो भूत्वा एकीभूय परमात्मा शिव ईश्वरो बभूवेति तदात्मानं स्वयं सुष्ठु अयः शुभावहो विधिर्यस्मात् तं शिवकारणं शिवं परमात्मानमकुरुतेत्युच्यते।

स खलु परमात्मा ईश्वरस्तद्गायत्रीविशिष्ट एक एव सर्वशक्तिमान्, उत्तमः, पुरुषः, आदिभूतत्त्वादादित्यः। सर्वप्रसवनत्त्वात् सविता। तस्य वरेण्यं ज्योतिः गायत्री। तदमृतम् इति। सर्गावस्थायां चतुष्पाद् ब्रह्म गायत्रीविशिष्ट ईश्वरः। स हि त्रिपात् पुरुषः परमव्योमरूपो भूपाद भुवः पादः स्वः पादरूपस्तस्य तुरीयः पादो गायत्रीति समुदायश्चतुष्पाद् ब्रह्म परमात्मशिव ईश्वरः। तया गायत्र्या ब्रह्मानन्दमश्नुते। स तस्य सहजानन्दः खल्वव्यक्तः कदाचिल्लोकसर्गे व्यज्यते। तद्यथा—

योऽसावीश्वरः परमब्रह्म स एव क्रमेण विद्याऽविद्याश्रयः सदाशिवश्च। तद् द्विधा—विद्याचाविद्या च। तदविद्याश्रयाश्चत्त्वारो वेदाः तत् सर्वमेकीभूतं सद्बभूव। स महाविष्णुः कालः। तत् सच्चिद्बभूव। तच्चित्प्रसादभागः क्षेत्रज्ञ आत्मा बभूव। तच्चिद्गुणांशः प्रधानं नाम ब्रह्मा बभूव। तत्कालानुप्रविष्टं क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं प्रधानं तत् त्रिकस्य कालेन सञ्चाल्य संक्षोभ्य च क्षेत्रज्ञं संकोच्य विकाश्य च प्रधानं क्रमेण सत्त्वरजस्तमांसि गुणा अभिव्यज्यन्ते। तत् कालानुपविष्टं क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं त्रिगुणभूतं प्रधानमेकीभूतमव्यक्तं नाम बभूव। इत्येवं तस्येश्वरस्याव्यक्ताख्यस्यानन्दमयरूपस्यानन्दो व्यज्यते। तस्यानन्दस्य या व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्कारश्चेतनानाम्। यच्चैतन्यं तच्चैतन्यं, यच्चमत्करोति स चेतनः चैतन्यचमत्कारः सामान्यतो रसाह्वयो रसो नामोच्यते ॥ २ ॥

'अव्यक्त' कहलाता है। उस आनन्दमय रूप अव्यक्त ईश्वर का आनन्द सहज अभिव्यक्त होता है। उसी आनन्द की अभिव्यक्ति चैतन्य चमत्कार कहते हैं, वही 'रस' नाम से अभिहित किया जाता है।

इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार रस दार्शनिक धरातल पर पल्लवित हुआ है। वह परब्रह्म की आनन्द रुप अभिव्यक्ति है। वेदान्त में इसी अभिव्यक्ति को चैतन्य कहा गया है। वह परब्रह्म अव्यक्त है किन्तु जब क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के रूप में अभिव्यक्त होता है तब चैतन्य, कहलाता है। उसी ब्रह्मानन्द की चमत्कार पूर्ण अभिव्यक्ति 'रस' है ॥ १–२ ॥

ननु तस्य सामान्यरसस्य विशेषः कथं जातः ? इत्यत आह—

आद्यस्तस्य विकारो यः स महानिति[1] तु स्मृतः ।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम् ॥ ३ ॥
अभिमानाद्रतिः[2] सा च परिपोषमुपेयुषी[3] ।
व्याभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते ॥ ४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

तस्य य आद्यो विकारो गुणत्रयवैषम्यरूपः स महानिति नामा जीवात्मा स्मृतः । ततोऽनन्तरं द्वितीयो विकारो यस्तन्महान्तमनुप्रविश्य त्रिगुणवैषम्यं विन्दते । तदव्यक्तस्य विकारः स खल्वभिमानोऽहङ्कारो नाम बभूव । तत्राहङ्कारे तत्त्वे सर्वमिदं भुवनत्रयं समाप्तमिति । तस्येश्वरस्य आनन्दस्येयमाद्या सामान्यतोऽव्यक्ताख्यात्मनि या जाता चेतनानां चैतन्यचमत्काररूपाभिव्यक्तिः सा रसाह्वय इत्युक्तम् । सैव आनन्दस्य चेतनानां चैतन्यचमत्काररूपाव्यक्तिः क्रमेण महत्तत्त्वे, ततोऽहङ्कारतत्त्वे सामान्यरूपेणैव किञ्चित् स्थूलतया अनुवर्तत इति ॥ ३ ॥

योऽसावभिमानो देवनरादिषु प्राणिषु तस्मात् रति-धी-धृति-स्मृति-गर्व-बुद्धयो जायन्ते । सा रतिः परिपोषमुपेयुषी परिपुष्टा यदा व्यभिचार्यादिहेतुसामान्याद् भवति तदा शृङ्गार इति नामा रसो गीयते । परिपोषाभावे हि व्यभिचारिभावेषु धृतिरुक्ता । सर्वेषु हि रसेषु व्यभिचारिभावस्थायिभावालम्बनविभावोद्दीपनविभावतत्कार्यरूपानुभावा वर्तन्ते इति । तत्सर्वं सामान्यमिति, न तु व्यभिचार्यादिविशेषात् । विशेषा हि व्यभिचार्यादयो यथास्वं रसं जनयन्ति ॥ ४ ॥

अर्थ—उस परब्रह्म चैतन्य का प्रथम विकार महान् (महत्तत्त्व) है । उससे अभिमान (अहङ्कार) उत्पन्न होता है । इसी में भुवनत्रय (तीनों लोक) की परिसमाप्ति हो जाती है । उस अभिमान या अहङ्कार से रति की अभिव्यक्ति होती है और वही रति व्यभिचारी आदि भावों से परिपोषित होता है तब उसे 'शृङ्गार' कहते हैं ॥ ३–४ ॥

विमर्श—परब्रह्म चैतन्य की सहज आनन्दाभिव्यक्ति रूप इस विशेष अवस्था में पहुँच कर अनेक रूपों में भासित होता है । वह किस प्रकार विशेष अवस्था में पहुँचता है उसका निरूपण करते हैं—परब्रह्म का सत्त्व, रजस्, तमस् गुणत्रय रूप जो प्रथम विकार हैं वह महान् (महत्तत्त्व) है और उसमें अभिमान की अभिव्यक्ति होती है जिसे 'अहङ्कार' कहते हैं ।

१—'सोऽहङ्कार' इति पाठभेदः ।
२—'अभिमानाद्धृतिः' ग, प, फ पुस्तकेषु 'अभिमानावृत्तिः' घ, न, ल पुस्तकेषु 'अभिमानात्स्मृतिः' इति पाठभेदाः ।
३—न, प 'पुस्तकयोः परितोषमुषेमुकी' इति पाठः ।

अग्निपुराण की मुद्रित प्रति में 'महान्' के स्थान पर 'अहङ्कार' पाठ मिलता है। तदनुसार परब्रह्म का प्रथम विकार 'अहङ्कार' है और अहङ्कार से अभिमान उत्पन्न होती है तथा अभिमान से रति और रति ही व्यभिचार्यादि भावों से परिपोषित शृङ्गार है। वास्तव में परब्रह्म का प्रथम विकार महान् (महत्तत्व) है। महत्तत्त्व से ही अहङ्कार या अभिमान अभिव्यक्त होता है क्योंकि अहङ्कार महत्तत्व का ही परिणाम है। महत्तत्व के समान अहङ्कार भी त्रिगुणात्मक हैं। जब रजस् और तमस् के संस्पर्श से रहित सत्त्व का उद्रेक होता है तब सहृदयों के द्वारा रस की अनुभूति होती है। यह अनुभूति ही आस्वाद है और यही चमत्कार या चैतन्य है, यही रस है।

अग्निपुराण के अनुसार परब्रह्म के सहज आनन्द की अभिव्यक्ति चैतन्य, चमत्कार या रस है और उसका प्रथम विकार महत्तत्व (महान्) है। उसी से अभिमान या अहङ्कार की अनुभूति होती है और अहङ्कार से रति की अभिव्यक्ति होती और रति ही व्यभिचार्यादिभावों से परिपोषित शृङ्गार है।

जैसाकि बताया जा चुका है कि अग्निपुराण की रस-व्याख्या दार्शनिक धरातल पर पल्लवित हुई है। सांख्य के अनुसार समस्त अनुभूतियों का आश्रय अन्तःकरण का मूल अहङ्कार है और वेदान्त की दृष्टि में भी जब शुद्ध चैतन्य 'अहमस्मि' के धरातल पर अवतरित होता है तभी 'अहम्' तत्त्व की सृष्टि होती है। इसी प्रकार अग्निपुराण में प्रतिपादित अहङ्कार मनुष्य में अपने प्रति अनुराग द्योतित करता है और इस अहंभाव के कारण उसे अपने व्यक्तित्व का आभास होने लगता है। जैसे किसी कामिनी के द्वारा स्निग्ध दृष्टि से देखे जाने पर पुरुष में आत्मज्ञान, आत्मविश्वास या आत्मानुराग की भावना जागृत होकर उसे सहज आनन्द में विभोर कर देती है, यही अहङ्कार है। यह अहङ्कार ही रस है। आत्मज्ञान या आत्मप्रतीति होने के कारण वह सहज आनन्दरूप या रसरूप है। अभिमान अहङ्कार का ही एक रूप है। इसे अभिमान इसलिए कहते हैं कि इसमें समस्त सुख-दुखात्मक अनुभूतियाँ आनन्द-प्रद होने के कारण अभिमत हो जाती है। यहाँ पर मनुष्य का अभिमान उत्तेजना-जन्य मिथ्या गर्व नहीं है वह तो आत्मस्थित विशेष गुण है जो रस्यमान होने के कारण 'रस' है। नारद, शारदातनय आदि आचार्यों ने भी अहङ्कार का विकार 'रस' माना है।

इसी अहङ्कार या आत्मप्रतीति (आत्मज्ञान) का दूसरा नाम शृङ्गार है। अतः शृङ्गार ही रस है। इसी प्रकार आत्मा का अहङ्कार विशेष ही शृङ्गार है जो सहृदय द्वारा रस्यमान होने से 'रस' कहलाता है। इसे शृङ्गार इसलिए कहते हैं कि क्योंकि यह मनुष्य को शृङ्ग तक पहुँचा देता है। उनका यह शृङ्गार स्त्री-पुरुष का वासनात्मक प्रेम या रति का प्रकर्ष नहीं है यहाँ शृङ्गार का अभिप्राय निरपेक्ष-प्रेम या आत्मनिष्ठ प्रेम है। इस प्रकार अग्निपुराण का अभिमान या अहङ्कार ही रस है और वही शृङ्गार है तथा इसी शृङ्गार से शृङ्गार तथा हास्यादि अन्य रस अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार अग्निपुराण में शृङ्गार का व्यापक अर्थ लिया गया है और उसे रस का पर्याय माना गया है और इसी शृङ्गार से अन्य रसों की अभिव्यक्ति मानी गई है। इस अहङ्कार रूप शृङ्गार से ही कामशृङ्गार अभिव्यक्त होता है और इसी से हास्यादि अन्य रस भी अभिव्यक्त होते हैं॥ ३-४॥

ननु तस्य रसस्य किमेष शृङ्गार एक एव भेद ? इत्यत आह—

तद्भेदाः काममितरे[1] हास्याद्या ऽप्यनेकशः।
स्व-स्व-स्थायिविशेषाच्च परिपोषादिलक्षणाः[2] ॥
सत्त्वादिगुणसन्तानाज्जायन्ते परमात्मनः ॥ ५ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

या तु खलु चैतन्यचमत्काररूपा ईश्वरानन्दस्य व्यक्तिरेव रसस्तस्य भेदाः-शृङ्गार रस इव हास्याद्या अनेकशोऽपि रसा भवन्ति। ते च पुनः स्व-स्व-स्थायि-भाव-विशेषाद् परिपोषादिलक्षणा विभिन्ना भवन्ति। स्व-स्व-स्थायिभावा अत्र वक्ष्यन्ते परिपोषादिलक्षणानि च।

ननु कुतश्च कारणादेवं शृङ्गारादयो विभिन्नलक्षणाः सन्तो जायन्ते इत्यत आह-सत्त्वादीत्यादि। निर्गुणस्य खलु परमात्मन ईश्वरस्याव्यक्ताख्यसंहतात्म-त्वावस्थायां यानि समानि सत्त्वरजस्तमांसि गुणाः तेषां सन्तान उत्तरोत्तरमहदा-दिषु कार्येषु धारावाहिरूपानुवृत्तिस्तद्गुणसगुणाज्जायन्ते परिपोषादिविभिन्न-लक्षणाः शृङ्गारादिभेद इति ॥ ५ ॥

अर्थ—उस अहङ्कार या शृङ्गार के कामशृङ्गार, हास्य आदि अनेक भेद हैं। वे अपने-अपने स्थायीभावों की विशेषता के कारण अलग-अलग प्रतीत होते है। उनका स्वरूप अपने नाम से ही स्पष्ट है। ये परब्रह्म के सत्त्वादि गुणों के प्रसार से उत्पन्न होते हैं ॥ ५ ॥

विमर्श—परब्रह्म चैतन्य की आनन्दरूप अभिव्यक्ति ही रस है। उसके अनेक भेद होते हैं। जैसाकि बताया जा चुका है कि अग्निपुराण में शृङ्गार का व्यापक अर्थ लिया गया है और उसे ही अहङ्कार या रस कहा गया है। उसी शृङ्गार रस से ही कामशृङ्गार, हास्य आदि अनेक रस उद्भूत होते है। वे सभी स्थायीभावों की विशेषता के कारण अलग-अलग लक्षण (स्वरूप) वाले होते हैं। अव्यक्त परब्रह्म परमात्मा के विकारभूत अहङ्कार में सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुण विद्यमान हैं उनके प्रसार से ही कामशृङ्गार आदि अनेक रस उत्पन्न होते हैं ॥ ५ ॥

१—'शृंगार इव' इति पाठान्तरम्।

२—'स्वस्वस्थायिविशेषोत्थपरिघोषस्वलक्षणाः इति पाठभेदः॥ घ, ङ, न, ल पुस्तकेषु 'स्वस्वस्थायि' इत्यारभ्य 'रौद्रात्तु करुणो रसः' इति यावत् सार्द्धद्वयश्लोकाः न सन्ति।

कस्य गुणस्य सन्तानात् को रसो जायत इत्यत आह—

रागाद्भवति शृङ्गारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात् प्रजायते ।
वीरोऽवष्टम्भजः सङ्कोचोद्[1]भूर्बीभत्स इष्यते ।। ६ ।।
शृङ्गाराज्जायते हासो रौद्रातु करुणो रसः ।
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्बीभत्साद् भयानकः ।।७।।

काव्यप्रभावृत्तिः

लोके चतुर्विंशतितत्त्वसमुदायात्मकानां देवनरादीनामभिमानाज्जाता या रतिः रजोगुणसम्भूतानुरागात् परिपोषमुपेत्य तल्लक्षणः शृङ्गारो रसो जायते । तैक्ष्ण्यात् रौद्रो रसः इति । सैव रतिस्तमोगुणजाततैक्ष्ण्यादुग्रत्वमुपेत्य तदुग्रत्वलक्षणो रौद्रो रसः प्रजायते । सैव रतिः रजस्तमसोरुद्रेकाज्जाताद् उत्साहादुत्साहवृद्धिलक्षणो वीरो रसो जायते । सङ्कोचोद्भूरिति सत्त्वतमसोद्रेकेण जातात् सङ्कोचादुद्भवती सैव रतिः सत्त्वतमसोरुद्रेकेण सङ्कोचादुद्भावमुपेत्य वैकृतलक्षणो वीभत्सरसो जायत इतीष्यते।

किस गुण के प्रसार से किस रस की उत्पत्ति होती है इसका विवेचन करते हुए कहते हैं—

अर्थ—राग से शृङ्गार की उत्पत्ति होती है, तीक्ष्णता (उग्रता) से रौद्र रस की उत्साह से वीर रस की, संकोच से बीभत्स रस की उत्पत्ति होती है । शृङ्गार से हास्य रस और रौद्र से करुण रस की उत्पत्ति होती है, वीर से अद्भुत रस और बीभत्स से भयानक रस की निष्पत्ति होती है ।। ६–७ ।।

विमर्श—लोक में देवता और मनुष्यों के अभिमान (अहङ्कार) से जो रति उत्पन्न होती है वह रजोगुण से उत्पन्न अनुराग से परिपुष्ट होकर शृङ्गार रस कहलाती है । वही रति जब तमोगुण से उत्पन्न उग्रता से परिपुष्ट होती है तो 'रौद्र' रस होता है । वही रति जब रजस् और तमस् दोनों गुणों के उद्रेक से उत्पन्न उत्साह से 'वीर' रस उत्पन्न होता है । वही जब सत्त्व और तमस् के उद्रेक से उत्पन्न संकोच से परिपोषित होती है तो 'वीभत्स' रस उत्पन्न होता है ।

इस प्रकार अग्निपुराणकार के मत में चार ही प्रमुख रस हैं और इन्हीं चारों रसों से अन्य चार रस उत्पन्न होते हैं । शृङ्गार रस ही जब रजोगुण के उद्रेक से मन का विकास होता है तो हास्य रस को उत्पन्न करता है । इसी प्रकार रौद्र रस जब तमोगुण के उद्रेक से शोक का विकास होता है तो 'करुण' रस की उत्पत्ति होती है । वीररस जब तमोगुण एवं रजोगुण दोनों गुणों के उद्रेक से वैचित्र्य के रूप में विकसित होता है तो 'अद्भुत' रस की निष्पत्ति होती है । बीभत्स रस जब सत्त्व एवं तमस् के उद्रेक से भय के भाव को प्राप्त करता है तो भयानक रस उत्पन्न होता है । इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स इन चार रसों से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति होती है ।। ६-७ ।।

१—'सङ्कोच' इति पाठभेदः ।।

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
वीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वस्वभावोद्भवा रसाः[1] ॥८॥
रसादिविनियोगोऽथ कथ्यते ह्यभिमानतः[2] ।
तमन्तरेण सर्व्वेषामपार्थेव स्वतन्त्रता[3] ॥ ९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

एवमेभ्यश्चतुर्भ्यो रसेभ्यश्चान्ये चत्वारो रसाः जायन्ते, तानाह—शृङ्गारादीत्यादि। शृङ्गार एव रजोगुणोद्रेकान्मनसो विकासमुपेत्य हास्यलक्षणं हासं रसं जनयतीति शृङ्गारात् हासो जायते। तथा रौद्रात्तमोगुणोद्रेकादनुशोचमुपेत्य विषादलक्षणः करुणो रसः स्यादिति रौद्रात् करुणो रसो जायते। वीरात् तमोरजसो रुद्रेकाद्वैचित्र्यमुपेत्य वैचित्र्यलक्षणोऽद्भुतो रसो जायते इति वीरसादद्भुतरसनिष्पत्तिः। स्याद्विभत्साद्भयानक इति वीभत्स एव सत्त्वमसोरुद्रकेण प्रतिभयभावमुपेत्य प्रतिभयजननलक्षणो भयानको रसो भवतीति वीभत्सात् भयानकः स्यादित्युच्यते। इत्येवं रसानामष्टानां प्रागुत्पत्तिर्भवति ॥ ७ ॥

शृङ्गारादीनामष्टानां रसानां प्रागुत्पत्तिरुक्ता। शान्तस्तु रसः परमेश्वरस्य सहज एव प्रसिद्ध इत्यतः तस्य प्रागुत्पत्तिर्नोक्ता। नव चैते रसा इदानीं देवनरादिषु स्वस्वभावोद्भवाः स्वस्मात् स्वस्मादेव भावादुद्भवन्ति। ते च भावा वक्ष्यन्ते ॥ ८ ॥

अर्थ—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नौ रस हैं जो अपने-अपने भावों से उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में प्रथम एक रस को स्वीकार किया है फिर उससे चार रसों की उत्पत्ति मानी है और उन चार रसों से अन्य चार रसों की उत्पत्ति बतायी है। इस प्रकार आठ रसों की विवेचना पूर्व में की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त नवाँ शान्त रस अग्निपुराणकार ने माना है। यह शान्त रस परब्रह्म परमेश्वर का सहज रूप है। "मुद्रित अग्निपुराण में 'स्वस्वभावोद्भवा रसाः' के स्थान पर 'स्वभावच्चतुरो रसाः' भी पाठ मिलता है। तब उसका अर्थ इस प्रकार होगा कि स्वभावतः चार रस ही है, शेष रस उन्हीं के द्वारा उद्भूत हुए रस हैं ॥ ८ ॥

अर्थ—काव्य-नाटक आदि में अभिमान से ही रसादि का विनियोग कहा गया है क्योंकि उसके बिना सबकी सार्थकता ही व्यर्थ है ॥ ९ ॥

१—मुद्रितपुस्तके स्वभावाच्चतुरो रसाः इति पाठान्तरम्।

२—'ङ' पुस्तके 'ह्यभिमानवः' 'भ' पुस्तके 'ह्यतिमानवः' 'घ' पुस्तके च' इतिमानवः इति पाठान्तराणि।

३—'घ' पुस्तके 'चन्द्रमा' इति पाठः।

सम्भोगो विप्रलम्भश्च शृङ्गारो द्विविधः स्मृतः ।
प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च तावपि द्विविधो पुनः ॥ १० ॥
विप्रलम्भाभिधानो[1] यः शृङ्गारः स चतुर्विधः ।
पूर्वानुरागो मानाख्यः प्रवासकरुणात्मकः[2] ॥ ११ ॥

काव्यप्रभावृतिः

अथ क्रमप्राप्तत्वाद्रसादीनां भेदोपभेदवर्णनपूर्वकं नाटकादिषु तेषां विनियोगमाह—अथ नाटकादिषु काव्येष्वभिमानतो लोके प्राणिवदभिमानात् रसभावविभावानुभावाभिनयानां विनियोगः प्रयोगोऽत्र कथ्यते। कस्मात्? हि यस्मात् तमभिमानमन्तरेण लोकेऽपि प्राणिनां शृङ्गारादीनां सर्वेषां स्वतन्त्रताभिमानाधीनताऽपार्था भवति। विना ह्यविद्याबुद्धिं न शृङ्गारादिषु प्रवृत्तिः स्यात्, न रत्यादयश्च स्युः। तथा नाटकादिषु वाङ्मयेषु नायक-नायिकाद्यालम्बनविभावरसादयः प्राणिवदभिमानाद्विनियोक्तव्या इति। एतेन लोके रसभावविभावानुभावसंज्ञाः शृङ्गारादीनाम्। न तु नाटकादिषु। तदभिमान इति। तथाप्यस्तु लोके कारणानि कार्याणि सहकारीणि यानि तानि नाट्यकाव्ययोर्विभावा अनुभावा व्यभिचारीणीत्याह तद्भ्रान्तिवचनमनार्षत्वादग्राह्यमिति ॥ ९ ॥

अथ रसादिक्रमेण नाट्ये विनियोगं कथयितुमादौ शृङ्गारस्य विभागमाह—पूर्वं यः शृङ्गार उक्तः, स द्विविधः स्मृतः—सम्भोगश्च विप्रलम्भश्च इति। तावपि-शृङ्गारौ सम्भोगविप्रलम्भौ पुनर्द्विविधौ-प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च सम्भोगः। प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च विप्रलम्भ इति ॥ १० ॥

तत्र विप्रलम्भो विसंवादः। तस्य भेदानाह—तत्र विप्रलम्भाभिधाने शृङ्गारे कर्त्तव्ये पूर्वं योऽनुरागः प्रथमो विप्रलम्भः। द्वितीयो मानस्तृतीयः पत्युः प्रवासश्चतुर्थः करुणात्मकः ॥ ११ ॥

विमर्श—अब नाटकादि में अभिमान से रस-भावादि के प्रयोग का विवेचन किया जा रहा है। अभिमान के विना लोक में प्राणियों की स्वाधीनता ही व्यर्थ है। क्योंकि बिना अभिमान के शृङ्गार आदि रसों की प्रवृत्ति नहीं होती और न रत्यादि की अभिव्यक्ति ही होती है। वस्तुतः अभिमान से ही रत्यादि की अभिव्यक्ति होती है। अतः अभिमान से ही रसादि का विनियोग भी कहा गया है ॥ ९ ॥

शृङ्गार के भेद

अर्थ—पहले जो शृङ्गार रस का विवेचन किया गया है वह शृङ्गार संभोग और विप्रलम्भ भेद से दो प्रकार का होता है। इस संभोग और विप्रलम्भ के पुनः दो भेद होते हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश ॥ १० ॥

१—क, ग, च, छ पुस्तकेषु 'अभिधानो' इति पाठान्तरम्। अन्यत्र 'विप्रलम्भाभिमानो' इति पाठः। २—न, ल पुस्तकयोः 'प्रस्तारकरुणामयः' इति पाठान्तरम्।

एतेभ्योऽन्यतरं[1] जायमानं सम्भोगलक्षणम् ।
विवर्त्तते चतुर्धेव न च प्रागतिवर्तते ॥ १२ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

ननु परिपोषधीरतिः शृङ्गारः कथं पूर्वानुरागरूपः स्यात् ? इत्यत आह—एतैभ्यः पूर्वानुराग-मान-प्रवास-करुणेभ्यश्चतुर्भ्योऽन्यतया जायमानं सम्भोगलक्षणं शृङ्गाररसं चतुर्धैव विवर्तते, सम्भोगरूपेण परिणमति, न च प्राक्पूर्वसम्भोगमतिक्रम्य वर्तते। सर्वं त्रैकालिकमतो भाव्यमानपरिणामवती सम्पदाभ्युदयात्मिका रतिः पूर्वानुरागो भवति । यथा तण्डुलादिरोदनादिरूपेण विवर्तते तथा स्वाभीष्टतया-स्त्रीभिः पुंसां पुंभिर्वा स्त्रीणां प्रत्यक्षतोऽथवा मायेन्द्रजालचित्रपटादिदर्शनात् गुणरूपश्रवणाद्वा शृङ्गारमुद्देश्यानुरागो वासनाजनिता सम्पदाभ्युदयरूपा रतिर्भाविपरिपोषेण सम्भोगरूपेण परिणमति । स चानुरागस्त्रिविधो नीलीकुसुम्भमञ्जिष्ठारागवद्भवति । तथा च—

स च रागो न दशाविशेषः, संरूढ़भावयोः स्त्रीपुंसयोरप्राप्त्या रसजन्मनोऽभावात् । दशा हि प्राप्तयोर्द्वयोर्जातरसत्वेऽवस्थाविशेषो भवति ।

मानः कोपश्च जातसम्भोगयोर्भवति प्रीतिजगर्भः । कोपनो न प्रत्याख्यान-कटूवित-वक्रोक्ति-ताडनादि-लक्षणः सम्भोगरूपेण विवर्तते । यथा तण्डुलादिः पूर्व-पूर्वावयवव्यूहनाशादुत्तरोत्तरव्यूहरूपो भवत्योदनश्चरमव्यूहः, तथा मानः पूर्वपूर्व-व्यूहनाशे परपरव्यूहरतिरूपादनन्तरं सम्भोगलक्षणश्चरमव्यूहः स्यादिति ।

प्रवासश्च विदेशगमनम् । नायकस्य जातसम्भोगायाः पूर्वतोषविपरीतजन-कत्त्वात् परिपोषविपर्यय उच्यते। सोऽपि भावीपरिपोषलक्षणः सम्भोगरूपेण विवर्तते इति न प्रागतिवर्तते । रसो हि भावी भवन् भूतश्चेति ।

अर्थ—विप्रलम्भ नामक शृङ्गार के पुनः चार भेद होते हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण । इन चारों से भिन्न रूप में उत्पन्न होनेवाला सम्भोग शृङ्गार है । चारो विप्रलम्भ संभोग रूप में परिणत होते हैं किन्तु उनका अतिक्रमण नहीं करते ॥ ११-१२ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण ये चार प्रकार के विप्रलम्भ शृङ्गार बताये गये हैं और इन चारों से भिन्न रूप में उत्पन्न होनेवाला सम्भोग शृङ्गार है । किन्तु यह सम्भोग शृङ्गार इन चारों में रहता है, ये चारों ही सम्भोग शृङ्गार के रूप में परिणत होते हैं । किन्तु इनका अतिक्रमण नहीं करते । इनमें पूर्वानुराग के तीन भेद होते हैं—नीली, कुसुम और माञ्जिष्ठ । मान कोप को कहते हैं जो संभुक्ता के प्रेम से जन्य होता है । यह मान कटूक्ति या ताड़नोक्ति के द्वारा संभोग रूप में परिणत हो जाता है । प्रवास का अर्थ विदेश-गमन है । यह नायक की संभुक्ता नायिका के परितोष के विपरीत है किन्तु भावी मिलन की उत्कण्ठा रूप यह प्रवास विप्रलम्भ सम्भोग रूप में परिणत हो जाता है । किन्तु

१—'क' पुस्तके 'अन्यतमं' तथा 'अन्यतया' इति पाठान्तराणि ।

स्त्रीपुंसयोस्तदुदयस्तस्य निर्वर्तिका रतिः[1]
निखिलाः सात्त्विकास्तत्र वैवर्ण्यपुलकं विना[2] ॥१३॥
धर्मार्थकाममोक्षैश्च शृङ्गार उपचीयते[3] ।
आलम्बनविशेषैश्च तद्विशेषैर्निरन्तरम् ॥ १४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

करुणा तु शोकजो रसः दयाविशेषः। प्रिययोरन्यतरस्य प्रव्रज्यानुद्देशादिषु संशयति, पुनः प्राप्तिसम्भवे शोको भवति न स्थायी नास्थायी। प्रवासे तु न स्थायीति पृथगुक्तिः। स च करुणारसः पुनः प्राप्तश्चेत्तदा सम्भोगरूपेण विवर्तते इति न प्रागतिवर्तते इति ॥ १२ ॥

अथ कथमेते चतुर्धा विप्रलम्भः सम्भोगलक्षणरूपेण विवर्तते ? इत्यत आह - पूर्वानुरागमानप्रवासकरुणाख्येषु चतुर्षु विप्रलम्भेषु स्त्रीपुंसयोः पुनः प्राप्तयोस्तस्य शृङ्गारस्योदयो भवति। तस्य शृङ्गारस्य निर्वर्तिका निष्पादिका पुनस्तयोर्रतिः भवति। ईदृशरूपेण सम्भोगलक्षणरूपेण विवर्तते चतुर्धैव विप्रलम्भः। तर्हि सम्भोगविप्रलम्भयोः को भेदः ? इत्यत आह निखिला इत्यादि। तत्र विप्रलम्भे सात्त्विकाः स्तम्भा अष्टौ व्यभिचारिणो भावाः पुलकं विना सप्त, वैवर्ण्यञ्चेत्यष्टौ भवन्ति। सम्भोगे तु न ते स्युरिति विप्रलम्भसम्भोगयोर्भेदः ॥ १३ ॥

पूर्व का अतिक्रमण नहीं करता है। करुण विप्रलम्भ शोक से उत्पन्न होता है। इसमें नायक नायिका की एक दूसरे के प्रति विरक्ति होती है किन्तु यह भी पुनर्मिलन होने पर सम्भोग शृङ्गार के रूप में परिणत हो जाता है ॥ ११-१२ ॥

अर्थ—विप्रलम्भ में स्त्री और पुरुष के संयोग से शृङ्गाररस की उत्पत्ति होती है और शृङ्गार की उत्पादिका रति है। वैवर्ण्य और पुलक को छोड़कर उसमें सभी सात्त्विक भाव होते हैं ॥ १३ ॥

विमर्श—विप्रलम्भ शृङ्गार में नायक-नायिका (स्त्री-पुरुष) के पुनर्मिलन होने पर शृङ्गार का उदय होता है और इस शृङ्गार की निष्पादिका रति है अर्थात् इसका निर्वाह रति स्थायीभाव के द्वारा होता है। इस विप्रलम्भ शृङ्गार में समस्त सात्त्विक भावों का समावेश रहता है किन्तु वैवर्ण्य तथा पुलक का अभाव रहता है। अग्निपुराण की कुछ प्रतियों में पुलक के स्थान पर 'प्रलय' का पाठ है। तदनुसार विप्रलम्भ में वैवर्ण्य और प्रलय का अभाव रहता है ॥ १३ ॥

१—'नीलीद्धकुसुम्भमञ्जिष्ठा' इति पाठान्तरम्।
२—'निर्वितिका रतिः' इति पाठान्तरम् ॥
३—वैवर्ण्यप्रलयो इति पाठान्तरम्।

शृङ्गारं द्विविधं विद्यात् वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकम्[1]।

काव्यप्रभावृत्तिः

ननु अयं शृंगारः कुतो वर्धत ? इत्यत आह—द्विविध एव शृङ्गारो धर्मेण उपचीयते, अर्थेन च, कामेन च। मोक्षेणाप्युपचीयते। तत्र धर्मार्थकामैः शृङ्गारोपचयो व्यक्त एवेति। मोक्षे तु प्रकृतिभूतशृङ्गाररूपेण विवर्त्तनादुपचयः प्रागुक्तम्—

"आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वयः" ॥ इति ॥

इत्येवं स प्रकृतिभूतशृङ्गार ईश्वरस्यानन्द एवेत्येवमुपचयः शृंगारस्य मोक्षेण भवतीति। एवं लोके चालम्बनविशेषैः स्वाभिमतगुणवत् स्त्रीपुरुषविशेषैः शृंगार उपचीयते। तथा तद्विशेषैः स्त्रीपुरुषयोर्गुणशीलादिविशेषैर्निरन्तरमविच्छेदेन शृंगार उपचीयते ॥ १४ ॥

इत्येवं लोके प्राणिनां यः शृंगारः स कथं वाङ्मये गद्यपद्यकाव्यलौकिकानुकारो नाट्ये सम्भाव्यत ? इत्यत आह—लोके प्रदर्शितं द्विविधं शृङ्गारं काव्ये गद्यकाव्याख्यायिकादौ पञ्चविधे पद्यकाव्ये महाकाव्यादौ सप्तविधे मिश्रकाव्ये श्रव्यरूपचम्प्वां च वाक्क्रियात्मकं विद्यात्। मिश्रकाव्येऽभिनये सङ्कीर्णनाटकादौ सप्तविंशतिविधे नेपथ्यक्रियात्मकं विद्यात्। नेपथ्यो नेतुर्नायिका-नायकादीनां रत्यादिक्रियात्मकं शृंगारं काव्ये नाट्ये च ॥१५-१॥

अर्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा आलम्बनादि के द्वारा शृङ्गार निरन्तर बढ़ता है। शृङ्गार के मुख्य रूप से दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक ॥ १४-१५ ॥

विमर्श—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के द्वारा शृङ्गार की वृद्धि होती है, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय के द्वारा शृङ्गार बढता है। इस प्रकार आलम्बनविशेष (स्वाभिमत या रसाभिमत) के द्वारा शृंगार बढ़ता है और आलम्बन विभाव (नायक-नायिका) के शील आदि गुण-विशेष के द्वारा शृङ्गार निरन्तर बढ़ता रहता है। इस प्रकार पुरुषार्थ-चतुष्टय की दृष्टि से धर्मशृङ्गार, अर्थशृंगार, कामशृङ्गार और मोक्षशृङ्गार ये शृङ्गार के चार भेद होते हैं। अभिनय की दृष्टि से वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक (वेश-भूषा) भेद से शृङ्गार दो प्रकार का होता है। इस प्रकार शृङ्गार का प्रवाह निरन्तर बढ़ता रहता है ॥ १४-१५-१ ॥

---

१. 'घ' पुस्तके 'आग्नेयाख्यक्रियात्मकम्' इति पाठः।

हास्यरसं विभजते—

हासश्च षड्विधोऽलक्ष्यदन्तः स्मित इतीरितः ॥ १५ ॥
किञ्चिल्लक्षितदन्ताग्रं हसितं फुल्ललोचनम् ।
विहसितं सस्वनं स्याज्जि[1]ह्मोपहसितन्तु तत् ॥ १६ ॥
सशब्दश्चापहसितमु[2]च्छब्दमातिहासितम् ॥ १७-१ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

एवं षड्विधो हासोऽपि वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकः। स च हासः स्मितहसित-विहसितोपहसितापहसितातिहसितभेदाद् षड्विधः। तत्रालक्ष्यदन्तो हासः स्मित इतीरितः। यत्र दन्ताग्रं लक्ष्यते लोचनञ्च फुल्लं भवति, स हासो हसितमुच्यते। यत्र हासे हसितं सस्वनं स्यात्तद्विहसितम्। जिह्मं कुटिलोपहसितं स्यात्। सशब्दमजिह्ममतिहसितं भवति। उच्छ्व्दमुच्चैः शब्दं हसितमतिहसितमिति। तत्र हास्यरसे हासः स्थायीभावः। हास्यवानालम्बनविभाव उद्दीपनविभावाश्च कौतुकादयः। व्यभिचारिभावाः स्तम्भादयः, हास्यवतः पुरुषस्य मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्भोऽनुभावाः। काव्यनाट्ययोस्तत् सर्वं वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकमित्यभिनयः ॥१५-१७-१॥

हास्य के भेद

हास्यरस छः प्रकार का होता है—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित। (१) **स्मित**—जिस हँसी में दाँत दिखाई न दे, उसे 'स्मित' कहते हैं। (२) **हसित**—जिसमें दांत थोड़ा सा दिखाई दे और नेत्र एवं मुख विकसित (खिले हुए) हों, उसे 'हसित' कहते हैं। (३) **विहसित**—जिसमें मधुर शब्द सुनाई दे, उसे 'विहसित' कहते हैं। यह हसित की अपेक्षा विशेष होता है। (४) **उपहसित**—विहसित से भी विशेष जो हास है और जिसमें जिह्म अर्थात् वक्र (कुटिल) हास हो, उसे 'उपहसित' कहते हैं। (५) **अपहसित**—जिसमें जिह्म अर्थात् कुटिल हँसी न हो और हँसने में शब्द भी उच्चारित हों, उसे 'अपहसित कहते हैं। (६) **अतिहसित**—जब जोर से हँसने के कारण तीव्र एवं उद्धत स्वर सुनाई दे और शरीर में कंप-कंपी हो, उसे 'अतिहसित' कहते हैं। अभिनय की दृष्टि से हास्य के दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक ॥ १६-१७-१ ॥

---

१. स्याज्जिह्मो—वा स्याज्जिघ्नो—इति पाठभेदाः ॥
२. सशब्दं पापहसितम् इति पाठान्तरम् ।

करुणरसं विभजते—

यश्चासौ[1] करुणो नाम स रसस्त्रिविधो भवेत् ।। १७ ।।
धर्मोपघातजश्चित्तवित्तविनाशजनितस्तथा ।
शोकः शोकोद्भवः[2] स्थायी कः स्थायी पूर्वयोः पुनः[3] ।।१८।।

काव्यप्रभावृत्तिः

करुणरसमाह—यश्चासौ लोके करुणो नाम रसः, स त्रिविधः-एको धर्मोपघातजः, द्वितीयो वित्तविनाशजनितः, तृतीयः शोकोद्भवः । तत्र शोकोद्भवे करुणरसे शोकः स्थायीभावो भवति । पूर्वयोर्धर्मोपघातवित्तविनाशजनितयोस्तु स्थायीभावः कः ? इति शोक एव स्थायी । धर्म्मोपधातजकरुणरसे हि धर्म एवेष्टस्तस्य विघातो जायते मनोवैक्लव्यमेव शोकस्तस्माज्जायते करुणो रसो धर्मे दया । एवं वित्तविनाशाच्च शोको भवति । मनोवैक्लव्यमेव शोकः तस्माज्जायते करुणारसो मनसि दया इति पूर्व्वयोरपि शोकः स्थायी । शोकोद्भवे तु शोको धननाश-बान्धवादिमरणादिभ्यो भवति मनोवैक्लव्यम् । तस्मात् करुणो रसो दया-स्नेह-प्रकाशो धन-बान्धवादिषु । अत्र करुणरसे शोकः स्थायी, स्तम्भादयो व्यभिचारिणो भावाः, आलम्बनविभावः शोचकः पुरुषः, उद्दीपनविभावः शोचनीयः धर्मादिगतगुणादिस्मृतिः तदनुकारदर्शनादिः । अनुभावाः शोचितुर्जनस्य मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्भा लोके विदुषो जनाननुभावयन्ति । शोचकस्थं शोकं काव्यनाट्ययोस्तु वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकः । स शोचितुर्मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्भा इति सोऽभिनय उच्यते ।। १७-१८ ।।

करुणरस के भेद

करुण रस के तीन भेद होते हैं—धर्मोपघात-जन्य, वित्तनाश-जन्य और शोक-जन्य । इनमें धर्म की हानि से जो मनोवैकल्य होता है, उससे जो करुण रस उत्पन्न होगा, वह धर्मोपघातज करुण है । उसका स्थायीभाव शोक होगा । वित्तनाश-जनित करुण रस में अर्थ (धन) का नाश हो जाने पर जो विकलता होती है, उससे जो करुण रस उत्पन्न होगा, उसका स्थायीभाव भी 'शोक' है । इसी प्रकार अभीष्ट प्रियजन के विनाश से उत्पन्न शोक से जो करुणा उत्पन्न होगी, उसका स्थायीभाव भी शोक है । इस प्रकार तीनों प्रकार के करुण रस में 'शोक' ही स्थायीभाव होता है । अभिनय की दृष्टि से वाक्क्रियात्मक तथा नेपथ्य-क्रियात्मक भेद से करुणरस दो प्रकार का होता है ।। १७-१८ ।।

---

१. छ पुस्तके यच्चासौ पाठः २. शोकाद्भवेत् इति पाठभेदः ।

३. 'छ' पुस्तके 'कुत्सादिः पूर्वयोः पुनः' तथा न, ल पुस्तकयोः 'कुत्सापूर्व पुनः पुनः, मुद्रित-पुस्तके पूर्वजो मतः इति पाठान्तराणि ।

रौद्ररसं विभजते—

अङ्[1]गैर्नेपथ्यवाक्यैश्च रौद्रोऽपि त्रिविधो रसः।
तस्य निर्वर्त्तकः क्रोधः स्वेदो रोमाञ्चवेपथुः ॥ १९ ॥

वीररसं विभजते—

दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीर इति त्रिधा[2]।
वीरस्तस्य च[3] निष्पत्तिः[4] हेतुरुत्साह उच्यते[5] ॥ २० ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ रौद्ररसं विभजते—रौद्रोऽपि रसो लोके त्रिविधो भवति—काव्ये नाट्ये च नेपथ्यवाक्यैर्विदुषानुभूयते त्रिविध एव। तस्य रौद्रस्य रसस्य निर्वर्त्तक उत्पादकः क्रोधः। स च स्थायीभावः। व्यभिचारिणो यथासम्भवं स्तम्भादयः। आलम्बनविभावः क्रोधवान् पुरुषः, उद्दीपनविभावा अनिष्टकरशत्रुरागादयः। अनुभावाः क्रोधकृज्जनस्य मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्भाः कटुवचनताड़नादयः। नाट्ये नैपथ्यैः काव्ये कवेर्वाक्यैस्तत् सर्वमभिनेयमित्यभिनय उच्यते। लोके स च त्रिविधः स्वेदानुमेयत्वादेकः स्वेदः। रोमाञ्चानुमेयत्वात् द्वितीयो रोमाञ्चः। कम्पानुमेयत्वात्तृतीया वेपथुरिति। एतत् सर्वमभिनयः काव्ये ॥ १९ ॥

अथ वीररसं विभजते—लोके वीरोऽपि त्रिविधः स्याद्दानवीरादिभेदात्। तस्य वीररसस्य निष्पत्तिहेतुः स्थायीभाव उत्साह उच्यते। व्यभिचारिभावाः यथासम्भवं स्तम्भादयः। तस्यालम्बनविभावाः दाता धार्मिको योद्धा च। उद्दीपनविभावा दाने याचकादयः। धर्मे धर्मकालादयः। युद्धे विपक्षबलपराक्रमादयः। अत्रान्तर्भावो वाग्विग्रहः। अनुभावास्तेषां मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्भा विदुषाऽनुभावयन्ति लोके तदालम्बनगतमुत्साहमिति। अभिनयास्ते नाट्ये काव्ये च। काव्ये वाग्विक्रमात्मकं[6] नाट्ये नेपथ्यक्रियात्मकं सर्वमिदमिति ॥२०॥

रौद्र रस के भेद

रौद्र रस के भी तीन भेद होते हैं—अङ्ग (आङ्गिक), वाक्य (वाचिक) और नेपथ्य (वेश-भूषा जन्य)। इसमें अङ्ग (शरीर) के द्वारा, वाणी के द्वारा तथा वेश-भूषा के द्वारा रौद्र रस का प्रदर्शन किया जाता है। इस रस का उत्पादक स्थायीभाव 'क्रोध' है। स्वेद, रोमाञ्च और कम्पन आदि इसके संचारीभाव हैं ॥ १९ ॥

---

१. 'अङ्कः' अंगः वा पाठान्तराणि।
२. त्रयम् इति पाठान्तरम्। 'छ' पुस्तके 'दानधीरो धर्मधीरो युद्धधीरो महसम' इति पाठः।
३. 'तु' इति पाठान्तरम्। ४. 'क' पुस्तके 'निष्पन्नः' इति पाठ।
५. 'इष्यते' इति पाठान्तरम्।
६. अर्थसंगत्यभिप्रायेण अत्र 'काव्ये वाक्क्रियात्मकम्' इति पाठः सुकर प्रतीयते।

भयानकरसं विभजते—

आरम्भेषु भयं[1] यत्र वीरमेवानुवर्त्तते[2] ।
भयानको नाम रसस्तस्य निर्वर्त्तकं भयम् ॥ २१ ॥

वीभत्सं विभजते—

उद्वेजनं[3] क्षोभणश्च वीभत्सो द्विविधः स्मृतः ।
उद्वेजनः स्यात् पूयाद्यैः[4] क्षोभणो रुधिरादिभिः ॥ २२ ॥
निन्दा निर्वर्त्तिका तस्य[5] सात्विकांशो निवर्त्तते ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ भयानकरसं विभजते—यत्र रसे आरम्भेषु प्रवृत्तिक्रियासु भयं वीरमेवानुवर्त्तते, स भयानको नाम प्रतिभयं रसः । तस्य निर्वर्त्तकं स्थायिभावो भयम् । भयानकस्य कारणं भयं यथा भवति तदुक्तं पूर्वं तस्य व्यभिचारिभावः स्तम्भादिर्यथासम्भवम् । आलम्बनविभावो भीषणो भयदातुः । उद्दीपनविभावाः भयजनकमस्त्रादिचालनम् । अनुभावास्तयोर्वीरयोर्मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्भा विक्रमादिव्यापारा इत्येते लोके विदुषोऽनुभावयन्ति । वीरयोभयं काव्ये वाक्क्रियात्मकं नाट्ये नेपथ्यक्रियात्मकम् । एतऽभिनयाः नाट्ये इति । अस्य प्रभेदाभावान्न विभाग उक्तः ॥ २१ ॥

अथ वीभत्सं विभजते—लोके वीभत्सोऽपि रसो द्विविधः—उद्वेजनश्च क्षोभणश्च । तत्र पूयाद्यैरुद्वेजनः शोणिताद्यैः क्षोभणस्तस्य वीभत्सरसस्य निर्वर्त्तिका निन्दा स्थायीभावः । इह सात्विकांशनिवृत्तिर्निन्दकस्य चेद्भवति । सात्विकभावोदये कोऽपि किंचन न निन्दति । तत्र स्तम्भादयो यथासम्भवं व्यभिचारिभावाः । आलम्बनविभावा घृणि-

---

वीर रस के भेद

वीर रस तीन प्रकार का होता है—दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर । वीर रस का उत्पादक स्थायीभाव 'उत्साह' है। उत्साह से ही वीर रस की अभिव्यक्ति होती है । गर्व, आवेश, मति आदि इसके संचारीभाव हैं। अभिनय की दृष्टि से इसके भी दो भेद होते हैं—काव्य में वाक्-क्रियात्मक (वाचिक) और नाट्य में नेपथ्य-क्रियात्मक (वेश-भूषा) है ॥ २०॥

भयानक रस

जिस रस में प्रारम्भ में भय वीर रस का अनुसरण करता है अर्थात् वीर रस की पूर्वावस्था भयानक रस है । भयानक रस का स्थायी भाव भय है । भय से भयानक रस होता है । भयानक के तीन भेद होते हैं—कृत्रिम भय, अपराध जन्य और विभासिक । अभिनय की दृष्टि से यह दो प्रकार का होता है—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक ॥ २१ ॥

---

१. भवेद्—इति पाठान्तरम् ।
२. वीरावेवानुवर्तते इति पाठान्तरम् ।
३. 'उद्वेजनैः इति पाठान्तरम् ।
४ 'प्रयाद्यैः' इति पाठान्तरम् ।
५. 'जुगुप्सारम्भिका तस्य' इति पाठान्तरम् ।

अद्भुतरसमाह—

[1]वस्तूनामातिशय्येन चमत्कारस्तु यो भवेत् ॥ २३ ॥
सोऽद्भुताख्यो रसस्तस्यनिर्व्वृत्तिस्तु विस्मयः ।

काव्यप्रभावृत्तिः

तादिपुरुषाः । भ्रान्तैः पूयरुधिरादय आलम्बनविभावा उक्ताः, तन्न । उद्दीपनविभावा हि पूयरुधिरादयः । अनुभावा घृणितपुरुषाणां मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्भा उद्वेजन-क्षोभणकृतपूयरुधिरादियोगादिव्यापारा लोके विदुषोऽनुभावयन्ति । निन्दास्ते च काव्ये वाक्क्रियात्मका नाट्ये नेपथ्यक्रियात्मका इति सर्व्वमभिनय उक्त इति ॥२२॥

अद्भुतरसमाह—इह अद्भुतरसस्य प्रभेदाभावान्न निर्द्देशः कृतः तस्यापि निर्वर्तको विस्मयः स्थायीभावः । स्तम्भादयो यथासम्भवं व्यभिचारिणाः । आलम्बन-विभावा विस्मयापन्नाः पुरुषाः । उद्दीपनविभावा विचित्रवस्तूनि । अनुभावा विस्मयापन्नस्य मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्भाः आश्चर्यावोधादयः लोके विदुषोऽनुभाव-यन्ति विस्मयम् । एते च काव्ये वाक्क्रियात्मका नाट्ये नाटकादौ नेपथ्यक्रियात्मका इत्यतोऽभिनया उक्ताः ॥ २३ ॥

वीभत्सरस के भेद

वीभत्स रस दो प्रकार का होता है—उद्वेजन और क्षोभण । उद्वेजन वीभत्स कृमि, विष्ठा आदि घृणित वस्तुओं को देखकर अभिव्यक्त होता है । अग्निपुराण की कुछ पाण्डुलिपियों में 'पूयाघैः' के स्थान पर 'प्लुत्याघैः' पाठ भी मिलता है । तदनुसार उछल-कूद के द्वारा उद्वेजन वीभत्स का प्रदर्शन होता है । क्षोभन (क्षोभण) वीभत्स रुधिर आदि के देखने से उत्पन्न होता है । भरत इनके अतिरिक्त 'शुद्ध' नामक एक तीसरा भेद भी मानते हैं किन्तु अग्निपुराणकार 'शुद्ध' नामक भेद को स्वीकार नहीं करते । वीभत्स रस का स्थायीभाव 'जुगुप्सा' है । अपवित्र एवं अनिष्ट वस्तुओं को देखने से वीभत्स रस उत्पन्न होता है । इसमें सात्त्विक अंश नहीं पाया जाता । अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं—वाक्-क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक ॥ २२ ॥

अद्भुतरस

वीररस से अद्भुतरस की उत्पत्ति होती है । वस्तुओं में जो अतिशय (अद्भुत) चमत्कार होता है, उसे 'अद्भुत' रस कहते हैं । इस प्रकार चमत्कारातिशय या चमत्कार विशेष ही 'अद्भुत' रस है । अद्भुत का स्थायीभाव 'विस्मय' होता है । विस्मय चमत्कार का पर्यायवाची है । अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक ॥ २३ ॥

---

१. वस्तूनाभित्यारम्य 'शमः' इति पर्यन्तं' लोकद्वयं मुद्रितेऽग्निपुराणे न प्राप्यते ।

शान्तमाह—

यदा विवेकवैराग्यान्न व्यवस्यति कर्म्मसु ॥ २४ ॥
तदा निवृत्तिः शान्तः स्यात्तस्य निर्व्वर्त्तकः शमः ।
लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा ॥ २५ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

शान्तरसमाह—यद्यपि शान्ताख्यो रसो न नाट्ये वर्त्तते तथापीह नाटकादिप्रकरणे निर्द्दिष्टः । लोके शान्तरसस्य निर्व्वर्त्तकः शमः स्थायीभावो व्यभिचारिणस्तु स्तम्भादयो यथार्हम् । आलम्बनविभावः शान्तिमान् पुरुषः, उद्दीपनविभावस्तु तत्त्वज्ञानजनकशास्त्रालापादिः, अनुभावास्तस्य पुंसो मनोवाग्बुद्धिवपुषामारम्भाः योगसमाधिसन्तोषादयश्च इत्येते लोकेऽनुभावयन्ति शमं विदुषस्ते च काव्ये वाक्क्रियात्मक इति । भ्रान्तास्त्वाहुः—निर्वेदः स्थायिभावोऽत्र शान्तोऽपि नवमो रसः इति तन्न । नहि स्थायीभावो रसः किन्तु रसोत्पादकः । निर्वेदस्तूक्तः—'वैराग्यादेर्मनः खेदो निर्वेद इति कथ्यते' इति । स च निर्वेदो नापि शान्तजनकस्तस्मान्न च स्थायीभाव इति । शमस्तूक्तः "तत्त्वज्ञानादिना चेतः कषायो परमः शमः" इति । स इह स्थायीभाव उक्त इति ॥ २४ ॥

ननु वाङ्मयं, शास्त्रम्, इतिहासः, काव्यञ्चोक्तम् । तत्र सर्वत्र न रसो दृश्यते। रसोपदेशस्तु अत्र किमर्थं इत्यत आह—यथा लक्ष्मीर्जनानां धनादिसम्पत्तिर्विना त्यागात् दानं विना न भाति न प्रकाशते । तथा नीरसा रसं विना वाणी न भाति न प्रकाशते । तस्मादिह काव्ये रसोपदेशः कृतः ॥ २५ ॥

शान्तरस

शान्त नामक रस नाट्य में स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु नाटक प्रकरण में निर्दिष्ट होने के कारण उसका निरुपण किया जा रहा है । जब विवेक, वैराग्य आदि के कारण कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती, तब 'शान्त' रस होता है । शान्त रस का स्थायी भाव 'शम' है । विवेक (तत्त्वज्ञान), वैराग्य आदि इसके विभाव हैं । तत्त्वज्ञान, वैराग्य आदि से चित्त में उत्पन्न कषाय की शक्ति ही 'शम' है और यही शान्तरस का कारण है।। २४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार बिना त्याग (दान) के लक्ष्मी सुशोभित नहीं होती, उसी प्रकार वाणी भी रस के बिना शोभित नहीं होती ॥ २५ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में कहा गया है कि जिस प्रकार दान के बिना धनादि सम्पत्ति शोभित नहीं होती, उसी प्रकार रस के बिना वाणी भी शोभित नहीं होती । इसलिए काव्य में रस का उपदेश किया गया है ॥ २५ ॥

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै[1] रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥ २६ ॥

शृङ्गारी चेत् कविः काव्य[2] जातं रसमयं जगत् ।
स चेत् कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत् ॥ २७ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

ननु तर्हि शब्दात्मिका काव्यरूपा वाणी कथं सरसा वाणी स्यादित्यतः आह—अपार इत्यादि। यथायं संसारोऽब्धिरिवाऽपारस्तथेदं काव्यमब्धिरिवापारम्। तस्मिन्नपारे संसारे यथा प्रजापतिर्ब्रह्मा स्रष्टा तथास्मिन्नपारे काव्यसंसारे कविः प्रजापतिरिति। यथा चास्मै प्रजापतये विश्वं किञ्चिद्वस्तु परिवर्तने रोचते, एकविधं सृष्ट्वा प्रजापतिस्तत्परिवर्तनेऽपरविधं स्रष्टुमिच्छति तथेदं काव्यमेकविधं परिवर्तनेऽस्मै कवये रोचते। एकं सृष्ट्वा वा तत् परिवर्त्यापरं स्रष्टुमिच्छतीति ॥ २६ ॥

तर्हि सर्व एव कविः किं सरसं काव्यं प्रजापतिर्विश्वमिव सरसं रचयितुं प्रभवति ? इत्यत आह—कविश्चेत् शृङ्गारी भवति तदा बीजभूतार्थरसास्वादनादन्यरसनिर्माणेऽपि शक्तो भवतीति ततः शृङ्गारिणः कवेर्जातं काव्यं रसमयं जगदिव स्यात्। स कविश्चेद् वीतरागो न शृङ्गाररसबोद्धा भवति तथोक्तं स्फुटमेव तत्काव्यं नीरसं रसहीनं भवतीति ॥ २७ ॥

अर्थ—इस अपार संसार में काव्य-जगत् का निर्माता कवि ही है, उसे जैसा अच्छा लगता है अपनी रुचि के अनुसार वैसी सृष्टि करता है ॥ २६ ॥

विमर्श—यह संसार-सागर अपार है उसी प्रकार काव्य-सागर भी अपार है। उस अपार संसार का जिस प्रकार ब्रह्मा स्रष्टा है उसी प्रकार अपार काव्यजात् का स्रष्टा कवि है। वह इस काव्य जगत् में जैसा परिवर्त्तन चाहता है वैसा बना डालता है। इस प्रकार वह भिन्न-भिन्न प्रकार के काव्यों की रचना करता है ॥ २६ ॥

अर्थ—यदि कवि शृङ्गारी (सहृदय) होगा तो उसकी काव्य-रचना रसमय (सरस) होगा और यदि वह कवि वीतराग (नीरस) होगा तो उसका काव्य भी नीरस होगा। २७ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में कहा गया है कि यदि कवि शृङ्गारी होगा अर्थात् उसका हृदय सरस होगा तो वह सरस काव्य का ही रचना करेगा और यदि वह विरागी है, उसका हृदय नीरस (करता) है तो उसका काव्य नीरस होगा ॥ २७ ॥

---

१. 'यथा वै' इति पाठान्तरम् ॥
२. 'काव्ये' इति पाठभेदः ॥

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।
भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति ॥ २८ ॥
स्थायिनोऽष्टौ रतिमुखाः स्तम्भाद्याः व्याभिचारिणः ॥२९-१॥

काव्यप्रभावृत्तिः

रसान् निर्दिश्य रसजनकान् भावानाह—योऽसावुक्तो रसः शृङ्गारादी रसो न भावहीनोऽस्ति यथा गन्धादिगुणहीनो न पृथिव्यादिरस्ति। न वा रसवर्जितो भावोऽस्ति इति परस्परमविनाभूतौ रसभावौ गन्धादि पृथिव्यादिवत्। यथा च फलहीना क्रिया नास्ति, नास्ति च क्रियाहीनं फलमिति। ननु उक्ता रसा, भावास्तु के ? इत्यत आह—भावयन्तीति। ये रसान् भावयन्ति उत्पादयन्ति ते भावाः, यैश्च करणैः रसा भाव्यन्त उत्पाद्यन्ते इति ते रसोत्पत्तिसाधनभूताश्च भावा इति। द्व्यर्थ एव भावशब्दोऽत्र विवक्षितः। रसोत्पादनका रससाधकतया चेति भावे धञा निष्पन्नपाकादिशब्दवत् ॥ २८ ॥

ननु एवं द्व्यर्थ भावशब्देन के रसोत्पादका भावाः ? के च रसे साधनभूताः ? इत्यत आह—रतिमुखा रत्यादयोऽष्टौ स्थायिनो भावाः रसान् स्थापयितुं शीलं येषां ते स्थायिनो रसोत्पादकाः भावा अष्टौ वक्ष्यन्तेऽत ऊर्ध्वमेव। स्तम्भाद्याः एकचत्वारिंशद्व्याभिचारिणो भावा एकान्तेनैकं रसं न चरन्ति। क्वचिच्छृङ्गाराख्यो क्वचिदन्यस्मिंश्चरन्तीति व्यभिचाराद् व्यभिचारिणोऽनैकान्तिनः। क्वचित् तथा क्वचिदन्यथा इति अनैकान्त इति। रत्यादयो हि स्तम्भादिभिः साधनैः शृङ्गारादीन् रसान् जनयन्ति ॥ २९-१ ॥

अर्थ—रस भाव से हीन नहीं होता है और भाव न रसहीन होता है। भाव रस को भावित करते हैं और रस भाव को भावित करते हैं ॥ २८ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में रस को भावाश्रित और भाव को रसाश्रित बताया गया है। भावहीन रस और रसहीन भाव की कल्पना नहीं की जा सकती। भाव और रस एक दूसरे के उपकारक हैं। जिस प्रकार गन्ध से हीन पृथिवी नहीं होती, उसी प्रकार भावहीन रस नहीं होता और न रसहीन भाव ही होता है। भाव रसों को भावित करते हैं इसीलिए वे 'भाव' कहे जाते हैं। इस प्रकार भावों के द्वारा रस भावित होते हैं ॥ २८ ॥

अर्थ—रत्यादि आठ स्थायी भाव होते हैं और स्तम्भादि आठ सात्त्विक भाव होते हैं तथा तैंतीस व्यभिचारीभाव होते हैं। व्यभिचारीभाव को संचारीभाव भी कहते हैं। इस प्रकार कुल ४९ भाव होते हैं ॥ २९-१ ॥

मनोऽनुकूलोऽ[1]नुभवः सुखस्य रतिरिष्यते ॥ २९ ॥
हर्षादिभिश्च मनसो विकासो हास उच्यते ।
मनोवैक्लव्यमिच्छन्ति शोकमिष्टक्षयादिभिः ॥ ३० ॥
क्रोधस्तैक्ष्ण्यप्रबोधश्च प्रतिकूलार्थकारिणे[2] ।
पुरुषार्थ समाप्त्यर्थो[3] यः स उत्साह उच्यते ॥ ३१ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

केयं रतिः ? इत्यत आह—मन इत्यादि सुखस्य मनोऽनुकूलोऽनुभवो ज्ञानमात्मप्रत्यक्षं रतिरिष्यते । यदेवं सुखं पूर्वमनोऽनुकूलं तदप्यवस्थाविशेषे मनः प्रतिकूलतया अनुभूयत इति तदा तस्य व्यवच्छेदार्थं मनोऽनुकूल इति । ईदृशोऽनुभवस्तु विभावानुभावाभ्यां विशेषणीयत्वात् । भोजनादिजातसुखस्य मनोऽनुकूलत्वेऽपि न रतित्वप्रसङ्गः । प्रतिरसं विभावानुभावा वक्ष्यन्ते स्त्रीपुरुषादयः । या देवाद्यर्चनविषया रतिरुच्यते नेयं सा रतिः, विभावादिना विशेषणेन व्यवच्छेदात् । एषा हि स्त्रीपुरुषसम्भोगरूपां परितोषमुपेतां धृतिं जनयति । परितोषलक्षणा धृतिर्हि शृङ्गारो रस उक्तः । तस्य पर्याय उक्तः शृङ्गारः, शुचिः, उज्ज्वल इति ॥ २९ ॥

अथ हास्यरसजनकं भावमाह—हर्षाश्चर्यादर्शनादिभिर्जनितो मनसो विकासः प्रस्फुटताहासो हास्यरसोत्पादको भावः स्थायी उच्यते । हर्षादिजनित मनः प्रफुल्लता हि हास्यलक्षणं रसं जनयति । विभावानुभावविशेषणीयत्वाद्रत्यादौ यन्मनसो विकासस्तन्निरासः इति । अस्य पर्याय उक्तः हसनं, हासो, हास्यञ्चेति ॥ ३०-१ ॥

अथ करुणरसोत्पादकं भावमाह—इष्टानामभिमतानां धन-बान्धवादीनां क्षयादिभिः क्षयविनाशचौर्यदैन्यक्लेशव्याधिपीडनादिभिः मनोवैक्लव्यं वैकल्यं शोकं करुणारसस्य भावकं स्थायीभावमिच्छन्ति कवयः । एष हि शोकस्तत्तदिष्टवस्तुषु कारुण्यं रसं जनयति । अत्र "करुणो रस" इति रसविशेषणात् "पुंसि" प्रयोगः । करुणो हि रसः । तस्य पर्याय उक्तः कारुण्यं, करुणा, घृणा, कृपा, दयानुकम्पास्यादनुक्रोशोऽपीति ॥ ३० ॥

---

१. "मनोऽनुकूलै" इति पाठभेदः ॥
२. "प्रतिकूलानुकारिणी" इति पाठभेदः ॥
३. समाप्त्यार्थो इति पाठभेदः ॥

चित्रादिदर्शनाच्चेतो वैक्लव्यं ब्रुवते भयम् ।
जुगुप्सा च पदार्थानां[1] निन्दादौर्भाग्यवाहिनाम् ॥ ३२ ॥
विस्मयोऽतिशयेनार्थ दर्शनाच्चित्तविस्मृतिः ॥३३-१॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ रौद्रवीरयोः भावावुच्येते—प्रतिकूलार्थकारिणे जनाय तैक्ष्ण्यप्रबोधो-हि क्रोधो रौद्ररसस्य स्थायिभावः। तैक्ष्यणात् रौद्रः प्रजायत इत्युक्तम्। उग्रभावो रौद्राख्यो रसः क्रोधाज्जायते। तस्य पर्यायः रौद्रम्, उग्रमिति। रसविशेषणत्वा-दिह रौद्रो रस इति पुंसि प्रयोगः। वीररसे यः क्रोधः स न स्थायीभावः, किन्तु अनुभावः, तत् पुरुषीयकार्यत्वात्। तर्हि वीररसस्योत्पादकः को भावः? इत्यत आह—पुरुषार्थेत्यादि। पुरुषार्थस्य समाप्तये योऽर्थः स उत्साहो वीररसं, पुरुषा-र्थसमाप्तिं जनयति। पुरुषार्थसमाप्तिस्तु दानेन, दयया, युद्धेन, चोत्साहाज्जायते। तस्य पर्यायः उत्साहवर्धनो वीर इति। उत्साहात् वर्धते इत्युत्साहवर्धन इति। युद्ध-वीरे क्रोधो न स्थायीभावः। पुरुषार्थसमाप्त्यर्थमुत्साहे कार्यः क्रोधो योद्धुरिति ॥३१॥

अथ भयानकस्य भावमाह—चित्रादिदर्शनादस्तु तानिष्टविकृतविष्टादिवस्तु-दर्शनादितो यच्चेतो वैक्लव्यं वैकल्यं तद्भयं भयानकरसस्योत्पादकं स्थायिनं भावं कवयो ब्रूयन्ते। ननु भयानकस्य पर्यायाः भैरवं, दारुणं, भीषणं, घोरं, भीमं, भया-नकं, प्रतिभयमिति। भयजनकं भयानकं। कथं तत्र भयं भयानकस्य जनकं भवति? अन्यथा भावो न स्याद्रसं भावयतीति भाव उक्त इति चेत्, न। यतो न खलु भय-जनकमात्रमेव भयानको रसः। यथा—व्याघ्रात् विभेतीति व्याघ्रो भयजनकः। स च न भयानको नाम रसः, किन्तु प्रतिभयमेव। यद्भयेन जन्यते तद्भयं प्रति-भयस्य भयानकरसोत्पादकं भावमाचक्षते। तत् स्थायी, अतएव भयानकस्य पर्याये प्रतिभयमिति चोक्तम्। यथा—देवदत्तो यज्ञदत्तं भीषयति, यज्ञदत्तः प्रतिभीषयति देवदत्तमित्यत्र देवदत्तकृतभयप्रदर्शनं यज्ञदत्तकृतप्रतिभयस्योत्पादकमिति देव-दत्ततो यद्भयं तदिह प्रतिभयस्य भयानकरसस्य स्थायीभावः। यदि देवदत्तो न भीषयति तदा यज्ञदत्तोऽपि न प्रतिभीषयति इति देवदत्तजनितं भयं यज्ञदत्तकृत-प्रतिभयजनकम् ॥ ३२-१ ॥

अर्थ—(१) सुख के मनोनुकूल अनुभव (ज्ञान) को 'रति' कहते हैं। (२) हर्षादि से मन का जो विकास होता है उसे 'हास' कहते हैं। (३) प्रिय वस्तुओं के विनाश से उत्पन्न मन की विकलता 'शोक' है। (४) प्रतिकूल व्यक्तियों (विरोधियों) के प्रति उत्पन्न तीष्णता (प्रतिशोध-भावना) 'क्रोध' है। (५) पुरुषार्थ की समाप्ति के लिए जो आरम्भ (उद्योग) वह 'उत्साह' है। (६) चित्र आदि (भयानक दृश्य) देखने से उत्पन्न चित्त की विकलता 'भय' है। (७) घृणास्पद वस्तुओं की निन्दा 'जुगुप्सा' है। (८) लोकातिशापि (अलौकिक) वस्तुओं के देखने से उत्पन्न चित्त का विस्तार 'विस्मय' है ॥ २९-३३-१ ॥

१. "यदार्थानां" इति पाठभेदः ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

वीभत्सरसस्य स्थायीभावमाह—जुगुप्सेत्यादि। दौर्भाग्यवाहिनामर्थानां यदा निन्दा भवति, तदा सा जुगुप्सा वीभत्सरसं जनयतीति निन्दालक्षणं वीभत्सरसं भावयतीति स्थायीभावः। तस्य पर्यायः गर्हा, निन्दा, जुगुप्सा विकृतञ्चेति निन्दावचनव्यापारजनितं फलं निन्दनं वीभत्साख्यो रस इति ।।३२।।

अथ अद्भुतरसस्य स्थायीभावमाह—स्वभावसिद्धप्रचारितार्थादतिशयेन तदर्थस्य दर्शनं भवति, तद्दर्शनाज्जायते या चित्तस्य विस्मितिः स विस्मयोऽद्भुत-रसं भावयतीति अद्भुतरसस्य स्थायीभावः इति। चितविस्मयजन्य आश्चर्यबोध-एवाद्भुत रसः। इत्यष्टौ रसादयः स्थायिनो भावाः शृङ्गारादीन् रसान् भावयन्ति। तस्मादुक्तम्—"स्व-स्व-भावोद्भवा रसा" इति ॥ ३३-१ ॥

विमर्श—इसके बाद रस के उत्पादक रत्यादि स्थायीभावों का विवेचन करते हैं—अग्निपुराण के अनुसार रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय ये आठ स्थायीभाव रस के उत्पादक कहे गये हैं। (१) **रति**—शृङ्गार रस का स्थायीभाव 'रति' है। सुख के मनोऽनुकूल अनुभव (ज्ञान) को 'रति' कहते हैं। यह अनुभव विभाव-अनुभाव के द्वारा होता है। इसीलिए भोजन आदि के द्वारा उत्पन्न सुख 'रति' नहीं कहलाता, क्योंकि प्रत्येक रस के स्त्री-पुरुष आदि विभावादि कहे गये हैं। देवादिविषयक रति भी यह 'रति' नहीं है। यह रति तो स्त्री-पुरुष के संयोग से परिपुष्ट 'रति' है। यही परिपुष्ट रति ही शृङ्गार रस है। (२) **हास**—हर्ष (प्रसन्नता) आदि से जो मन का विकास होता है, उसे हास कहते हैं। यह हास्य रस का स्थायीभाव है। हर्ष आदि से उत्पन्न मन की प्रफुल्लता ही हास्य रस को उत्पन्न करता है। (३) **शोक**—'शोक' करुण रस का स्थायी भाव है। प्रिय (धन, बन्धु आदि) वस्तुओं के नाशादि से उत्पन्न मन की विकलता 'शोक' है। यह शोक ही उन-उन इष्ट वस्तुओं के प्रति करुणा उत्पन्न करता है। (४) **क्रोध**—रौद्र रस का स्थायी भाव 'क्रोध' है। प्रतिकूल व्यक्तियों के प्रति उत्पन्न तीष्णता (प्रतिशोध-भावना) 'क्रोध' है। उग्र रौद्ररस क्रोध से उत्पन्न होता है। (५) **उत्साह**—वीर रस का स्थायीभाव 'उत्साह' है। पुरुषार्थ की समाप्ति के लिए जो आरम्भ (उद्योग) है, वह 'उत्साह' है। पुरुषार्थ की समाप्ति दान, दया और युद्ध के द्वारा होती है और उत्साह ही वीर रस को उत्पन्न करता है। (६) **भय**—भयानक रस का स्थायीभाव 'भय' है। चित्र आदि भयानक एवं विकृत वस्तुओं के देखने से उत्पन्न चित्त की विकलता 'भय' है। यह भयानक रस को उत्पन्न करता है। (७) **जगुप्सा**—वीभत्स रस का स्थायीभाव 'जुगुप्सा' है। घृणास्पद वस्तुओं की निन्दा 'जुगुप्सा' है। यह वीभत्स रस को उत्पन्न करता है। (८) **विस्मय**—अद्भुत रस का स्थायीभाव 'विस्मय' है। लोकातिशायि (अलौकिक या आश्चर्यमय) वस्तुओं के देखने से उत्पन्न चित्त की विस्मृति 'विस्मय' है। यह अद्भुत रस को उत्पन्न करता है। इस प्रकार चित्त के विस्मय से उत्पन्न आश्चर्य-बोध ही अद्भुत रस है ॥ २९-३३-१ ॥

सात्त्विकभावानाह—

अष्टौ स्तम्भादयः सत्त्वाद्रजसस्तमसः परम् ॥ ३३ ॥
स्तम्भश्चेष्टा प्रतीघातो भयरागाद्युपाहितः[1] ।
श्रमरा[2]गाद्युपेतान्तः क्षोभजन्म[3] तु वपुर्जलम् ॥ ३४ ॥
स्वेदो हर्षादिभिर्देहोच्छ्वासो[4]ऽन्तःपुलकोद्गमः ।
हर्षादिजन्मा रोमाञ्चः[5] स्वरभेदो भयादिभिः ॥ ३५ ॥
चित्तक्षोभभवःस्तम्भो[6] वेपथुः परिकीर्तितः ।
वैवर्ण्यञ्च विषादादिजन्मा कान्तिविपर्ययः ॥ ३६ ॥
दुःखानन्दादिजं नेत्रजलमश्रु च विश्रुतम् ।
इन्द्रियाणामस्तमयः प्रलयो लङ्घनादिभिः ॥ ३७ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

इत्यष्टौ रत्यादीन् स्थायिनोभावान् उक्त्वा स्तम्भादीन् व्यभिचारिणो भावानाह—स्तम्भादयो अष्टौ भावाः प्राणिनां सत्त्वाद् सत्त्वगुणाज्जायन्ते ॥ ३३ ॥

सात्त्विकभावानाह—भयरागाद्युपाधिमान् शरीरस्य चेष्टा प्रतिघातश्चेष्टा-निवृत्तिः स्तम्भः। श्रमरागाद्युपेतान्तःकरणक्षोभजन्यो वपुषो जलं स्वेदः। हर्षादिभिरन्तरभ्यन्तरतो देहोच्छ्वासः पुलकोद्गमः (रोमाञ्चः)। भयादितो वैवर्ण्यं स्वरभेदः। चित्तक्षोभजातः शरीरस्य स्तम्भश्चाञ्चल्यं वेपथुः कम्पः। विषादादिजन्या कांतिविपर्ययो वैवर्ण्यम्। दुःखसुखादिजातं विश्रुतं नेत्रजलमश्रुः। लङ्घनादिदौर्बल्यकारणजातमिन्द्रियाणामस्तभयो दौर्बल्यं प्रलयः ॥ ३४-३७ ॥

विमर्श—इस प्रकार अग्निपुराण में आठ स्थायीभाव प्रतिपादित है किन्तु रस नौ बताये गये है। यहाँ पर शान्त रस स्थायीभाव का विवेचन नहीं किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि अग्निपुराणकार को नाट्य में 'शान्त' रस की मान्यता स्वीकार्य नहीं हैं।

इस प्रकार आठ स्थायीभावों का विवेचन करने के पश्चात् अब आठ सात्त्विक भावों का विवेचन करते हैं—

अर्थ—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय ये आठ सात्त्विक भाव सत्त्व से उत्पन्न है। सत्त्व मनःसम्भूत भाव है। उसी से उत्पन्न भाव सात्त्विक भाव है।

(१) स्तम्भ—भय, राग, हर्ष आदि के कारण चेष्टा का प्रतिघात (निश्चेष्ट होना) 'स्तम्भ' है।

---

१. 'भयरागाद्युपस्थितः' इति पाठभेदः ॥
२. 'श्रम' इति पाठभेदः ।
३. 'क्षोभ' इति पाठान्तरम् ॥
४. 'देहोच्छ्वासान्तः' इति पाठान्तरम् ॥
५. 'हर्षादिजन्मवावसङ्ग' इति पाठान्तरम् ॥
६. न, स चित्तक्षोभपरिस्तम्भो प, फ-चित्तक्षोभतरस्तम्भो इति पाठः ।

व्यभिचारिभावानाह—

वैराग्यादेः मनः[1]खेदो निर्वेद इति कथ्यते ।
मनः पीड़ादिजन्मा हि[2] सादौ ग्लानिः शरीरगा ।। ३८ ।।

शङ्काऽनिष्टागमोत्प्रेक्षा स्यादसूया च मत्सरः ।
मदिराद्युपयोगोत्थं मनः सम्मोहनं मदः ।। ३९ ।।

क्रियातिशय जन्मान्तः शरीरोत्थ क्लमः[3]श्रमः ।
शृङ्गारादि क्रियाद्वेषश्चित्तस्यालस्यमुच्यते ।। ४० ।।

दैन्यं सत्त्वादपभ्रंशश्चिन्तार्थपरिभावनम् ।
इतिकर्तव्यतोपाया दर्शनं मोह उच्यते ।। ४१ ।।

स्मृतिः स्यादनुभूतस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्[4] ।
मतिरर्थपरिच्छेदस्तत्त्वज्ञानोपनायितः ।। ४२ ।।

व्रीडानुरागानुभवः[5] सङ्कोचः कोऽपि चेतसः ।
भवेच्चपलताऽस्थैर्यं हर्षश्चित्तप्रसन्नता ।। ४३ ।।

---

(२) **स्वेद**—श्रम, राग, भय, धूप आदि के कारण अन्तर्मथन द्वारा शरीर से जल का निकलना 'स्वेद' है ।

(३) **रोमाञ्च**—हर्ष, विस्मय, भय आदि के कारण होने वाले शारीरिक उच्छवास को 'रोमाञ्च' कहते हैं ।

(४) **स्वरभेद**—हर्ष, पीड़ा, भय आदि के कारण होने वाले कण्ठावरोध को 'स्वरभेद' कहते हैं ।

(५) **वेपथु**—चित्त के क्षोभ के कारण होने वाले चाञ्चल्य (कम्पन) को 'वेपथु' कहते हैं ।

(६) **वैवर्ण्य**—विषाद, मद, रोष आदि के कारण उत्पन्न कान्ति-मलिनता (कान्ति का फीका पड़ना) 'वैवर्ण्य' है ।

(७) **अश्रु**—दुःख, आनन्द, शोक आदि के कारण नेत्र से उत्पन्न जल को 'अश्रु' कहते हैं ।

(८) **प्रलय**—अनशन, चोट, मोह आदि के कारण इन्द्रियों की विकलता 'प्रलय' है ।। ३३-३७ ।।

---

१. "वैराग्यादिर्मनः" इतिपाठभेदः ।। २. "च" इति पाठान्तरम् ।।
३. "बलमः" श्रमः इति पाठान्तरम् ।। ४. ग, प–प्रतिवेशनम् 'घ' प्रतिवर्धनम् इति पाठः ।
५. "व्रीडानुरागादिभवः इति पाठभेदः ।।

आवेशश्च प्रतीकाराशया[1] वैधुर्यमात्मनः ।
कर्तव्ये प्रतिभाभ्रंशो जड़तेत्यभिधीयते ॥ ४४ ॥
इष्टाप्राप्तिरपचितिः[2] सम्पदाऽभ्युदयो वृत्तिः ।
गर्वः परेष्ववज्ञानमात्मन्युत्कर्षभावना ॥ ४५ ॥
भवेद्विषादो देवादेर्विघातोऽभीष्टवस्तुनः[3] ।
औत्सुक्यमीप्सित[4]प्राप्तेर्वाञ्छया तरला स्थितिः ॥ ४६ ॥
चित्तेन्द्रियाणां स्तैमित्यमपस्मारो[5] न च स्मृतिः[6] ।
अङ्गव्याध्यादिभिस्त्रासो[7] वीप्सा[8] चित्तचमत्कृतिः ॥४७॥
क्रोधस्याप्रशमोऽमर्षः[9] प्रबोधश्चेतनोदयः ।
अवहित्था[10] भवेद्गुप्तिरिङ्गिताकारगोचरा ॥ ४८ ॥
रोषतो गुरुवाग्दण्डं पारुष्यं विदुरुग्रताम् ।
ऊहो वितर्कः स्याद्व्याधिर्मनो वपुरवग्रहः ॥ ४९ ॥
अनिबद्धप्रलापादिरुन्मादनो मदनादिभिः ।
तत्त्वज्ञानादिना चेतः कषायो परमः शमः ॥ ५० ॥
कविभिर्योजनीया वै भावाः काव्यादिके रसाः ।

काव्यप्रभावृत्तिः

व्यभिचारिभावानाह—वैराग्यादितो जातो मनः खेदो निर्वेदः । मनःपीड़ादिजातः सादोऽवसन्नता । शरीरगावसन्नता ग्लानिः । अनिष्टागमोत्प्रेक्षा शङ्का । असूया गुणेषु दोषारोपो मत्सरः । मदिरादिमत्तताकृत् द्रव्योपयोगादुत्थितं मनःसम्मोहनं मदः । क्रियाणमतिशयेनाचरणाज्जातोऽन्तःशरीरोत्थः श्रमः क्लम उच्यते । चित्तस्य शृङ्गारादिक्रियासु द्वेषः आलस्यम् । सत्त्वतो भ्रंशो दैन्यम् । अर्थभावनं चिन्ता । इतिकर्तव्यतानां तत्तत् क्रियाव्यापाराणामुपायस्य यथाकर्तव्यता तस्यादर्शनमदृष्टिकरणं

---

१. 'प्रतीकारः शयो'' इति पाठभेदः ॥
२. ''इष्टप्राप्तेरुपचितिः, इष्टप्राप्तेरुचितः'' वा पाठान्तराणि ॥
३. ''वस्तुनि'' इति पाठान्तरम् ॥ ४. ''इप्सीता'' इति पाठान्तरम् ॥
५. 'क' अपसारो इति पाठः । ६. 'क' अचला स्थितिः इति पाठान्तरम् ।
७. 'युद्धबाधादिभिस्त्रासो । मुद्रितपुस्तके' युद्धे व्याघ्रादिस्त्रासो' इति पाठान्तरम् ।
८. 'रीप्सा' इति पाठान्तरम् । ९. 'अहर्षः' इति पाठान्तरम् ।
१०. अवहित्थं, अवहित्य इति पाठभेदाः ।

मोहः। अनुभूतस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् प्रतिरूप्येनानुस्मरणं स्मृतिः। यथार्थज्ञानेनोपनीतिकृतोऽर्थानां परिच्छेदः शेषो मतिः। चेतसः कोऽप्यनुरागानुभवः संकोचो व्रीडा लज्जा। अस्थैर्यं चपलता। चितप्रसन्नता हर्षः। आत्मनः प्रतीकाराशया प्रतीकारांक्षया वैधुर्यदुःखमावेशः। कर्तव्यताप्रबोधभ्रंशो जड़ता। इष्टार्थस्याप्राप्तिरपचयः। सम्पदा सम्पत्याभ्युदयश्चित्तोन्नतिर्धृतिः। परेष्ववज्ञानमात्मन्युत्कर्षचिन्ता गर्व इति। दैवादितोऽभीष्टवस्तुनो विघाते जाते मनसोऽवसादो विषादः। ईप्सीतार्थप्राप्तिहेतुका वाञ्छया तरलरूपा स्थितिर्मनस औत्सुक्यम्। मनस इन्द्रियाणाञ्च स्तैमित्यं मृद्भावो न च स्मृतिरस्मृतिश्चेत्यपस्मार उच्यते। अङ्गजव्याधिभिर्भयं त्रासः। चित्तचमत्कारो वीप्सा। क्रोधस्य प्रशमाभावोऽमर्षः। चेतनायाश्चैतन्यस्योदयः प्रबोधः। इङ्गितेनाकारस्य शरीरस्य गोचरागुप्तिर्गोपनमवहित्था। क्रोधतो गुरुवाग्दण्डं पारुष्यमुग्रतां विदुः। वितर्क ऊहः स्यात्। मनोवपुषोरवग्रहो व्याधिः। मदनजपीड़ादिभिरनिबद्धप्रलापवचनादिरुन्मादः। तत्त्वज्ञानादितश्चित्तस्य कषायाणां विकाराणामुपरमो निवृत्तिः शम उच्यते। एष शमः शृङ्गारादिष्वष्टसु रसेषु व्यभिचारीभावः शान्तस्य नवमस्य रसस्य स्थायीभावः शान्तिजनकव्यापारः शमः। तस्यात्यये शान्तो रसः फलं तिष्ठतीति। शमश्चायं शान्तं निवृत्तिं रसं स्थापयतीति स्थायीभावयतीति भावः। तत उक्तम्—"स्व-स्व-भावोद्भवा रसा" इति ॥ ३८-५० ॥

इति स्तम्भादयो व्यभिचारिणो भावाः स्थायिनश्च भावाः काव्ये किं प्रयोजना इत्यत आह—एतस्मात्स्थायिभाव-व्यभिचारिभावान् काव्यादिके गद्यपद्यमिश्रे तत् प्रभेदनाटकादौ रसाः शृङ्गारादयः कविभिर्योजनीया भवन्तीति ॥ ५१ ॥

निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, मति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेश, जड़ता, अपचय, धृति, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, अपस्मार, त्रास, वीप्सा, अमर्ष, प्रबोध, अवहित्था, उग्रता, ऊहा, व्याधि, उन्माद, शम, ये तैंतीस व्यभिचारी भाव हैं। इन व्यभिचारी भावों का लक्षण निम्नप्रकार है—

(१) **निर्वेद**—वैराग्य, अपमान, तत्त्वज्ञान आदि के कारण मन में उत्पन्न खेद को 'निर्वेद' कहते हैं।

(२) **ग्लानि**—मानसिक पीड़ा तथा शरीरगत निर्बलता से उत्पन्न अवसाद को 'ग्लानि' कहते हैं।

(३) **शङ्का**—अनिष्ट (अप्रिय) आगमन की सम्भावना को 'शङ्का' कहते हैं।

(४) **असूया**—मत्सरता अर्थात् दूसरे के गुण की असहनशीलता दोषों का प्रकट करना आदि 'असूया' है।

(५) **मद**—मदिरा आदि के सेवन (मद्य के उपयोग) से मन का संमोहन (बेहोशी) को 'मद' कहते हैं।

(६) श्रम—अधिक काम करने से उत्पन्न शारीरिक क्लान्ति को 'श्रम' कहते हैं।

(७) आलस्य—शृङ्गार आदि की क्रियाओं से उत्पन्न चित्त की खिन्नता (उदासी) 'आलस्य' है।

(८) दैन्य—सत्त्व से भ्रंश होना 'दैन्य' है।

(९) चिन्ता—अभीष्ट वस्तु की अप्राप्ति, अपमान आदि के विषय में चिन्तन करना 'चिन्ता' है।

(१०) मोह—करणीय कार्य के सम्बन्ध में उपाय न सूझना 'मोह' है।

(११) स्मृति—पूर्वानुभूत अर्थात् पहले अनुभव किये गये वस्तु के पहचान को 'स्मृति' कहते हैं।

(१२) मति—तत्त्वज्ञान (यथार्थज्ञान) की सहायता से अर्थ धारण करना 'मति' है।

(१३) व्रीड़ा—अनुराग आदि के कारण चित्त में होने वाले संकोच को 'व्रीड़ा' कहते हैं।

(१४) चपलता—चित्त की अस्थिरता को 'चपलता' कहते हैं।

(१५) हर्ष—चित्त की प्रसन्नता 'हर्ष' है।

(१६) आवेश—प्रतीकार की भावना से उत्पन्न आत्मा का उद्वेग (दुःख) 'आवेश' है।

(१७) जड़ता—कर्त्तव्य में प्रतिभा का नाश होना 'जड़ता' है।

(१८) अपचय—इष्ट वस्तु की अप्राप्ति 'अपचय' है।

(१९) धृति—सम्पत्ति के अभ्युदय से चित्त की प्रसन्नता 'धृति' है।

(२०) गर्व—आत्मोकर्ष की भावना से दूसरे का अपमान करना 'गर्व' है।

(२१) विषाद—दैवी कारण से अभीष्ट वस्तु के विनाश से उत्पन्न अवसाद 'विषाद' है।

(२२) औत्सुक्य—ईप्सित वस्तु की प्राप्ति के लिए मन की चंचलता 'औत्सुक्य' है।

(२३) अपस्मार—चित्त की जड़ता और इन्द्रियों विक्षुब्धता को 'अपस्मार' कहते है।

(२४) त्रास—अङ्गज व्याधि से उत्पन्न भय 'त्रास' है।

(२५) वीप्सा—चित्त के चमत्कार को 'वीप्सा' कहते हैं।

(२६) अमर्ष—क्रोध का शान्त होना 'अमर्ष' है।

(२७) प्रबोध - चेतना का उदय होना 'प्रबोध' है।

(२८) अवहित्था—इङ्गित (इशारा) के द्वारा आकार का गोपन 'अवहित्था' है।

(२९) उग्रता—क्रोध से गाली देना और परुष वचन बोलना 'उग्रता' है।

(३०) ऊहा—तर्क-वितर्क करना 'ऊहा' (वितर्क) है।

(३१) व्याधि—मन और शरीर की जड़ता 'व्याधि' है।

(३२) उन्माद—कामजन्य पीड़ा से अनर्गल प्रलाप करना 'उन्माद' है।

(३३) शम—तत्त्वज्ञान से चित्त का विकारों से निवृत्त होना 'शम' है ॥३८-५०॥

इस प्रकार काव्य तथा नाटक में कवि भाव तथा रसों को संयोजित करे ॥५१॥

अथोद्देशक्रमात् विभावानाह—

विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते ॥ ५१ ॥
विभावो नाम स द्वेधालम्बनोद्दीपनात्मकः ।

तत्र आलम्बनविभावानाह—

रत्यादिभाववर्गोऽयं यमालम्ब[1]योपजायते ॥ ५२ ॥
आलम्बनविभावोऽसौ नायकादिभवस्तथा[2] ।

काव्यप्रभावृतिः

अथोद्देशक्रमात् विभावानाह—यस्मात् रत्यादिः स्थायीभावो हि यत्र विभाव्यते स एको विभावः तथा रत्यादिरेव स्थायीभावो येन विभाव्यते सोऽपरो विभाव इति द्वेधा विभावो नाम्नालम्बनमुद्दीपनञ्चेति द्विधात्मकः ॥५१॥

तत्र आलम्बनविभावानाह—अयं रत्यादिभाववर्गः स्थायीभाव-व्यभिचारिभावगणः यमालम्ब्याश्रित्योपजायते स आलम्बनविभावः। विभाव्यते भावोऽस्मिन्निति व्युत्पत्याभिधीयते। स खलु शृङ्गारादिषु नायकाभिभवादिः शृंगारे पुरुषो नायकः स्त्री नायिका, वीरे योद्धाप्रतियोद्धाऽभिभवः। हास्ये विदूषकः सभ्याश्च। करुणारसे शोचकः शोच्यश्च। रौद्रे क्रोधकृत् प्रकोप्यश्च। भयानके भीतो भीषणश्च। वीभत्से निन्दको निन्दनीयश्च। अद्भुते विस्मेता विस्मयविषयश्च। शान्ते शान्तिमान् शान्तिविषयश्चेति आलम्बनविभावा नायकाभिभवादिकाः शृङ्गारे नायकादिर्युद्धादावभिभवादिः ॥ ५२-५३-१ ॥

विभाव का लक्षण

अर्थ—रत्यादि स्थायीभाव जहाँ पर और जिसके द्वारा विभाजित होते हैं उसे 'विभाव' कहते हैं। यह विभाव दो प्रकार का होता है-आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव। रत्यादि स्थायीभाव जिसका आश्रय लेकर उपजीवी होते हैं, उसे आलम्बन विभाव कहते हैं। यह आलम्बन विभाव नायक-नायिका आदि में होता है ॥ ५१-५३-१ ॥

विमर्श—यह रत्यादि स्थायीभाव जहाँ पर विभावित होता है। अर्थात् जिसके आश्रय से रत्यादि स्थायीभाव उद्बुद्ध होते हैं वह एक प्रकार का (आलम्बन) विभाव होता है और रत्यादिभाव जिसके द्वारा विभावित होते हैं अर्थात् जिन साधनों से रत्यादिभाव उद्दीपित होते हैं वह दूसरे प्रकार का (उद्दीपन) विभाव होता है। आलम्बन विभाव नायक-नायिकादि हैं। क्योंकि उनके (नायक-नायिका आदि) के आश्रय से रस का उद्बोधन होता है। उद्दीपन विभाव का लक्षण आगे कहेंगे। उनमें आलम्बन विभाव रूप नायक-नायिकादि का निरूपण करते हैं—

---

१. "भावात्" इति पाठभेदः ॥

२. ग, प, फ पुस्तकेषु नायकविभवस्तथा, घ, न, ध पुस्तकेषु नायकादिरसस्तथा नायकाभिभावादिकः इति पाठान्तराणि ।

धीरोदात्तो धीरोद्धतः[1] स्याद्धीरललितस्तथा ॥ ५३ ॥
धीरप्रशान्त इत्येवं चतुर्धा नायकः स्मृतः ॥
अनुकूलो दक्षिणश्च शठो धृष्टः प्रवर्तितः[2] ॥ ५४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

तत्र नायक-नायिकाभेदानाह—धीरोदात्तादयश्चतुर्विधा नायकाः शृङ्गारसे भवन्ति। तद्यथा—

क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वोऽविकत्थनः।
श्रेष्ठो निगूढमानः स्याद् धीरोदात्तो दृढ़व्रतः॥
मायावी चपलश्चण्डो गर्वदर्पादिमान् सुधीः।
आत्मश्लाघादिनिरतो धीरैर्धीरोद्धतः स्मृतः॥
निश्चिन्तो यो मृदुर्नित्यं कलावानीप्सितो जनैः।
धीरः स धीरललितो नायकज्ञैः प्रकीर्तितः॥
धीरप्रशान्तः सामान्य गुणभूयिष्ठ एव च।
धीरः शान्तस्वभावश्च मनीषिभिरुदीरितः॥

अर्थ—सर्वप्रथम नायक चार प्रकार के होते हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त। पुनः उनमें प्रत्येक के अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ ये चार उपभेद होते हैं। इस प्रकार नायक के कुल सोलह भेद होते हैं॥ ५३-५४॥

विमर्श—अग्निपुराण में चारो नायकों का लक्षण या स्वरूप का विवेचन नहीं किया गया है। यहाँ हम अन्य ग्रन्थों के आधार पर धीरोदात्तादि नायकों का लक्षण निरूपण करते हैं—

(१) **धीरोदात्त**—क्षमाशील, अतिगम्भीर, महाप्राण, आत्मश्लाघा से रहित, श्रेष्ठ विनय से अभिमान भाव को गुप्त रखने वाला, दृढ़व्रती धीरोदात्त नायक होता है।

क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वोऽविकत्थनः।
श्रेष्ठो निगूढ़मानः स्याद् धीरोदात्तो दृढ़व्रतः॥

(२) **धीरोद्धत**—मायावी, चपल (चञ्चल), उग्र स्वभाव वाला, अहङ्कार और दर्प से युक्त, आत्मश्लाघी धीरोद्धत नायक होता है।

मायावी चलश्चण्डो गर्वदर्पादिमान् सुधीः।
आत्मश्लाघादिनिरतो धीरैर्धीरोद्धतः स्मृतः॥

(३) **धीरललित**—निश्चिन्त रहने वाला, मृदु, कोमल स्वभाव, कलाप्रिय, जनप्रिय, धीरललित नायक होता है।

---

१. न, ल पुस्तकयोः 'धीरवृत्तः' इति पाठः।
२. 'घ' पुस्तके प्रवृत्तितः इति पाठान्तरम्।

काव्यप्रभावृत्तिः

इत्येते चतुर्विधा नायकाः पुनश्चतुर्विधा भवन्ति प्रवृत्तितः प्रवृत्तिविशेषात्। कः कः प्रवृत्तिविशेष इति ? अनुकूलो दक्षिणश्च शठो धृष्टश्चेति। तत्रानुकूल्यादिलक्षणं यथा—

य एकपत्नीनिरतः सोऽनुकूल उदीरितः ॥
यस्त्वनेकासु नारीषु कुशलः समरागतः।
स दक्षिणो नायकः स्यान्मनीषिभिरुदाहृतः ॥
एकस्यां बद्धभावेन गूढानुरागवांस्तु यः।
अन्यासु बाह्यरागेण प्रियः स शठ उच्यते ॥
कृतापराधो निःशङ्को घर्षितोऽपि न लज्जितः।
मिथ्यावाग्दृष्टदोषोऽपि स धृष्टो नायकः स्मृतः ॥

इत्येवं प्रवृत्तिविशेषेण चत्वारो नायकाः षोडश भवन्ति ॥ ५३-५४ ॥

निश्चिन्तो यो मृदुर्नित्यं कलावानीप्सितो जनैः।
धीरः स धीरललितो नायकज्ञैः प्रकीर्त्तितः ॥

(४) **धीरप्रशान्त**—नायक के सामान्य गुणों के आधिक्य (बहुलता) से युक्त, धीर और शान्त स्वभाव वाला नायक धीरप्रशान्त कहलाता है।

धीरप्रशान्तः सामान्य गुणभूयिष्ठ एव च।
धीरः शान्तस्वभावश्च मनीषिभिरुदीरितः ॥

जैसा कि बताया जा चुका है कि उपर्युक्त धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त नायकों के अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट भेद से चार श्रेणियाँ होती हैं। यहाँ उनके स्वरूप का निरूपण करते हैं—

(१) **अनुकूल नायक**—जो एक ही नायिका में आसक्त रहता है, अन्य दूसरी नायिका में आसक्त नहीं होता है, वह 'अनुकूल' नायक कहलाता है—

य एकपत्नीनिरतः सोऽनुकूल उदीरितः।

(२) **दक्षिण नायक**—जो अनेक नायिकाओं में समान प्रेम करने वाला होता है उसे 'दक्षिण' नायक कहते हैं।

यस्त्वनेकाषु नारीषु कुशलः समरागतः।
स दक्षिणो नायकः स्यान्मनीषिभिरुदाहृतः ॥

(३) **शठ नायक**—जो किसी अन्य नायिका से गुप्त प्रेम करता है और पहली नायिका (प्रेमिका) से बाहरी प्रेम दिखाकर छिप-छिपकर उसका अहित करता है, वह 'शठ' नायक होता है।

एकस्यां बद्धभावेन गूढानुरागवांस्तु यः।
अन्यासु बाह्यरागेण प्रियः स शठ उच्यते ॥

पीठमर्दो विटश्चैव विदूषक इति त्रयः ।
शृङ्गारे नर्मसचिवा नायकस्यानुनायकाः ॥ ५५ ॥
पीठमर्दः सस्वफलः[1] श्रीमांस्तद्देशजो विटः ।
विदूषको वैहासिकस्त्वष्टनायकनायिकाः[2] ॥ ५६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

तेषामनुनायकाश्च त्रयः । तानाह—पीठमर्दादयस्त्रयः शृङ्गारे नर्मसचिवाः कलामन्त्रिणो नायकस्य चतुर्विधस्यानुगता नायकाः स्युः । तत्र कः कस्मिन्नर्मणि सचिव इत्यतस्तेषां लक्षणान्याह-स्वफलसहितः सखा पीठमर्दो नामानुनायकः । यथा नायकः फलमुपभुक्ते तथा पीठमर्दोऽपि । अयन्तु परकीयनायिकायां शृङ्गारे नर्मसचिवः प्रतिनियतः । स्वीयायां व्यभिचारिण्यामपि सम्भवति । यस्तु सर्वरसे पीठमर्दमनुनायकं व्याचष्टे, तत् प्रमादादेव । "शृङ्गारे नर्मसचिवा" इत्यार्षवचनात् । विटमाह—श्रीमान् सुवंशविशिष्टः सखानायकस्य तस्य देशजः पुरुषो विटो नामानुनायकः शृङ्गारे नर्मसचिवः । विदूषकमाह—विदूषको वैहासिकः । विशेषेण हासजनकः कर्मकारी यो नायकस्य नर्मसचिवः स विदूषको नामानुनायकः । "त्रय" इति वदनादन्ये रसानभिज्ञैरुक्तानां चेटमालाकाररजकगान्धिकादीनामनुनायकत्वनिरासः । इत्यष्ट नायकनायिकाः नायकानां चतुर्णां चतस्रो नायिका इत्यष्टौ भवन्ति ॥ ५५-५६ ॥

---

(४) धृष्ट नायक—जो अपनी प्रेमिका के प्रति अपराध करने पर भी निशङ्क (निर्भय) रहता है और प्रेमिका के द्वारा फटकारे जाने पर भी लज्जित नहीं होता और दोष देख लिए जाने पर भी झूठ बोलकर उसे छिपाने का प्रयास करता है, उसे 'धृष्ट-नायक' कहते हैं ।

कृतापराधो निशङ्को धर्षितोऽपि न लज्जितः ।
मिथ्यावाग् दृष्टदोषोऽपि स धृष्टो नायकः स्मृतः ॥

नायक के सहायक

अर्थ—पीठमर्द नायक का कुशल सहायक होता है, और विट श्रीमान् उसका तद्देशज मित्र (सहायक) होता है । विदूषक हास्यकारी (हँसानेवाला) वाला मित्र सहायक होता है । इस प्रकार नायक-नायिका के आठ भेद होते हैं ॥ ५५-५६ ॥

---

१. "सम्बलक. इति पाठभेदः ॥
२. "वैहसिकास्चाष्ट नायकनायिका" इति पाठभेदः ॥

स्वकीया परकीया च पुनर्भूरिति कौशिकः[1]।
सामान्यान्या पुनर्भुव इत्याद्या[2] बहुभेदतः ॥ ५७ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

का पुनश्चतस्रो नायिका ? इत्यत आह—कौशिकस्तिस्रो नायिकाः स्वकीया परकीया पुनर्भूर्वोऽन्या सामान्यवनिता चैकास्ति तेन चतस्र इति। एवमादि बहुभेदतो बहुधा च नायिका। तद्यथा बालामुग्धाऽङ्कुरितयौवनाप्रौढ़ातरुणीवृद्धेत्येवमाद्यावस्थाभेदात्। तथा शीलभेदात् धीरा चाधीरा च प्रगल्भाधीरा प्रगल्भा चेत्येवमादयः। तथाऽभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, खण्डिता, स्वाधीनभर्तृका, प्रोषितभर्तृका चेत्यादिक्रियाभेदात्। आसां लक्षणं विस्तरभयान्नोक्तम् इति। नायकनायिकाद्याश्रयत्ववचनाद्रसानामास्वादका नायकनायिकादय एव न तु काव्यनाट्यश्रोतृदृष्टसभ्यास्तेषां हि काव्यश्रवणान्नाट्यदर्शनादितश्च तत्तदालम्बनविभावनायकनायिकादिगतपरितोषसुखदुःखश्रवणदर्शनाभ्यां सुखदुःखे भवतो न तु शृङ्गारादौ ये परितोषादयो न ते तेषां भवन्तीति न विदित्वा स्वाभिमतमेव कश्चिदुक्तवान्। तद्यथा—

सत्वोद्रेकाखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्काररूपः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वे नायमास्वाद्यते रसः॥

इति। तदनार्षमित्यतो न ग्राह्यमिति अयोक्तिकत्वाच्च ॥५७॥

नायिका भेद

अर्थ – कौशिक के अनुसार नायिका के तीन भेद होते हैं—स्वकीया, परकीया और पुनर्भू। कुछ विद्वान् 'पुनर्भू' नायिका नहीं मानते, उसके स्थान पर 'सामान्या' नायिका मानते है। कुछ विद्वान् स्वीया, परकीया, पुनर्भू और सामान्या ये चार प्रकार की नायिका मानते हैं ॥ ५७ ॥

---

१. "कौशिका." इति पाठभेदः ॥

२. "सामान्या न पुनर्भूरित्याद्या" इति पाठभेदः ॥

अथोद्दीपनविभावानाह —

उद्दीपनविभावास्ते संस्कारैः[1] विविधैः स्थितैः[2] ।
आलम्बनविभावेषु भावानुद्दीपयन्ति ये ॥ ५८ ॥
चतुःषष्टिकला द्वेधा कर्माद्यैः[3] गीतिकादिभिः ।
कुहकं स्मृतिरप्येषां प्रायो रसोपकारकाः[4] ॥ ५९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथोद्दीपनविभावानाह—ये खल्वालम्बनविभावेषु नायक-नायिकादिषु संस्कारैर्वेशविन्यासादिना मनोहरादिगुणाधानैर्विविधैश्चापरैः कोकिलकलनादिभिः भावान् रत्यादीन् उद्दीपयन्ति ते शृङ्गारादिरसेषु उद्दीपनविभावाः स्मृताः। अत्र केचित्संस्कारपदेनोपलक्षणं शृङ्गाराद्युद्दीपनानि भृङ्गकोकिलरतारामादीनि शृङ्गारोद्दीपनानि रण-वाद्यादीनि वीररसोद्दीपनानीत्येवम् आदीनि व्याचक्षते, तन्न संस्कारैरित्यनेन व्यापृत्तत्वात् अन्यथा संस्कारैरिति नोच्यताम् ॥५८॥

अथोद्दीपनमाह—चतुःषष्टिःकला द्वेधा सति योऽष्टाविंशत्यधिशतं कलाः। प्रतिरसं षोडश कला भवन्ति। गीतादिभिर्गीतनृत्यवाद्यादिभिः कर्माद्यैः ताः उद्दीपनविभावा आलम्बनविभावानां रत्यादिभावोद्दीपनाच्छृङ्गारादिरसोपकारका भवन्ति। तथा कुहकं नायक-नायिकाद्यालम्बनानां प्रतिरूपप्रदर्शनं तथैषा आलम्बनानां स्मृतिरपि प्रायो रसोपकारका उद्दीपनादिति गीतकादिभिश्चतुःषष्टिः कला वक्ष्यन्ते इति। लोककाव्ये रत्यादिभावविभावनक्रियायां विभावनाऽधिकरणभूता आलम्बनविभावा नायक-नायिकादयस्तथा तद्विभावनसाधनभूताश्चतुःषष्टिः कलादयश्चोक्ताः ॥४३॥

उद्दीपनविभाव का लक्षण बताते हैं—

अर्थ—आलम्बन विभाव (नायक-नायिका) में स्थित विविध संस्कारों के द्वारा जो भावों को उद्दीप्त करते हैं, वे उद्दीपन-विभाव कहे जाते हैं ॥ ५८ ॥

विमर्श— आलम्बन-विभाव नायक-नायिका में उद्दीप्त करने वाले संस्कार होते हैं जैसे केशविन्यास, कोयल के शब्द, चाँदनी, उद्यान आदि उद्दीपन विभाव हैं। ये अपने संस्कारों से आलम्बन विभाव में स्थित रत्यादि भावों को उद्दीप्त करते हैं। इसलिए ये उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं ॥५८॥

अर्थ—चौसठ कलाओं के दो भाग हैं–कर्मादि और गीतादि। कलाएं गीत, नृत्य, वाद्य आदि के द्वारा तथा अभिनय के द्वारा भावों को उद्दीप्त करते हैं। इन नायक-नायिका के प्रतिरूप प्रदर्शन तथा उनकी स्मृति भी प्रायः रस के उपकारक होते हैं ॥ ५९ ॥

---

१. 'घ' पुस्तक 'संख्याने' इति पाठः।
२. क, ग, घ, प, फ पुस्तकयो 'स्मृता' इति पाठः। 'भ' पुस्तके 'स्थिता' इति पाठः।
३. क, ग, प, फ पुस्तकेषु 'प्रवाद्यैः' इति पाठ.।
४. 'हासोपहासक.' हासोपहारकः इति पाठान्तरम्।

अथानुभावानाह—

आलम्बनविभावस्य भावैरुद्बुद्धसंस्कृतैः ।
मनोवाग्बुद्धिवपुषां स्मृतीच्छाद्वेषयत्नतः ॥ ६० ॥
आरम्भ एव विदुषामनुभाव इति स्मृतः ।
स चानुभूयते चानुभाव इति[1] निरुच्यते ॥ ६१ ॥

तत्र मन आरम्भानाह—

मनोव्यापारभूयिष्ठो मन आरम्भ उच्यते ।
द्विविधः पौरुषस्त्रैण इति सोऽपि[2] प्रसिद्ध्यति ॥ ६२ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथानुभावानाह—आलम्बनविभावस्य नायकनायिकादेरुद्बुद्धसंस्कृतैरपरजनोद्बोधविषयप्रवृत्तोन्मुखगुणान्तराधानजनकवेशभूषादिसंस्कारकृतैर्मनोवाग्बुद्धिवपुषां भावैर्लावण्यादि-सौन्दर्यादिधर्मैः स्मृतीच्छाद्वेषयत्नतो य आरम्भः स विदुषोऽनुभावयतीति हेतोरनुभावः स्मृतः। कस्मात् स चानुभूयते विद्वद्भिरित्यनुभाव? इत्यालम्बनविभावानां नायक-नायिकादीनां स्मृतीच्छाद्वेषप्रयत्नैः मनःकार्यं, वाक्कार्यं, बुद्धिकार्यं, वपुःकार्यं विदुषामनुभावैः रत्यादयो भावा उद्दीप्यन्ते। तत्र मनोव्यापारः पुरुषाश्रयोऽष्टधा, स्त्रीसंश्रयो द्वादशधा इति विंशतिः। वागारम्भश्च द्वादश। बुद्ध्यारम्भस्त्रिविधः। तत्र प्रवृत्तिः शरीराम्भः पञ्चचत्वारिंशत् इति अशीतिरनुभावाः ॥ ६०-६१ ॥

मन आरम्भानाह-बुद्धिसहकारमन्तरेण न केवलं मनोव्यापारयितुं प्रभवतीत्यत उक्तम्—मनोव्यापार भूयिष्ठो मन आरम्भः। स च द्विविधः—पौरुषः स्त्रैणश्च ॥६२॥

अनुभव का लक्षण

अर्थ—आलम्बन विभाव (नायक-नायिकादि) के उद्बुद्ध एवं परिष्कृत भावों के द्वारा मन, वाणी, बुद्धि एवं शरीर की स्मृति, इच्छा, द्वेष, यत्न से अर्थात् मन की स्मृति से, वाणी की इच्छा से, बुद्धि की द्वेष से और शरीर का यत्न से जो आरम्भ किया जाता है उसे'अनुभाव' कहते हैं ॥६०-६१॥

विमर्श—अनुभाव की चार श्रेणियाँ हैं—चित्तारम्भक, वागारम्भक, बुद्ध्यारम्भक और शरीरारम्भक इनके द्वारा भावों का उद्बोधन होता है।

मन आरम्भ

अर्थ—मानसिक व्यापार के आधिक्य को 'चित्तारम्भक' (मन-आरम्भ) कहते है। वह दो प्रकार का होता है—पुरुष सम्बन्धी (पौरुष) और स्त्री सम्बन्धी (स्त्रैण) ॥ ६२ ॥

---

१. "चात्र भवत्युत" इति पाठभेदः। २. 'ईदृशोऽपि' इति पाठभेदः।

शोभा विलासो माधुर्यं स्थैर्यं गाम्भीर्यमेव च ।
ललितञ्च[1] तथौदार्यं तेजोऽष्टाविति पौरुषाः[2] ।। ६३ ।।
नीचनिन्दोत्तमस्पर्धा शौर्यं[3] दाक्ष्यादिकारणात्[4] ।
मनोधर्मो[5] भवेच्छोभा शोभते भवनं यथा ।। ६४ ।।

काव्यप्रभावृत्तिः

तत्र पौरुषान् मन आरम्भानाह—शोभादयोऽष्टो पुरुषाणां मनसः स्मृत्यादितो जाता आरम्भा अनुभावा विदुषो रत्यादीन् भावाननुभावयन्ति ततोऽनुभावा भवन्ति। ननु शोभा कथं मनः कृता स्यात् ? इति शोभामाह--विलास माधुर्यादयो यथा मनोधर्मास्तथा नीचनिन्दादिकर्मणां कारणं शोभा भवति। मनसा स्वीय-शोभां स्मृत्वा नीचान् निन्दति, चोत्तमान् स्पर्धते, शूरेषु शौर्यं करोति, कर्मसु दाक्ष्यादिकं करोति, तस्माच्छोभा मनोधर्मो भवेत् यथा शोभते भवनमिति मनो-धर्म इति ।। ६३-६४ ।।

पौरुष मनोऽनुभाव

अर्थ—पुरुष में रहने वाले मनोभाव आठ प्रकार के होते हैं— शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य और तेज ।। ६३ ।।

शोभा का लक्षण

अर्थ—शूरता और दक्षता के कारण नीचों की निन्दा और उत्तमजनों के प्रति स्पर्धा करना 'शोभा' नामक मनोव्यापार है। इससे मनुष्य उस प्रकार शोभित होता है जैसे प्रसाधनों से गृह की शोभा होती है ।। ६४ ।।

विमर्श—अग्निपुराण में शोभा के अनिरिक्त अन्य मनोभावों का विवेचन नहीं किया गया है। किन्तु नाट्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थों में उनका विवेचन किया गया है तदनुसार उनका वर्णन इस प्रकार है। धीरदृष्टि, चित्रगति और स्मितपूर्वक वचन 'विलास' है। मनःक्षोभ में अनुद्वेग होना 'माधुर्य' है। हर्ष, शोक, भय, क्रोध आदि भावावेशों में आकृति की निर्विका-रता गाम्भीर्य और महान् विघ्न पड़ने पर भी कर्त्तव्य से विचलित न होना 'स्थैर्य' है। मधुर शृङ्गार की चेष्टा 'ललित' है। दान तथा समदर्शिता का भाव 'औदार्य' है। प्राण सङ्कट में भी अपमान और तिरस्कार सहन न करना 'तेज' है । ६३-६४ ।।

---

१. 'ललितञ्च'' इति पाठभेदः ।।
२. 'क' पुस्तके 'पौरुषं' इति पाठः ।।
३. 'शौर्यम्'' इति पाठभेदः ।।
४. 'कारणम्'' इति पाठभेदः ।।
५. 'मनोधर्मे इति पाठभेदः ।।

भावो हावश्च हेला च शोभा कान्तिस्तथैव च।
दीप्तिर्माधुर्यशौर्ये[1] च प्रागल्भ्यं स्यादुदारता ॥
स्थैर्यं गम्भीरता स्त्रैणा[2]नुभावा[3] द्वादशेरिताः ॥ ६५ ॥
भावो विलासो हावः स्याद् भावः कश्चिच्च[4] हर्षजः[5]।

वागारम्भानाह—

वाचोयुक्तिर्भवेद्वाचामारम्भा[6] द्वादश एव सः ॥ ६६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

पुरुषगतमानसधर्मानुक्त्वा स्त्रीगतान् मनःकार्यानाह—भावादीन् द्वादशस्त्रीणां कार्यान् मनसो धर्मान् मनसेव स्त्रियः कुर्वन्ति। ते च रत्यादीन् भावान् विदुषोऽनुभावयन्ति ततोऽनुभावाश्च भवन्ति। तत्र भावादीन् विवृणोति—स्त्रीणां विलासो यः स भाव इहोच्यते। यश्च स्त्रीणां हर्षजः भ्रूकुट्यादिभावो धर्मः स हाव उच्यते। हेलादयः स्पष्टार्थः ॥ ६६-१ ॥

अथ वागारम्भानाह—वाचामुक्तिरित्यादि। वाक् कथनं वागारम्भः स द्वादशधैव भवति। तद्यथाह—आलापश्च, प्रलापश्च, विलापश्च, अनुलापश्च, संलापश्च, अपलापश्च, सन्देशश्च, निर्देशश्च, अतिदेशश्च, अपदेशश्च, उपदेशश्च, व्यपदेशश्चेति द्वादश स्त्रीणां पुंसाञ्च वाचामारम्भाः ॥ ६६॥

अर्थ—भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य औदार्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य ये बारह प्रकार के स्त्रियों के विभाव माने गये हैं ॥ ६५ ॥

भावादि के लक्षण

विमर्श—स्त्रियों के विलास को भाव कहते हैं और स्त्रियों के हर्षजन्य भाव को 'हाव' कहते हैं। भाव या शृङ्गार रस के तीव्र प्रसार 'हेला' है। वाणी का वागारम्भ रूप, यौवन, लावण्य आदि से शरीर का सौन्दर्य की समृद्धि 'शोभा' है। शोभा में काम-विलास की वृद्धि 'कान्ति' है। कामोद्रेक से सौन्दर्य की समृद्धि 'दीप्ति' है। रमणीयता ही 'माधुर्य' है। चपलता से रहित होना 'धैर्य' है। निर्भय रहना 'प्रागल्भ्य' है। विनम्र रहना 'औदार्य' है। कर्त्तव्य से विचलित न होना 'स्थैर्य' है और आकृति में विकार न होना 'गाम्भीर्य' है ॥६५॥

---

१. 'क' पुस्तके 'धैर्यं' इति पाठः ॥
२. "स्त्रीणां" इति पाठभेद ॥
३. "विभावा" इति पाठभेदः ॥
४. "किञ्चिच्च" इति पाठभेदः ॥
५. "हर्षजा." इति पाठभेदः ॥
६. "वाचोक्तिर्भवेदवागारम्भो इति पाठभेदः ॥

तत्र भाषाणमालापः प्रलापो वचनं बहु[1] ।
विलापो दुःखवचनमनुलापो[2]ऽसकृद्वचः ॥ ६७ ॥
संलाप उक्त-प्रत्युक्तमपलापोऽन्यथा वचः ।
वार्ताप्रापणं[3] सन्देशो निर्देशः प्रतिपादनम् ॥ ६८ ॥
तद्वद्देशोऽतिदेशोऽयमपदेशो[4]ऽन्यवर्णनम् ।
उपदेशश्च शिक्षावाक् व्याजोक्तिर्व्यपदेशकः ॥ ६९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

पुंसां स्त्रीणाञ्च यद्वागिन्द्रियं सूक्ष्मशरीरस्थं तदा बद्धमेतत् । स्थूलं शरीरे यद्वागिन्द्रियं सा वाक् । यद् वक्ति तद् वाचामुक्तिराभाषणं सभ्यग्वचनमालापः । बहुवचनं प्रलापः । दुःखवचनं परिदेवनं विलापः । असकृन्मुहुर्मुहुर्वचनमनुलापः । संलापो मिथो भाषणम् । अन्यथावयो निह्नवोक्तिरपलापः । वार्ता-प्रापणं वाग्वाचिकं सन्देशः । निर्देशः प्रतिपादनं विस्तरेण कथनं सप्रभेदवचनम् । तद्वद्देशोऽन्यधर्मस्यान्यत्रारोपणमतिदेशः । अपदेशोऽन्यवर्णनमनेन कारणेनेदमित्यपदेशः । उपदेशः शिक्षा सा पुनरिदमेवमिदं नैवमित्येवं वचनम् । व्यपदेशो वाचा व्याजोक्तिच्छलेन वचनमिति ॥६७-६९॥

अर्थ—वाणी का कथन वागारम्भ है वह बारह प्रकार का होता है—अलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, सन्देश, निर्देश, अतिदेश, अपदेश, उपदेश, व्यपदेश । इनमें पारस्परिक भाषण को 'अलाप' कहते हैं । बहुत बोलना 'प्रलाप' है । दुःख में उक्त वचन 'विलाप' है । किसी बात को बार-बार कहना 'अनुलाप' है । परस्पर उक्ति-प्रयुक्ति पूर्वक कथित वचन को 'संलाप' कहते हैं । रहस्य को छिपाकर दूसरी बात कहना 'अपलाप' है । किसी बात को दूसरों तक पहुँचाना 'संदेश' है । किसी बात का विस्तार से प्रतिपादन करना 'निर्देश' है । अन्य के धर्म का अन्यत्र आरोपित करना 'अतिदेश' है । अन्य वर्णन को इस कारण से ऐसा है इस प्रकार कहना 'अपदेश' है । किसी बात का वाणी द्वारा कथन 'उपदेश' है । व्याजोक्तिकथन को 'व्यपदेश' कहते हैं ॥ ६७-६९ ॥

---

१. 'मुहुरिति'' इति पाठभेदः ॥
२. भ' पुस्तके 'बन्धुलापो' इति पाठान्तरम् ।
३. 'अपदेशश्च वर्णनमृ' इति पाठान्तरम्
४. ''प्रयाणम्'' इति पाठभेदः ॥

बुद्ध्यारम्भानाह—

बौद्धो[1]पदेशव्यापारः स बुद्ध्या[2]रम्भ उच्यते ।
तस्य भेदास्त्रयस्ते च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः ॥ ७० ।

इति आग्नेये महापुराणे काव्यालङ्कारशास्त्रे रसादिनिरूपणं नाम चतुर्थोध्यायः ।

काव्यप्रभावृत्तिः

बुद्ध्यारम्भानाह—बुद्धेरयमुपदेशो बौद्धोपदेशः । तेन वाङ्मनःशरीराणां व्यापारो बौद्धोपदेशव्यापारः स बुध्यारम्भः । यद्यपि बुद्धेर्निष्क्रियत्वात् य आरम्भो न सम्भवति तथापि सर्व एष व्यापारो बुद्ध्याध्यवसायो वाचारभ्यते, मनसारभ्यते, शरीरेण चारभ्यते इति । तर्हि मनसारम्भाश्च बुद्ध्यारम्भाः कथं पृथगुक्ता ? इति चेन्न । मनो वाचः प्राधान्यात् । इह बुद्धेः प्राधान्याद् बुद्ध्यारम्भः पृथगुक्तः । बुद्ध्या ह्युपदिश्य यद् व्यापार्यते स बुद्ध्यारम्भः । तस्य त्रयो भेदाः—रीतिश्च-वृत्तिश्च प्रवृत्तिश्च । बुद्ध्यैवेदमित्थं कार्यम्, अस्येदं कारणम्, अस्येदं प्रयोजनमित्यु-पदेशादध्यवसायाद्येन प्रकारेणोच्यते वाचा सा रीतिरुच्यते । तथा बुद्ध्यैवेदम्, एवं वर्तेत, इदं नैव वर्त्तेत इत्येवमुपदेशाध्यवसायाद्यथा मनसा वर्त्तयति सा वृत्तिः । एवं बुद्ध्यैव खल्विदमेवं प्रवर्तेत, इदं नैवं प्रवर्तेत इत्येवमुपदेशादध्यवसायाद्यथा शरीरेण प्रवर्त्तते सा प्रवृत्तिः शरीरचेष्टा । इत्येतानि सर्वाण्यालम्बनविभावस्य कार्याणि खल्वालम्बनविभावगतानि रत्यादीन् भावान् विदुषो जनानुभावयन्तीत्यस्माद-नुभावा उच्यन्ते इति । एता रीतिवृत्तिप्रवृत्तयोऽत ऊर्ध्वं विस्तरेण वक्ष्यन्ते ॥ ७० ॥

इत्याग्नेये महापुराणे काव्यालङ्कारशास्त्रे रसादिनिरूपणं चतुर्थोऽध्यायः ॥

बुद्ध्यारम्भ

अर्थ—बुद्धि के द्वारा उपदिष्ट व्यापार 'बुद्ध्यारम्भ' है । इसके तीन भेद होते हैं—रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति । इसके बाद विस्तार से इनका निरूपण करेंगे । ७० ॥

इस प्रकार अग्निपुराण का रसादिनिरूपण नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

१—'ग' पुस्तके वाचोपदेशव्यापार इति पाठः २—"बौधाय एष" इति पाठान्तरम् ॥
३—'सुबुद्ध्यारम्भ" इति पाठान्तरम् ॥

पञ्चमोऽध्यायः

रीति-वृत्ति-लक्षणम्

अग्निरुवाच—

वाग्विद्यासम्प्रतिज्ञाने रीतिः सापि चतुर्विधा[1] ।
पाञ्चाली गौड़देशीया वैदर्भी लाटजा तथा ।। १ ।।

काव्यप्रभावृत्तिः

विद्वद्भिः पुंभिर्विदुषीभिः स्त्रीभिश्च विद्यया बुद्ध्या सम्प्रतिज्ञाय सम्यगध्यवसायेदमित्थं ब्रुवे, नेत्थमिदं ब्रुवे इत्येवमध्यवसायज्ञाने संस्कृतभाषया प्राकृतभाषया वा कौशलेन प्रणालीरुपेण यदुच्यते सा वाक् रीतिः स्यात्। सा चतुर्विधा भवति। अविद्यावतां पंसामविद्यावतीनां स्त्रीणाञ्च संस्कृतेन प्राकृतेन वा या वाक् विद्यावतां विद्यावतीनां वा विद्यया, बुद्ध्या सम्प्रतिज्ञाने न या वाक् सा वाक् स्वस्वदेशीया साधारणप्रचलितरूपा न रीतिरुच्यते। तदर्थं देशविशेषतो रीतिर्भिद्यते। पाञ्चालीत्यादि। पाञ्चालदेशजस्त्रीपुरुषैर्येन प्रकारेणैव वागुच्यते, तत् प्रकारोक्ता वाक् पाञ्चाली रीतिः। शृङ्गारादिषु रसेषु स्त्रीपुरुषैस्तथोक्तया तूक्ता वाक् रत्यादिभावाननुभावयति विदुषः। एवं गौड़दैशीया वैदर्भी च वाक्। तथा लाटजापि वाक् रत्यादीननुभावयति ।। १ ।।

रीतिस्वरूपविवेचन

अर्थ—अग्निदेव कहते है कि वाग्विद्या (वक्तृत्वकला) का सम्यग्ज्ञान कराने में जो शैली कही गई है उसे रीति कहते हैं। वह रीति चार प्रकार की होती है—पञ्चाली, गौड़ी, वैदर्भी और लाटी ।।१ ।।

---

१. 'छ' सापि स्याच्चतुर्विधा इति पाठान्तरम्ः ।

उपचारयुता मृद्वी पाञ्चाली ह्रस्वविग्रहा ।
अनवस्थित[1]सन्दर्भा गौड़ीया[2] दीर्घविग्रहा ।। २ ।।

उपचारैर्न[3] बहुभिरुपचारैर्विवर्जिता ।
नातिकोमलसन्दर्भा वैदर्भी मुक्तविग्रहा ।। ३ ।।

काव्यप्रभावृत्तिः

पाञ्चालदेशे पुंसां स्त्रीणाञ्च वागुक्तौ इयं रीतिरुपचारयुता लक्षणागौणी-वृत्तियुक्ता, प्रायेण तथा मृद्वी अकठिना ह्रस्वविग्रहा चाकष्टेनार्थबोधिनी चादीर्घपदा-वाग्भवति । गौड़देशे तु पुंसां स्त्रीणाञ्च वागुक्ताविय गौणी रीतिर्भवति । अनवस्थि-तसन्दर्भा सन्दर्भस्यावस्थितिर्न वर्ततै, नानावस्थान्वितसन्दर्भा तथा दीर्घविग्रहा दीर्घशरीरा समासकृतलम्बमानपदा, न च बहुभिरुपचारैरुच्यते । क्वचित् किञ्चिदु-पचारैरुक्तिर्भवतीति । इयं गौड़देशीया रीतिः ।। २ ।।

विदर्भदेशे स्त्रीणां पुंसाञ्च वागुक्तौ स्वभावसिद्धैव हीयं रीतिर्बहुभिरुपचारैः विवर्जिता स्वल्पैरुपचारैर्युता नाऽतिकोमलसन्दर्भा अतिमृदुकष्टेनार्थबोधो न यस्मिन् सन्दर्भे तादृशसन्दर्भा प्रायेण मुक्तविग्रहा, प्रायेण समासपदहीना असमस्तपदा इत्येवं रीतिर्वैदर्भीवागुक्तौ ।। ३ ।।

अब पाञ्चाली आदि रीतियों का लक्षण कहते हैं—

१. **पाञ्चाली रीति**—गौड़ी लक्षणा से युक्त, कोमल एवं छोटे-छोटे समास से युक्त 'पाञ्चाली' रीति होती है ।

२. **गौड़ी**—अनवस्थित सन्दर्भ वाली अर्थात जिसमें विविध सन्दर्भ हो तथा बड़े-बड़े समास से युक्त 'गौड़ी' रीति होती है ।। २ ।।

३. **वैदर्भी रीति**—अधिक अलंकृत भाषा से रहित, कोमल सन्दर्भों वाली और समास से रहित 'वैदर्भी' रीति कही जाती है ।। ३ ।।

---

१. 'क' पुस्तके अनवच्छिन्नसन्दर्भा इति पाठान्तरम्: ।
२. प, फ पुस्तकयोः 'गौड़ी स्याद्दीर्घविग्रहा' इति पाठान्तरम्: ।
३. 'उपचारेण' इति पाठान्तरम् । 'क' पुस्तके 'उपचारैरित्यारभ्य विस्तरविग्रहेति यावत्' सार्द्धैकश्लोको नास्ति ।

लाटीया स्फुटसन्दर्भा नातिविस्तर[1]विग्रहा ।
परित्यक्ताऽतिभूयोभिरुपचारैरुदाहृता ॥ ४ ॥

अथ वृत्तिरुच्यते—

क्रियास्वविष[2]मा वृत्तिर्भारत्यारभटी तथा ।
[3]कौशिकी सात्त्वती चेति सा चतुर्द्धा प्रतिष्ठिता ॥५॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ लाटदेशे स्त्रीणां पुंसाञ्च वागुक्ताविय रीतिः सिद्धा । स्फुटसन्दर्भाव्यक्तसंकेता न चातिविस्तरविग्रहा न ह्रस्वा न दीर्घा । अतिभूयोभिरुपचारैः परित्यक्ता कविभिरुदाहृतेति ॥ ४ ॥

अथ वृत्तिरुच्यते—स्वविषया क्रिया यस्मिन् रसे यो भावस्तस्यानुभाविका या करणं सा वृत्तिरुच्यते । सर्व्वत्रैव विद्यया बुद्ध्या सम्प्रतिज्ञाने विभिन्नविधा क्रिया वर्तते । तत्र चतुर्विधायाः क्रियायाः स्ववर्त्तनं वृत्तिः । खलु रत्यादीन् भावान् विदुषो-

---

लाटी—स्पष्ट सन्दर्भों वाली, जहाँ समास अधिक स्पष्ट न हो अलंकृत भाषा के अधिक प्रयोग से रहित 'लाटी' रीति होती है ॥ ४ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में वक्तृत्वकला को रीति नाम से अभिहित किया गया है और उसके चार भेद स्वीकार किये गये हैं—वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली और लाटी । अग्निपुराणकार ने चारों रीतियों का पृथक्-पृथक् स्वरूप निर्दिष्ट किया है । उन्हों ने रीति का व्यापक अर्थ लेते हुए उसे समास अलङ्कार और एवं मृदुपदावली से सम्बद्ध किया गया है । अग्निपुराण के अनुसार जो अलंकृत एवं कोमल पदावली से युक्त हो, तथा बड़े-बड़े समासों के प्रयोग से रहित अर्थात् जिसमें छोटे-छोटे समस्त पद हों, उसे पाञ्चाली' रीति कहते हैं । जिसमें बड़े-बड़े समस्त पद हों और जिसका सन्दर्भ अनवस्थित हो उसे 'गौड़ी' रीति कहते हैं । वैदर्भी रीति में न तो अधिक अलंकृत भाषा का प्रयोग होता है और न अलंकृत प्रयोग से सर्वथा हीन ही होता है तथा समस्त पदावली का प्रयोग नहीं होता । इसका सन्दर्भ अतिकोमल नहीं है । लाटी रीति में सन्दर्भ (वाक्य) स्फुट (सरल स्पष्ट) होते हैं और समास अत्यन्त स्पष्ट नहीं होता अर्थात् न लम्बे समास होते हैं और न छोटे तथा अधिक लाक्षणिक (अलङ्कृत भाषा के) प्रयोग से रहित होती है ।' १-४ ॥

वृत्ति-स्वरूप विवेचन

अर्थ—क्रिया में अर्थात् नायकादि के कार्य में नियमपूर्वक व्यापार को वृत्ति कहते हैं । वृत्ति के चार भेद हैं— भारती, आरभटी, कौशिकी और सात्वती ॥ ५ ॥

---

१. 'ध' नातिविस्फुटविग्रहा इति पाठान्तरम् । २. विषया इति पाठान्तरम् ।
३. 'व' पुस्तके कौशिकीत्यारभ्य 'सार्द्धद्वितीयकमिति यावत्' श्लोकत्रयं नास्ति ।

वाक्प्रधाना नरप्राया[1] स्त्रीयुक्ता[2] प्राकृतोक्तिका ।
भरतेन प्रणीतत्वाद् भारतीरीति[3] रुच्यते ।। ६ ।।

काव्यप्रभावृत्तिः

ऽनुभावयतीति बुद्ध्या मनसारम्भ एव वृत्तिर्भवति । रसोपकारकत्वादन्या क्रिया त्वत्र वृत्तिर्नेष्यते । का च सा क्रिया इत्यत आह—भारतीत्यादि । भरतनाम्ना राज्ञा प्रकाशिता रसानां भावस्यानुभाविका क्रिया भारतीवृत्तिः वारभटेनाडम्बरेण या क्रिया सारभटी कुशिकेन राज्ञा या प्रकाशिता क्रिया कौशिकीवृत्तिः । या सात्त्वतेन राज्ञा प्रकाशिता क्रिया सा सात्त्वतीवृत्तिः इत्येवं चतस्रो वर्तनक्रिया वृत्तयो विभावाश्रया आलम्बनविभावैर्बुद्ध्याध्यवसायमनसा क्रियमाणा विदुषो जनाननुभावयन्तीत्यनुभावा इति चतुर्द्धा रसोपकारकतया प्रतिष्ठिताः प्रतिष्ठितां गता इति ।। ५ ।।

तत्र भारतीवृत्तिः—लोके पुंसां स्त्रीणाञ्च खल्वेवम्भूता वृत्तिर्बुद्धोऽपदेशव्यापारविशेषो वर्तनं शृङ्गारादिरसानां रत्यादीन् भावान् विदुषोऽनुभावयति । या शृङ्गारादिषु वाक्प्रधाना शब्दप्रधानाऽर्थप्रधाना च सुश्राव्या वाक् प्रधानं यत्र सा । प्रायेण न सा नूतना शब्दतोऽर्थतो वाग्यत्र सा । स्त्रीयुक्तप्राकृतोक्तिका—स्त्रीभिः पुंसा सह स्त्रिया सह च प्रयुक्तेन प्राकृतेनोक्तिर्यत्र वृत्तौ सा । यत्र देशे जाता स्त्री तद्देशीयप्राकृतभाषया तत् स्त्रीणामुक्तिं रचयेदिति वृत्तिर्भरतेन प्रणीतत्वाद् भारतीवृत्तिरुच्यते । ईदृशी वृत्तिः शृङ्गारादिरसोपकारिका रत्यादिभावानुभाविका ।। ६ ।।

विमर्श—अग्निपुराण के अनुसार वृत्ति क्रिया-प्रधान होती है । तदनुसार जिस रस में जो भाव रहता है उसकी अनुभाविका क्रिया को वृत्ति कहते हैं । इस प्रकार रसों के भावों की अनुभाविका क्रिया 'वृत्ति' है । भरत के अनुसार कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार वृत्ति है । इसी को आनन्दवर्द्धन ने 'व्यवहार' अभिनव ने नायक का चेष्टा-व्यापार माना है । धनञ्जय नायकादि के व्यापार को भोज और राजशेखर चेष्टाविन्यासक्रम को वृत्ति कहते हैं । ये वृत्तियाँ चार होती हैं – भारती, आरभटी, कौशिकी और सात्त्वती । उनमें भरत नामक राजा के द्वारा प्रकाशित होने के कारण भारती वृत्ति, आरभट (भट) के द्वारा की गई क्रिया आरभटी, कुशिक राजा के द्वारा प्रकाशित कौशिकी और सात्त्वत राजा के द्वारा प्रकाशित सात्त्वती वृत्ति होती है । इस प्रकार ये चारों वृत्तियाँ भावों की अनुभाविका क्रिया हैं ।। ५ ।।

(१) भारती वृत्ति

अर्थ—भारती वृत्ति वाक्व्यापार-प्रधान होती है, इसमें पुरुष पात्र होते हैं और स्त्रीपात्रों द्वारा प्राकृत भाषा का प्रयोग होता है । भरत के द्वारा प्रणीत होने के कारण इसे 'भारती वृत्ति' कहते हैं । ६ ।

---

१. नवप्राया इति पाठान्तरम् । २. स्त्रीयुक्त इति पाठान्तरम् ।
३. वृत्ति इति पाठान्तरम् ।

चत्वार्य्यङ्गानि भारत्या वीथी प्रहसनामुखे[1] ।
प्ररोचना नाटकादेः वीथ्यङ्गानि[2] त्रयोदश[3] ॥ ७ ॥
उद्घातकं तथैवावलगितं[4] स्याद् द्वितीयकम् ।
असत्प्रलापो वाक्केली[5] नालिका विपणस्तथा[7] ॥ ८ ॥
व्यवहारस्त्रिगतञ्चैव[8] छलावस्यन्दिते तथा[6] ।
गण्डोऽथ मृदवश्चैव त्रयोदशमथाचितम् ॥ ९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

चत्वारीत्यादि—तस्या भारत्या वृत्तेरङ्गानि चत्वारि—वीथी च प्रहसनञ्चा-मुखञ्च प्ररोचना चेति। लौकिकी वीथी श्रेणीर्लोकानाम्। यावद्भिर्जनैः श्रेणी सम्पद्यते तावज्जनश्रेणी एका वीथीति। भारत्याश्चत्वार्य्यङ्गानि नाटकादेरिति वचनेन गद्यकाव्येषु, पद्यकाव्येषु, भारतीवृत्तिर्नास्तीति ख्यापितम्। तत्र का वीथी ? इत्यत आह—(तस्या भारत्या वृत्तेरङ्गानि चत्वारि वीथी च प्रहसनञ्च प्ररोचना च आमुखञ्चेति)। नाटकादेस्तु त्रयोदशवीथ्यङ्गानि न गद्यकाव्याख्यायिकादेर्न महाकाव्यादेः प्रसङ्गादिहैवोच्यन्ते ॥ ७ ॥

अर्थ—भारती वृत्ति के चार अङ्ग होते हैं—वीथी, प्रहसन, प्ररोचना और आमुख (प्रस्तावना)। उनमें वीथी के तेरह अङ्ग हैं—उद्घातक, अवलगित, असत्प्रलाप, वाक्केली, नालिका, विपण, व्यवहार, त्रिगत, छल, अवस्यन्दित, गण्ड, मृदु और आचित (प्रपञ्च) ॥ ७–९ ॥

विमर्श—भारती वृत्ति वाक्प्रधान व्यापार है। यह शृङ्गारादि रसों की उपकारिका और रत्यादि भावों की अनुभाविका वृत्ति है। इसमें स्त्री के द्वारा प्राकृत भाषा का प्रयोग कराया जाता है। भरत भारती वृत्ति को स्त्री-पात्रों से रहित बताते हैं। भारती वृत्ति के चार अङ्ग बताये गये हैं किन्तु मुद्रित अग्निपुराण में भारती के तीन अङ्गों का उल्लेख है। सम्भव है कि लिपिकर्त्ता की भूल से यह रह गया हो, क्योंकि नाट्यशास्त्र से लेकर परवर्त्ती सभी

---

१. परि इति, मुद्रितपुस्तके 'तथा' इति पाठान्तरे।
२. वीथ्यङ्गाश्च इति क्वचित्पाठः। ३. घ, प, न, ल पुस्तकेष्वयं श्लोको नास्ति।
४. मुद्रितपुस्तके तथैव स्याल्लपितं इति, प, फ पुस्तकयोः स्याल्लगितं इति पाठान्तरम्।
५. मुद्रितपुस्तके वाक्श्रेणी झ, द, ध पुस्तकेषु वाग्वेणी इति पाठान्तरे।
६. लालिका, नानिका इति पाठान्तरे। ७. विपणं तथा इति पाठान्तरम्।
७. क, म पुस्तकयोः व्याहारस्त्रिगतञ्चैव मुद्रितपुस्तके व्यवहारस्त्रिमतञ्चैव इति पाठान्तरे।
८. मुद्रितपुस्तके छलावस्कन्दिते इति पाठान्तरम् घ, ङ, न, ल पुस्तकेष्वयं श्लोकार्द्धो नास्ति।

उद्घातकादीनि त्रयोदश वीथ्यङ्गानि । तेषां लक्षणान्युच्यन्ते—

पदानि त्वगतार्थानि तदर्थगतये यत् ।
योजयन्ति पदैरन्यैः स उद्घातक उच्यते ॥
यत्रैकत्रसमावेशात् कार्यमन्यत् प्रसाध्यते ।
प्रयोगेऽवलगितं च मनीषिभिरुदीरितम् ।
सोऽसत्प्रलापो यद्वाक्यमसम्बद्धं तथोत्तरम् ।
अगृह्णतोऽपि मूर्खस्य पुरस्ताद्यद्धितं वचः ।
वाक्केलिर्हास्यसम्बन्धिद्वित्रिप्रत्युक्तितो भवेत् ।
प्रहेलिकैव हास्येन युक्ता स्यान्नालिकाख्यया ।
अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्द्धया विपणं मतम् ।
व्यवहारो यत् परस्यार्थे हास्यक्षोभकरं वचः ।
त्रयीगतमेनकार्थायोजनं त्रिगतं मतम् ।
प्रियैरिवाप्रियैर्वाक्यैः प्रलोभ्य छलनाच्छलम् ।
व्याख्यानं स्वरसोक्तस्यान्यथावस्यन्दितं मतम् ।
प्रस्तुतार्थस्य भङ्गार्थं गण्डावाक् त्वरितोदितः ।
दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवस्तथा ।
मिथो वाक्यसमुद्भूतं हास्यमाचितमुच्यते ॥

नाट्यशाशास्त्रीय ग्रन्थों में भारती वृत्ति के चार अङ्ग बताये गये हैं । यदि उक्त श्लोक के स्थान पर निम्न पाठ मान लिया जाय तो शङ्का का निराकरण हो जाता है—

चत्वार्यङ्गानि भारत्या वीथी प्रहसनामुखे ।
प्ररोचना नाटकादेः वीथ्यङ्गाश्च त्रयोदश ॥

इन चारों अङ्गों में वीथी के तेरह भेद होते हैं, उनका लक्षण क्रमशः निम्नप्रकार है—

(१) **उद्घातक**—जहाँ पर सूत्राधार अनिश्चितार्थक पदों का अन्य (निश्चितार्थक) पदों के साथ योजना करके अभिप्रेत अर्थ का निर्धारण करता है, उसे उद्घातक कहते हैं ।

(२) **अवलगित**—जहाँ पर सूत्रधार (नाट्य) प्रयोग में अन्य प्रयोग का समावेश करके अन्य कार्य भी सम्पन्न करे, उसे 'अवलगित' कहते हैं ।

(३) **असत्प्रलाप**—जहाँ पर सूत्रधार असम्बद्ध वाक्य या उत्तर को न समझने वाले मूर्ख के लिए हितकारक वचन का प्रयोग करे, उसे 'असत्प्रलाप' कहते हैं ।

(४) **वाक्केलि**—जहाँ पर सूत्रधार दो-तीन (कतिपय) उक्ति-प्रत्युक्तियों द्वारा हास्य सम्बन्धी वचन का उपन्यास करे, उसे 'वाक्केलि' कहते हैं ।

(५) **नालिका**—जहाँ पर हास-परिहास युक्त पहेली (प्रहेलिका) का वर्णन हो, उसे 'नालिका' कहते हैं ।

(६) **विपण**—परस्पर स्पर्द्धा-पूर्वक बढ़-चढ़ कर बातें करना 'विपण' है ।

(७) **व्यवहार**—जहाँ पर दूसरे के लिए हास्य-कारक अथवा क्षोभ-कारक वचन का विन्यास हो, उसे 'व्यवहार' कहते हैं ।

तापसादेः[1] प्रहसनं परिहासपरं वचः ।
आमुखं पूर्वमुक्तं हि प्रशंसातः प्ररोचना ॥ १० ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

प्रहसनं कौतुकवचनं परिहासः । प्रस्तावना पूर्वमामुखं नामोक्तम् । नटी विदूषको वापीत्यादिनोक्तमामुखं यत् सैव प्रस्तावना इति । तत्र त्रिविधमामुखमुक्तं यथा—

प्रवृत्तकं कथोद्घात : प्रयोगातिशयस्तथा ।
आमुखस्य त्रयो भेदा वीथ्यङ्गेषूपजायते ।
कालं प्रवृत्तिमाश्रित्य सूत्रधृक् यत्तु वर्णयेत् ।
तदाश्रयस्य पात्रस्य प्रवेशस्तत् प्रवर्त्तकम् ।
सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्यार्थमेव वा ।
गृहीत्वा प्रविशेत् पात्रं कथोद्घातः स उच्यते ॥
'प्रयोगेषु प्रयोगस्तु सूत्रधृक् यत्तु वर्णयेत् ।
ततस्तु प्रविशेत् पात्रं प्रयोगातिशयो हि सः' ॥

तत्र प्ररोचनामाह—अङ्गान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना । प्रकर्षेण रोचते प्रकृतोऽर्थोऽनयेति प्ररोचना । अभिनयोन्मुखीकरणं प्ररोचना भवति ॥१०॥

---

(८) **त्रिगत** जहाँ पर त्रिगत अर्थात् नट, नटी, सूत्रधार इन तीनों के द्वारा अनेक अर्थों की योजना हो, उसे 'त्रिगत' कहते हैं ।

(९) **छल** जहाँ पर प्रिय प्रतीत होने वाले अप्रिय वचनों से प्रलोभित कर वञ्चना की जाय, उसे 'छल' कहते हैं ।

(१०) **अवस्यन्दित** जहाँ स्वाभिप्राय के प्रकाशक वचन का अन्यथा (अन्य प्रकार से) व्याख्या हो, उसे 'अवस्यन्दित' कहते हैं ।

(११) **गण्ड**—जहाँ पर प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध अर्थ (विरुद्ध वचन) का सहसा कथन हो, उसे 'गण्ड' कहते हैं ।

(१२) **मृदव**—जहाँ पर गुण दोष और दोष गुण प्रतीत हो, उसे 'मृदव' कहते हैं ।

(१३) **आचित (प्रपञ्च)**—परस्पर हास्य-जनक मिथ्या आलाप को 'आचित' (प्रपञ्च) कहते हैं ।

अर्थ—तपस्वी आदि के लिए परिहास (मजाक) परक वचन को प्रहसन कहते हैं । आमुख (प्रस्तावना) का लक्षण पहले (पृष्ठ ३७-३८ पर) बताया जा चुका है । प्रशंसा के द्वारा नाटक की ओर उन्मुख करना प्ररोचना है ॥ १० ॥

विमर्श—प्रहसन में हँसी-मजाक अधिक होता है । इसमें तपस्वी आदि का पाखण्डपूर्ण आचरणों का उपहास किया जाता है ।.१०॥

---

१. अवहासः इत्यपि पाठ उपलभ्यते ।

मायेन्द्रजालयुद्धादिबहुलारभटी स्मृता ।
संक्षिप्तकाऽवपातौ[1] च वस्तूत्थापनमेव च ।
सम्फेटश्चेति चत्वारो भेदा आरभटीगताः ॥ ११ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

भारतीवृत्तिं विभज्यारभटीं वृत्तिमाह—माया, कुहकं, इन्द्रजालं, स्वप्ने चित्रपटादिदर्शनं, युद्धमादिना कलहादिबहूनां यत्र सा वृत्तिरारभटी वृत्तिः शृङ्गारादिरसेषु रत्यादीन् भावान् विदुषोऽनुभावयति नायकनायिकाद्यालम्बनविभावेषु ततोऽनुभावोच्यते । आरभटीवृत्तिगताश्चत्वारो भेदाः संक्षिप्तकोऽवपातो वस्तूत्थापनं संफेटश्चेति । तत्र—

संक्षिप्तवस्तुरचना शिल्पैरितरथापि वा ।
संक्षिप्तकं निवृत्तौ च नेतुर्नेत्रन्तरग्रहः ।
प्रवेशत्रासनिष्क्रान्तिहर्षविद्रवसम्भवम् ।
यत् सोऽवपात इत्युक्तो वृत्तिज्ञैः कविभिः पुरा ।
मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमुच्यते ।
सम्फेटः स्यात् समाघातः क्रुद्धसंरब्धयोर्द्वयोः ॥

---

२. आरभटी वृत्ति

अर्थ—माया, इन्द्रजाल, (सङ्ग्राम) युद्ध आदि के व्यापार से युक्त आरभटी वृत्ति होती है । आरभटी के चार भेद हैं—संक्षिप्तक, अवपात, वस्तूत्थापन और सम्फेट ॥११॥

विमर्श—आरभटी वृत्ति योद्धाओं एवं भटों से युक्त होती है । इसमें माया, छल, कपट, व्यूह-रचना, युद्ध, वध आदि की प्रधानता रहती है । यह कायिक, वाचिक, सात्त्विक, आहार्य आदि सभी अभिनयों में सम्पन्न होती है । इसके चार भेद हैं—संक्षिप्तक, अवपात, वस्तूत्थापन और संफेट । क्रमशः उनका लक्षण करते हैं—

(१) **संक्षिप्तक**—कुशल शिल्प द्वारा अथवा अन्य प्रकार से वस्तु विशेष की संक्षिप्त-रचना तथा एक नायक के स्थान दूसरे पर नायक के चरित्र का ग्रहण 'संक्षिप्तक' है ।

(२) **अवपात**— जहाँ पर प्रवेश, निष्क्रम, त्रास, हर्ष, विद्रव (भगदड़) का वर्णन हो उसे 'अवपात' कहते हैं ।

(३) **वस्तूत्थापन**— माया, इन्द्रजाल आदि के द्वारा वस्तु का उत्थापन (प्रकट करना) 'वस्तूत्थापन' है ।

(४) **संफेट**—क्रोध और आवेश से युक्त पक्ष-विपक्ष में परस्पर आघात (प्रहार) करना 'संफेट' है ।

---

१. 'त' पुस्तके संक्षिप्तकरपातौ, संक्षिप्तकावपातौ, संक्षिप्तकापातौ—इति पाठान्तराणि ।

[1]श्लक्ष्णनेपथ्यचित्रा या नृत्यसंगीतपुष्कला ।
स्त्रीसङ्कुला कामभोगविलासा कौशिकी मता ।। १२ ।।
नर्मस्फुर्जा नर्म्मगर्भा नर्म्मस्फेटा च नर्म च ।
चत्वारः कौशिकीवृत्तिभेदा उक्ता मनीषिभिः ।। १३ ।।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ कौशिकीं वृत्तिमाह—या वृत्तिः शृङ्गारादौ रसे श्लक्ष्णनेपथ्ये वेशरचनागृहे चित्रावेशरचनया चित्रीक्रियते या तस्या नृत्यसंगीताभ्यां पुष्कला स्त्रीसङ्कुला स्त्रीजनबहुला कामभोगविलासवती सा वृत्तिः कौशिकी कुशिकनाम्ना राज्ञा प्रकाशिता मता। एषा वृत्तिः शृङ्गारादिषु रत्यादीन् भावान् विदुषोऽनुभावयति आलम्बनविभावाश्रयान् इत्यनुभाव उच्यते। नर्मस्फुर्जादयश्चत्वारः कौशिक्या वृत्तेर्भेदा भवन्ति। तत्र—

नर्मस्फूर्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसङ्गमः ।
नर्मगर्भो व्यवहृतिर्नेतुः प्रच्छन्नवर्त्तिनः ।।
नर्मस्फोटो भावलेशैः सूचिताल्परसो मता ।
वैदग्धक्रीडितं नर्म स्यादिष्टजनरञ्जनम् ।।

एते कौशिकीभेदाः। आलम्बनविभावे शृङ्गाररसे रत्यादीन् भावानालम्बनगतान् विदुषो जनाननुभावयन्तीत्यनुभावा उच्यन्ते ।। १२-१३ ।।

---

३. कौशिकी वृत्ति

अर्थ—जिसमें विविध सुन्दर वेशभूषा की शोभा रहती है और अनेक प्रकार के नृत्य, गीत आदि की योजना रहती है, जिसमें स्त्री पात्र की बहुलता होती है और जिसमें काम, भोग तथा विलास आदि के व्यापारों की प्रमुखता रहती है उसे 'कौशिकी' वृत्ति कहते हैं। कौशिकी वृत्ति के चार भेद होते हैं—नर्मस्फुर्ज, नर्मगर्भ, नर्मस्फोट और नर्म। ।।१२-१३।।

विमर्श—सुकुमार मनोहर वेश-भूषा के विन्याससे विचित्र, स्त्री-पात्रों की बहुलता से युक्त, विविध नृत्य, गीत आदि व्यापारों से युक्त स्त्री तथा पुरुष के कामोपभोग से युक्त शृङ्गार-रसात्मक व्यापार 'कैशिकी' वृत्ति होती है। यह वृत्ति वैचित्र्य एवं सौन्दर्याधायक होती है। यह वृत्ति सुकुमार वेशभूषा, कोमल शृंगार एवं नृत्य-गीतादि प्राधान्य होने के कारण अत्यन्त लोक प्रिय रही है। इसके चार भेद होते हैं—गर्मस्फुर्ज, नर्मगर्भ, नर्मस्फोट और नर्म। क्रमशः उनका लक्षण कहते हैं—

(१) **नर्मस्फुर्ज**—जहाँ पर नायक-नायिका के नव-समागम (प्रथम-मिलन) में प्रारम्भ में सुख और अन्त में भय हो, उसे 'नर्मस्फूर्ज' कहते हैं।

(२) **नर्मगर्भ**—प्रच्छन्न नायक का नायिका के साथ प्रच्छन्न व्यवहार 'नर्मगर्भ' है।

(३) **नर्मस्फोट**—विविध भावों के लेश (अंश) के द्वारा रस की अल्प सूचना 'नर्मस्फोट' हैं।

(४) **नर्म**—प्रियजन को प्रसन्न करने के लिए कुशल क्रीड़ा-विलास 'नर्म' है।

---

१. मुद्रितेषु ग्रन्थेषु 'श्लक्ष्णनेपथ्या इत्यारभ्य उक्ता मनीषिभिः इति यावत्' श्लोकचतुष्टयं नास्ति।

सात्त्वती सत्त्वबहुला शौर्यत्यागदयार्जवैः ।
सहर्षा क्षुद्रशृङ्गारा विशोका साद्भुता तथा ॥ १४ ॥
उत्थापकोऽथ संघात्यः संलापः परिवर्तकः ।
चत्वारः सात्त्वतीवृत्तिभेदा उक्ता मनीषिभिः ॥ १५ ॥

॥ इत्याग्नेये काव्यालङ्कारशास्त्रे पञ्चमोऽध्यायः ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ सात्त्वतीं वृत्तिमाह—शौर्यत्यागदयार्जवैर्विशिष्टा सत्त्वगुणबहुला सहर्षा क्षुद्रशृङ्गारा विशोका करुणरसहीना साद्भूताऽद्भुतरसवती वृत्तिः। सात्त्वती सात्त्वतेन राज्ञा प्रणीता वृत्तिः शृङ्गारादिषु रत्यादीन् भावानालम्बनगतान् विदुषोजनाननुभावयतीत्यतोऽनुभाव उच्यते इति। सात्त्वत्या वृत्तेश्चत्वारो भेदा उत्थापकादयः। तत्र—

शत्रोरुत्तेजनकारी वागुत्थापक उच्यते।
मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः संघात्यः सङ्घभेदनम् ॥
संलापः स्याद् गम्भीरोक्तिर्नानाभावसमाश्रयः।
प्रारब्धादन्यकार्याणां करणं परिवर्तकः ॥

इत्येषा वृत्तिचतुष्टयी व्याख्याता भवति। इति बुद्ध्यारम्भभेदौ रीतिवृत्ती द्वे उवते। प्रवृत्तिर्वक्ष्यते।

इत्याग्नेये काव्यालङ्कारशास्त्रे रीतिवृत्तिनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

---

४. सात्त्वती वृत्ति

अर्थ—सात्त्वती वृत्ति शौर्य, त्याग, दया, आर्जव आदि गुणों के साथ सत्त्वगुण की अधिकता से युक्त होती है, इसमें प्रसन्नता की प्राप्ति होती है। यह शृङ्गार के पुट से युक्त तथा शोक (करुण) से रहित और अद्भुत रस युक्त नायक के व्यापार से युक्त होती है। ॥ १५ ॥

विमर्श—सात्त्वती वृत्ति सत्त्वप्रधान होती है। इस वृत्ति में शौर्य, दान, दया आदि का योग रहता है। इसमें हर्ष का प्रकाशन, शोक का संवरण तथा अद्भुत रस की प्रचुरता होती है। सत्त्व की अधिकता होने से यह सात्त्वती वृत्ति कहलाती है। मनीषियों ने इसके चार भेद बताये हैं—उत्थापक, संघात्य, संलाप और परिवर्त्तक। क्रमशः इनका लक्षण कहते हैं—

(१) **उत्थापक**—शत्रु को उत्तेजित करने वाली वाणी 'उत्थापक' है।

(२) **संघात्य**—मन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति, दैवशक्ति आदि के द्वारा संघ का भेदन (फोड़ना) 'संघात्य' है।

(३) **संलाप**—विविध भावों के आश्रय से युक्त गम्भीर-उक्ति 'संलाप' है।

(४) **परिवर्त्तक**—आरम्भ किये हुए कार्य को छोड़कर अन्य कार्य करना 'वरिवर्त्तक' है ॥ १५ ॥

इस प्रकार अग्निपुराण के काव्यालङ्कारशास्त्र का रीतिवृत्ति निरूपण नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

षष्ठोऽध्यायः

अभिनयादि-निरूपणम्

अग्निरुवाच

आभिमुख्यान्नयत्यर्थान्[1] विज्ञेयोऽभिनयो बुधैः ।
चतुर्द्धा सम्भवः सत्त्ववागङ्गाहरणाश्रयः[2] ॥ १ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

तत्रादावभिनयं व्युत्पादयन्निर्दिशति—अग्निरुवाचेति सूतवचनम् । योऽर्थान् रसनिष्पादकान् रत्यादीन् भावानाभिमुख्यान्नयति सोऽभिनयः । व्यभिचारिभावोऽनुभावश्च बुधैरालम्बनविभावेषु ज्ञेयः । तैर्ह्यनुभीयते रत्यादिर्भावः । तस्य सम्भवो हेतुश्चतुर्द्धा सत्त्ववागङ्गाहरणाश्रयाः । सत्त्वं मनः । मनःसंश्रयः । वागाश्रयः । अङ्गाश्रयः । आहरणाश्रयश्चेति ॥ १ ॥

अर्थ—जो नाटक के अर्थ (वस्तु) अथवा रसाभिव्यञ्जक रत्यादि भावों को दर्शकों के समक्ष ले जाता है, उसे विद्वान् लोग अभिनय कहते हैं । यह अभिनय चार प्रकार का होता है—सत्त्वाश्रय, वागाश्रय, अङ्गाश्रय और आहरणाश्रय ॥ १ ॥

विमर्श—'अभि' उपसर्ग पूर्वक 'नी' धातु से अच् प्रत्यक्ष होकर 'अभिनय' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ नाट्यप्रयोग के अर्थों को प्रेक्षकों के समक्ष ले जाकर प्रदर्शित करना होता है । अर्थात् जिसके द्वारा नाट्य के नानाविध अर्थों को सामाजिकों की ओर ले जाया जाता है और उसका विभावन कराया जाता है, उसे 'अभिनय' कहते हैं । काव्यप्रभावृत्तिकार का कथन है कि रस के निष्पादक रत्यादि भाव ही अर्थ हैं । अतः जिसके द्वारा रत्यादि भावों को सामाजिकों के समक्ष ले जाकर रसास्वादन कराया जाता है, उसे अभिनय कहा जाता है । यह अभिनय चार प्रकार का होता है—सत्त्वाश्रय, वागाश्रय, अङ्गाश्रय और आहरणाश्रय । इन्हें सात्त्विक, वाचिक, आङ्गिक और आहार्य अभिनय कहते हैं ॥ १ ॥

---

१ आभिमुख्यं नयन्नर्थान्—इति पाठान्तरम् । २. हरणाङ्गाराश्रयः इति पाठान्तरम् ॥

स्तम्भादिः सात्विको वागारम्भो वाचिक आङ्गिकः ।
शरीरारम्भ आहार्यो बुद्ध्यारम्भा[1] प्रवृत्तयः ॥ २ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

स्तम्भादिर्व्यभिचारिभावः शोभादयः पौरुषा अष्टौ, स्त्रैणा भावा हावादयो द्वादशेति सात्विको मानस इत्यर्थः । वागारम्भः आलापादयो द्वादश वाचिकः । आङ्गिकः शरीराम्भः, स्त्रीणां लीलाविलासादयो द्वादश । शिरःप्रभृत्यङ्गभ्रूलता-प्रभृतिप्रत्यङ्गकार्याः । आहार्यो बुद्ध्यारम्भव्यवसायः शिरःप्रभृतिभिराहरणा-ज्जातः ॥ २ ॥

अर्थ—स्तम्भादि सात्त्विक भावों का प्रदर्शन करना 'सात्त्विक' अभिनय है । वाणी से सम्बद्ध अभिनय वाचिक अभिनय है, शरीर से सम्बद्ध अभिनय 'आङ्गिक' अभिनय कहलाता है और बुद्धि से सम्बद्ध अभिनय 'आहार्य' अभिनय कहलाता है ॥ २ ॥

विमर्श—सत्त्व मन को कहते हैं (सत्त्वं मनः) । भाव के मर्मज्ञ विद्वानों के द्वारा सात्त्विक भावों के माध्यम से किया गया अभिनय 'सात्त्विक' अभिनय कहलाता है । स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय इन आठ सात्त्विक भावों के द्वारा अभिनेता मुख से शब्द उच्चारण किये बिना ही सामाजिकों के समक्ष अपने मनोगत भावों को प्रकट करता है । इसके अन्तर्गत नायक-नायिकाओं के शृङ्गार-सम्बन्धी अनेक हाव-भावों तथा शोभा आदि का वर्णन होता है । वाणी के द्वारा किया गया अभिनय 'वाचिक' अभिनय है । वाचिक अभिनय को नाट्य का शरीर कहा गया है । अभिनेता इसी अभिनय के सहारे अपनी कथावस्तु को सामाजिकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है । इस प्रकार वाचिक अभिनय का सम्बन्ध वाणी (आलापादि) से होता है । अङ्ग, प्रत्यङ्ग और उपाङ्गों द्वारा किया जाने वाला अभिनय 'आङ्गिक' अभिनय है । आङ्गिक अभिनय में शरीर के अवयवों का विनियोग होता है, अतः इसे शरीर के आश्रित होने से 'शरीराश्रय' कहा जाता है । आहार्य अभिनय बुद्ध्या-रम्भक होता है । अग्निपुराण के अनुसार यह बुद्धि प्रेरित अभिनय है । नाट्यशास्त्र के अनुसार वेश-भूषा-विन्यास एवं अङ्ग-रचना आदि 'आहार्य' अभिनय है । अभिनेता आहार्य अभिनय के द्वारा सामाजिकों के हृदय में रस का संचार करता है ॥ २ ॥

---

१. बुद्ध्यारम्भ—इति पाठान्तरम् ।

चेष्टाविशेषमप्यङ्गप्रत्यङ्गैः[1] कर्म चानयोः[2] ।
शरीरारम्भमिच्छन्ति प्रायः पूर्वरसाश्रयम्[3] ॥ ३ ॥

तत्रादावङ्गप्रत्यङ्गचेष्टाविशेषानाह—

लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः[4] किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विब्बोको ललितं तथा ।
विकृतं क्रीडितं केलिरिति द्वादशधैव सः ॥ ४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अग्निरुवाच वसिष्ठाय—स्त्रीणाञ्चाङ्गैः प्रत्यङ्गैश्चेष्टाविशेषं शरीरप्रवृत्तिं शरीरारम्भमिच्छन्ति कवयः। अनयोरङ्गप्रत्यङ्गयोः कर्म चेच्छन्ति न तु चेष्टा-सामान्यम्। तत्तत् कर्म शरीरप्रवृत्तिं प्रायः पूर्वरसाश्रयं शृङ्गाररसाश्रयमिच्छन्ति। बुद्ध्यारम्भः शरीरप्रवृत्तिः प्रायः शृङ्गाररसालम्बनविभावनायकनायिकयोः शृङ्गाररसे रत्यादीन् भावान् विदुषो जनाननुभावयतीत्यतोऽनुभाव उच्यते ॥ ३ ॥

लीलादिभेदात् सोऽङ्गप्रत्यङ्गैश्चेष्टाविशेषः शरीराम्भः कर्म द्वादशधा भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—नाटक में नायक-नायिका का विशेष चेष्टाएँ और अङ्ग-प्रत्यङ्गों के द्वारा इनके कार्य शरीरारम्भ अर्थात् आङ्गिक अभिनय के द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं। ये चेष्टाएँ प्रायः रसाश्रित हुआ करती है ॥ ३॥

विमर्श—अग्निपुराण के कुछ पाण्डुलिपियों में 'पूर्वरसाश्रषम्' के स्थान पर 'पूर्वोऽबलाश्रयः' भी पाठ मिलता है। तदनुसार इसका अर्थ होता है कि ये चेष्टाएँ प्रायः नारी पात्रों में हुआ करती है किन्तु मुद्रित अग्निपुराण के पाठ के अनुसार ये चेष्टाएँ नायिका में ही होती हैं ॥ ३ ॥

पहले अङ्ग-प्रत्यङ्ग की चेष्टाओं का निरूपण करते हैं। ये चेष्टाएँ बारह प्रकार की होती हैं। इन्हें नायिका का स्वभावज अलङ्कार भी कहते हैं किन्तु स्वभावज अलङ्कार दस होते हैं और चेष्टाएँ बारह। इनमें क्रीडित और केलि दो चेष्टाओं का विशेष उल्लेख है। इस प्रकार स्वभावज अलङ्कारों में इन दोनों को मिला देने से संख्या बारह हो जाती है।

अर्थ—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित, विकृत, क्रीडित और केलि ये बारह चेष्टाएँ होती है ॥ ४ ॥

---

१. 'प्रत्यङ्गे' पाठभेदः। २. 'क' पुस्तके 'वानयोः' इति पाठः।
३. 'पूर्वोऽबलाश्रयः इति पाठभेदः। ४. 'विभ्रमं' इति पाठभेदः।

लीलेष्टजनचेष्टानुकरणं संवृतक्षये ।
विशेषोल्लसनं[1] किञ्चिद्विलासः सद्भिरिष्यते ।। ५ ।।
स्तोकाप्याकल्परचना विच्छित्तिः कान्तिपुष्टकृत् ।
त्वरया हर्षरागादेर्दयितागमनादिषु[2] ।। ६ ।।
अस्थाने भूषणादीनां विन्यासो विभ्रमो मतः[3] ।
हसितक्रन्दितादीनां सङ्करः[4] किलकिञ्चितम् ।। ७ ।।
तद्भावभाविते चित्ते वल्लभस्य कथादिषु ।
मोट्टायितमिति प्राहुः कर्णकण्डूयनादिकम्[5] ।। ८ ।।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथैतांल्लीलादीन् प्रत्येकं विवृणोति—अभीष्टजनानां चेष्टाया अनुकरणं सम्वृतालये यत् स्त्री करोति सा लीला । विशेषात् स्त्रीणां यदुल्लसनं यानस्थानासनादीनां मुखनयनादीनाञ्चाभीष्टसन्दर्शनादीनां विलासः स विलास इष्यते सद्भिः । कान्तिपुष्टिकृद् या शरीरस्य स्तोकाऽधिका व्याप्या कम्परचनावेशरचनाकान्तिपुष्टिकृता सा विच्छित्तिरिष्यते । दयितस्यागमनादिषु कर्मसु हर्षरागादितस्त्वरया । भूषणादीनामस्थाने खल्वयथास्थाने विन्यासो विभ्रमः । हसितक्रन्दितभयक्रोधादीनां यत् साङ्कर्यं मेलनं तत् किलकिञ्चितं भवति । वल्लभस्य प्रियस्य कथादिषु तत् कथादिभावेन भाविते चित्ते सति यत् कर्णादिकण्डूयनाङ्गमङ्ग-

---

लीला आदि के बारह का स्वरूप बताते हैं —

अर्थ—(१) **लीला**—क्षीण स्मृति होने पर प्रियजन की चेष्टाओं का अतुकरण 'लीला' है । (२) **विलास**—प्रियदर्शन आदि के द्वारा भावों के विशेष उल्लास (प्रदर्शन) को 'विलास' कहते हैं । (३) **विच्छित्ति**—सौन्दर्य (क्रान्ति) को बढ़ाने वाली थोड़ी भी वेश-रचना को 'विच्छित्ति' कहते हैं । (४) **विभ्रम**—प्रियतम के आगमन आदि के प्रसङ्ग मे हर्ष (आनन्द), अनुराग आदि के कारण शीघ्रता से अलङ्कारादि का अनुचित स्थान (विपरीत स्थान) पर धारण करना 'विभ्रम' है (५) **किलकिञ्चित**—हास, क्रन्दन, हर्ष, क्रोध आदि भावों का एक साथ मिश्रण 'किलकिञ्चित' कहलाता है । (६) **मोट्टायित**—प्रियतम की कथा (चरित-श्रवण) के प्रसङ्ग में चित्त के प्रियतम की भावनाओं में डूब जाने पर नायिका की कान खुजलाना

---

१. छ, न, ल पुस्तकेषु 'विशेषानशनम्' प, फ, पुस्तकयोः 'विशेषाद्व्यसनय' 'क' पुस्तके विशेषान् दर्शन् इति पाठान्तराणि ।
२. अयं श्लोकः मुद्रितपुस्तके नास्ति ।
३. श्लोकार्द्धोऽयं मुद्रितपुस्तके नास्ति । ४. 'साऽकार्य्या' इति पाठभेदः ।
५. श्लोकोऽयं मुद्रितपुस्तके नास्ति ।

केशस्तनाधरादीनां ग्रहे हर्षेऽपि सम्भ्रमात् ।
नेति कृत्वा शिरःपाणिकम्पः कुट्टमितं विदुः[1] ॥ ९ ॥
विकारः कोऽपि विब्बोको ललितं सौकुमार्य्यतः ।
वक्तव्यकालेप्यवचो व्रीडया विकृतं मतम्[2] ॥ १० ॥
क्रीडितं स्यात् क्रीडनकैः सखीभिः सह कूर्द्दनम् ।
बिहारे सह कान्तेन क्रीडितं केलिरुच्यते[3] ॥ ११ ॥

काव्यप्रभावृतिः

भ्रूभ्युल्लेखनाङ्गुलीस्फोटनादिकं करोति नारी तन्मोट्टायितमाहुः कवयः । प्रियेण केशस्तनादिग्रहणे कृते स्त्रिया हर्षेऽपि जाते सम्भ्रमात् त्वरया नेति कृत्वा यत् शिरः पाण्यादिकम्पनं करोति तत् कुट्टमितं विदुरिति[4] । कोऽप्यनिर्वचनीयो विकारः स्वाभीष्टेऽपि वस्तुनि अतिगर्वेणानादरकरणं विब्बोक इष्यते । अङ्गानां सौकुमार्यादङ्गविन्यास विशेषो ललितम् । वक्तव्यसमयेऽपि व्रीड़या नारी यन्न वक्ति तद्विकृतमुच्यते । सख्यादिभिः सह क्रीड़नकैः पाशकादिभिर्नार्या यत् कूर्दनं खेलनं तत् क्रीड़ितं स्यात् । विहारे जलवनादिषु विहारकाले कान्तेन सह यत् क्रीडितं स केलिरुच्यते । इति द्वादशधा बुद्ध्याध्यवसायः नारीणामनियताङ्गप्रत्यङ्गैःश्चेष्टाविशेषः शरीरारम्भः प्रवृत्तिः ॥ ५-११ ॥

(कर्णकण्डूयन) आदि 'मोट्टायित' है। (७) कुट्टमित—केश, स्तन, अधर आदि का प्रियतम के द्वारा स्पर्श किये जाने पर हर्ष (प्रसन्तता) होने पर भी घबराहट से नायिका 'नहीं' ऐसा कहकर निषेधात्मक शिर, हाथ आदि का हिलाना (कम्पन) 'कुट्टमित' है। (८) विब्बोक— प्रिय के विषय में विकार उत्पन्न होना 'विब्बोक' है। (९) ललित— गति आदि का सुकुमारता से प्रदर्शन 'ललित' कहलाता है। (१०) विकृत—अवसर के आने पर भी लज्जा के कारण (प्रिय वचनों का) न बोलना 'विकृत' है। (११) क्रीडित— सखियों के साथ क्रीडनक (खेल) के द्वारा नायिका का कूदना, खेलना क्रीडित है। (१२) केलि—उद्यान जल आदि में बिहार के समय प्रियतम के साथ क्रीड़ा करना 'केलि' है ॥ ५-११ ॥

---

१. श्लोकोऽयं मुद्रितपुस्तके नास्ति ।
२. श्लोकार्द्धोऽयं मुद्रितपुस्तके नास्ति ।
३. श्लोकोऽयं मुद्रितपुस्तके नास्ति ।
४. सरस्वतीकण्ठाभरणे भोजराजस्तु विपरीतमेव लक्षणमाह—
केशस्तनाधरादीनां ग्रहाद् दुःखेऽपि यत्पुनः ।
सुखाविष्करणं तन्व्यास्तच्च कुट्टमितं मतम् ॥ इति ॥

तत्राङ्ग-प्रत्यङ्गान्याह—

शिरः पाणिरुरः[1] पार्श्वजङ्घे चाङ्घ्रिरिति[2] क्रमात् ।
अङ्गानि भ्रूलतादीनि प्रत्यङ्गान्यभिजायते ॥ १२ ॥
अङ्गप्रत्यङ्गयोः कर्म प्रयत्नजनितं विना ।
न प्रयोगः क्वचिन्मुख्यं तिरश्चीनञ्च तत् क्वचित् ॥१३॥

आकम्पितं कम्पितञ्च[3] धुतं विधुतमेव च ।
परिवाहितमाधूतमवधूतमथाचितम् ॥ १४ ॥
निकुञ्चितं परावृत्तमुत्क्षिप्तमप्य[4]धोगतम् ।
लोलितञ्चेति[5] विज्ञेयं त्रयोदशविधं शिरः ॥ १५ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ अङ्गप्रत्यङ्गान्याह—शिरःप्रभृतीनि षडङ्गानि तत्रोरो वक्षःप्रभृति मध्यदेहः। भ्रूलतादीनि प्रत्यङ्गानि कवयो जानते। तयोरङ्गप्रत्यङ्गयोः प्रयोगः प्रयत्नजनितं कर्म क्रियां विना न स्यात्। तत्र कर्म क्वचिन्मुख्यं व्यापारं क्वचित्तिरश्चीनं गौणमिति ॥ १२-१३ ॥

आकम्पनादिकर्मभिराकम्पितादिकं त्रयोदशविधं शिरो भवतीति। तत्र परिवाहितं सर्व्वतोवहनयुतम्। आचितं व्याप्तमिति। निकुञ्चनं कुञ्चनमेव। पराकृतं पश्चात्कृतम्। उर्ध्वक्षिप्तमुत्क्षिप्तम्। अधोगतमधस्तात् कृतम्। ललितमीप्सितरूपम्, शेषं कम्पविशेषः ॥ १४-१५ ॥

अर्थ—नाट्य के छः अङ्ग और छः प्रत्यङ्ग होते हैं। वे छः अङ्ग शिर, हस्त, उरस्, पार्श्व, कटि और पाद हैं और भ्रू, नेत्र, नासिका, ओष्ठ, कपोल और चिबुक ये छः प्रत्यङ्ग (उपांग) हैं। अङ्ग और प्रत्यङ्ग का प्रयोग प्रयत्नजन्य कर्म के बिना (स्वाभाविक रूप से) नहीं होता है अर्थात् अङ्ग-प्रत्यङ्ग का प्रयोग प्रयत्न के द्वारा होता है। यह प्रयोग (कर्म) कहीं मुख्य व्यापार होता है और कहीं तिरश्चीन (गौण) प्रयोग भी किया जाता है ॥१२-१३॥

अर्थ—अग्निपुराण मे शिरोऽभिनय के तेरह भेद बताये हैं—आकम्पित, कम्पित, धुत, विधुत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, आचित (अञ्चित), निकुञ्चित, परावृत्त, उत्क्षिप्त,अधोगत और लोलित ॥ १४-१५ ॥

---

१. 'छ' पुस्तके 'पाणिशयः' इति पाठान्तरम् ।
२. 'पार्श्वं कटिरङ्घ्रिरिति' इति पाठान्तरम् ॥
३. क, ग पुस्तकयोः आकल्पितं कल्पितं च इति पाठान्तरम् ।
४. उत्क्षिप्तञ्चाप्य इति पाठान्तरम् । ५. ललितञ्चेति इति पाठान्तरम् ।

असंयुतः संयुतश्च द्विधा[1] हस्तः प्रयुज्यते[2] ॥ १६ ॥
पताकस्त्रिपताकश्च तथा वै कर्तरीमुखः ।
अर्द्धचन्द्रो ह्यरालश्च[3] शुक्तुण्डस्तथैव च ॥ १७ ॥
मुष्टिश्च शिखरश्चैव कपित्थः खटकामुखः[4] ।
सूच्यास्यः पद्मकोशोऽहिःशिरः स मृगशीर्षकः[5] ॥१८ ॥
कांगूल[6]कालपद्मौ च चतुरभ्रमरौ तथा ।
हंसास्यो हंसपक्षश्च[7] सन्दंशमुकुलौ[8] तथा ॥ १९ ॥
उर्णनाभस्ताम्रचूडश्चतुर्विंशतिरित्यमी ।

काव्यप्रभावृत्तिः

हस्तभेदानाह–शृङ्गारादौ नारीभिरसंयुतः संयुतश्चेति द्विधा हस्तः प्रयुज्यते । तत्रासंयुतो हस्तश्चतुर्विंशतिविधः । संयुतश्च त्रयोदशविधः । पताकादिभेदेनासंयुताः करा अमी चतुर्विंशतिर्भवन्ति । संज्ञाभिरेषां लक्षणानि ज्ञेयानि पताकाकारकरणात् करः पताकः । करस्य त्रिपताकाकृतिकरणात्तु त्रिपताकः करः । कर्त्तरी लोके प्रसिद्धा शरारिमुखास्त्रविशेषः क्वचित् लोके तन्मुखाकृतिकरणात् कर्तरीमुखः करः । अर्द्धचन्द्राकृतिकरणादर्द्धचन्द्रकरः । अरालाकृतिकरणादरालः करः । शुक्तुण्डाकृतिकरणाच्छुक्तुण्डः करः । मुष्टिः प्रसिद्धः । शिखरावृत्तिकरणाच्छिखरः करः । कपित्थफलाकृतिकरणात् कपित्थः करः । धनुरार्कषिणी मुद्रा खटकामुख उच्यते ।

हस्ताभिनय

अर्थ—हस्ताभिनय के दो भेद होते हैं—असंयुतहस्त और संयुतहस्त । इनमें असंयुत हस्त के चौबीस भेद होते हैं—(१) पताक (२) त्रिपताक (३) कर्त्तरीमुख (४) अर्द्धचन्द्र (५) अराल (६) शुक्तुण्ड (७) मुष्टि (८) शिखर (९) कपित्थ (१०) खटकामुख (कटकामुख) (११) सूच्यारूप (सूचीमुख) (१२) पद्मकोष (१३) सर्पशीर्ष (१४) मृगशीर्ष (१५) कांगूल (ताम्बूल) (१६) अलपद्म (१७) चतुर (१८) भ्रमर (१९) हंसास्य (हंसमुख) (२०) हंसपक्ष (२१) सन्दंश (२२) मुकुल (२३) ऊर्णनाभ (२४) ताम्रचूड़ । अभिनय में इन चौबीस प्रकारों का 'असंयुतहस्त' के द्वारा प्रयोग किया जाना है ॥१६-२०॥

१. 'भूम्ना' इति पाठान्तरम् । २. 'प्रमुच्यते' इति पाठान्तरम् ।
३. अर्द्धचन्द्रोत्करालश्च' इति पाठान्तरम् ।
४. क, ग, घ, भ पुस्तकेषु 'कटकाभुखः' न, ल पुस्तकयोः 'कटुकामुख' तथा पुस्तके—'खेटकामुखः इति पाठान्तराणि ।
५. 'मृगशीर्षकाः इति पाठभेदः ।
६. क, छ, द, घ पुस्तकेषु 'काम्मूल, कंमूल, कांगलू' इति पाठान्तराणि ।
७. 'हंसास्य हंसपक्षौ च—इति पाठभेदः । ८. मुकुलो इति पाठभेदः ।

असंयुताः कराः[1] प्रोक्ताः संयतास्तु त्रयोदश ॥ २० ॥
अञ्जलिश्च कपोतश्च कर्कटः स्वस्तिकस्तथा ।
[2]कटको वर्द्धमानश्चाप्युत्सङ्गो[3] निषधस्तथा ॥ २१ ॥
दोला पुष्पपुटश्[4]चैव तथा मकर[5] एव च ।
गजदन्ताऽवहित्थ[6]श्च वर्द्धमानश्च परे[7] कराः ॥ २२ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

सूचीमुखाकृतिकरणात् सूच्यास्यः करः । पद्मकर्णिकाकारकरणात् पद्मकोशः करः । सर्पमस्तकाकारकरणादहिशिराः करः । हरिणमस्तकाकारकरणान्मृगशीर्षकः करः । ताम्बूलपर्णाकृतिकरणात् काम्बूलः[1] करः । कालपद्माकारकरणात् कालपद्मः करः । चतुराकृतिकरणाच्चतुरः करः । भ्रमराकृतिकरणाद् भ्रमरः करः । हंसास्यकरणाद्धंसास्यः करः । हंसपक्षाकृतिकरणाद्धंसपक्षः करः । संदशाकृतिकरणात् संदंशः करः । कुङ्मलाकृतिकरणान्मुकुलः करः । ऊर्णनाभकोशकारकीटाकृतिकरणादूर्णनाभः करः । कुक्कुटाकृतिकरणान्ताम्रचूडः करः । इत्यमी चतुर्विंशतिः कराः उक्ताः । ॥ १६-२० ॥

अञ्जलिप्रभृतिभेदात् संयुताः करास्त्रयोदश भवन्ति । वर्द्धमानात् परे करा इति वर्द्धमानमारभ्य परेषां मते करा अष्टौ । संयुक्तकरद्वयप्रसारणमञ्जलिः । कपोताकारेण-करद्वयसंयोगः कपोतः । कर्कटाकारेण संयुक्तः करः कर्कटः । स्वस्तिकाकारेण करद्वयसंयोगः स्वस्तिकः करः । कटकाकारेण करद्वयसंयोगात् करः कटकः । संयुक्तः करद्वयं कृत्वा बाहुप्रसारणं वर्द्धमानः । उर्ध्वीकृतसंयुक्तकरद्वयमुत्सङ्गः । नीचीकृत-संयुक्तकरद्वयं निषधः । दोलाकारेण संयुक्तकरद्वयं दोलः । पुष्पपुटाकारेण संयुक्ती-कृतकरद्वयं पुष्पपुटः । मकराकारेण संयुक्तकरद्वयं गजदन्तः । आकृतिगोपनेन संयुक्त-करद्वयमवहित्थः । इति त्रयोदश । पूर्वैः सह षट्त्रिंशत् पाणिकर्म्माणि ॥ २१-२२ ॥

संयुतहस्त—संयुतहस्त में दोनों को मिलाकर अभिनय किया जाता है। इसके तेरह भेद होते हैं—(१) अञ्जलि (२) कपोत (३) कर्कट (४) स्वस्तिक (५) कटकावर्धमान (६) उत्सङ्ग (७) निषध (८) दोला (९) पुष्पपुट (मकर) (११) गजदन्त (१२) अवहित्थ और (१३) वर्धमान ॥ २१-२२ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में शिरोऽभिनय और हस्ताभिनय के केवल नाम गिनाये गये हैं। उनके स्वरूप का निर्देश नहीं किया गया है। विशेष जानकारी के लिए भारत नाट्यशास्त्र का नवम अध्याय देखिये।

---

१. असंयुतकराः—इति पाठभेदः ।
२. 'कटका' इति पाठान्तरम् ।
३. वर्धमानश्चाप्यसङ्गो—इति पाठभेदः ।
४. 'क' पुस्तके 'पुष्पयुता न, ल पुस्तकयोः दोलं पुष्पपुटं इति पाठान्तराणि,
५. न, ल पुस्तयोः कमठ इति पाठः ।
६. वहिस्तम्भौ इति पाठभेदः ।
७. वर्धमानोऽपरे इति पाठभेदः ।

उरः पञ्चविधं स्यादाभुग्नं निर्भुग्नमेव[1] च ।
उद्वाहितं समञ्चैव प्रकम्पितमिति स्मृतम्[2] ।। २३ ।।
उदरं त्वनतिक्षामं[3] खल्वं[4] पूर्णमिति त्रिधा ।
पार्श्वयोः पञ्च कर्माणि जङ्घाकर्म्म च पञ्चधा ।।२४।।
अनेकधा पादकर्म्म नृत्यादौ नाटके स्मृतम्[5] ।

काव्यप्रभावृत्तिः

उरः प्रभृतीन्यङ्गान्याह–उर उक्तं मध्यदेहस्तत्रोरो वक्षःप्रभृति पञ्चविधं स्यात् । आभुग्नं निर्भुग्नम् उद्वाहितं समं प्रकम्पितञ्चेति । तथोदरं त्रिविधिमनतिक्षीणं खल्वं पूर्णञ्चेति । पार्श्वयोः कर्म्माणि पञ्च प्रसिद्धानि परिवर्तनादीनि । जङ्घयोः कर्म्माणि पञ्चगमनानि । पादयोः कर्म्म चानेकधा नाटके नृत्यादौ वृत्तमिति ।। २३-२४ ।।

अर्थ—उरस् (वक्षःस्थल) के पाँच भेद होते हैं—(१) आभुग्न (२) निर्भुग्न (३) प्रकम्पित (४) उद्वाहित और (५) सम । उदर के तीन भेद होते हैं—(१) अनतिक्षाम (२) खल्व और (३) पूर्ण । पार्श्व के कर्म पांच होते हैं, जङ्घाओं के कर्म भी पांच होते हैं, और नाटक तथा नृत्यादि में पादकर्म अनेक प्रकार के कहे गये हैं ।। २३-२५ (१)।।

विमर्श—अग्निपुराण में पार्श्व, जङ्घा और पाद के भेदों की संख्या निर्धारित है किन्तु उनके नाम नहीं गिनाये गये हैं । नाट्यशास्त्र के अनुसार पार्श्व के नत, समुन्नत, प्रसारित, विवर्त्तित तथा प्रसृत नामक पांच भेद होते हैं । जङ्घा के पांच कर्म माने गये हैं—नत, क्षिप्त, आवर्त्तित, उद्वाहित और परिवृत्त । इसी प्रकार पाद के भी पांच भेद बताये गये हैं—उद्घट्टित, सम, अग्रतलसंचर, अञ्चित और कुञ्चित । इस प्रकार नाट्यशास्त्र में पार्श्वादि अङ्गों के भेद विस्तार से निरूपित किये किये गये हैं ।।२३-२५ (१)।।

---

१. 'स्यात्तु अभुग्ननर्तनादिकम्' इति पाठान्तरम् । न, ल पुस्तकयोः 'आभुग्नादि निर्गुणादिकम्' इति पाठः ।

२. श्लोकार्द्धोऽयं मुद्रितपुस्तके नास्ति ।

३. 'दुरतिक्षामं इति पाठान्तरम् ।

४. क पुस्तके 'खलु' न, ल पुस्तकयोः खल्वं, मुद्रितपुस्तके 'खण्डं' इति पाठान्तराणि ।

५. नाटकैः कृतम् इति पाठभेदः ।

भ्रूकर्म सप्तधा ज्ञेयं पातनं भ्रकुटीमुखम्[1] ॥ २५ ॥
चतुरं कुञ्चितोत्क्षेपो रेचितं सहजं तथा[2] ।
दृष्टिस्त्रिधा रसस्थायिसञ्चारिप्रतिबन्धना ॥ २६ ॥
षट्त्रिंशद्भेदभिन्ना[3] सा रसजा तत्र चाष्टधा[4] ।
स्थायिनश्चाष्टधा दृष्टिः विंशा संचारिदृष्टयः ॥ २७ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

भ्रूगतादिप्रत्यङ्गकर्माण्याह—भ्रूकर्म सप्तधा पातनं भ्रुकुटी चतुरं कुञ्चितम् उत्क्षेपः रेचितं सहजं च । दृष्टिस्त्रिधा रसप्रतिनिबन्धना, स्थायिभावप्रतिनिबन्धना, व्यभिचारिभावप्रतिनिबन्धना च । सा दृष्टिः षट्त्रिंशद्भेदेन भिन्ना । तत्राष्टौ रसास्तत् प्रतिनिबन्धना, स्थायिभावाश्चाष्टधा तन्निबन्धना चाष्टधा । व्यभिचारिभावनिबन्धना

प्रत्यङ्गों के लक्षण एवं भेद

अर्थ—भृकुटिपात (भ्रूकर्म) के सात भेद बताये गये हैं—पातन, उत्क्षेप, भ्रुकुटि, चतुर, कुञ्चित, रेचित और सहज । रस, स्थायीभाव और संचारी भाव से सम्बद्ध दृष्टि तीन प्रकार की होती है । ये सभी मिलकर दृष्टियाँ छत्तीस प्रकार की होती हैं । इनमें रसजा दृटि आठ प्रकार की होती है स्थायीभाव की दृष्टि भी आठ प्रकार की होती है और संचारीभाव की उपयोगी दृष्टियाँ बीस प्रकार की होती हैं । इस प्रकार कुल छत्तीस प्रकार की दृष्टियाँ होती है ॥ २५-२७ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में भेदों की संख्या बताई गई है किन्तु उनके स्वरूप नहीं बताये गये हैं । अग्निपुराण में भृकुटिपात के सात भेद बताये गये हैं—पातन, भृकुटि, चतुर, कुञ्चित, उत्क्षेप, रेचित और सहज । अभिनय की दृष्टि से दृष्टियाँ छत्तीस प्रकार की बताई गई हैं । अग्निपुराण में दृष्टि का तीन रूपों में विवेचन किया गया है—रस की दृष्टि से, स्थायीभाव की दृष्टि से और व्याभिचारीभाव की दृष्टि से । उनमें रसजा दृष्टि आठ प्रकार की होती है—कान्ता, भयानक, हास्या, करुणा, अद्भुता, रौद्री, वीरा तथा वीभत्सा ।

कान्ता भयानका हास्या करुणा चाद्भुता तथा ।
रौद्री वीरा च वीभत्सा विशेषा रसदृष्टयः ॥

स्थायीभाव की दृष्टियाँ भी आठ प्रकार की होती हैं—स्निग्धा, दृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भयान्विता, जुगुप्सिता, विस्मिता ।

---

१. मुद्रितग्रन्थे अत्रैव अध्यायसमाप्तिर्भवति ।
२. 'सुखम्' इति पाठभेदः ।
३. श्लोकार्द्धोऽयं मुद्रितपुस्तके नास्ति ।
४. 'विधुरा' इति पाठान्तरम् ।
५. नवधा इति पाठान्तरम् ।

नवधा तारकाकर्म चलनभ्रमणादिकम्[1] ।
षोढ़ा च[2] नासिका ज्ञेया निःश्वासो नवधा मतः ।। २८ ।।
षोढौष्ठकर्मकं पाद्यं[3] सप्तधा चिबुकक्रिया ।
कलुषादिमुखं षोढा ग्रीवा नवविधा स्मृता ।। २९ ।।

इत्याग्नेये काव्यालङ्कारशास्त्रे अभिनयादिनिरुपणं नाम
षष्ठोऽध्यायः ।

काव्यप्रभावृत्तिः

विंशतिश्चेति षट्त्रिंशद्भेदाः । तत्र चक्षुषि या तारका तस्याः कर्म नवधा चलन-भ्रमणादिकम् । नासिका षोढा कर्मभेदेन आकुञ्चनादिकर्मभेदात् । निःश्वासो नवधा क्षुद्रदीर्घादिभेदेन । ओष्ठकर्म षोढा कम्पनादिभेदेन, चिबुकक्रिया च सप्तधा । मुखं षोढा कलुषादिभेदेन, ग्रीवा नवधा वक्रादिभेदेन स्मृता । सर्व्वमिदं लोके प्रसिद्धमिति न प्रपञ्चितमिति । इत्येते नायक-नायिकादिकृतानि कार्याणि अनुभावसंज्ञकानि व्याख्यातानि भवन्ति ।। २५-२९।।

इत्याग्नेये काव्यालङ्कारशास्त्रे अभिनयादिनिरुपणं
षष्ठोऽध्यायः ।

स्निग्धा दृष्टा च दीना च क्रुद्धा दृप्ता भयान्विता ।
जुगुप्सिता विस्मिता च स्थायिभावेषु दृष्टयः ।।

संचारीभाव या व्यभिचारी भाव की दृष्टियाँ बीस प्रकार की होती हैं । उनके नाम हैं—शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जान्विता, ग्लाना, शङ्किता, विषण्णा, मुकुला, कुञ्चिता, अभितप्ता, जिह्मा, ललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला, विभ्रान्ता, विप्लुता, आकेकरा, विकोशा, त्रस्ता और मदिरा । इस प्रकार कुल मिलाकर छत्तीस दृष्टियाँ अग्निपुराणमें कहीं गई हैं । इनके द्वारा विविध रसों का उन्मेष होता है ।।२५-२७।।

अर्थ—भ्रमण, चलन आदि भेद से तारका (पुतलियों) के कार्य नौ प्रकार के होते हैं और नासिका के कार्य छः प्रकार के होते है तथा नि श्वास की गति नौ प्रकार की होती हैं । ओष्ठ के कर्म छः प्रकार के होते हैं और चिबुक के कार्य सात प्रकार के होते हैं । मुख का प्रदर्शन छः प्रकार का होता है और ग्रीवा के कार्य नौ प्रकार के होते हैं ।। २८-२९ ।।

---

१. 'भ्रमणञ्चलनादिकम्' इति पाठान्तरम् ।
२. क छ—षोढ़ा तु इति पाठान्तरम् ।
३. 'पार्पं' इति पाठभेदः ।
४. मुद्रितेऽग्निपुराणग्रन्थे इमाः कारिकाः ९ तः १२ यावद् प्राप्यन्ते ।

विमर्श—नाट्यमें तारा (पुतलियों) की गति नौ प्रकार की बताई गई है। किन्तु अग्निपुराणमें उनके नाम नहीं गिनाये गये हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार उनके नाम है—भ्रमण, चलन, वलन, पात, सम्प्रवेशन, विवर्त्तन, समुद्वृत, निष्क्राम और प्राकृत। अग्निपुराण के नासिका के कार्य छः प्रकार के बताये गये है। नाट्यशास्त्र के अनुसार उनके नाम हैं—नता, मन्दा, विकृष्टा, सोच्छ्वासा, विकूणिता और स्वाभाविका। ओष्ठ के कर्म भी छः प्रकार के निर्दिष्ट है। नाट्यशास्त्र में उनके नाम निम्नलिखित हैं—विवर्त्तन, कम्पन, विसर्ग, विनिगूहन, सन्दष्टक और समुद्गक। चिबुक के अभिनय कार्य सात प्रकार के होते हैं—कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चुक्कित, लेहित, दष्ट और सम। मुख का अभिनय छः प्रकार का होता है—विनिवृत्त, विधुत, निर्भुग्न, भुग्न, विवर्त्त तथा उद्वाही। ग्रीवा के कार्य नौ प्रकार के बताये गये हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार उनके नाम हैं—समा, नता, उन्नता, त्र्यस्रा, रेचिता, कुञ्चिता, अञ्जिता, वलिता और विवृत्ता।

विशेष—इस प्रकार शिरोऽभिनय से लेकर सभी उपांगों की संख्या का निर्देश किया गया है किन्तु उनके नाम नहीं बताये गये हैं। मैंने नाट्यशास्त्र के आधार पर उनके नामों का उल्लेख किया है।

इस प्रकार अग्निपुराण के काव्यालङ्कारशास्त्र का छठाँ अध्याय समाप्त हुआ।

सप्तमोऽध्यायः

शब्दालङ्कार-विवेकः

अग्निरुवाच

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।
अङ्कुरिष्णवस्ते च शब्दमर्थमुभौ त्रिधा ॥ १ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

काव्येति—काव्यं प्रागुक्तं वृत्तान्तसमाप्तिपर्यन्तं वाक्यात्मकं वाङ्मयं शास्त्रेतिहासभिन्नमभिधायाः प्रधानत्वात् तच्च काव्यं नानाधर्म्मान्वितं भवति। तत्र यत् 'स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितं' तच्छ्रेष्ठमुक्तं, तत्र काव्यस्य शोभाकरा ये धर्मास्तानलङ्कारान् प्रचक्षते कवयः। ननु लोके यथाऽलङ्कार्यात् पृथगलङ्काराः दृश्यन्ते कुण्डलादयः, इह किं तथा वाक्यात्मककाव्यात् पृथगलङ्काराः भवन्ति ? इत्यत आह—धर्मानिति। धर्मा हि सहजा लोके षडङ्गसमुदायस्य जनस्य सहजमणिकवचकुण्डलादिप्रत्यङ्गवच्छब्दार्थसमुदायस्य वाङ्मयस्य काव्यस्य सहजप्रत्यङ्गानि, न तु षडङ्गसमुदायात् पृथक् कुण्डलकटकादिवत्।

अलङ्कार-लक्षण

अर्थ— अग्निदेव ने कहा—काव्य के शोभाकारक धर्म को अलङ्कार कहते हैं। शब्द अर्थ और शब्दार्थ को अलङ्कृत करने वाले वे शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार भेद से तीन प्रकार के होते हैं ॥ १ ॥

विमर्श—जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि इष्टार्थ से युक्त वाक्यात्मक वाङ्मय अभिधा के प्रधान होने के कारण काव्य, शास्त्र और इतिहास से भिन्न होता है और वह नाना धर्मों से युक्त होता है। उनमें स्पष्ट अलङ्कारों और गुणों से युक्त दोष-रहित काव्य श्रेष्ठ कहा गया है। उस काव्य के शोभा-कारक धर्म को अलङ्कार कहते हैं। अग्निपुराण में काव्य में शोभा के अनुग्राहक तत्त्व को गुण कहा गया है। इस प्रकार अग्निपुराण में गुण और अलङ्कारों का समान महत्त्व प्रतिपादित है। इतना ही नहीं, बल्कि अभिव्यक्ति तथा अभिधा आदि को भी अलङ्कारों के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया गया है। इससे अलङ्कारों का महत्त्व अधिक बढ़ गया।

काव्यप्रभावृत्तिः

ते हि शोभाकरा धर्मा वाक्यस्य शब्दमलङ्करिष्णवः शब्दालङ्कार एकः, अर्थमलङ्करिष्णवोऽर्थालङ्कारो द्वितीयः, शब्दार्थावुभावलङ्करिष्णव उभयालङ्कारस्तृतीय इति त्रिधालङ्कारः काव्यस्य। गुणदोषाश्च न शोभाकरा इति। ननूभयालङ्कारेष्वभिव्यक्तिर्नामालङ्कारो वक्ष्यते। सा चाभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेपश्च। तत्र श्रुतिर्मुख्यावृत्तिरौपचारिकी वृत्तिश्च। तत्र मुख्या नैमित्तिकी जातिगुणक्रियाप्रवृत्तिर्यदृच्छाप्रवृत्तिश्चेति। जातिशब्दो गुणशब्दः क्रियाशब्दश्च गौः शुक्लश्चल इति यदृच्छाशब्दश्चतुर्थो डित्थडवित्थशिवदुर्गादिः। औपचारिकी द्विधा—लक्षणा गौणी चेति। आभ्योऽलभ्यमानोऽर्थो यस्माद् भाति स आक्षेपो ध्वनिर्व्यञ्जनावृत्तिरित्येता वृत्तयोऽन्तरेण शब्दानामर्थाभिधायकत्वाभावादर्थाविनाभूतश्च शब्द इति। सार्थके वाक्ये नियत एवोभयालङ्कारोऽभिव्यक्तिः।

किमर्थं पुनः स्फुरदलङ्कारमिति तत्रोच्यते सत्यप्येवं सर्वत्र सार्थके वाक्ये शब्दार्थयोरविनाभूतयोरभिव्यक्तिनामोभयालङ्कारे यत् स्फुरदलङ्कारमिति विशेषणमुक्तं तदलङ्काराणामन्येषामपि विशेषेणेहोपदेशार्थम्। तथा च शब्दालङ्कारा अर्थालङ्कारा अभिव्यक्तिभिन्नाश्रयोभयालङ्कारा वा अपि वक्ष्यन्ते इति ॥ १ ॥

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या अलङ्कार अलङ्कार्य से अलग होते हैं? जैसे लोक में कुण्डल आदि अलङ्कार मानव-देह आदि अलङ्कार्य से पृथक् होते हैं उसी प्रकार क्या वाक्यात्मक काव्य से अलङ्कार पृथक् होते हैं? इस सम्बन्ध में कहते हैं कि काव्यगत अलङ्कार धर्म हैं और वाक्यात्मक काव्य धर्मी। धर्म धर्मी में रहता है। अलङ्कार काव्य के सहजधर्म हैं अतः अलङ्कार वाक्यात्मक काव्य से पृथक् नहीं होते हैं; क्योंकि काव्य के शोभाकारक धर्म को अलङ्कार कहते हैं अर्थात् काव्य में शब्द और अर्थ अलङ्कार के आधार हैं, धर्मी हैं और अलङ्कार उसके शोभा-कारक धर्म हैं और धर्म विना धर्मी के नहीं रहता, अतः काव्यालङ्कार शब्दार्थ काव्य से पृथक् नहीं रह सकते। इसीलिए काव्य में शब्द और अर्थ के शोभाकारक तत्त्व को अलङ्कार कहा जाता है। इसी आधार पर अलंकार के तीन भेद निरूपित किये गये हैं—शब्द को अलङ्कृत करने वाले धर्म को शब्दालङ्कार और अर्थ को अलंकृत करने वाले धर्म को अर्थालङ्कार तथा शब्द और अर्थ दोनों को अलंकृत करने वाले धर्म को उभयालङ्कार कहते हैं।

अलङ्कारवादी आचार्य भामह ने काव्य के शोभाधायक तत्त्व को अलङ्कार कहा है। उनका कथन है कि रमणी का मुख सुन्दर होने पर भी अलङ्कार के अभाव में सुशोभित नहीं होता। (न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्)। इस प्रकार काव्य में सौन्दर्य के रहने पर भी अलङ्कार के विना काव्य में पूर्ण चमत्कार नहीं दिखाई देता। उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों में अलङ्कार की स्थिति का वर्णन किया है। दण्डी ने अग्निपुराण का अनुसरण

तत्र शब्दालङ्कारं लक्षयति—

ये च व्युत्पत्त्यादिना[1] शब्दमलङ्कर्तुमिह क्षमाः ।
शब्दालङ्कारमाहु[2]स्तान् काव्यमीमांसकाविदः[3] ॥ २ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

ये चेति – व्युत्पादितान् प्रकृतिप्रत्ययादिकल्पनया उत्पाद्यन्ते सिद्धरूपा एव शब्दाः साध्यन्ते ये, ते शब्दाः व्युत्पादिताः तान् शब्दानलङ्कर्त्तुक्षमा इह ये धर्म्मास्तान् धर्म्मान् शब्दालङ्कारान् काव्यमीमांसकाविदो नत्वव्युत्पादितान् शब्दान् । उणादयो ह्यव्युत्पन्ना इति ॥ २ ॥

करते हुए काव्य के शोभाकारक धर्म को अलङ्कार कहा है । (**काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते**) । उनका अभिप्राय है कि जिस प्रकार सौन्दर्य-मण्डित शरीर की शोभा को हारादि अलङ्कार बढ़ाते हैं उसी प्रकार गुण-युक्त काव्य की शोभा को अनुपासोप्रमादि अलङ्कार बढ़ाते हैं । इसी को स्पष्ट करते हुए वामन कहते हैं कि काव्य में शोभाकारक धर्म को गुण और उस शोभा को बढ़ाने वाला तत्त्व अलङ्कार है । (**काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः**), किन्तु जहाँ तक दण्डी का प्रश्न है, उन्होंने अग्निपुराण का ही अनुसरण कर काव्य के शोभाकारक धर्म को अलङ्कार माना है । अग्निपुराण मेंअलङ्कार को काव्य का अनिवार्य धर्म बताया गया है, तदनुसार भामह और दण्डी ने भी अलङ्कार को काव्य का अनिवार्य धर्म माना है । दण्डी ने तो यहाँ तक कहा है कि अलङ्कारों के महत्त्व का समग्रभाव से वर्णन कौन कर सकता है ? (**कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति**) । दण्डी ने न केवल गुणों को ही अलंकार के गर्भ में समाविष्ट किया है, वल्कि सन्धि, सन्ध्यङ्ग आदि तत्त्वों को भी अलङ्कार में समाविष्ट कर लिया है । इस प्रकार दण्डी पर अग्निपुराण का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है । इस प्रकार अग्निपुराणकार, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि आचार्य गुण और अलङ्कार को समान महत्त्व देते हैं ॥ १ ॥

शब्दालंकार का लक्षण

अर्थ—जो (अलङ्कार) व्युत्पत्ति आदि के द्वारा शब्द को अलङ्कृत करते हैं । उसे काव्यशास्त्र के वेत्ता शब्दालङ्कार कहते हैं ॥ २ ॥

विमर्श—कुछ पाण्डुलिपियों में 'व्युत्पत्त्यदिना शब्दम्' के स्थान पर 'व्युत्पादितान् शब्दान्' पाठ मानते है । उनके अनुसार यह अर्थ होगा कि "जो प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना से सिद्ध शब्दों को अलंकृत करने में समर्थ हैं, उन्हें काव्यशास्त्री शब्दालङ्कार कहते हैं । इस प्रकार व्युत्पादित शब्द ही शब्दालङ्कार होते हैं ॥ २ ॥

---

१. ये व्युत्पत्यादितान शब्दान—इति पाठान्तरम् ।
२. शब्दालङ्कारनाम्नस्तान् इति पाठान्तरम् । ३. विदु इति पाठान्तरम् ।

तत्र शब्दालङ्कारान् विभजते—

छाया मुद्रा तथोक्तिश्च युक्तिर्गुम्फनया सह ।
वाकोवाक्यमनुप्रासश्चित्रं दुष्करमेव च ।
ज्ञेया नवालङ्कृतयः शब्दानामित्यसङ्करात् ॥ ३ ॥

अथ छायां लक्षयति—

तत्रान्योक्तेरनुकृतिश्छाया सापि चतुर्विधा ।
लोकच्छेकार्भकोक्तीनां मत्तो[1]क्तेरनुकारतः ॥ ४ ॥
आभाषणं हि लोकोक्तिः[2] सर्व्वसामान्य एव तान्[3] ।
यानुधावति लोकोक्तिश्छायामिच्छन्ति तां बुधाः ॥ ५ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

छायादयो नवशब्दानामसङ्करादमेलनादलङ्कृतयो ज्ञेयाः । कश्चितु "वक्रोक्तिरप्यनुप्रासः श्लेषश्चित्रमिति स्मृतम्" इति चतुर्विधमलङ्कारमाह, तदसमग्रवचनादसाधु । न च तदार्षः । अपरश्चाह–पुनरुक्तिवदाभासोऽनुप्रासश्लेषचित्रकम् । इति चतुर्विधम् तदप्यशास्त्रमनाप्तवचनात् ॥ ३ ॥

अन्येषामुक्तेरनुकृतिरुक्तिश्छाया नाम शब्दालङ्कार उच्यते। सा छायाऽपि लोकोक्त्यादिभेदेन चतुर्विधा ॥ ४ ॥

शब्दालंकार के भेद

अर्थ—छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फना, वाकोवाक्य, अनुप्रास, चित्र और दुष्कर ये नौ शब्दालङ्कार हैं ॥ ३ ॥

१ – छाया अलंकार

अर्थ—अन्य के कथन की अनुकृति (अनुकरण) छाया नामक शब्दालंकार होता है । उसके चार भेद हैं—लोकोक्ति, छेकोक्ति, अर्भकोक्ति और मत्तोक्ति ॥४॥

विमर्श—इसमें अनुकर्त्ता अनुकार्य के कथन का अनुकरण करता है और उसके अनुकरण में चमत्कार का अनुभव होता है, इसलिए इसे शब्दालंकार माना गया है ॥४॥

---

१. "एकोक्तेः" इति पाठान्तरम् ।
२. आभाणकोक्तिर्लोकोक्तिः इति पाठान्तरम् ।
३. "ता." इति पाठान्तरम् ।

छेका विदग्धा वैदग्ध्यं कलासु कुशला मतिः ।
तामुल्लिखन्ती छेकोक्तिश्छायाकविभिरिष्यते ।। ६ ।।

काव्यप्रभावृत्तिः

तत्र लोकोक्तिच्छायां लक्षयति—आभाषणमित्यादि—लोकोक्तिराभाषणमात्रापस्तां लोकोक्तिं सर्व्वसामान्ये यद्रूपेण परस्परमालपति, तत् सामान्यरूपा या तूक्तिरनुधावति । तामुक्तिं लोकोक्तिच्छायां बुधा इच्छन्ति । यथा—

नातिक्रामेत् क्रियाकालं कः कालः कर्मणां बुधैः ।
यदा यत्कर्म विहितं स तस्येति मया श्रुतम् ।।१।।

(१) लोकोक्ति का लक्षण—

अर्थ—लोक में सामान्य रूप से प्रसिद्ध कथन को लोकोक्ति कहते हैं, उस लोकोक्ति का जहाँ पर अनुकरण किया जाय, उसे लोकोक्ति नामक छाया अलङ्कार कहते हैं ।।५।।

विमर्श—लोक में सामान्य रूप से प्रचलित कथन के अनुकरण को लोकोक्ति कहते हैं । अर्थात् लोक में कुछ मुहावरे प्रचलित हैं, जिन्हें लोकोक्ति कहते हैं । जहाँ पर उस लोकोक्ति का अनुकरण होता है, उसे लोकोक्ति अलंकार कहते हैं । जैसे—

नातिक्रामेत् क्रियाकालं कः कालः कर्मणां बुधैः ।
यदा यत्कर्म विहितं स तस्येति मया श्रुतम् ।।१।।

क्रिया (कार्य) का समय नहीं टालना चाहिए, कर्म करने का क्या समय है ? जब जो कर्म करना हो, वही उसका समय है, ऐसा मैंने सुना है । यहाँ उत्तरार्द्ध में लोकोक्ति का प्रयोग है ।।५।।

(२) छेकोक्ति का लक्षण—

अर्थ—छेक का अर्थ विदग्ध होता है और कलाओं में कुशल बुद्धि को वैदग्ध्य कहते हैं । उस विदग्धता का उल्लेख करने वाली उक्ति को कवियों ने छेकोक्ति कहा है ।।६।।

विमर्श—छेक का अर्थ है विदग्ध-कथन । जब कला में कुशल बुद्धि वाला व्यक्ति कुशलता से उस विदग्ध वचन का कथन करता है तो उसे छेकोक्ति नामक छाया अलङ्कार कहते हैं । जैसे—

दत्तोऽस्याः प्रणयस्त्वयैव भवतेवेयं चिरं लालिता ।
दैवादद्य पुनस्त्वमेव कृतवानस्या नवं विप्रियम् ।।
मन्युर्दुःसह एष यात्युपशमं नो शान्तवादैः स्फुटम् ।
हे निःशङ्क ! विमुक्तकण्ठकरुणं तावत् सखी रोदितु ।।२।।

यहाँ पर छेकोक्ति अलंकार है ।।६।।

अव्युत्पन्नोक्तिरखिला बालकोक्त्योपलक्ष्यते[1] ।
तेनार्भकोक्तिश्छाया तन्मात्रोक्तिमनुकुर्वती[2] ॥ ७ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ छेकोक्तिमाह—विदग्धा नारी छेका तस्या वैदग्ध्यं कलासु मनोवाग्बुद्धि-वपुषामारम्भेषु कुशला मतिः । तां कलाकुशलमतिमत्या नार्या उक्तिमुल्लिखन्ती या कवेरुक्तिः सा छेकोक्तिश्छायाकविभिरिष्यते । यथा—

दत्तोऽस्याः प्रणयस्त्वयैव भवतैवेयं चिरं लालिता ।
दैवादद्य पुनस्त्वमेव कृतवानस्या नवं विप्रियम् ॥
मन्युर्दुःसह एष यात्युपशमं नो शान्तवादैः स्फुटम् ।
हे निःशङ्क ? विमुक्तकण्ठकरुणं तावत् सखी रोदितु ॥२।

इह कलाकुशलमतिमत्याः सख्या उक्तिमुल्लिखति । कवेरुक्तिरिति छेकोक्तिः ॥६॥

अर्भकोक्तिमाह—बालकानामुक्त्या सर्वैरव्युत्पन्नजनोक्तिरुपलक्ष्यते । तेन तदव्युत्पन्नजनमात्रोक्तिमनुकुर्वती यैवोक्तिः सार्भकोक्तिः छायानामशब्दालङ्कार इति । यथा—

वैष्णवानां यथा शम्भुर्नदीनां यमुना यथा ।
देवानाञ्च यथा विष्णुः शास्त्राणां वेद उत्तमः ॥३॥

अव्युत्पन्नानामुक्तिमनुकुर्वतीयमुक्तिरर्भकोक्तिश्छाया ।

एवम्—

बृहदाम्रफलं मातर्नादास्यश्चेदहं तदा ।
नापास्यं दुग्धमित्युक्त्वा भूमौ लुठति रोदिति ॥४॥

इत्यर्भकोक्तिश्छायालङ्कारः ॥७॥

---

(३) अर्भकोक्ति का लक्षण—

अर्थ—बालक की उक्ति के समान अव्युत्पन्न लोगों की उक्ति होती है, इसलिए अव्युत्पन्न जन की अनुकरण करने वाली उक्ति को अर्भकोक्ति नामक छाया अलङ्कार कहते हैं ॥७॥

विमर्श—अग्निपुराण में अव्युत्पन्न व्यक्ति की उक्ति को बालक की उक्ति के समान बताया गया है । अतः अव्युत्पन्न जन की उक्ति को अर्भकोक्ति नामक अलंकार कहते हैं । जैसे-

बृहदाम्रकलं मातर्नादास्यश्चेदहं तदा ।
नापास्यं दुग्धमित्युक्त्वा भूमौ लुठति रोदिति ॥४॥

हे मातः ! यदि आम के बड़े फल को नहीं दोगी तो मैं दूध नहीं पिऊँगा, ऐसा कह कर बालक भूमि पर लोटता है और रोता है । यहाँ पर बालक के समान अव्युत्पन्न उक्ति होने से अर्भकोक्ति अलंकार है ॥७॥

---

१. अव्युत्पन्नोक्तिरखिलैरर्भकोक्त्योपलक्ष्यते-इति पाठान्तरम् ।
२. अनुकुर्व्यती— ब, इति पाठान्तरम् ।

विप्लुताक्षरमश्लीलं[1] वचो मत्तस्य तादृशी ।
या सा भवति मत्तोक्ति[2]श्छायोक्त्या[3]प्यतिशोभते ॥ ८ ॥

अथ मुद्रामाह—

अभिप्रायविशेषेण कविशक्तिं वितन्वती[4] ।
मुद्दायिनीति[5] सा मुद्रा सैव शय्यापि नो मते ॥ ९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ मत्तोक्तिमाह—मत्तस्य मद्यपानादिना जातमदस्य वचः खलु विप्लुताक्षरं विप्लुतमविस्पष्टं पदं पदार्थं स्पष्टमस्पष्टञ्च पदार्धं पदैकदेशो वेति यत्र तदविप्लुताक्षरं वचः। अश्लीलं ग्राम्यवचनं, तादृशी तु या जनानामुक्तिः सा मत्तोक्तिश्छाया तयोक्त्याऽपि शोभते । यथा—

फल ऊल कषायेण जीवित अनयन्निमे ।
दुर्भगा न मधुस्वादु विअन्तिरे रे रे चिरम् ॥५॥

इति मत्तोक्तिश्छाया नामालङ्कारः ॥८॥

अथ मुद्रामाह—यातूक्तिरभिप्रायविशेषेण कवेः शक्तिं शक्तिविशेषं वितन्वती विस्तारं कुर्व्वती सती मुत्प्रदायिनी च भाति, सा मुद्रा नाम शब्दालङ्कार इति कविभिरुच्यते । नैव नोऽस्माकं मते शय्या नाम शब्दालङ्कार इत्यग्निरुवाच । यथा—

---

(४) मत्तोक्ति का लक्षण

अर्थ—अस्पष्ट, अश्लील और उसी प्रकार प्रमत्त व्यक्ति की उक्ति (कथन) को मत्तोक्ति नामक छाया अलंकार कहते हैं, जो कहे जाने पर अच्छी लगती है ॥ ८ ॥

विमर्श—मतवाले (मदमस्त) व्यक्ति का अस्पष्ट और अश्लील वचन और उस प्रकार जनोक्ति को मत्तोक्ति अलङ्कार कहते हैं । जैसे—

फल ऊल कषायेण जीवित अनयन्निमे ।
दुर्भगा न मधुस्वादु विअन्तिरे रे रेचिरम् ॥५॥

यहाँ पर प्रमत्त कथन होने से मत्तोक्ति नामक छाया अलङ्कार है ॥८॥

२—मुद्रा अलङ्कार

अर्थ—किसी विशेष अभिप्राय से कवि की शक्ति को प्रदर्शित करने वाली और आनन्द देने वाली उक्ति को 'मुद्रा' नामक अलङ्कार कहते हैं । उसे शय्या भी कहते हैं ॥ ९ ॥

---

१. "विप्लुतासरमश्लीषं" इति पाठान्तरम् । २. न, ल—मन्त्रोक्तिः इति पाठान्तरम् ।
३. मत्तोक्तिश्छायोक्ता इति पाठान्तरम् ।
४. मुद्रितपुस्तके विवृण्वती-इति पाठान्तरम् । ५. उदाराभाति-इति पाठान्तरम् ।

अथोक्तिर्नाम उच्यते :—

उक्तिः सा कथ्यते यस्यामर्थः कोऽ[1]प्युपपत्तिमान् ।
लोकयात्रार्थविधिना धिनोति हृदयं सताम् ॥ १० ॥
उभौ विधिनिषेधौ च नियमानियमावपि ।
विकल्पपरिसङ्ख्ये[2] च तदीयाः षड्विधोक्तयः[3] ॥ ११ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

"सारमानवरारोहा हारोरावनमारसा ।
याहिनामगभागेन नगेभागमनाहिया ॥६॥

इति कवेः शक्तिमनुलोमप्रतिलोमाभ्यां तुल्यपाठशब्दविन्यासकरीं वितनुते त्वियमुक्तिः ॥ ९ ॥

अथोक्तिं लक्षयति—विधिर्विधायकः कर्त्तव्यतयोपदेशो लोकानां यात्रार्थ-शुभोदये न कालयापनार्थं तेन विधिना कोप्यर्थं उपपत्तिमान् यस्यामुक्तौ सतां हृदयं धिनोति प्रीणाति सा तथाविधोपदेशविषयार्थस्योक्तिः उक्तिर्नामशब्दालङ्कारः कथ्यते ॥ १० ॥

विमर्श—जो उक्ति किसी विशेष प्रयोजन से कवि की शक्ति का विस्तार करती हुई आनन्द प्रदान करती है, उसे 'मुद्रा' नामक छाया अलङ्कार कहते हैं, उसे ही हमारे मत से शय्या नामक अलङ्कार भी कहते हैं। जैसे—

सारमानवरारोहा हारोरावनमारसा ।
याहिनामगभागेन नगेभागमनाहिया ।।६।।

यहाँ पर उलटा-सीधा पढ़ने पर समान शब्दों के विन्यास करने वाली शक्ति प्रदर्शित होती हैं। इसीलिए यहाँ पर 'मुद्रा' अलंकार है ।।९।।

३—उक्ति अलंकार

अर्थ—जहाँ पर किसी बात को लोक-व्यवहार की विधि के अनुसार कहा जाता है और जिससे सहृदयों का हृदय प्रसन्न होता है उस उक्ति को 'उक्ति' नामक अलंकार कहते हैं। वह विधि, निषेध, नियम, अनियम, विकल्प और परिसंख्या भेद से छः प्रकार का होता है ।। १०-११ ।।

---

१. मुद्रितपुस्तके यस्यामर्थकोऽ-इति पाठः, न, ल पुस्तकयोः कस्मात्सर्वार्थाभ्युपत्तिमान् इति पाठान्तरम् ।
२. वैषम्यपरिसंख्ये-इति पाठान्तरम् ।
३. छ, ज, भ पुस्तकेषु षड्थोक्तयः इति क, ग, प, फ पुस्तकेषु षोडशोक्तयः इति ।

काव्यप्रभावृत्तिः

तदीया लोकयात्रार्थविधिनार्थस्योपपत्तिमतः सतां हृदयप्रीतिजनिका उक्तयः षड्विधा भवन्ति। तत्रोभौ द्वौ विधिनिषेधौ द्वौ नियमानियमौ द्वे विकल्पपरिसङ्ख्ये चेति षड्विधाः। तत्र वेदस्मृतीतिहासपुराणादिषु लोकव्यवहारे यावतां कर्मणां विध्युपदेशा उपपत्तिमतामर्थानां लोकयात्रार्थविधिना सन्ति तथैवोपपत्तिमान् यः कोप्यर्थो विधायकः स विधिस्तद्विनियोगवचनं चतुर्धा स्तुतिनिन्दापरकृतिपुराकल्प-भेदात् काव्ये विध्युक्तिर्नामोक्तिः शब्दालङ्कारः। यथा—

विप्रक्षत्रियवैश्यजातिपुरुषा वर्णोक्तधर्म्मानिह
गर्भाधानमुखान् यथाविधि यथाकालं भजेरन् शुभान्।
कुर्युस्तेप्युपनीतितोऽपि विधिना प्राग्ब्रह्मचर्याश्रमं।
पूर्णे तत्र गृहे वसेदथ यथोक्तञ्चाचरेयुः क्रियाम् ॥७॥

विमर्श—लोक व्यवहार के अनुकूल विधि के द्वारा सज्जनों (सहृदयों) के हृदय को आनन्द देने वाली विशेष अर्थयुक्त उक्ति को 'उक्ति' अलंकार कहते हैं। इस उक्ति अलंकार के छः भेद होते हैं—विधि, निषेध, नियम, अनियम, विकल्प और परिसंख्या। इनमें वेद, पुराण, इतिहास आदि में लोक व्यवहार में जो विधिपरक उपदेश वचन है, उनका लोक-व्यवहार के अनुकूल विनियोग चार प्रकार से होता है—स्तुति, निन्दा, परवृति और पुराकल्प। जैसा कि कहा गया है कि 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णोक्त धर्म का यथाविधि यथासमय आचरण करे। वे प्रथम उपवीत होकर ब्रह्मचर्य आश्रम के अनुकूल धर्म का पालन करे। ब्रह्मचर्य आश्रम का समय पूरा हो जाने पर गृहस्थ आश्रम के अनुकूल धर्म का आचरण करे।'' यहाँ पर विधि पद प्रशंसा में विनियुक्त है। प्राप्त अर्थ का निषेध निषेधोक्ति है। जैसे—

संस्कारसमयं विद्वान् द्विजो नैवातिवर्त्तयेत्।
विशेषेणोपवीतस्य कालं व्रात्यो भवेद् यतः ॥८॥

यहाँ पर निन्दा विधि से निषेध किया गया है। उनमें नियमविधि है और उक्त अर्थ से निवृत्ति प्रतिषेध है। जैसे 'ऋतुमती स्त्री के तीन दिन बाद समीपस्थ पति स्त्री के साथ संसर्ग करे, नहीं तो भ्रूण-हत्या का पाप लगता है।' यहाँ पर ऋतुकाल में पत्नी के संसर्ग आवश्यक है' यह नियम है। नियम के विपरीत उक्ति (कथन) अनियम है। इसी प्रकार अन्य भेदों को भी समझना चाहिए ॥१०-११॥

काव्यप्रभावृत्तिः

इह विधिपदं प्रशंसायां फललक्षणायामुपचर्य्यम्। निषेधस्तु तद्विविधविनियोगवचने प्राप्तानामर्थानां वर्जनं वचनं निषेधोक्तिर्नामोक्तिः। यथा—

"संस्कारसमयं विद्वान् द्विजो नैवातिवर्त्तयेत्।
विशेषेणोपवीतस्य कालं व्रात्यो भवेद् यतः ॥८॥

निन्दाविधिविनियोगप्रतिषेधः। उभौ नियमानियमौ च। तत्र नियमो विधिः। विनिर्युक्तार्थान्निवृत्तिप्रतिषेधः। तत्तदर्थतो निवृत्तिप्रतिषेधो हि नियम उच्यते। यथा—

गृही व्रजेदेव हि पर्ववर्जमृतौ त्रिरात्रं समतीत्य भार्याम्।
युनक्ति हि भ्रूणहति सुघोरमात्मन्यगच्छन् निकटस्थितस्तु ॥९॥

अत्र ऋतौ भार्य्यानिकटस्थः पतिर्व्रजेत्, दूरतस्तु न व्रजेदिति नियमः। न वा ऋतावेवेति नियमः। अनियमस्तु नियमोक्तिविपर्ययवचनं विध्यर्थस्येह। यथा—

ओष्ठ्ये स काममनृतौ व्रजेद्वा भार्या विरंसुर्मतिमान् यथेष्टम्।
यः स्यात् स दारव्रत एव वान्यो न तस्य धर्माच्च्यवनं ततः स्यात् ॥ १०॥

विकल्पस्योदाहरणं यथा—

केचिद्वदन्त्याश्रमाणां क्रमोऽयमादावेव ब्रह्मचर्याश्रमोऽथ
गार्हस्थ्यञ्चारण्ययानं ततश्च विप्रो वै स्यात् भिक्षुको ब्रह्मनिष्ठः।
अन्ये ब्रुवन्त्याश्रमाणां क्रमोऽयमादावेव ब्रह्मचर्याश्रमोऽथ।
गार्हस्थ्यान्ते भिक्षुको ब्राह्मणः स्यादन्ते तस्य स्याच्च वैखानसो वा ॥११॥

इति विकल्पोक्तिः।

परिसङ्ख्येति—यस्य न विधिर्न निषेधो न नियमो नानियमो नैव वैषम्यं तस्य परितः सर्वतः सङ्ख्या सङ्ख्यानं विनियोगवचनं परिसंख्या विध्यादिपञ्चधोक्तिं परिवर्जयित्वा संख्याविनियोगवचनं परिसंख्या इति। यथा—

अविप्लुतब्रह्मचर्योऽपि विप्रो वाञ्छन् कुर्यान्नैष्ठिकीं ब्रह्मचर्याम्।
कुर्यादिच्छन् स्नातकस्तद्व्रतं वा वाञ्छन् भार्या सूद्वहन् वा गृही स्यात् ॥१२॥
इति परिसंख्या ॥१०-११॥

अथ युक्तिर्नाम उच्यते—

अयुक्तयोरिव मिथो वाच्यवाचकयोर्द्वयोः ।
योजनायै कल्प्यमाना युक्तिरुक्ता मनीषिभिः ॥ १२ ॥
पदञ्चैव पदार्थश्च वाक्यं वाक्यार्थ एव[1] च ।
विषयोऽस्याः प्रकरणं प्रपञ्चश्चेति षड्विधः ॥ १३ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथयुक्तिमाह—वाच्यवाचकयोर्द्वयोरिति वाच्यमर्थः । वाचकं पदं वाक्यञ्च । वाच्यञ्च वाचकञ्चेति विग्रहे सामान्यत एकवचनम् । तयोर्वाच्यवाचकयोरिति द्वयोर्वाच्ययोर्बहूनाञ्च वाच्यानां तथा द्वयोर्वाचकयोर्बहूनां वाचकानाञ्च सामान्यत एकवचननिर्देशेन प्राप्तिः । द्वयोरिति विषयप्रकरणयोरिति एकस्यान्वयासम्भवात् । वाच्यमनेकमयुक्त मिव वाचकमनेकमयुक्तमिवेत्येतयोर्द्वयोरेव वाच्यवाचकयोर्विषयप्रकरणयोर्द्वयोरनेकविषयाणामनेकप्रकरणानामित्येतयोर्द्वयोर्मिथोऽयुक्तयोरनन्वितयोरिव योजनायै योगकरणार्थं या बुद्धेः कल्प्यमाना कुशलता सा युक्तिर्मनीषिभिरुक्ता ॥१२॥

४—युक्ति अलंकार

अर्थ—वाच्य और वाचक (शब्द और अर्थ) के अनन्वित होने पर (अन्वय न होने से) अपने अभिप्राय (योजना) को प्रकट करने की कल्पना को मनीषियों ने युक्ति नामक अलङ्कार कहा है। पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ, प्रकरण तथा प्रबन्ध ये युक्ति के छः प्रकार बताये गये है ॥ १२-१३ ॥

विमर्श—वाच्य और वाचक अर्थात् विषय और प्रकरण में परस्पर अन्वय न होने से उसके अन्वय के लिए बुद्धि की कल्पना को 'युक्ति' अलङ्कार कहते हैं। जैसे—

माता न माता न पिता पितास्य न पुक्कशः पुक्कशो योगसिद्धेः ।
स्वच्छन्दचारी विचरेच्च लोके मानापमानाच्च्युतबुद्धिरेषः ॥

अर्थात लोक में जो स्वच्छन्दचारी है उसकी माता माता क्यों नहीं है ? पिता पिता क्यों नहीं है ? इस विप्रतिपत्ति में योजना (युक्ति) यह है कि योगसिद्धि के लिए सर्वत्र ही माता, पिता आदि में ब्रह्म का रूप देखने से माता-पिता की दृष्टि नहीं रहती। इस प्रकार पदार्थ का अन्वय किया गया है। अतः यहाँ पदार्थ युक्ति नामक अलङ्कार है। इसी प्रकार अन्य भेदों के उदाहरण भी समझने चाहिए। विशेष ज्ञान के लिए काव्यप्रभावृत्ति देखिये।

---

१. वाक्यार्थमेव च —इति पाठभेदः ।

काव्यप्रभावृत्तिः

तथा चास्या युक्तेः प्रपञ्चो यावान् भवति तावन्तमाह—पदञ्चेत्यादि। अस्या युक्तेः प्रपञ्चः पदादिभेदेन षड्विधो भवति—अयुक्तवदनेकपदयोजनार्था युक्तिः, अयुक्तवदनेकपदार्थयोजनार्था युक्तिः, अयुक्तवदनेकवाक्ययोजनार्था युक्तिः, अयुक्तवदनेकवाक्यार्थयोजनार्था युक्तिः, अयुक्तवदनेकविषययोजनार्था युक्तिः। (विषयो वर्ण्यः) अयुक्तवदनेकप्रकरणयोजनार्था युक्तिश्चेति षड्विधो युक्तेः प्रपञ्चः। यथा—

योगं मुमुक्षुस्तु शुचौ विविक्ते मिताशनोऽभ्यस्य चिरं यतात्मा।
आत्मानमात्मन्यमलात्मनैव युञ्जन् विमुक्तो भवतीह योगी ॥१३॥

इह मुमुक्षुरित्यादिकर्तृपदादीनां व्यवधानादयुक्तानामिव योजनार्था युक्तिः योगमभ्यस्येति द्वयोः पदयोरात्मानं युञ्जन्निति। इति पदयुक्तिः।

माता न माता न पिता पितास्य न पुक्कशः पुक्कशो योगसिद्धेः।
स्वच्छन्दचारी विचरेच्च लोके मानापमानाच्च्युतबुद्धिरेषः ॥१४॥

इह पदार्थानामनन्वय इव भाति। यो हि लोके विचरेत् स्वच्छन्दचारी च तस्य माता मातेव कथं न मातेत्यादि विप्रतिपत्तौ योजनार्था युक्तिरियं योगसिद्धेर्हेतोरस्य सर्वत्रैव मात्रादिषु ब्रह्मरूपदर्शनान्न मातापित्रादिदृष्टिरित्येवं पदार्थानां योजना क्रियते। इति पदार्थयोजनार्था युक्तिः यत्र पदार्थो हि वाच्यम्।

युक्तो जितात्मा किल सिद्धयोगो निष्काम आनन्दमयो महात्मा।
स्तनौ कराभ्यां युवतेर्गृहीत्वा स क्रीड़ति स्मेरमुखो विलज्जः ॥१५॥

अत्र पूर्वार्धश्लोके वाक्यार्थस्य शेषार्द्धं श्लोकवाक्यार्थेन सहानन्वितस्यैव योजनार्था युक्तिरियम्—युक्तौ जितात्मादिः। पुरुषो मनोविकाराभावात् सर्वत्र ब्रह्मदर्शनात् युवतिस्तने करस्थापनमात्मपरीक्षार्थं कृतवानिति वाक्यार्थयोजनार्था युक्तिः।

"यथार्थवादी परतत्त्वदर्शी यतिः सदा नन्दति नन्दति स्त्री।
पत्या सहार्च्यामथाचरेच्च काले च भिक्षामर्हतीप्सयैव" ॥१६॥

इह यथार्थवादी परतत्त्वदर्शी यतिः सदा नन्दतीति वाक्यस्य नन्दति स्त्री पत्या सहार्च्यामथाचरेच्चेति वाक्येन सहानन्वितस्यैव योजनार्था युक्तिरियम्। तादृशो यतिस्तत्र गृहे काले ईप्सया भिक्षामर्हति या स्त्री पत्या सह नन्दति यद्धर्म्मं कर्म्मवाच्यं तदाचरेच्च इति वाक्ययोजनार्था युक्तिः।

अथ गुम्फनां लक्षयतिः—

गुम्फना रचना चार्थ[1]शब्दानुक्रम[2]गोचरा ।
अर्थानुकारच्छब्दानुपूर्व्या वस्तु क्रमात् त्रिधा[3] ॥ १४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

"स्वाध्यायदेवातिथिभूतपितृयज्ञैः सदा राजते यस्तु विप्रः ।
विभज्य चान्नानि यथावदग्रे भुङ्क्तेऽवशिष्टं प्रहरद्वयान्ते" ॥१७॥

इह यतिर्वर्ण्यः विप्रश्च वर्ण्यस्तयोरनन्वितयोरिव योजनार्था युक्तिरियम् । यतिरीप्सयैव काले यत्र गृहे भिक्षार्हति स विप्रः स्वाध्यायेत्यादिरिति विषययोजनार्था-युक्तिः । एवं यतिप्रकरणे गृहस्थप्रकरणमयुक्तमिवेति प्रकरणयोजनार्थाऽपीहेयं युक्तिः ॥ १३ ॥

अथ गुम्फनां लक्षयति—गुम्फना नाम रचना सा चार्थशब्दानुक्रमगोचरा, अर्थगोचरा, शब्दगोचरानुक्रमगोचरा । तत्र त्वर्थानुकारादर्थगोचरा शब्दानुपूर्व्याच्छब्द-गोचरा, वस्तुक्रमादनुक्रमगोचरा इति त्रिधा । अर्थानुकारादर्थगोचरा रचना । यथा तैत्तिरीयोपनिषदि—

असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सद् जायते ।
तदात्मानं स्वयमकुरुते तस्मात्तत् सुकृतमुच्यते ॥ १८ ॥

५—गुम्फना अलंकार

अर्थ—शब्द और अर्थ के क्रम को दृष्टि में रखकर सम्यग् रूप से किया गया ग्रन्थन (संयोजन) गुम्फना नामक अलंकार कहलाता है । यह गुम्फना अलंकार शब्द, अर्थ और वस्तु के अनुक्रम से तीन प्रकार का होता है—शब्दानुक्रमगोचरा, अर्थानुक्रमगोचरा तथा वस्तुक्रमानुक्रमगोचरा ॥ १४ ॥

विमर्श—गुम्फना नामक अलंकार के अर्थ के अनुक्रम से अर्थगोचरा, शब्द के अनुक्रम से शब्दगोचरा और वस्तु के अनुक्रम से अनुक्रमगोचरा ये तीन भेद होते हैं । इनके उदाहरणों का विस्तृत विवरण काव्य प्रभावृत्ति में देखिये ॥१४॥

---

१. 'भ' "पुस्तके चार्था" इति, मुद्रितपुस्तके चार्था इति पाठभेद ।
२. "शब्दार्थक्रम" इति पाठभेदः ।
३. "शब्दानुकारादर्थापूर्वार्थेयं (पूर्वाश्चैयं वा) क्रमात् त्रिधा" इति पाठभेदः ।

काव्यप्रभावृत्तिः

शब्दानुपूर्व्याच्छब्दगोचरा यथा कठोपनिषदि—

न जायते न म्रियते वा विपश्चिन् ।
नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ॥
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो ।
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १९ ॥

इत्येतस्य शब्दानुपूर्व्या रचना । भगवद्गीतायां श्लोकश्चायं कृष्णेनोक्तः । अन्यथा वेदत्वं चेत् तदा सूतस्य संजयस्योच्चारणं न सम्भवति । शब्दानुपूर्व्यात् रचितत्वात् तु महाभारते इतिहासत्वं ते न संजयस्योच्चरणमुपपद्यते ।

वस्तुक्रमादनुक्रमगोचरा रचना यथा—

सदेवेदमग्र आसीत् तत्तेजोऽसृजदेव तत् ।
अपः ससर्जेता आपस्त्वसृजन्तान्नमेव च ॥
ताः तिस्रो देवता गुप्तसदनो प्रविश्य च स्वयं ।
पुरा बभूव गायत्री वाग्रूपा सा सरस्वती ॥
सा शान्त्यादिः चतुःशक्तिरूपा भूत्वा स्वयं पुनः ।
परमव्योमरूपस्तु परमात्मा शिवोऽभवत् ॥
वाग्रूपा सा त्वजा देवी व्योरूपस्त्वजः शिवः ।
शिवानुशायतो चाजा सद्ब्रह्म सच्छिवे पुरा ॥
ओंकारमातृकावर्णरूपा विद्या तदाश्रया ।
सदाशिवाख्यः पृथग् ब्रह्मपुरुष एव सत् ॥
मातृकावर्णसंयोगात् ऋक्यजुःसामरूपिणी ।
त्रिविधाऽपरा विद्या वेदास्तदाश्रयाः पुनः ॥
चत्वार एते च पञ्च स्युः ब्रह्मपुरुषास्ततः ।
एकीभूतमिदं सर्वं सदेवाऽभूत् ततस्तु सत् ॥
कालः क्षेत्रज्ञपुरुषः प्रधानं चेति च त्रयम् ।
एकीभूतानन्दमय आत्माऽभूत् स्वयमेव हि ॥
तदव्यक्तं चतुर्विंशत्तत्त्वमाहुः मनीषिणः ।
तस्मान्महानभूत्तस्मादहङ्कारस्त्रिधाऽभवत् ॥२०॥

इत्यादि वस्तुक्रमादनुक्रमगोचरा रचना गुम्फनानाम शब्दालङ्कारः ॥ १४ ॥

अथ वाकोवाक्यं नाम शब्दालङ्कारमाह—

उक्तिप्रत्युक्तिमद् वाक्यं वाकोवाक्यं द्विधैव तत् ।
ऋजुवक्रोक्तिभेदेन तत्राद्यं सहजं वचः ॥ १५ ॥
साऽपूर्वप्रश्निकाप्रश्नपूर्विकेति द्विधा भवेत् ।
वक्रोक्तिस्तु भवेद्भङ्ग्या काकुस्तेन कृता द्विधा ॥ १६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

वाकोवाक्यं लक्षयति—उक्ति-प्रत्युक्तिमद्वाक्यं 'वाकोवाक्यं' नाम शब्दालङ्कारः। तद् द्विविधम्—ऋजूक्त्या, वक्रोक्त्या च। तत्र सहजं स्वाभाविकं वचः ऋजूक्त्या वाकोवाक्यम्। तत्र सा ऋजूक्तिर्द्विधा—अपूर्वप्रश्निका, प्रश्नपूर्विका च। तत्र विना प्रश्नं पूर्वं योक्तिः सा अपूर्वप्रश्निका। प्रश्नः पूर्वं यत्र सा चोक्तिः प्रश्नपूर्विका। तत्र अपूर्वप्रश्निका यथा—

शृणु वत्स त्वया कार्यो धर्म्यो दारपरिग्रहः।
पितुर्बन्धाय भवति दाराणां तु परिग्रहः ॥२१॥

इति सहजं वचनं वाकोवाक्यम्। प्रश्नपूर्विका तु यथा—

किं कारणं ब्रह्मकुलस्तु जाता जीवात्मकेन कश्च सम्प्रतिष्ठिता।
अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्यम् ॥२२॥
कालः स्वभावो नियतिः यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषेति चिन्ता।
संयोग एषां न तु आत्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥२३॥

६—वाकोवाक्य अलंकार

अर्थ—उक्ति-प्रत्युक्ति वाले वाक्य को वाकोवाक्य कहते हैं। वाकोवाक्य अलंकार ऋजु और वक्रोक्ति भेद से दो प्रकार का होता है। स्वाभाविक कथन को ऋजु नामक वाकोवाक्य कहते हैं। ऋजु अलंकार के भी दो भेद होते है—अपूर्वप्रश्निका और प्रश्नपूर्विका। वक्र कथन (भङ्गीभणिति) को वक्रोक्ति कहते हैं। वक्रोक्ति के दो भेद होते हैं—भङ्गिमापूर्णवचन और काकुवचन (काकु के द्वारा कथित वचन) ॥ १५-१६ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में 'वाकोवाक्य' नामक एक शब्दालङ्कार माना गया है। उक्ति-प्रत्युक्ति से युक्त वाक्य 'वाकोवाक्य' कहलाता है। वाकोवाक्य के दो भेद बताये गये हैं—ऋजु और वक्रोक्ति। उनमें सहज (स्वाभाविक) कथन को ऋजु कहते हैं। इसी को अन्य आचार्यों ने स्वभावोक्ति अलंकार कहा है। यह 'ऋजूक्ति' भी दो प्रकार की होती है—अपूर्वप्रश्निका और प्रश्नपूर्विका। इसमें बिना प्रश्न के जो उक्ति है उसे 'अपूर्वप्रश्निका' कहते हैं। जैसे—

शृणु वत्स त्वया कार्यो धर्म्यो दारपरिग्रहः।
पितुर्बन्धाय भवति दाराणां तु परिग्रहः ॥ २१ ॥

यहाँ पर स्वाभाविक कथन होने से ऋजूक्ति नामक वाकोवाक्य अलंकार है।

काव्यप्रभावृत्तिः

वक्रोक्तिं लक्षयति—वक्रोक्तिस्तु भवेद् भङ्ग्या इति। शब्दतश्चार्थतश्च भङ्गीं विधाय यदुच्यते सा वक्रोक्तिः। काकुश्च यः शोकभयादिभिर्ध्वनिविकारः तेन कृतोक्तिर्वक्रोक्तिरित्यतो द्विधा। तत् यथा—वाचोभङ्गी या पदान्तर्योगाद् भवति। तत्र द्विविधेन श्लेषेण वाचोभङ्गी भवति। पदाभङ्गश्लेषेण पदभङ्गश्लेषेण च। ये त्वष्टविधमाहुः—पदश्लेषेण वक्रोक्तिर्वर्णश्लेषेण, प्रत्ययश्लेषेण, लिङ्गश्लेषेण प्रकृतिश्लेषेण, विभक्तिश्लेषेण, तद्वचनश्लेषेण, भाषाश्लेषेण चेति। तत्र सप्तविधं श्लेषं पदभङ्गश्लेषेऽन्तर्भूतमिति। यथा—

पण्डिते बहुविधे च स्त्रीजने बहुभूषणे।
भोजने व्यञ्जनाढ्ये च को रसो गोरसो रसः॥ २४॥

इति बहुविधे पण्डिते को रस इति प्रश्ने उत्तरं गोरसो वाग्रसो रसः। बहुभूषणे स्त्रीजने को रसः गोरसो नेत्ररसो रसः। भोजने व्यञ्जनाढ्ये को रसः? गोरसो दुग्धं रस इत्येके, न गोरसपदश्लेषेण प्रत्युक्तिरिति। अत्र रसशब्देनलक्षणया हृदयङ्गमोऽर्थः ख्यापितः।

वाकोवाक्य का दूसरा भेद 'वक्रोक्ति' है। वक्रोक्ति का अर्थ है—वाचोभङ्गी (वक्रकथन)। इसके भी दो भेद होते हैं—भङ्गिमापूर्ण कथन और काकु। शब्द और अर्थ के द्वारा जो भङ्गी-भणिति (वक्रकथन) है वह प्रथम प्रकार की वक्रोक्ति है। इसमें शब्द में श्लेष होता है। इसलिए इसे पदभङ्गश्लेष कहते है। मम्मट आदि आचार्य आठ प्रकार का श्लेष मानते हैं। किन्तु उनके सात श्लेष पदभङ्गश्लेष में अन्तर्भूत हो जाते हैं। जैसे—

पण्डिते बहुविधे च स्त्रीजने बहुभूपणे।
भोजने व्यञ्जनाढ्ये च को रसो गोरसो रसः॥ २४॥

यहाँ पर प्रश्न होता है कि अनेकविध पण्डितो में रस क्या है? उत्तर है 'गोरस' अर्थात् वाणीरस। पुनः प्रश्न होता है कि बहुविध भूषण से अलंकृत स्त्रीजन में क्या रस है? कहते हैं—'गोरस' अर्थात् नेत्ररस या शृङ्गाररस। इसी प्रकार भोज्य व्यञ्जनों में रस क्या है? उत्तर है—'गोरस' अर्थात् गोदुग्ध। यह श्लेष वक्रोक्ति का उदाहरण है।

जहाँ पर शोक आदि के द्वारा ध्वनि में विकार होता है उसे 'काकु' कहते हैं। काकु वक्रोक्ति में ध्वनि में विशिष्टता के कारण भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है।

का क्व च गुरुजनपरतन्त्रतया तव द्वारतरमुद्यतो गन्तुम्।
सखि मा कुरु खेदमिमं सुरभिसमयोऽयमागच्छति॥ २५॥

यहाँ पर काकु वक्रोक्ति है।

अथानुप्रासमाह—

स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः ।
एकवर्णगताऽनेकवर्णावृत्तिगणो[1] द्विधा ॥ १७ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ काकुवक्रोक्तिमुदाहरति—

का क्व च गुरुजनपरतन्त्रतया तव द्वारतरमुद्यतो गन्तुम् ।
सखि मा कुरु खेदमिमं सुरभिसमयोऽयमागच्छति ॥ २५ ॥

इह शब्देन काकूक्तिर्बोध्या ॥ १६ ॥

अथानुप्रासमाह—अकारादयो वर्णा उक्ताः । पूर्ववृत्तस्य पुनर्वृत्तिवर्त्तनमावृत्तिर्वर्णानां पदवाक्ययोश्च या वृत्तिः सोऽनुप्रासो न तु पादस्य श्लोकार्धस्य श्लोकस्य वा । पदवाक्ययोः पदं च वाक्यं च तयोर्वर्णानां पदस्य वाक्यस्य चावृत्तिरनुप्रासो नाम शब्दालङ्कार उच्यते । यद्यपि नापदस्य प्रयोगात् पदे वर्णावृत्तिः पदसमूह एकवाक्ये च पदवर्णावृत्तितां वाक्ये वर्णावृत्तिः सिद्ध्यति, तथापि पदस्य वाक्यस्य पुनस्तद्रूपेणावृत्यर्थं पृथगुपादानम् । तथा च त्रिधानुप्रासो भवति—वर्णावृत्तिः, पदावृत्तिर्वाक्यावृत्तिश्चेति । तेन यत्तु 'वर्णावृत्तिरनुप्रास' इति यच्च 'शब्दावृत्तिरनुप्रास' इति च, तत् द्वयमप्यनार्षत्वादसाधु । तत्र प्रथमं वर्णावृत्तिं विभजते-एकवर्णेत्यादि । एक्वर्णावृत्तिरनेकवर्णावृत्तिश्च वर्णगणो वर्णावृत्तिर्द्विधा भवति ॥ १७ ॥

७—अनुप्रास अलंकार

अर्थ—पद और वाक्य में वर्णो की आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं । इनमें वर्णावृत्ति दो प्रकार की होती है—एकवर्णावृत्ति और अनेकवर्णावृत्ति ॥१७॥

विमर्श—वर्णावृत्ति को अनुप्रास कहा गया है । वर्णसमूह को पद कहते हैं और पदसमूह को वाक्य कहते हैं । किन्तु पद और वाक्य आवृत्ति का पृथक् उपादान किया गया है । इस प्रकार वर्णावृत्ति, पदावृत्ति और वाक्यावृत्ति रूप से अनुप्रास तीन प्रकार का होता है । इनमें वर्णावृत्ति के दो भेद होते हैं—एकवर्णगतावृत्ति और अनेकवर्णगतावृत्ति । उनसे प्रथम एकवर्णगतावृत्ति अनुप्रास का विवेचन करते हैं ।

---

१. मुद्रित पुस्तके 'गुणो' इति पाठन्तरम् ।

तत्रैकवर्णावृत्तिमनुप्रासं विभजते—

एकवर्णगतावृत्तिर्जायन्ते[1] पञ्चवृत्तयः ।
मधुरा ललिता प्रौढ़ा भद्रा परुषया सह ॥ १८ ॥

अथ मधुरामाह—

मधुरायां[2] स्ववर्गान्त्यादधोवर्ग्यौ रणौ धनौ[3] ।
ह्रस्वस्वरेणान्तरितौ संयुक्तत्वं नकारयोः ॥ १९ ॥
न कार्या वर्ण्यवर्णानामावृत्तिः पञ्चमाधिका[4] ।

काव्यप्रभावृत्तिः

एकवर्णगतावृत्तिमनुप्रासमाह—एकवर्णगता खल्वावृत्तिः मधुरादिभेदेन पञ्च वृत्तयो जायन्ते ॥१८॥

अथ मधुरामाह—एकवर्णावृत्तिनिमित्तायां मधुरायां वृत्तौ वर्ग्यौ वर्णाः कादयो मान्ताः स्वस्य वर्गस्यान्त्यात् पञ्चमात्—ङ, ञ, ण, न, मादयो वर्णा भवन्ति । तत्रान्त्यानामूर्ध्वस्थितिनियमान्नाधः स्थितिरुक्ता भवति । तेन ङ्क, ङ्ख, ङ्ग, ङ्घ, ञ्च, ञ्छ, ञ्ज, ञ्झ, ण्ट, ण्ठ, ण्ड, ण्ढ, न्त, न्थ, न्द, न्ध, म्प, म्फ, म्ब, म्भ इत्येते । नतु ङ्ङः, ञ्ञ, ण्ण, न्न, म्म इत्येते । तत्रापवादमाह—रणौ धनौ ह्रस्वस्वरेणान्तरितौ रेफणकारौ तथा धकारनकारौ ह्रस्वस्वरेण अ इ उ ऋ ऌ स्वरेण व्यवहितौ कार्य्यौ नकारयोः संयुक्तत्वञ्च कार्य्यमिति । एतेन पञ्चमाधःस्थवर्ण्य-संयोगानां स्वरनियमो नास्तीति ख्यापितम् । र रि रु ऋ ऌ इति पञ्चरेफा, नतु

---

(२) एकवर्णावृत्ति अनुप्रास अलंकार

अर्थ—एकवर्णगत आवृत्ति की पाँच वृत्तियाँ होती है—मधुरा, ललिता, प्रौढ़ा, भद्रा और परुषा ॥ १८ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में एकवर्णगतावृत्ति के पाँच प्रकार बताये गये हैं—मधुरा, ललिता, प्रौढ़ा, भद्रा और परुषा । कुछ आचार्य ग्राम्या, परुषा और उपनागरिका को अलग वृत्ति मानकर आठ वृत्तियाँ मानते हैं किन्तु अग्निपुराण में पाँच वृत्तियाँ ही मानी गई हैं । उक्त तीन वृत्तियों का अन्तर्भाव इन्हीं पाँच वृत्तियों में हो जाता है ॥ १८ ॥

---

१. क—जायते ।
२. मथुरायाश्च इति पाठान्तरम् ।
३. वर्गान्तादधो वक्षावशोध्नो "वर्ग्यारुणौस्वनौ" वर्ग्यारणैस्वनो वा । क, ग, थ—रणौ धनौ । द—रशौ धनौ पाठभेदाः ।
४. ग—पञ्च साधिका न, ल—पञ्चधा स्मृता । इति पाठभेदाः ।

काव्यप्रभावृत्तिः

रा री रू ॠ ऌ, रे रै रो रौ चेति। मधुरायां तथा ण णि णु णृ ण्ऌ इत्येवं पञ्चणकाराः कार्य्या, न तु णा णी णू णॄ ण्ऌ णे णै णो णौ चेति। घ घि घु घृ ध्ऌ इति पञ्च कार्य्या, न तु घा घी घू घॄ ध्ऌ घे घै घो घौ चेति। तथा नकारश्च न नि नु नृ न्ऌ इति पञ्च कार्य्या, नकारयोः संयुक्तत्वञ्च तत्र कार्य्यं 'न्न' इति। तेन ना नी नू नॄ न्ऌ ने नै नो नौ चेति न कार्य्या। ङ्ङ ञ्ञ ण्ण म्म इति न कार्य्यम्। तथा च ङ्क ङ्ख ङ्ग ङ्घ, ञ्च, ञ्छ, ञ्ज, ञ्झ, ण्ट, ण्ठ, ण्ड, ण्ढ, न्त, न्थ, न्द, न्ध, म्प, म्फ, म्ब, म्भा इत्येषां वर्ण्यवर्णानां तथा घ घि घु घृ ध्ऌ ण णि णु णृ ण्ऌ, न नि नु नृ न्ऌ चेत्येषान्तवर्ग्या वर्णानां पञ्चाधिका वृत्तिर्न कार्य्या। र रि रु ॠ ऌ चेति पञ्चरेफास्तु यथेष्टमावर्णयितव्याः। मधुरायामेषामेव वर्णानां ङ्कादीनामावृत्तिः कार्य्या। एभ्यो ङ्कादिभ्य एकचत्वारिंशद्वर्णेभ्योऽन्येषां वर्णानामावृत्तिर्मधुरायां न कार्य्या इति। यथा—

इदन्तु गाङ्गं त्यजतामिहाङ्गं पुनर्न चाङ्गं यदि वेति चाङ्गम्।
कवेरथाङ्गं शयने भुजङ्गो याने विहङ्गश्चरणाम्बुगाङ्गम्॥ २६॥

अत्र पञ्चमाधिकाङ्गस्यावृत्तिर्न मधुरा। इदन्तु मधुरावृत्तिरेकवर्णावृत्तिरनुप्रासः इति मधुरावृत्तिः॥१॥

(क) मधुरावृत्ति का लक्षण

अर्थ—मधुरा वृत्ति में वर्ग के अन्तिम वर्ण (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) अपने वर्ग के पूर्व वर्णों से युक्त होते हैं किन्तु उनमें र और ण (रेफ और णकार) तथा ध और न वर्ण ह्रस्व स्वर से व्यवहित (असंयुक्त) होने चाहिए और न् का संयोग होना चाहिए। इन ङ्कादि वर्णों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इन ङ्क आदि ४१ वर्णों से भिन्न अन्य वर्णों का प्रयोग मधुरा वृत्ति में नहीं करना चाहिए॥ १९-२०॥

विमर्श—मधुरा वृत्ति में वर्ग का अन्तिम वर्ण अपने वर्ग के पूर्व वर्णों से युक्त होता है, किन्तु ङ्क आदि ४१ वर्णों से भिन्न वर्णों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, इसमें र, ण, ध, न का प्रयोग ह्रस्व स्वर से व्यवहित होना चाहिए और नकार का संयुक्त प्रयोग करना चाहिए। जैसे—

इदन्तु गाङ्गं त्यजतामिहाङ्गं पुनर्न चाङ्गं यदि वेति चाङ्गम्।
कवेरथाङ्गं शयने भुजङ्गो याने विहङ्गश्चरणाम्बुगाङ्गम्॥ २६॥

यह मधुरा वृत्ति का उदाहरण है किन्तु यह मधुरावृत्ति एकवर्णावृत्ति अनुप्रास अलंकार है॥ १॥

अथ ललितामाह—

महाप्राणोष्मसंयोगा मवियोगालघूत्तरा[1] ॥२० ॥

ललितारलभूयिष्ठा[2] ... ... ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ ललितामाह—एकवर्णावृत्तिनिमित्ता या वृत्तिर्ललिता नाम सा खलु महाप्राणोष्मसंयोगा मवियोगलघूत्तरा। महाप्राणा वर्गाणां पञ्चानां द्वितीय-चतुर्था ख छ ठ थ फ घ झ ढ ध भा उष्माणः शषसहास्तेषामन्येन हला येन केनचित् सह संयोगा यकारवियोगो यत्र सा। मवियोगा मसंयोगवर्जिता महाप्राणोष्मसंयोगो यत्र सा लघूत्तरा लघुस्वरा अन्ते यत्र सा। ततो महाप्राणोष्मसंयोगमकारवियोगा चासौ तु लघूत्तरा चेति सा ललिता नाम भवति। या रलभूयिष्ठा रेफलकारभूयिष्ठा सापि ललिता नाम भवति। तथा च ख छ ठ थ फ, ध झ ढ ध भाः शषसहाः मकारभिन्नवर्णसंयुक्ता अकारादिलघुवर्णान्ता वर्णा यत्रावर्त्तन्ते, यत्र च रेफलकारो भूयिष्ठौ चावत्तते सा ललिता नाम वृत्तिः एकावर्णावृत्तिरनुप्रासः शब्दालङ्कारो भवति। यथा—

प्रियं प्रीणाति वाक्सङ्घं लङ्घयन्त्यतिमानतः।
गलज्जलाक्षी बालार्कमुखी वेन्दुमुखी रमा ॥ २७ ॥

इति ललिता वृत्तिः ॥२॥

(ख) ललितावृत्ति का लक्षण

अर्थ—महाप्राण (वर्ग का द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण) और ऊष्मसंज्ञक (शषसह) वर्णों के संयोग से रहित तथा म के संयोग से रहित और अन्त में लघु (ह्रस्व) अक्षर से युक्त तथा र एवं ल के अधिक प्रयोग से युक्त ललिता वृत्ति होती है ॥२०॥

विमर्श—ललिता अनुप्रास में महाप्राण तथा ऊष्म संज्ञक वर्णों के साथ अन्य वर्ण का संयोग नहीं होता है और अन्त में ह्रस्व अक्षर का प्रयोग होता है तथा इसमें र एवं ल का अधिक प्रयोग होता है। जैसे—

प्रियं प्रीणाति वाक्सङ्घं लङ्घयत्यतिमानतः।
गलज्जलाक्षी बलार्कमुखी वेन्दुमुखी रमा ॥ २७ ॥

यह एक वर्णावृत्ति की ललितावृत्ति का उदाहरण है ॥२॥

---

१. क—महाप्राणोष्मसंयोगादप्रवियुक्तलघूत्तरौ। ग—विप्रमुक्तलघूत्तमौ, ध—महाप्राणोष्म संयोगादविमुक्तलघूत्तरौ। इति पाठान्तराणि।

२. ग—ललिता वनभूयिष्ठा, ग—ललितावत्सभूयिष्ठा।

अथ प्रौढावृत्तिमाह—

·····प्रौढायां यणवर्गजाः[1] ।

ऊर्ध्वं रेफेण युज्यन्ते न टवर्गो न पञ्चमाः ॥ २१ ॥

अथ भद्रावृत्तिमाह—

भद्रायां परिशिष्टाः[2] स्युः····· ।

काव्यप्रभावृत्तिः

प्रौढ़ामाह—प्रौढ़ायामेकवर्णा प्रौढ़ावृत्तिनिमित्तायां वृत्तौ वर्गजाः पञ्च कादयो मान्ता ऊर्ध्वरेफण युज्यन्ते, नतु टवर्गो रेफेणोर्ध्वं युज्यते, न वा पञ्चमा ङ्क्ण्न्मा ऊर्ध्वं रेफेण युज्यन्ते। यथा—र्क र्ख र्ग र्घ, र्च र्छ र्ज र्झ, र्त र्थ र्द र्ध, र्प र्फ र्ब र्भ, इत्येषामावृत्तिः प्रौढ़ा भवति । यथा—

न प्रीणात्यर्कसम्पर्कात् सन्तप्तं शर्करोदकम् ।
सुन्दरीभूषणाढ्यापि भार्या वाऽप्रियवादिनी ॥ २८ ॥

इति प्रौढ़ा ॥ २१ ॥

अथ भद्रामाह—एकवर्णावृत्तिनिमित्तायां भद्रायां वृत्तौ परिशिष्टा मधुरा-ललिता-प्रौढ़ासूक्तेभ्यो वर्णेभ्यः शेषा वर्णाः स्युरावृत्ताः कार्या । तथा च ङ्क ङ्ख ङ्ग ङ्घ, श्च ञ्छ ञ्ज ञ्झ, ण्ट ण्ठ ण्ड ण्ढ, न्त न्थ न्द न्ध, म्प म्फ म्ब म्भ, घ घि घु घृ ध्लृ, न नि नु नृ न्लृ, र रि रु ऋ लृ, ण णि णु णृ ण्लृ चेति मधुरायाम् ।

(ग) प्रौढ़ावृत्ति का लक्षण

अर्थ—प्रौढ़ा वृत्ति में (टवर्ग–ट, ठ, ड, ढ, ण) तथा वर्ग के पञ्चम वर्ण (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) को छोड़कर ऊर्ध्व रेफ से युक्त वर्ग के अक्षरों तथा य्, ण् का प्रयोग होता है । जैसे—

न प्रीणात्यर्कसम्पर्कात् सन्तप्तं शर्करोदकम् ।
सुन्दरी विभूषणाढ्यापि भार्या वाऽप्रियवादिनी ॥ २८ ॥

इसमें र् का क के साथ (र्क) संयोग होने से प्रौढ़ावृत्ति का उदाहरण है ॥३॥

(घ) भद्रा का लक्षण

अर्थ—उपर्युक्त वर्णों के अतिरिक्त वर्ण भद्रा वृत्ति में प्रयुक्त होते हैं ॥ २२ ॥

विमर्श—भद्रा वृत्ति में मधुरा, ललिता और प्रौढ़ा वृत्ति में कहे गये वर्णों से अतिरिक्त वर्णों की आवृत्ति होती है । जैसे—

जलाशयो यथा सिन्धुः कामधाम तथा नृणाम् ।
यूनां नारी यौवनाढ्या नान्यदस्ति जगत्त्रये ॥ २९ ॥

यह भद्रावृत्ति का उदाहरण है ॥४॥

---

१. क—'यण वर्णजा' इत्यपि पाठः । २. क—पुरुषा ।

अथ परुषावृत्तिमाह—

·····परुषा साभिधीयते[1] ।
भवन्ति ययामूष्माणः संयुक्तास्तत्तदक्षरैः ॥ २२ ॥
अकारवर्जमावृत्तिः स्वराणामतिभूयसी[2] ।
अनुस्वारविसर्गौ च पारुष्याय निरन्तरौ ॥ २३ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

मसंयोगं वर्जयित्वा संयुक्ताः ख छ ठ थ फा, घ झ ढ घ भा, शषसहा लघुस्वरान्ता बहुलरेफलकारौ च ललितायाम् । कं खं गं घं, चं छं जं झं, तं थं दं दं धं, पं फं वं भं इति प्रोढ़ायाम् । एभ्योऽन्ये वर्णा भद्रायामावर्तनीया भवन्ति । यथा—

जलाशयो यथा सिन्धुः कामधाम तथा नृणाम् ।
यूनां नारी यौवनाढ्या नान्यदस्ति जगत्त्रये ॥ २९ ॥

अथ परुषामाह—यस्यामेकवर्णावृत्तिनिमित्तायां वृत्तौ उष्माणः शषसहास्तत्तदक्षरैर्वक्ष्यमाणैः कर्णाट्यादिभेदेनाक्षरैः संयुक्ता भवन्ति । तथा पुनराकारवर्जितानां स्वराणामाकारादीनां भूयसी आवृत्तिर्वर्त्तते, अल्पावृत्तिरकारस्यनत्वकारावृत्त्यभाव इति सा वृत्तिः परुषा । तस्याः पारुष्याय निरन्तरावनुस्वारविसर्गौ भवतः इति । तस्याः परुषायाः पारुष्यं द्विधा—दुष्पारुष्यं पारुष्यमात्रञ्च ॥२२-२३॥

परुषा का लक्षण

अर्थ—जहाँ पर ऊष्मसंज्ञक (श ष स ह) वर्णों का उन स्वसम्बन्धी अक्षरों के साथ संयोग होता है और अकार को छोड़कर शेष स्वरों की आवृत्ति अधिक होती है उसे परुषा वृत्ति कहते हैं । परुषा में अनुस्वार और विसर्ग का प्रयोग निरन्तर पारुष्य के लिए होता है । रेफ और चकार से युक्त श ष स वर्णों और रेफ से युक्त चकार तथा इन दोनों से भिन्न य र ल व वर्णों का प्रयोग दुष्पारुष्य के लिए होता है । इसके अतिरिक्त भी गुरुवर्ण संयुक्त प्रथम चार वृत्तियाँ पूजित होती हैं । किन्तु पांचवीं परुषा वृत्ति पूजित नहीं होती । निन्दा और शब्दानुवृत्ति में परुषावृत्ति का प्रयोग होता है । कर्णाटी, कौन्तली, कौन्ती, कोङ्कणी नामनासिका, द्रावणी और मागधी नामक परुषा वृत्तियों में क्रमशः कवर्गादि पांच वर्गों के वर्ण, अन्तःस्थ और ऊष्मसंज्ञक वर्णों की आवृत्ति होती है ॥२२-२६॥

---

१. क—प्रविष्टा इतिपाठः ।
२. क—अतिभूयसां इति पाठान्तरम् ।

शषसा रेफसंयुक्तश्चकारश्चापि भूयसा ।
अन्तःस्था भिन्नमाभ्याञ्च[1] दुष्पा[2]रुष्याय संयुतः ॥ २४ ॥
अन्यथापि गुरुवर्णसंयुक्ताः[3] परिपन्थिनि ।
पारुष्यायादिमास्तत्र पूजिता न तु पञ्चमी ॥ २५ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

परुषाया दुष्पारुष्याय पुनरेते वर्णाः परिपन्थिनि प्रयोगे भवन्ति । ते रेफसंयुक्ता उपर्य्यधो वा रेफेण संयुक्ताः, शषसा एवं भूयसा बाहुल्येन रेफसंयुक्तश्चकारश्च । एवमाभ्यां रेफचकाराभ्यां सह संयुतोऽन्तःस्थवर्ण यरलवभिन्ना सर्व्ववर्णाश्च परिपन्थिनि प्रयोगो परुषाया दुष्पारुष्याय भवति । यथा—

वर्षत्यमर्षाद्वाग्वज्रं मानिनी करपङ्कजैः ।
पादेऽर्चिता चर्चिताऽपि न चर्चति च वर्चसा ॥ ३० ॥

ननु किमेतावन्मात्रं दुष्यारुष्याय स्यात् ? सा पुनः कुत्र प्रयोक्तव्या ? इत्यत आह—अन्यथापीत्यादि । परिपन्थिनि शत्रौ पारुष्यप्रयोगेऽन्यथापि । उक्तादन्यप्रकारेणापि परुषा पूजिता दुष्यारुष्याय भवति । केन प्रकारेणेति । तत्र परिपन्थिनि-दुष्यारुष्यप्रयोगे गुरुवर्णसंयुक्ता आकारादिवर्णयुक्ता आदिमाश्चतस्रो मधुरा ललिताप्रौढाभद्राश्च वृत्तयः पूजिताः स्युर्न तु पञ्चमी परुषा नाम वृत्तिरिति ।

विमर्श—परुषावृत्ति में कठोरवर्ण प्रयुक्त होते हैं । इसमें ऊष्म (शषसह) का स्वसम्बन्धी वर्णों के साथ संयोग होता है और अ को छोड़कर शेष स्वरों की आवृत्ति अधिक होती है । इसमें परुषता के लिए निरन्तर अनुस्वार और विसर्ग का प्रयोग होता है । दुष्पारुष्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि दुष्पारुष्य के लिए रेफ और अकार से संयुक्त शषस का अधिक प्रयोग होता है किन्तु रेफ तथा चकार से युक्त यरलव का प्रयोग नहीं होता, इनसे भिन्न वर्णों का प्रयोग दुष्पारुष्य के लिए होता है । जैसे—

वर्षत्यमर्षाद्वाग्वज्रं मानिनी करपङ्कजैः ।
पादेऽर्चिता चर्चिताऽपि न चर्चति च वर्चसा ॥ ३० ॥

इनके अतिरिक्त भी गुरु वर्ण आकारादि से युक्त मधुरा, ललिता, प्रौढ़ा, भद्रा वृत्तियाँ पूजित होती है किन्तु पांचवी परुषा वृत्ति नहीं अर्थात् परुषावृत्ति पारुष्य के लिए होती है । निन्दा में और शब्दानुकृति में परुषावृत्ति का प्रयोग होता है । परुषा के अन्य भेदों का उदाहरण काव्यप्रभावृत्ति में देखिये ॥ २४-२६ ॥

---

१. अन्तःस्थाभिन्नआभ्याञ्च—इति पाठान्तरम् । २. हः पारुष्याय इति पाठान्तरम् ।
३. संयुक्तै—इति पाठभेदः ।

क्षेपे शब्दानुकारे[1] च परुषापि[2] प्रयुज्यते[3] ।
कार्णाटी कौन्तली कौन्ती कौङ्कणी[4] वामनासिका[5] ।
द्रावणी माधवी पञ्चवर्गान्त[6]स्थोष्मभिः क्रमात् ॥ २६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

पञ्चानामपि वृत्तीनां विषयान्तरे पारुष्यमाह क्षेपे इत्यादि । क्षेपे निन्दायां शब्दानुकारे च परस्य जनस्य शब्दानुकरणकरणे च गुरुवर्णयुक्ता मधुरा-ललिता-प्रौढ़ा-भद्रा-परुषापि पारुष्याय प्रयुज्यते । पूर्व्ववदुदाहार्य्याः । तत्र परुषा सप्तविधा भवति । तदाह-कार्णाटीत्यादि । तत्रोष्मवर्णाः शषसहाः कवर्गेण संयुक्ता, अकारवर्ज-माकारादिदीर्घह्रस्वस्वरान्तवर्णावृत्तिरनुस्वारविसर्गान्तप्रयोगनियता ष्क ष्ख स्फ स्खादिवर्णा कार्णाटी नाम परुषा वृत्तिः ।

दुष्करं पुष्कराक्षीणां मनः स्पर्शाय कर्म्मणः ।
भगवानपि वार्ष्णेयः समर्थो यत्र नाऽभवत् ॥ ३१ ॥
इति कार्णाटी परुषा ।

तथा चवर्गेण संयुक्ता उष्माणः कौन्तली परुषा वृत्तिः श्चा श्छा अज्हीनादयः ।

कश्चित् पश्चिममागत्य मौनी सन्न च गुञ्जति ।
मधुपः पद्ममुत्फुल्लं वीक्ष्य संशेत आलि किम् ॥ ३२ ॥
इति कौन्तली परुषा ।

तथा टवर्गेण संयुक्ता उष्माणः कौन्ती नाम परुषा वृत्तिः । यथा—षट्सूक्ताः ष्टा ष्ठा अज्हीनादयः ।

नष्टबुद्धिर्दुष्टचित्तः कान्तः सुष्पष्टकष्टयः ।
सावधाना भव सखि सारण्यं मा भजाधुना ॥ ३३ ॥
इति कौन्ती परुषा ॥

तथा तवर्गेण संयुक्ता उष्माणः कौङ्कणी नाम परुषा वृत्तिः । यथा-स्ता स्था तदहीनादयः ।

शस्तस्तासां स्तनः पापि योगे ह्यवलोकनेऽग्निवत् ।
सुखदापि हि मे वन्हिः सर्व्वदाऽयमिवानलः ॥ ३४ ॥
इति कौङ्कणी परुषा ।

---

१. न, ल—क्षेपशब्दानुकारेण इति । २. क—पुरुषा
३. न, ल—प्रपूज्यते । ४. कौङ्कासी इति पाठान्तरम् ।
५. क, त्र, ध—वालवासिका, द—वनवासिका इति । ६. पञ्चवर्णान्त इति पाठान्तरम् ।

अथ अनेकवर्णावृत्तिमनुप्रासमाह—

अनेकवर्णावृत्तिर्या भिन्नार्थप्रतिपादिका ।
यमकं साऽव्यपेतञ्च[1]व्यपेतञ्चेति तद्द्विधा[2] ।। २७ ।।

काव्यप्रभावृत्तिः

तथा पवर्गेण संयुक्ता उष्माणो वामनासिकानाम परुषा वृत्तिः । यथा ष्पा ष्फा, स्पा अरहीनादयः ।

स्पर्शः स्पृष्टः सुखो वह्निर्निगूढः कामिनीस्तने ।
दूरतो दहति स्वान्तं करे लग्नः सुशीतलः ।। ३५ ।।
इति वामनासिकानाम परुषा ।

तथाऽन्तःस्था यवरलसंयुक्ता उष्माणो द्रावणीनाम परुषा वृत्तिः । यथा अर्शः श्रवण-वर्ष स्रावश्य वस्य स्व ष्य ष्व श्लादयः ।

तस्याः स्यात् सखि कोपोऽहं भीतः स्यामत्र सर्वदा ।
वर्षमेकं हर्षयुतं गतं मेऽनपराधतः ।। ३६ ।।
इति द्रावणी परुषा ।

तथा ऊष्मवर्णेन संयुक्ता ऊष्माणो माधवी नाम परुषा' वृत्तिः । यथा श्श ष्ष स्सादयः । यथा—

सद्यश्शान्तिवाग्भिस्सा सुस्सां हन्त्यहश्शमम् ।
अकरोच्चारुमानोऽयं न दृष्टो न श्रुतः क्वचित् ।। ३७ ।।
इति माधवी नाम परुषा ।। २४-२६ ।।

या पुनरनेकवर्णावृत्तिर्भिन्नार्थप्रतिपादिका भिन्नोऽर्थप्रतिपादो यथा यस्या वा सा भिन्नार्थप्रतिपादिका । एवं भिन्नार्थप्रतिपादिकाऽनेकवर्णावृत्तिर्यमकं नामानुप्रासः शब्दालङ्कार उच्यते । तच्च यमकमव्यपेतं-व्यपेतञ्चेति द्विधा भवति ।। २७ ।।

---

(२) अनेकवर्णावृत्ति अनुप्रास (यमक) अलङ्कार

इस प्रकार एकवर्णावृत्ति अनुप्रास का विवेचन करने के पश्चात् अब अनेकवर्णावृत्ति (पदावृत्ति, वाक्यावृत्ति) रूप अनुप्रास का विवेचन करते हैं । इसी को यमक भी कहते हैं । अन्य आचार्यों ने अनुप्रास और यमक को अलग-अलग अलङ्कार माना है किन्तु अग्निपुराण-कार ने अनुप्रास नामक एक शब्दालङ्कार माना है और उसी के दो भेद किये हैं—एकवर्णा-वृत्ति अनुप्रास अलङ्कार और दूसरा अनेकवर्णावृत्ति अनुप्रास अलङ्कार । प्रथम को केवल अनुप्रास और द्वितीय को यमक अलङ्कार कहा है ।

यमक अलङ्कार का लक्षण

अर्थ—भिन्न-भिन्न अर्थ का प्रतिपादन करने वाली अनेक वर्णों की आवृत्ति को यमक अलंकार कहते हैं । यमक अलङ्कार के दो भेद होते हैं—अव्यपेत और सव्यपेत ।।२७।।

---

१. क—साव्येयते च । २. क—द्विधा । ख—द्विधा मतम् ।

तद् द्विविधयमकलक्षणमाह—

आनन्तर्यादव्यपेतं व्यपेतं व्यवधानतः ।
द्वैविध्येनानयोः स्थानपादभेदाच्चतुर्विधम्[1] ॥ २८ ॥
पादानामादिमाध्यान्तेष्वे[2]कद्वित्रिनियोगतः ।
सप्तधा सप्त पूर्वेण[3] चेत् पादेनोत्तरोत्तरम्[4] ।
एकद्वित्रिपदार[5]म्भस्तुल्यः षोढा[6]तथापरम्[7] ॥ २९ ॥

अर्थ—जहाँ पर वर्णों की आवृत्ति व्यवधान-रहित लगातार होती है उसे 'अव्यपेत' यमक कहते हैं और जहाँ पर व्यवधान के साथ वर्णों की आवृत्ति होती है, उसे 'व्यपेत' यमक कहते हैं। ये दोनों अव्यपेत तथा व्यपेत यमक स्थान और पाद भेद से चार प्रकार के होते हैं। चारों पादों के आदि, मध्य और अन्त में एक, दो, तीन पादों में पूर्व व पादों के साथ उत्तरोत्तर पाद में आवृत्ति करने से अव्यपेत यमक वे सात भेद होते हैं इसी प्रकार पाद के भी एक, दो तथा तीन पादों में आवृत्ति होने से सोलह भेद होते हैं ॥२८-२९॥

विमर्श—अग्निपुराण में यमक अलङ्कार के अनेक भेद बताये गये हैं। प्रथम यमक के दो भेद बताये गये हैं—अव्यपेत और सव्यपेत। जहाँ व्यवधान-रहित लगातार वर्णों की आवृति होती है उसे 'अव्यपेत' यमक और जहाँ पर व्यवधान के साथ वर्णों की आवृत्ति होती है उसे 'व्यपेत' यमक कहते हैं। ये दोनों ही स्थान और पाद भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार यमक के कुल चार भेद हुए।

(क) अव्यपेत यमक के भेद

अव्यपेत यमक के चारों पादों के आदि, मध्य और अन्त में आवृति होने से बारह भेद होते हैं। इस प्रकार स्थान यमक के तीन भेद होते हैं। प्रथम पाद के अन्त में द्वितीय पाद के आदि में अव्यवहित आवृत्ति एक स्थान है, द्वितीय पाद के अन्त में और तृतीय पाद के आदि में अव्यवहित आवृत्ति द्वितीय स्थान है, तृतीय पाद का अन्त और चतुर्थ पाद के आदि में अव्यवहित आवृत्ति होने से तृतीय स्थान होता है। इस प्रकार स्थान यमक के तीन भेद हुए।

---

१. स्थानं पादभेदाच्चतुर्विधम्—इति पाठान्तरम्।
२. आदिपादादिमध्यान्तेष्वेक—इति पाठभेदः।
३. क, द, ध—पूर्वपूर्वेण न, ल—पूर्वं पूर्वे च। इति पाठभेदाः।
४. क—नोत्तरौत्तरः।
५. एकद्वित्रिपदारम्भ इति पाठान्तरमपि।
६. न, ल—सोऽर्थः इति पाठः।
७. तदापरम् इति पाठान्तरम्।

काव्यप्रभावृत्तिः

यद्यमकमानन्तर्यादव्यवधानाद् भवति तद्यमकमव्यपेतं नाम स्यात्। यत् यमकं व्यवधानतो भवति तद् यमकं व्यपेतं नाम स्यात्। अनयोरव्यपेतव्यपेतयोः स्थानं द्वैविध्येन पादभेदाच्चतुर्विधं भवति। चतुर्ष्वेव पादेष्वव्यपेतस्य स्थानमव्यवधानेन चतुर्विधम्। व्यपेतस्य च व्यवधानाश्चतुर्विधमेव इति। तत्राव्यपेतस्य यमकस्य पादानां चतुर्णामादौ स्थानं मध्ये च स्थानमन्ते च स्थानमिति द्वादशः। न तु युगपद्वित्रिचतुष्पदेषु स्थानं व्यवधानात्। तथा चतुर्णां पादानामेकद्वित्रिपादेषु नियोगतः पूर्वेण पूर्वेण पादेन सहोत्तरोत्तरं पादे स्थानं सप्तधा भवत्यव्यवधानात्। तद्यथा—

इसी प्रकार प्रथम पाद के अन्त में तथा द्वितीय पाद के आदि में, पुनः (फिर) उसी का द्वितीय पाद के अन्त में और तृतीय पाद के आदि में अव्यवहित आवृत्ति होने से एक स्थान होता है, उसी प्रकार द्वितीय पाद के अन्त में एवं और तृतीय पाद के आदि में और फिर तृतीय पाद के अन्त में और चतुर्थ पाद के आदि में अव्यवहित आवृत्ति होने से द्वितीय स्थान यमक होता है। और प्रथम पाद के अन्त और द्वितीय पाद के आदि फिर तृतीय पाद के अन्त और चतुर्थ पाद के आदि में अव्यवहित आवृत्ति तृतीय स्थान यमक है। इस प्रकार ये तीन स्थान-यमक हुए।

उसी प्रकार प्रथम पाद के अन्त और द्वितीय पाद के आदि में आवृत्ति होने से एक यमक, द्वितीय पाद का अन्त और तृतीय पाद के आदि में आवृत्ति होने से द्वितीय यमक, तृतीय पाद के अन्त और चतुर्थ पाद के आदि में आवृत्ति होने से तृतीय यमक एक प्रकार तीन यमक हुए। इस प्रकार प्रत्येक यमक के सात-सात भेद मिलकर कुल इक्कीस प्रकार के यमक हुए।

पादयमक के एकपाद, द्विपाद और त्रिपाद के क्रम के उत्तरोत्तर छः भेद होते हैं। जैसे प्रथम पाद का द्वितीय पाद में आवृत्ति होने से एक, द्वितीय पाद की तृतीय पाद में आवृत्ति होने से द्वितीय और तृतीय पाद का चतुर्थ पाद में आवृत्ति होने तृतीय इस प्रकार एकपादारम्भ के नियोग से तीन यमक हुए। इसी प्रकार पूर्वार्द्ध के समान शेषार्द्ध की आवृत्ति होने से द्विपादारम्भ एक यमक, पूर्व तीन पाद एक समान और शेष तीन पाद एक समान आवृत्ति होने से त्रिपादारम्भ यमक के दो प्रकार होते हैं। इस प्रकार पादयमक के छः भेद हुए। दूसरे चारों पादों का समान आवृत्ति होने से एक प्रकार होता है। इस प्रकार कुल मिलाकर पाद यमक के सात भेद हुए। इस प्रकार अव्यपेत यमक छब्बीस प्रकार का होता है।

काव्यप्रभावृत्तिः

प्रथमपादस्यान्ते द्वितीयपादस्यादावव्यवधानेन स्थानमेकम्, द्वितीयपादस्यान्ते तृतीयपादस्यादावव्यवधानेन द्वितीयं स्थानमव्यपेतस्य, तृतीयपादस्यान्ते चतुर्थं पादस्यादावव्यवधानेन तृतीयं स्थानम् इति एकैकपाद एकयमकनियोगतस्त्रीणि स्थानानि। तथा प्रथमपादस्यान्ते द्वितीयपादस्यादौ पुनस्तद्द्वितीयपादस्यान्ते तृतीयपादस्यादावव्यवधानेनाव्यपेतस्य स्थानमेकम्, तथा द्वितीयपादस्यान्ते तृतीयपादस्यादौ पुनस्तृतीयपादस्यान्ते चतुर्थपादस्यादावव्यवधानेनाव्यपेतस्य यमकस्य द्वितीयं स्थानं भवति, प्रथमपादस्यान्ते द्वितीयपादस्यादौ पुनस्तृतीयपादस्यान्ते चतुर्थपादस्यादाव्यवधानेनद्वियमकनियोगतस्त्रीणि स्थानानि। तथा प्रथमपादस्यान्ते द्वितीय पादस्यादावैकं यमकं द्वितीयपादस्यान्तेतृतीयपादस्यादावेकं यमकं, तृतीयपादस्यान्ते चतुर्थपादस्यादावैकं यमकमिति त्रियमकविनियोगतस्त्वेकंयमकमिति सप्तधा यमकं।

इत्येकोनविंशतिः वर्णयमकान्युक्त्वा पुनरव्यपेतपादयमकान्याह—एकद्वित्रिपादारम्भ इत्यादि। तुल्यः पूर्वेण पूर्वेण पादेन सहोत्तरोत्तरमेकपादारम्भो द्विपादारम्भस्त्रिपादारम्भश्चेत्तदा षोढा चापरञ्चैवमिति सप्तधा पादयमकं भवति। तथा च प्रथमपाद द्वितीयपादावेकं, द्वितीयपादतृतीयपादावेकं, तृतीयपादचतुर्थपादावेकमिति त्रीणि एकपादारम्भनियोगात्। तथा पूर्वार्द्धतुल्यं शेषार्द्धमिति द्विपादारम्भ एकम्, पूर्वे त्रयः पादास्तुल्याः शेषास्त्रयः पादास्तुल्या इति त्रिपादारम्भो द्वे इति षोढा पादयमकम्। अपरं तुल्याश्चत्वारः पादा इति सप्तधा पादयमकम्। इति षड्विंशतिधा भवत्यव्यपेतयमकम्।

क्रमेणैषामुदाहरणानि—

मधुरा मधुराम्भोजवदने तव नेत्रयोः।
लीलैषा भ्रमरभ्रान्त्या विडम्बयति किं प्रिये ? ॥ ३८ ॥
इति प्रथमपादादि यमकम्।

अधमानमानवत्याः कोपमौननतास्यता।
अत्र प्रसादस्योमायस्त्वमेका सखि नेतरः ॥ ३९ ॥
इति प्रथमपादमध्ययमकम्।

अहोदोषाकरकरप्रदोऽसि त्वं सती स्तने।
त्रैलोक्यजित् स्मरधनागारं न वेति स लुब्धकः ॥ ४० ॥
इति प्रथमपादान्ते यमकम्।

काव्यप्रभावृत्तिः

करोति सहकारस्य कलिकोत्कलिकोत्सवम् ।
सदा मम मनः कान्तेमत्तकोकिलनिःस्वनः ॥ ४१ ॥

इति द्वितीयपादादियमकम् ।

अरण्यं कैश्चिदाक्रान्तमन्यैः सदसदन्तरम् ।
पदातिहस्त्यश्वरथैस्तव राजन्न पश्यसि ॥ ४२ ॥

इति द्वितीयपादमध्ययकम् ।

कार्य्यः समादरः कान्ते बहुधा योजने जने ।
क्वचित् क्षतिकराश्चेत् स्यान्नावादर इति स्थितिः ॥४३॥

इति द्वितीयपादान्तयमकम् ।

प्रिये विडम्बयति किं लीलैषा भ्रमरभ्रमात् ।
मधुरा मधुराश्री, ते वदनाब्जे तु नेत्रयोः ॥ ४४ ॥

इति तृतीय पादादियमकम् ।

नाधुना दर्शनं प्राप्यं तस्यास्तिष्ठ क्षणं बहिः ।
विरराज राजकन्या रहसि प्रियलिप्सया ॥ ४५ ॥

इति तृतीयपादमध्ययमकम् ।

तृप्तायेव रोचते न सुस्वादु प्रियवस्तु च ।
रतान्ते च हृदाहृद्य निखिलानङ्गजोत्सवः ॥ ४६ ॥

इति तृतीयपादान्तयमकम् ।

अरण्यमपि चाक्रन्तिं वैरिभिर्नगरं नृप ।
पदातिहस्त्यश्वरथै रहितैः रहितैस्तव ॥ ४७ ॥

इति चतुर्थपादादियमकम् ।

कान्तप्रियेऽत्रसमये प्रवासो नोपयुज्यते ।
किमु क्षिपसि शार्द्दूल भवनेषु वनेषु माम् ॥ ४८ ॥

इति चतुर्थपादमध्ययकम् ।

देवानामपि देवो यश्चतुर्वर्गफलप्रदः ।
सखे भवभये सेव्यः स ईशः स शिवः शिवः ॥ ४९ ॥

इति चतुर्थपादान्तयमकम् । इति पादानामादिमध्यान्तयमकादि द्वादश ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथैकद्वित्रिनियोगतो यथा—

सखि भून्ममानेन मानेन प्रणयः प्रियः।
खण्डितां कण्ठ आश्लिष्य मामकार्षीत् स सत्रपाम् ॥५०॥

मनः क्षोभञ्च नयति तद्दिनं वत वारणो।
वारणोद्दामतुरगविक्रमः स्मर दुर्धरः ॥५१॥

नुन्नमानं मतः स्त्रीणां सह रत्यावगाहयेत्।
मेघनादेन मदनोमदनोदनकारिभिः ॥ ५२ ॥

इति पादसन्धिषु त्रीण्यैकैकयमकनियोगतः।

रतिरस्तु स्मरहरे हरे गौरी मनोहरे।
हरे निखिलं पापं लक्ष्मीकान्त नमोऽस्तु ते ॥ ५३ ॥

रक्षेदपि त्वां भवभीतितः सखे तितीर्षयास्मिन् भवसागरे स्मर।
स्मरध्वंस द्रुह्यैव सर्वदा स्मर स्मरक्षतीहाघभ्याद्बहून जनान् ॥५४॥

आसीत् पुरेदं निखिलं सदैव सदैव दैत्याद्यखिलं ससर्ज।
सर्वं तदाविष्टमिदं सदैव सदैवनाद्देव इतीरितोऽभूत् ॥ ५५ ॥

इति त्रीणि द्वियमकत्वयोगतो यमकानि।

स सा च पातु प्रियभाषयाधरा धराधिशायी य उमेश्वरो धरा।
धरात्मजाविम्बफलोज्वलाधरा धरामियां या च विभर्ति सर्वदा ॥ ५६

इति त्रियमकनियोगादेकं यमकम्। इति सप्तधा यमकम्।

तथा पादयमकानि षोढा यथा :—

नते नते देव नते नते नते
नते नते देव नते नते नते

नते नते नैस्व नते नते नते
नते नते नैऽव नते नते नते ॥ ५७ ॥

दधत् सितश्रीच्छुरितं नवाम्बुभूतसमङ्गलं गाङ्गतरङ्गलालसः।
समङ्गलं गाङ्गतरङ्गलालसः समारुरुक्षुर्गिरीशस्तनोत्तरः ॥ ५८ ॥

भवाब्धिपारेप्सुरहं ममाद्य भृङ्गायमानं भवपादपद्मे।
मनोभवस्याङ्गविषादनस्य मनोभवस्याङ्गविषादनस्य ॥ ५९ ॥

इत्येकपादारम्भस्तुल्य इति त्रीणि यमकानि।

अथ द्वितीयं व्यपेतयमकं विभजते :—

द्वितीयं[1] त्रिविधं पादस्याऽऽदिमध्यान्तगोचरम्[2] ।
पादान्तयमकं चैव काञ्चीयमकमेव च ॥ ३० ॥
यत् पादमध्ययमकं[3] विक्रान्तयमकं तथा[4] ।
पादादियमकञ्चैव तथाम्रेडितमेव[5] च ॥ ३१ ॥
चतुर्व्यवसितं चैव[6] मालायमकमेव च[7] ।
दशाष्टौ[8] यमकं श्रेष्ठं तद्भेदा बहवोऽपरे ॥ ३२ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

नास्थेयः सत्त्वया वर्ज्यः परमायतमायया ।
नास्थेयः स त्वया वर्ज्यः परमायतमायया ॥ ६० ॥

इत्येकं द्विपादारम्भस्तुल्य इति अव्यपेतं श्लोकार्द्धयमकम् । इति चत्वारि ।

भवोदधेस्तारकपालकार भवोदधेस्तारकपालकार ।
भवोदधेस्तारकपालकार सदापदन्ते शमनस्य बाधनम् ॥ ६१ ॥
सदा पदन्ते यमभीतिनाशि भवोदधेस्तारकपालकार ।
भवोदधेस्तारकपालकार भवोदधेस्तारकपालकार ॥ ६२ ॥

इति तुल्यत्रिपादारम्भो द्वे यमके इति षोढा पादयमकानि ।

शमदमारहितेतरदेहिनः शमदमारहितेतरदेहिनः ।
शमदमारहितेतरदेहिनः शमदमारहितेतरदेहिनः ॥ ६३ ॥

इति चतुर्भिः पादस्तुल्यारम्भेऽपरमेकं यमकमिति सप्तधा इति षड्विंशतिविधमव्यपेतं यमकमुक्तम् ॥ २८-२९ ॥

(ख) व्यपेत यमक के भेद

अर्थ—द्वितीय व्यपेतयमक तीन प्रकार का होता है—पादादियमक, पादमध्ययमक और पादान्त-यमक । इनमें जो पादादि यमक है उसे काञ्चीयमक कहते हैं और जो पादमध्य यमक है उसे विक्रान्तयमक कहते हैं तथा जो पादादियमक है उसे 'आम्रेडित

---

१. तृतीयं— इति पाठान्तरम् । २ क—गोचरा ।
३. मुद्रितग्रन्थे तथा ग पुस्तके—सम्बन्धयमकञ्चैव —इति पाठः ।
४. विक्रान्तयमकन्तु तत्—इति पाठान्तरम् क—क्रियान्तयमका क्रिया इति पाठः ।
५. तथा त्रितयभेव च—इति पाठान्तरम् । ६. यत्तु—इति पाठान्तरम् ।
७. तत्—इति पाठान्तरम् । ८. दशधा—इति पाठान्तरम् ।

काव्यप्रभावृत्तिः

व्यपेतयमकमाह—द्वितीयमिति व्यपेतं यमकं तत्तु व्यवधानतो भिन्नार्थप्रतिपादिकाऽनेकवर्णावृत्तिः। तद्व्यपेतयमकस्यापि स्थानं पादभेदाच्चतुर्विधमुक्तम्। तद्यमकं तस्यैकैकस्य पादस्यादिमध्यान्तगोचरं त्रिविधं भवति। तथा च यमकत्वात् प्रथमपादद्वितीयपादयोरादौ, द्वितीयपादतृतीयपादयोरादौ, तृतीयपादचतुर्थपादयोरादौ चेति पादादियमकमेकं त्रिविधं भवति। यथा -

रावणोद्दामतुरगो रावणो मदमोहितः।
त्रिलोकीं संत्रासयति भुजविक्रमदुर्मदः॥ ६४॥
तारके भ्रमरभ्रान्त्या मधुरायतनेत्रयोः।
मधुराम्भोजवदने सद्यो मदयतो मनः॥ ६५॥
कोपावनतचन्द्रास्ये समारूढ़स्य साम्प्रतम्।
स्मरस्य शरविन्दं मां स्मरस्यन्दनमानसम्॥ ६६॥

इति त्रिविधं पादादिव्यपेतयमकम्।

तथैव प्रथमपादद्वितीयपादयोर्मध्ये, द्वितीयपादतृतीयपादयोर्मध्ये, तृतीयपादचतुर्थपादयोर्मध्ये चावृत्तिरिति पादमध्ययमकमेकं त्रिविधं भवति। यथा--

मेघनादेनमायूरमदनादेनमान्तरम्।
कान्तेऽगदं कुरु पुरा यावत् प्राणान् जहाति न॥ ६७॥
जीयन्ते त्वादृशैर्भूपैर्विक्रमैराजि तैक्ष्ण्यतः।
रिपवो राजितैस्तीक्ष्णैः शरैर्गाढ़प्रहारिभिः॥ ६८॥
बाणैस्तीक्ष्णैः प्रहारेण शत्रुसंघान् जयन्ति च।
विक्रमैराजितैक्ष्ण्यैस्त्वादृशा राजितैर्नृपाः॥ ६९॥

इति त्रिविधं पादमध्यव्यपेतयमकम्।

यमक कहते हैं' और इनमें जो चतुर्व्यवसित यमक है उसे मालायमक कहते हैं। ये अठारह यमक श्रेष्ठ कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त और भी भेद हो सकते हैं॥ ३०-३२।

विमर्श—अब व्यपेत यमक का लक्षण एवं भेद बताते हैं। जहाँ पर व्यवधान से भिन्न अर्थ के प्रतिपादक अनेक वर्णों की आवृत्ति होती है उसे 'व्यपेत' यमक कहते हैं। यह व्यपेत यमक पाद भेद से चार प्रकार का होता है। उनके एक-एक पाद के आदि, मध्य और अन्त में आवृत्ति होने से तीन प्रकार का होता है। प्रथम पाद का द्वितीय पाद के आदि में, द्वितीय पाद का तृतीय पाद के आदि में, तृतीय पाद का चतुर्थ पाद के आदि में आवृत्ति होने से पादादि यमक तीन प्रकार का होता है।

इसी प्रकार प्रथम एवं द्वितीय पाद के मध्य में, द्वितीय एवं तृतीय पाद के मध्य में

काव्यप्रभावृत्तिः

तथा प्रथमपादद्वितीयपादयोरन्ते, द्वितीयपादतृतीयपादयोरन्ते, तृतीयपाद-चतुर्थपादयोरन्ते चेति पादान्ते यमकैकं त्रिविधं भवतीति। यथा—

माने कृते सुवदने रुचिर्नास्ति तवादने।
कोपेन किं त्ययैः प्राणान् नात्यन्तं किञ्चिदर्हति ॥ ७० ॥

भवन्ति मृत्युञ्जयकानसम्पदस्त्वन्नान्यदिष्टं तव साधनादृते।
मुग्धस्य तोषो न महाधनादृते प्रसीद संसारभयैर्विषण्णे ॥ ७१ ॥

विष्ण्वादिसन्निधौ यस्य दक्षयज्ञे सुरर्षयः।
कोपास्त्वस्तामहासवः प्रावतात् कामहासवः ॥ ७२ ॥

इति त्रिविधं पादान्तव्यपेतयमकम्। द्वितयद्वितयपादे त्रिस्थानगं यमकं नवधा भवति।

तथा त्रितयमेव च। त्रितयत्रितयपादादिमध्यान्तगोचरं त्रिविधमपि षोढा यमकं भवति। तद्यथा प्रथमद्वितीयतृतीयपादानामादौ त्वेकं यमकं, द्वितीयतृतीय-चतुर्थपादानामादौ चैकमिति त्रितयपादादियमकममेकं द्विविधं भवति। यथा—

हरिणाऽघानीव मुरौ हरिणा निहतो बलः।
हरिणा हन्यते तद्वदधुनाऽपि महागजः ॥ ७३ ॥

वशे वै भवन्ति वै लोका गोरसेन विपश्चितान्।
गोरसे योषितां मता गोरसे शिशुपुष्टता ॥ ७४ ॥

इति द्विविधं त्रितयपादादिव्यपेतयमकम्।

तृतीय एवं चतुर्थ पाद के मध्य में आवृत्ति होने से प्रत्येक पाद-मध्य-यमक तीन प्रकार का होता है।

इसी प्रकार प्रथम एवं द्वितीय पाद के अन्त में द्वितीय एवं तृतीय पाद के अन्त में तृतीय एवं चतुर्थ पाद के अन्त में आवृत्ति होने से पादान्त यमक भी तीन प्रकार का होता है। इस प्रकार कुल मिलकर नौ प्रकार के यमक हुए।

इसी प्रकार प्रथम, द्वितीय, तृतीय पाद के आदि में आवृत्ति होने से एक प्रकार का यमक और द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ पाद के आदि में आवृत्ति होने से द्वितीय प्रकार का यमक होता है। इस प्रकार त्रितयपादादि यमक प्रत्येक दो प्रकार का होता है।

इसी प्रकार प्रथम, द्वितीय, तृतीय पाद के मध्य में आवृत्ति होने से एक प्रकार का यमक तथा द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थ पाद के मध्य में आवृत्ति होने से द्वितीय प्रकार का यमक इस प्रकार त्रितयपादमध्ययमक भी दो प्रकार का होता है।

काव्यप्रभावृत्तिः

तथा प्रथमद्वितीयतृतीयपादानां मध्ये त्वेकं यमकं द्वितीयतृतीयचतुर्थपादानां मध्ये चैकमिति त्रितयपादमध्यमेकं यमकं द्विविधं भवति । यथा—

गायन्ति ये नामपदं पुरारेर्व्रजन्ति ते नामपदं महद्वै ।
न स्याज्जना नामपदं कदाचित् कुतश्च कालाद् भयमागतं स्यात् ॥ ७५ ॥

अघसङ्घविमोहितदुर्मनसि जगदुद्भवशङ्करमय्यसकृत् ।
सततं भवशङ्करुणार्द्रं कुरु शिवयाभयशङ्कतयाधिमति ॥ ७६ ॥

इति द्विविधं त्रितयपादमध्यागतव्यपेतयमकम् ।

तथा—प्रथमद्वितीयतृतीयपादानामन्ते त्वेकं, द्वितीयतृतीय-चतुर्थपादानामन्ते चापरमेकमिति त्रितयपादान्तयमकमेकं द्विविधं भवति । यथा—

मनोरतं यस्य चिरं पुराऽरे संसारमोक्षाय सदा पुरारेः ।
महर्षयो मोक्षमवापुरारे क्रुद्धे तु किं स्याद् भज शम्भुमस्मात् ॥ ७७ ॥

लोकाजिताः स्त्रीपुरुषैस्तु तैस्तैर्येषां मतिवर्त्तत एव माधवे ।
येषां तथा भक्तिरभूदुमाधवे यस्याः सदा भक्तिरिहोऽस्तु माधवे ॥७८॥

इति द्विविधं त्रितयपादान्तव्यपेतयमकमिति एकद्वितीयत्रितयपादादिमध्यान्तगतानि पञ्चदशयमकानि ।

तत्र यद्यत् पादान्तयमकं द्वितयपादगं त्रितयपादगं वा तत् काञ्चीयमकं नाम । यच्च द्वितयपादमध्ययमकं त्रितयपादमध्ययमकं च तत्सर्वं विक्रान्तयमकं नाम । यच्च पादादियमकं द्वितयपादगं त्रितयपादगं च तत्सर्वं चाविक्रान्तयमकमेव नाम्नोच्यते । न नानान्तरम् चतुर्व्यवसितं चतुर्षु पादेषु खल्वादौ मध्येऽन्ते च व्यवसितं यद् यद् यमकं तत्सर्वं मालायमकं नाम भवति । तच्च चतुर्णां पादानामादौ यमकमेकं मध्ये यमकमेकमन्ते यमकमेकमिति त्रिविधं मालायमकं भवतीत्येवं दशाष्टावष्टादशधा व्यपेतं यमकं श्रेष्ठं भवति । तद्भेदास्तेषामष्टादशानां व्यपेतयमकानामपरे भेदा बहवस्तेषु न श्रेष्ठा इति । ते चैवंविधा भवन्ति प्रथमपादादौ द्वितीयपादस्य मध्येऽन्ते वा इत्येवमादयो विषमस्थाने यमकभेदाः । यथा—

इसी प्रकार प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पाद के अन्त में आवृत्ति होने से एक प्रकार का यमक तथा द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ पाद के अन्त में आवृत्ति होने से द्वितीय प्रकार का यमक होता है । इस प्रकार तृतीयपादान्त यमक भी दो प्रकार का होता है ।

इस प्रकार त्रितयपादयमक छः प्रकार का होता है । इस प्रकार व्यपेत यमक के कुल ९ + ६ = १५ पन्द्रह भेद हुए ।

अथ पदावृत्तिमनुप्रासमाह :—

स्वतन्त्रस्यान्यतन्त्रस्य पदस्यावर्त्तनाद् द्विधा ।
भिन्नप्रयोजनपदस्याऽऽवृत्ति मनुजा विदुः ॥ ३३ ॥

द्वयोरावृत्तपदयोः[1] समस्ता स्यात् समासतः ।
असमासात्तयोर्व्यस्ता[2] पादे[3]त्वेकत्रविग्रहात् ॥ ३४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

भवान्धकारे पतितस्य जन्तोर्भवान्धकारे करुणैकसिन्धो ।
भवान्धकारे शरणं यतोऽर्कभवान्धकारे शययानदृश्या ॥ ७९ ॥
भव्यभूतभवदीश वेत्ति यः सारभूतभवदीयसद्गुणान् ।
पशुभूतभवशाखिखण्डने प्रीतिभूतभवनं तवेति सः ॥ ८० ॥
तव प्रिया सञ्चरितप्रमत्तया विभूषणं धार्य्यमिहांशुमत्तया ।
रतोत्सवामोदविशेषमत्तया न मे फलं किञ्चन कान्तिमत्तया ॥ ८१ ॥

इति मालायमकमेकम् । इत्यष्टादशधा व्यपेतयमकं श्रेष्ठम् । अतोऽपरे तद्यमकभेदा बहवो ये सन्ति, ते तु न श्रेष्ठा इति । मालायमकमपि पादादिमध्यान्ते गोचरं त्रिधैवैकनामेति । अपरे यमकभेदास्तु यथा प्रथमपादे आदिमध्यान्तेषु तृतीयपादे च । तथा द्वितीयचतुर्थपादे च तथान्यपादानां द्वितयत्रितयचतुष्टयानामादिमध्यान्तेषु विषमेष्वनेकवर्णा वृत्तिर्व्यपेतयमकं नाम शब्दालङ्कारोऽनुप्रासो बहुविधः स्मृतः इति ॥ ३२ ॥

इनमें जो पादान्तयमक, द्वितयपादगयमक अथवा त्रितयपादगयमक है उसे 'काञ्चीयमक' कहते हैं, और जो पादादि यमक, द्वितयपादगयमक त्रितयपादक यमक है, उसे 'विक्रान्तयमक' कहते हैं। इसी प्रकार चारों पादों के आदि, मध्य, अन्त में आवृत्ति होने से मालायमक होता है। इस प्रकार ये तीनों यमक मिलकर कुल अठारह यमक होते हैं। इस प्रकार व्यपेतयमक के कुल अठारह भेद हुए। इनके अतिरिक्त यमक के और भी भेद हो सकते हैं, किन्तु वे श्रेष्ठ नहीं कहे गये हैं। ये अठारह यमक ही श्रेष्ठ कहे गये हैं ॥ ३०-३२ ॥

---

१. द्वयौरावृत्तिपदयो —इति पाठभेदः ।
२. असमासा तयौर्व्यस्ता—इति पाठभेदः ।
३. क—पदे इति पाठान्तरम्ः ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ पदावृत्तिमनुप्रासं लक्षयति—भिन्नप्रयोजनस्य खल्वेकस्यैव पदस्यावृत्तिं तद्रूप्येणैव पुनरुक्तिं पदावृत्तिं नामानुप्रासं शब्दालङ्कारं मनुजा विदुः। सपदावृत्तिर्नामानुप्रासो द्विधा भवति। स्वतन्त्रस्य पदस्यावर्त्तनादेकोऽन्यतन्त्रस्य परतन्त्रस्य पदस्यावर्त्तनाद् द्वितीय इति ॥ ३३ ॥

अत्र स्वतन्त्रतामन्यतन्त्रताञ्च पदस्याह—द्वयोरित्यादि। द्वयोरभिन्नयोः पदयोः समासत आवृत्तिर्व्यासासमस्तापदावृत्तिः स्यादन्यतन्त्रावर्त्तनादनुप्रासः। तयोरभिन्नयोः पदयोर्द्वयोरसमासात्तथानुपूर्व्या श्लोकस्य पादे खल्वेकस्मिन् विग्रहादावृत्तिर्व्यस्ता स्वतन्त्रपदावर्त्तनात् पदावृत्तिर्नामानुप्रासः। इति द्विधा पदावृत्तिर्यथा—

सकलैः सकलैः परितः करुणैरुदितैरुदितैरिहरवं निचितम्।
सरसां सरसां परिमुच्य तनूं पततां पततां ककुभो बहुशः ॥८२॥

इति चतुर्षु पादेषु दर्शितम्। एकैकस्मिन् पादे पदावृत्तिर्यथा—

---

(३) पदावृत्ति अनुप्रास

अर्थ—भिन्न प्रयोजन से एक ही पद की आवृत्ति को विद्वान् पुरुष पदावृत्ति नामक अनुप्रास अलङ्कार मानते हैं। वह पदावृत्ति अनुप्रास दो प्रकार का होता है—स्वतन्त्र पदावृत्ति और अस्वतन्त्र पदावृत्ति। उन दोनों पदों की समास से आवृत्ति होने से समस्तपदावृत्ति और विना समास के आवृत्ति होने से असमस्तपदावृत्ति होती है ॥ ३३-३४ ॥

विमर्श—भिन्न प्रयोजन से जब एक ही पद की आवृत्ति उसी रूप में होती है तो उसे 'पदावृत्ति' यमक कहते हैं। स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र पदों के आवर्त्तन से वह दो प्रकार का होता है। उन दोनों अभिन्न पदों की समासतः आवृत्ति होने से समस्त पदावृत्ति और असमासतः उसी क्रम से आवृत्ति होने से असमस्त पदावृत्ति भेद से वह दो प्रकार का होता है। असमस्त पदावृत्ति का उदाहरण जैसे—

तरणिं तरणिं प्राप्य ध्वान्तपारं नरो व्रजेत्।
अज्ञानध्वान्तपारं च तत्त्वज्ञानं तथा व्रजेत् ॥ ८३ ॥

यह असमस्त पदावृत्ति का उदाहरण है। अब समस्त पदावृत्ति का उदाहरण देते हैं—

स्मितवदनेऽस्मितवदनेन प्रियवचनावचनमुखेन।
त्वामहह भासि शशिमुखेऽथ कुरु करुणां मयि मनसैव ॥ ८४ ॥

यहाँ पर 'स्मितवदन' पद समस्त होने से 'स्मितवदने' समस्तपद की आवृत्ति है। अतः यह समस्तपदावृत्ति का उदाहरण है ॥ ३३-३४ ॥

अथ वाक्यानुप्रासमाह—

वाक्यस्यावृत्तिरप्येवं यथासम्भवमिष्यते ।
अलङ्करोत्यनुप्रासो[1] लघुमप्येवमर्हणात्[2] ॥ ३५ ॥
यया कयाचिद्वृत्या यत् समानमनुभूयते ।
तद्रूपादिपदावृत्तिः[3] सानुप्रास[4]रसावहा ॥ ३६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

तरुणिं तरुणिं प्राप्य ध्वान्तपारं नरो व्रजेत् ।
अज्ञानध्वान्तपारञ्च तत्त्वज्ञानं तथा व्रजेत् ॥८३॥

इत्येवं द्वितीय-तृतीय-चतुर्थेषु पादेषूदाहार्यम् ।

अथ समस्तपदावृत्तिर्यथा—

स्मितवदनेऽस्मितवदनेन प्रियवचनावचनमुखेन ।
त्वमहह भासि शशिमुखेऽथ कुरु करुणां मयि मनसैव ॥८४॥

इति । इह द्वयोः स्मितवदनपदयोः समासात् स्मितवदने इत्यस्यावृत्तिः । पुनरस्मितवत् अनेन इति पदद्वययोगे भिन्नप्रयोजनत्वादेकस्मिन् पादे च विग्रहात् परतन्त्रपदावृत्तिरियं समस्ता । कश्चित्तु व्याचष्टे—द्वयोः पदयोः समासेन समस्त-पदस्यैकदेशावृत्त्या समस्तपदावृत्तिः स्यादिति । यथा—

अवसितं हसितं प्रसितं मुदा विलसितं द्रुसितं स्मरभाषितम् ।
न समदाः प्रमदाऽतसम्मदापुरहितं विहितं नसमीहितमिति ॥ ८५ ॥

तन्न साधु । तस्यैकदेशस्य पदत्वाभावात् पदावृत्तित्वाभावात् । एतच्च वर्णावृत्तिषु वोध्यामश्रेष्ठयमकं सर्वमिति ॥ ३३-३४ ॥

---

(४) वाक्यावृत्ति अनुप्रास

अर्थ—वाक्यावृत्ति अनुप्रास में भी यथासम्भव इसी प्रकार (पदावृत्ति के समान) वाक्य की आवृत्ति होती है । यह लघु होते हुए भी योग्य होने से काव्य को अलङ्कृत करता है । जिस किसी भी वृत्ति से जो समानता का अनुभव किया जाता है वह तद्रूपादि पदावृत्ति की रसावहवृत्ति वाक्यावृत्ति अनुप्रास काव्यालङ्कार है ॥ ३५ ३६ ॥

---

१. "अलङ्काराद्यनुप्रासौ" इति पाठभेदः ।
२. मुद्रितपुस्तके "लघुमध्येवमर्हणात्" घ—"लघुमप्येवमर्हणात्" त—"लघुमध्येववर्हणात्"
३. मुद्रितपुस्तके पदासत्तिः, प—पदासङ्किः, क—पदाशान्तिः ।
४. सानुप्रासा—इति पाठान्तरम् ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ वाक्यानुप्रासमाह—वाक्यस्यावृत्तिरनुप्रासोऽपि यथासम्भवमेवमीदृशमिष्यते। स्वतन्त्रस्य वाक्यस्यावर्त्तनादेका वाक्यावृत्तिरन्यतन्त्रस्य वाक्यस्यावर्त्तनादपरा वाक्यावृत्तिः स्यात्। तत्र या समासाद्वाक्यावृत्तिः सा समस्ताऽन्यतन्त्रावर्त्तनात्। सा पुनरसमासाद्वाक्यावृत्तिः सा व्यस्तवाक्यावृत्तिरिति।

नन्वेवं वाक्यावृत्तिः कथं काव्यमलङ्करोति ? वाक्यात्मकवाङ्मयं हि काव्यमुक्तमित्यत आह—अलङ्करोतीत्यादि। एवमिह वक्ष्यमाणप्रकारेण लघुमपि अर्हणाद्योग्यत्वादेष वाक्यावृत्तिरनुप्रासः काव्यमलङ्करोति, केन प्रकारेणेत्यत आह ययेत्यादि यथा कयाचिद्वृत्त्या येन केनापि वर्त्तनेन यत् समानं वाक्यमनुभूयते सा तद्रूपादिपदावृत्तिः पूर्वोक्तवाक्यघटकपदानामानुपूर्व्यैरावृत्तिः सा वाक्यावृत्तिरनुप्रासस्य यो रसः श्रुतिसुखजनकतया स्वादुविशेषस्तमावहतीति वाक्यावृत्तिरनुप्रासः काव्यस्य शब्दालङ्कार उच्यते। यथा—

नागरस्य समायोगाद्वयःस्था हन्ति वेदनाम्।
नागरस्य समायोगाद्वयःस्था हन्ति वेदनाम् ॥८७॥

विमर्श— पदावृत्ति अनुप्रास के समान वाक्यावृत्ति अनुप्रास के भी दो भेद होते हैं—स्वतन्त्र वाक्यावृत्ति और अस्वतन्त्र वाक्यावृत्ति। उनमें समस्त वाक्य की आवृत्ति को समस्त-वाक्यावृत्ति और असमस्त वाक्य की आवृत्ति को असमस्त वाक्यावृत्ति कहते हैं। यह वाक्यावृत्ति योग्य होने से काव्य को अलङ्कृत करती है। जिस किसी भी प्रकार जो समानता का अनुभव होता है वह तद्रूप पदों की वाक्य में आनुपूर्वी आवृत्ति होने से वाक्यावृत्ति है। वाक्यावृत्ति अनुप्रास में जो रस श्रुति सुखद होता है वह वाक्यावृत्ति अनुप्रास काव्य को अलंकृत करने से शब्दालङ्कार कहा जाता है। जैसे—

नागरस्य समायोगाद्वयःस्था हन्ति वेदनाम्।
नागरस्य समायोगाद्वयःस्था हन्ति वेदनाम् ॥ ८७।

यहाँ पर वयःस्था (विभीतक का फल) नागर (शुण्ठी) के योग से वेदना (पीड़ा) को दूर करती है। वही वाक्य पुनरावर्त्तित होकर वयःस्था (युवती नारी) नागर (नगर निवासी चतुर) पुरुष के संयोग से पीड़ा (कामपीड़ा) को दूर करती है, यह अर्थ प्रकट करता है। यहाँ पर तद्रूप पदावृत्ति का समान अनुभव होने से वाक्यावृत्ति अनुप्रास रस का वहन करता है। यह असमस्त वाक्यावृत्ति का उदाहरण है। समस्त वाक्यावृत्ति का उदाहरण निम्न प्रकार है—

अथ चित्राऽलङ्कारं लक्षयति :—

गोष्ठ्यां कुतूहलाधायी[1] बाग्बन्धश्चित्रमुच्यते ।
प्रश्नः प्रहेलिका गुप्तं च्युतदत्ते[2] तथोभयम्[3] ॥ ३७ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

इह वयःस्था विभीतकफलं नागरं शुण्ठीति तद्घटितवाक्यं पुनरावर्त्तितं तत्र-वयःस्था युवती नागरः पुरवासिपुरुषः । इति । तद्रूपादिपदावृत्त्या समानानुभवाद्वाक्यावृत्तिरनुप्रासरसमावहतीति असमासाद्वाक्यावृत्तिर्व्यस्ता । अत्र समस्तावाक्यावृत्तिर्यथा—

गोरसाद्भूतसंलापः संविज्जनमनोहरः ।
गोरसाद्भूतसंलापः सम्विज्जनमनोहरः ॥८८॥

इह पूर्ववाक्यं गवोश्चक्षुषो रसेन चारुनेत्रचालनादिना संलापः संविदा बुद्ध्याविशिष्टा जनमनोहर इति । तस्यावृत्तौ पुनः गवां वाचां रसेन श्रुतिसुखवाङ्माधुर्य्येण संलापः सम्यग्यो वेत्ति तज्जनमनोहरः इति । अत्र समासाद्वाक्यावृत्तिः समस्ता ज्ञेया ॥ ३६ ॥

चित्राख्यलङ्कारं लक्षयति– गोष्ठ्यां सभायां जनसमूहे कुतूहलाधायी कौतुकमादधाति यो बाग्बन्धः वचन-प्रबन्धस्तच्चित्रमाश्चर्य्यत्वाच्चित्रं नामशब्दालङ्कार उच्यते । तद्भेदाच्चित्रालङ्कारस्य भेदाः सप्त भवन्ति प्रश्नादिभेदेन नानार्थस्य शब्दस्यानु योगात् । सप्त चैते भेदाः—प्रश्नश्च, प्रहेलिका च, गुप्तश्च, च्युतश्च, दत्तश्च, च्युतदत्तश्च, समस्या चेति ॥ ३८ ॥

गोरसाद्भुतसंलापः संविज्जनमनोहरः ।
गोरसाद्भुतसंलापः संबिज्जनमनोहरः ॥ ८८ ॥

यहाँ पर पूर्व वाक्य 'गो (नेत्र) के रस (सुन्दर नेत्र के संचालनादि) के द्वारा संलाप संविद्जन (विशिष्ट-जन) के लिए मनोहर होता है' इसी का पुनः आवृत्ति करने पर गो (वाणी) के रस (श्रुतिसुखद वाङ्मय के माधुर्यादि) से युक्त संलाप विद्वान् पुरुष के लिए मनोहर होता है ।' यह धर्म होने से इसे भी समस्त वाक्यावृत्ति का उदाहरण कहते हैं ॥ ३५-३६ ॥

८ चित्रालङ्कार

अर्थ—गोष्ठी में पढ़ने मात्र से कुतूहल उत्पन्न करने वाला कवि का वाग्बन्ध (गुम्फन) चित्र अलङ्कार कहलाता है । नाना अर्थों के अनुयोग से इसके सात भेद होते हैं—प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्त, च्युत, दत्त, च्युतदत्त और समस्या ॥ ३७-३८ ॥

---

१. मुद्रितेपुस्तके कुतूहलाध्यायी । प—कुतूहलाहासौ । २. च्युतं दत्तं । भ—युतं दत्ते ।
३. क—तथोभया ।

अत्र प्रश्नं लक्षयति :—

समस्या[1] सप्त तद्भेदा नानार्थस्यानुयोगतः[2] ।
यत्र प्रदीयते तुल्यवर्णविन्यासमुत्तरम् ॥ ३८ ॥
स प्रश्नः स्यादेकपृष्टद्विपृष्टोत्तरभेदतः ।
द्विधैव पृष्टे[3] द्विविधः[4] समस्तो व्यस्त एव च ॥ ३९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अत्र प्रश्नं लक्षयति—यत्र प्रश्ने तुल्यवर्णविन्यासमुत्तरं वचनं प्रदीयते स प्रश्नः स्यात् । स चैकपृष्टद्विपृष्टोत्तरभेदात् द्विधा । तत्र द्विविधे पृष्टे समस्तश्च-व्यस्त एव चेति द्विविधः प्रश्नःस्यादिति । यथा व्यस्तपृष्टे समस्तेन तुल्यवर्णविन्या-सेनोत्तरं—

नुकाकाली नु काकाली का मधुरा कामधुरा ।
काशीतलवाहिनी ननु काशीतलवाहिनी ॥८९॥

---

(९) प्रश्न का लक्षण

अर्थ—जहाँ पर तुल्य वर्ण के विन्यास से उत्तर दिया जाता है उसे 'प्रश्न' कहते हैं । वह दो प्रकार का होता है—एकपृष्टप्रश्नोत्तर और द्विपृष्टप्रश्नोत्तर । इनमें भी दो भेद होते हैं - समस्त और व्यस्त (असमस्त) ॥ ३८-३९ ॥

विमर्श—प्रश्न का लक्षण बताते हुए अग्निपुराणकार कहते हैं कि जहाँ पर समान वर्णों के विन्यास के द्वारा प्रश्न का उत्तर दिया जाता है उसे प्रश्न कहते हैं । प्रश्न के दो भेद होते हैं— एकपृष्टप्रश्नोत्तर और द्विपृष्टप्रश्नोत्तर । इस द्विविध प्रश्न के भी समस्त और असमस्त दो भेद होते हैं । जैसे—

नु काकाली नु काकाली का मधुरा कामधुरा ।
का शीतलवाहिनी नु नु काशीतलवाहिनी ॥ ८९ ॥

यहाँ पर प्रश्न है कि काली (काला) क्या है ? उत्तर है 'काकाली' अर्थात्कौओं का समूह (काक + अलि) । दूसरा प्रश्न है—का मधुरा ? क्या मधुर है ? उत्तर—कामधुरा अर्थात् काम से अप्रगल्भ नारी । तीसरा प्रश्न है—शीतलवाहिनी कौन है ? उत्तर है—काशीतलवाहिनी अर्थात् काशी के तल में बहने वाली गङ्गा । यहाँ पर असमस्त पद के द्वारा प्रश्न किया गया है और समस्त समान पद के द्वारा ही उत्तर दिया गया है ।

---

१. ग, घ—समस्या दूरि पाठान्तरम् ।
२. क—नानार्थः स्याच्च यागतः इति पाठान्तरम् ।
३. मुद्रितग्रन्थे द्विविकपृष्टो—इति पाठभेदः । ४. ख—विविधः इति पाठान्तरम् ।

काव्यप्रभावृत्तिः

व्यस्तपृष्टे व्यस्तेनोत्तरं—

नु कृष्णः कंसंजघान नु कृष्णः कंसं जघान ।
शीतं नार्द्दत् कम्बलिनं शीतं नार्द्दत्कम्बलिनम् ॥९०॥

अथ समस्ते पृष्टे समस्तेनोत्तरं यथा—

नु किन्नरः किम्पुरुषो । नु किन्नरः किम्पुरुषो ॥९१॥

इत्येवं व्यस्तेनोत्तरं द्रष्टव्यम् ।

अथ द्विपृष्टोत्तरप्रश्नः—

नु का कालिकामधुरा । नु का कालिकामधुरा ॥९२॥

इत्येवमादिसमस्तव्यस्तप्रश्ना द्रष्टव्याः । अत्र केचिदाहुर्द्विधैव या एकपृष्टोत्तरद्विपृष्टोत्तररूपः । स पुनर्द्विधा समस्तश्च व्यस्तश्च । अनेकपृष्ठे समस्तमुत्तरमेकेन व्यस्तमुत्तरं प्रत्येकेन । यथा—

भोजने व्यञ्जनाढ्येषु प्रियेबहुगुणान्विते ।
कोरसो गोरसेनर्त्ते कोरसो गोरसादृते ॥९३॥

इत्येवं सर्व्वं न प्रश्नः । तुल्यवर्गविन्यासवाक्येनोत्तराभावात् । अयन्तु प्रश्नः—

अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसास्य किं भो,
अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसास्य किं भोः ।
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसास्य किन्नु,
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसास्य किन्नु ॥ ९४ ॥

नु कृष्णः कंसंजघान नु कृष्णः कंसंजघान ।
शीतं नार्द्दत् कम्बलिनं शीतं नार्द्दत् कम्बलिनम् ॥ ९० ॥

यहाँ पर प्रथम पाद में प्रश्न किया गया है कि 'कृष्णः कं संघघान' (कृष्ण ने किसे मारा ?) द्वितीय पाद में अन्तर है—'कृष्णः कंसंजघान । (कृष्ण ने कंस को मारा) । इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में प्रश्न है—कं बलिनं शीतं न अर्द्दत् ।' (किस बलवान् को शीत नहीं लगती ?) उत्तर है—'कंबलिनं शीतं न अर्द्दत्' (कम्बलवाले को शीत नहीं सताती) । यहाँ पर समस्त पद के द्वारा प्रश्न है और असमस्त पद के द्वारा उत्तर दिया गया है ।

न किन्नरः किम्पुरुषो, नु किन्नर. किम्पुरुषो ॥ ९१ ॥

यहाँ पर समस्त पद के द्वारा प्रश्न किया गया है और समस्त पद के द्वारा ही उत्तर दिया गया है । इसी प्रकार असमस्त पद के द्वारा प्रश्न और असमस्त पद के द्वारा उत्तर के उदाहरण भी समझना चाहिए ।। ३८-३९ ॥

अथ प्रहेलिकां लक्षयतिः—

द्वयोरप्यर्थयोर्गुह्यमानशब्दा प्रहेलिका ।
स्याद् द्विधाऽऽर्थी च शाब्दी च तत्रार्थी चार्थबोधतः ॥ ४० ॥
शब्दावबोधतः[1] शाब्दीं प्राहुः षोडशधैव ताम्[2] ।
समागता प्रमुषिता व्युत्क्रान्ता वञ्चिता तथा ॥ ४१ ॥
ग्रथिता परुषा चैव संख्याता च प्रकल्पिता ।
समासशब्दोपन्यस्ता सम्मूढ़ा निभृता तथा ॥ ४२ ॥
तथैव नामान्तरिता योगमाला तथैव च ।
एकच्छन्नोभयच्छन्ना संकीर्णा चैव षोडशी ॥ ४३ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ प्रहेलिकां लक्षयति—द्वयोः प्रश्नयोरर्थयोर्वाचकाः शब्दा गुह्यमानाः गूढ़ीक्रियमाणा यत्र सा प्रश्नोत्तरभूता प्रहेलिकोच्यते । सा प्रहेलिका द्विधा स्यात्—आर्थी च शाब्दी च । तत्रार्थी प्रहेलिका त्वर्थबोधत उच्यते । शब्दावबोधतः शाब्दीं प्रहेलिकां प्राहुः । तां षोडषधा प्राहु । तद्यथा—

रवेः कवेः किं समरस्य सारं,
कृषेर्मायं किं किमदन्ति भृङ्गाः ॥
भयञ्च केषां न भयञ्च केषां,
भागीरथीतीरसमाश्रितानाम् ॥ ९५ ॥

इति प्रश्नश्च गूढ़ीकृत उत्तरञ्च भागीरथीतीरसमाश्रितानामिति गूढ़ीकृतम् ।

---

(२) प्रहेलिका अलङ्कार

अर्थ—जहाँ पर दो अर्थों के वाचक शब्द गुह्य रूप से प्रयुक्त हों, उसे 'प्रहेलिका' कहते हैं । प्रहेलिका के दो भेद होते हैं—शाब्दी और आर्थी । इनमें आर्थी प्रहेलिका अर्थ बोध के द्वारा होती है और शाब्दी प्रहेलिका शब्द-ज्ञान के द्वारा होती है अर्थात् शब्द के द्वारा जिसका ज्ञान हो, उसे शाब्दी प्रहेलिका कहते हैं । इसमें शाब्दी प्रहेलिका सोलह-प्रकार की होती है ॥ ४०-४१ ॥

अर्थ—शाब्दी प्रहेलिका के सोलह भेद होते हैं— समागता, प्रमुषिता, व्युत्क्रान्ता, वञ्चिता, ग्रथिता, परुषा, संख्याता, प्रकल्पिता, समासशब्दोपन्यस्ता, संमूढ़ा, निभृता, नामान्तरिता, योगमाला, एकच्छन्ना, उभयच्छन्ना, सङ्कीर्णा ॥ ४२-४३ ॥

---

१. शब्दार्थबोधतः इति । क—पुस्तके शब्दावबोधत इति नास्ति । ख—शब्दप्राज्ञः शब्दार्थः शेषा षोढ़ा प्रहेलिका । २. षौढा प्रहेलिकाम् इति पाठभेदः ।

अथ समागतां लक्षयति—

समागता सा गूढ़ार्था या भवेत् पद-सन्धिना[1] ।

काव्यप्रभावृत्तिः

तत्र समागतां लक्षयति--प्रश्नोत्तरयोर्वाचकशब्दा यत्र गूढ़ीक्रियमाणा सा पदगतसन्धिना गूढ़ार्था शाब्दी प्रहेलिका समागतानाम शब्दालङ्कारश्चित्रं नामालङ्कार उच्यते । यथा—

कान्ते वसन्तसमये वद किं तरूणां
किं क्षीयते विरहिणां उरगः किमेति ।
किं कुर्वते मधुकरा मधुपानमत्ताः
कीदृग् वनं मृगगणास्त्वरितं त्यजन्ति ॥ ९६ ॥

तत्रोत्तरं 'दवविकलम्' ।

अत्राद्याद्यक्षरस्यान्ताक्षरेण योगात् समुदायात् प्रश्नोत्तरकरणात् गूढार्थोऽयं प्रहेलिका । दलं वलं विलं कलं दवविकलं चेति ।

---

(१) समागता का लक्षण

अर्थ—जहाँ पर प्रश्न और उत्तर के वाचक शब्द गूढ़ रूप से प्रयुक्त हों, पदों में सन्धि होने से प्रचलित अर्थ गूढ़ हो गया हो उस शाब्दी प्रहेलिका को 'समागता' नाम की प्रहेलिका कहते है ॥ ४४ ॥

विमर्श—पदगत सन्धि के द्वारा जहाँ पर गूढ़ अर्थ प्रकट हो, उसे 'समागता' प्रहेलिका कहते हैं । जैसे—

कान्ते वसन्तसमये वद किं तरूणां,
किं क्षीयते विरहिणामुरगः किमेति ।
किं कुर्वते मधुकरा मधुपानमत्ताः,
कीदृग्वनं मृगगणास्त्वरितं त्यजन्ति ॥ ९६ ॥

यह 'समागता' प्रहेलिका का उदाहरण है । यहाँ प्रश्न है कि हे कान्ते ! बताओ, वसन्त के समय वृक्षों में क्या होता है ? वियोगियों का क्या क्षीण होता है ? साँप कहाँ जाता है ? मधुपान में मस्त भौंरे क्या करते हैं ? मृग-गण किस वन को तुरन्त छोड़ देते हैं ? इन सब का उत्तर है । 'दवविकलम्' यहाँ पर प्रथम-प्रथम अक्षर का अन्तिम अक्षर के योग से तथा समुदाय रूप से सभी प्रश्नों काउत्तर निम्न प्रकार निकलता है— दलम्, बलम्, विलम्, कलम्, दवविकलम् ।

---

१. मुद्रितेऽग्निपुराणे समागतेत्यारभ्य नानालक्षणमेल —नमिति यावत् १० ४१ कारिकाः न प्राप्यन्ते ।

अथ प्रमुषितां लक्षयतिः—

सा स्यात् प्रमुषिता यस्यां दुर्बोधार्था पदावली ॥ ४४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ प्रमुषितां लक्षयति :—अथ प्रमुषिता नाम प्रहेलिका सा यस्यां प्रश्नोत्तरयोरभिधायकशब्दाः गुह्यमानाः स्युः सा। यस्यां दुर्बोधार्था पदावली स्यात् सा प्रहेलिका प्रमुषिता। यथा—

को भावश्चतुरक्षरेण वनजोऽन्तस्थैस्त्रिभिः भूषणं
आद्यैरम्लमथादिना क्षिक उ सोपांत्येन गोत्रं तथा।
द्वान्ताभ्यां विहगा इहोत्तरयुगे नैतज्जगन्मीलनम्
प्राणोमध्ययुगे द्वितीयप्रथमोपान्त्यैः सपुष्पं किमु ॥ ९७ ॥

अस्योत्तरं 'कुवलयम्'। दुर्बोधार्था पदावली यस्यां प्रहेलिकायां वनजो हि भावः पद्म। तच्च चतुरक्षरेण कुवलयम्। तस्यान्त्यस्थैस्त्रिभिरक्षरैर्भूषणं वलयम्, आद्यैः त्रिभिरक्षरैरम्लं कुवलं कोलफलम्, आदिनाक्षरेण कु शब्देन छिको निन्दा।

---

(२) प्रमुषिता का लक्षण

अर्थ—जहाँ पर दुर्बोध अर्थ से युक्त पदावली प्रयुक्त हो, उसे 'प्रमुषिता' प्रहेलिका कहते हैं ॥ ४५ ॥

विमर्श—जहाँ पर प्रश्न और उत्तर के वाचक शब्द गुह्य हों, अर्थात् जहाँ पर दुर्बोध अर्थ से युक्त पदावली प्रयुक्त हो, उसे 'प्रमुषिता' प्रहेलिका कहते हैं। जैसे—

को भावश्चतुरक्षरेण वनजोऽन्तःस्थैस्त्रिभि. भूषणं,
आद्यैरम्लमथादिना क्षिप उ सोपान्त्येन गोत्रं तथा।
द्वान्ताभ्यां विहगा इहोत्तरयुगे नैतज्जगन्मीलनम्,
प्राणो मध्ययुगे द्वितीय प्रथमोपान्त्यैः सपुष्पयं किमु ॥ ९७ ॥

इसमें अनेक प्रश्न किये गये हैं, उन सबका उत्तर चार अक्षर 'कुवलपुष्प' के द्वारा दिया गया है। जिसके अन्तिम तीन अक्षर से भूषण का ज्ञात होता है—'वलय'। आदि के तीन अक्षर अम्ल 'कुवल' (कोलफल) का बोधक है, प्रथम अक्षर 'कु' शब्द निन्दा (क्षिक) का बोधक है, वही आदि अक्षर कु तृतीय वर्ण 'ल' के साथ कुल (गोत्र) का बोधक होता है, द्वितीय वर्ण 'व' अन्तिम वर्ण 'य' के साथ 'वय' (पक्षी) का बोधक है, उसी के अन्तिम दो वर्ण 'लय' प्रलय का बोधक है और मध्य के दो वर्ण 'वल' प्राण का बोधक है, उसी के द्वितीय, व प्रथम कु एवं तृतीय (उपान्स) ल मिलकर 'वकुल' पुष्प के बोधक हैं ॥ ४६ ॥

अथ व्युत्क्रान्तामाह—

व्युत्क्रान्तातिव्यवहितप्रयोगान्मोहकारिणी

काव्यप्रभावृत्तिः

सोपान्त्येनादिना सलकारेण कुशब्देन कुलं गोत्रं, द्वितीयान्त्याभ्यां वयशब्देन पक्षिणः सन्तोऽप्यदन्ता भवन्ति। उत्तरयुगेन लय शब्देन जगन्मीलनं प्रलयः मध्ययुगे प्राणो वलम्। द्वितीय-प्रथम-तृतीयौः स पुष्पं वकुलम्। द्वितीयमक्षरं व प्रथमं कु उपान्त्यं 'ल' इति ॥ ४४ ॥

अथ व्युत्क्रान्तां लक्षयति—यत्र प्रश्नोत्तरयोः शब्दाः गूढ़ीक्रियमाणाः सा प्रहेलिका व्यवहितप्रयोगात् मोहकारिणी व्युत्क्रान्ता। यथा—

कोऽसौ नद्यां त्रिपुरजयिना कुम्भकर्णस्य दग्धः
कुलं हन्ता विघटयति कः कः परस्त्रीरताख्यः।
कः सन्नद्धो भवति समरे भूषणं किं कुचानां
किम्वा दुःखं भवति महतां मानपूजापहारः ॥ ९८ ॥

---

(३) व्युत्क्रान्ता का लक्षण

अर्थ—जहाँ पर अत्यन्त व्यवधान के साथ गूढार्थ शब्द का प्रयोग होता है, उसे 'व्युत्क्रान्ता' प्रहेलिका कहते हैं ॥ ४५ ॥

विमर्श—जहाँ पर प्रश्न और उत्तर के वाचक शब्द व्यवधान के साथ गुह्य रूप से प्रयुक्त हो उसे 'व्युत्क्रान्ता' प्रहेलिका कहते हैं। जैसे—

कोऽसौ नद्यां त्रिपुरजयिना कुम्भकर्णस्य दग्धः
कुलं हन्ता विघटयति कः कः परस्त्रीश्ताख्यः।
कः सन्नद्धो भवति समरे भूषणं किं कुचानां
किम्वा दुःखं भवति महतां मानपूजापहारः ॥ ९८ ॥

इस प्रहेलिका में प्रश्न और उत्तर में व्यवहित शब्दों का प्रयोग है। सभी प्रश्नों का उत्तर है—'मानपूजापहारः'। इसमें आदि-आदि अक्षर का अन्तिम वर्ण के संयोग से उत्तर निकलता है। जैसे—'कोऽसौ त्रिपुरजयिना दग्धः' अर्थात् इस त्रिपुरविजयी शिव के द्वारा कौन जलाया गया था, उत्तर है 'मारः' अर्थात् कामदेव। 'कुम्भकर्ण का हन्ता कौन है? 'नरः' अर्थात् राम। नदी के तट को विदीर्ण करने वाला कौन है? 'पूर' अर्थात् जलतरङ्ग। 'परस्त्री के साथ रमण करने वाला कौन है? 'जार—' अर्थात् दुराचारी। युद्ध में कौन सन्नद्ध होता है? 'पर—' अर्थात् शत्रु। कुच (स्तनों) का भूषण क्या है? 'हारः' अर्थात् हार। महापुरुषों के लिए दुःख क्या है? 'मानपूजापहारः' अर्थात् सम्मान और पूजा का अपहार (विघात) ॥ ४५ ॥

अथ वञ्चितां लक्षयति—

वञ्चितान्यत्र रूढेन यत्र शब्देन व्यंजना ॥ ४५ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

इयं प्रहेलिका प्रश्ने चोत्तरे च व्यवहितप्रयोगात् बुधान् मोहयति। यथा – कोऽसो त्रिपुरजयिना दग्धः 'मारः'। कोऽसो कुम्भकर्णस्य हन्ता 'नरः'। कोऽसो नद्याः कूलं विघटयति 'पूरः' जलतरङ्गः। कः परस्त्रीरताख्यः 'जारः'। कः सन्नद्धो भवति समरे–'परः'—'शत्रुः। भूषणं किं कुचानां' हारः। किम्वा दुःख भवति महतां 'मान पूजापहारः'। इति व्युत्कान्ता प्रहेलिका।

---

(४) वञ्चिता का लक्षण

अर्थ—जहाँ पर रूढ़ शब्द के द्वारा अन्य अर्थ में वञ्चना हो, उसे 'वञ्चिता' प्रहेलिका कहते हैं ॥ ४५ ॥

विमर्श—जहाँ पर प्रश्न और उत्तर के वाचक शब्द रूढ़ि हों, और उसके द्वारा अन्य अर्थ की वञ्चना हो तो उसे 'वञ्चिता' प्रहेलिका कहते हैं। जैसे—

को हालाहलमत्ति सृष्टिविषये का वा जगत्कारिणी,
का वा ध्वान्तविनाशकः पशुपतेः पुत्रो वरः कः प्रियः।
को देवैर्मथितः पुरा यदुपतेर्भक्तः प्रियो यादवः,
का वा भारसहा विवेच्यमतिभन्नाद्यन्तलोपात् पठ ॥ ९९ ॥

इसमें अनेक प्रश्न किये गये हैं। जिनका उत्तर है 'हे कृष्ण मामुद्धर'। सब प्रश्नों के उत्तर आदि और अन्त के अक्षरों के लोप से निकलता है? जैसे—'को हालाहलमत्ति'। अर्थात् कौन हालाहल (विष) पान करता है? इसका उत्तर है—महेश। इसमें आदि और अन्त अक्षर का लोप करने से 'हे' बचता है। 'कौन जगत् सृष्टि-कर्त्री है? 'प्रकृतिः' इसमें आद्यन्त के लोप से 'कृ' शेष है। 'अन्धकार नाशक कौन है? 'उष्णगु' इसमें आदि और अन्त का लोप होने से 'ष्ण' शेष रहता है। 'पशुपति का श्रेष्ठ पुत्र कौन है? 'कुमार' इसके आदि और अन्तिम अक्षर का लोप होने से 'मा' शेष रहता है। 'देवों ने किसका मन्थन किया था? 'समुद्र' का। इसके आद्यन्त का लोप होने से 'मु' शेष रहता है। 'कृष्ण को कौन यादव प्रिय था? 'उद्धव' इसके आदि और अन्त का लोप होने से 'द्ध' शेष रहता है। भार को सहन करने वाली कौन है? 'धरणी'। इसमें आदि और अन्त का लोप होने से 'र' शेष रहता है। इस अवशिष्ट अक्षरों के योग से 'हे राम मामुद्धर' वाक्य बनता है ॥ ४५ ॥

अथ ग्रथितां लक्षयतिः—

समानरूपा गौणार्था रूपितैर्ग्रथिता पदैः ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ वञ्चितां प्रहेलिकां लक्षयति : प्रश्नोत्तरयोः वाचकाः शब्दाः रूढ़ीक्रियमाणा यत्र सा प्रहेलिका । यत्र प्रहेलिकायां रूढ़शब्देनान्यत्रार्थवञ्चना स्यात् सा वञ्चिता नाम प्रहेलिका चित्राख्यशब्दालङ्कारः । यथा—

को हालाहलमत्ति सृष्टिविषये का वा जगत्कारिणी ।
का वा ध्वान्तविनाशकः पशुपतेः पुत्रो वरः कः प्रियः ॥
को देवैर्मथितः पुरा यदुपतेर्भक्तः प्रियो यादवः ।
का वा भारसहा विवेच्यमतिमन्नाद्यन्तलोपात् पठ ॥ ९९ ॥

इह प्रहेलिकायामन्यत्रोत्तरवचने रूढ़शब्देन प्रष्टारं वञ्चयति । आद्यन्तलोपात् पठ । हे कृष्ण मामुद्धरेत्याद्यन्तलोपात् पठ । तत्र को हालाहलमत्तीत्यस्योत्तरं महेशस्तस्याद्यलोपात् । हे सृष्टिविषये का वा जगत्कारिणीत्यास्योत्तरं प्रकृतिः । तस्याद्यन्तलोपात् कृ इत्येवं क्रमेण दर्शयति । को वा ध्वान्तविनाशक इति प्रश्नोत्तरमुष्णगुरिति शब्दस्याद्यन्तलोपात् पाठे 'ष्ण' उष्णगुर्ध्वान्तनाशकः । पशुपतेः पुत्रो वरः कः प्रियः इति प्रश्नस्योत्तरं मा । कुमार आद्यन्त लोपात् पाठे मा । को देवैर्मथितः पुरा इति प्रश्नस्योत्तरं मु । समुद्रः आद्यन्तलोपात् पाठे मु । यदुपतेः कृष्णस्य को यादवः प्रियो भक्तः इति प्रश्नस्योत्तरं द्ध । उद्धवः अस्याद्यन्तलोपात् पाठे द्ध । का वा भारसहेत्यस्य प्रश्नस्योत्तरं र । धरणी अस्य ह्याद्यन्तलोपात् पाठे र इति वञ्चिता ॥ ४५ ॥

अथ ग्रथितां लक्षयति :—प्रश्नोत्तरयोर्वाचकाः शब्दा यत्र गूढ़ीक्रियन्ते सा प्रहेलिका सा या रूपितैः रूपककरणैः पदैर्गौणार्था सती समानरूपा भवति सा ग्रथिता नाम प्रहेलिका शब्दालङ्कारः । यथा—

---

(५) ग्रथिता का लक्षण

अर्थ—जहाँ पर रूपक (आरोपित) पद के द्वारा गौण अर्थ समान रुप से लक्षित होता है, उसे 'ग्रथिता' प्रहेलिका कहते हैं ॥ ४६ ॥

विमर्श—जहाँ पर प्रश्न और उत्तर के वाचक शब्द गुह्य (गूढ़) रूप में प्रयुक्त हों और रुपक पदों के द्वारा गौण अर्थ होते हुए भी समान लक्षित हो, उसे 'ग्रथिता' प्रहेलिका कहते हैं । जैसे—

अथ परुषामाहः--

परुषा लक्षणास्तित्वमात्रव्युत्पादितश्रुतिः ॥ ४६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

राजेव कः स चतुरङ्गदलावृत्तस्तु निर्मूर्त्तिरेत्यनुदिनं युवमित्रमत्र ।
आमन्त युष्मदर्थ आदिदिशे पदात् किं तुर्याश्रमाश्रयविधौ समयः क उक्तः ॥१००॥

अत्रोत्तरं वसन्तः । स हि रूपितैः पदैः समानरूपगौणार्थग्रथितः । तद्यथा । युवजनानां मित्रमिवात्र वसन्ते निर्मूर्त्तिश्चतुरङ्गदलावृतो राजेवानुदिनमेति। स च गौणार्थो रूपितैः शब्दैः राजेवेति । सादृश्याद् गौण्या वृत्त्या प्रतिपादितत्वात् पदात् परस्य आमन्तं युष्मदः स्थाने किमादिदिशे तस्योत्तरं वस् आदेशः । तुर्याश्रमाश्रयविधौ समयः क उक्तः इत्यस्योत्तरं अन्तो वार्द्धक्यसमयः इति रूपितैः पदैः समानरूपवसन्त इति प्रहेलिका भवतीति ।

राजेव कः स चतुरङ्गदलावृतस्तु निर्मूर्त्तिरेत्यनुदिनं युवमित्रभत्र ।
आमन्त युष्मदर्थ आदिदिशे पदात् किं तुर्याश्रुमाश्रयविधौ समयः क उक्तः ॥१००॥

यहाँ पर जो प्रश्न किया गया है उसका उत्तर है 'वसन्त' । युवकों के मित्र के समान इसमें निमूर्त्ति (मूर्त्ति रहित) कौन चतुरङ्ग सेना से आवृत राजा के समान प्रतिदिन आता है ? वहाँ गौणार्थ रूपित है । सादृश्य गौणी वृत्ति के द्वारा पद से परे आमन्त युष्मद के स्थान क्या आदेश होता है ? उत्तर है 'वस्' । चतुर्थ आश्रम (सन्यास आश्रम) में प्रवेश होने का क्या समय है ? इसका उत्तर है 'अन्त' अर्थात् अन्तिम अवस्था में । इस प्रकार रूपित पद के द्वारा समानरूप 'वसन्त' का बोध होता है ॥ ४६ ॥

(६) परुषा का लक्षण

अर्थ—जहाँ पर लक्षण के द्वारा अस्तित्वमात्र में व्युत्पादित श्रुति होती है, उसे 'परुषा' नाम की प्रहेलिका कहते हैं ॥ ४६ ॥

विमर्श—जहाँ पर प्रश्न और उत्तर दोनों के वाचक शब्द गुह्य रूप में रहते हैं और जब लक्षणा के द्वारा ही अस्तित्वमात्र में श्रुति (श्रवण) होती है उसे 'परुषा' प्रहेलिका कहते हैं । परुषता का लक्षण कर्कशता है ।

आद्यन्ताभ्यां भवेद्दन्ती मध्यद्वाभ्याञ्च दानवः ।
कृतान्तस्तद्विपरीत्यात समुदाये वराङ्गना ॥१०१॥

जिसके आदि और अन्त के संयोग से 'दन्ती', मध्य के दो अक्षरों के योग से 'मय' दानव और उसके विपरीत होने से कृतान्त 'यम' और समुदाय में सुन्दरी नारी का शब्द बनता है वह कौनसा शब्द है ? इसका उत्तर है—'दमयन्ती' । (दन्ती, मयः, यमः, दमयन्ती,) ॥ ४६ ॥

अथ संख्यातमाह—

संख्यातं नाम संख्यानं यत्र व्यामोहकारणम् ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ परुषां लक्षयति —प्रश्नोत्तरयोरर्थयोर्वाचकाः शब्दा गूढ़ीक्रियन्ते यत्र सा प्रहेलिका तदा परुषा नाम भवति यदा लक्षणे नैवास्तित्वमात्रव्युत्पादितश्रुतिर्भवति । कार्कश्यं हि पारुष्यलक्षणं । यथा—

आद्यान्ताभ्यां भवेद्दन्ती मध्यद्वाभ्याञ्च दानवः ।
कृतान्तस्तद्वैपरीत्यात् समुदाये वराङ्गना ॥ १०१ ॥

अस्योत्तरं दमयन्ती, दन्ती, मयः । यमः । इति परुषा ॥ ४६ ॥

अथ संख्यातमाह —प्रश्नोत्तरयोरर्थयोर्वाचकाः शब्दा यत्र गूढ़ीकियन्ते सा प्रहेलिका सङ्ख्याता नाम तदा स्यात् यत्र व्यामोहकारणं सङ्ख्यानवचनं वर्तते । यथा—

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हताः पञ्चभिरेव कैस्तैः ।
एकः प्रमादी न स को विनष्टो यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥ १०२ ॥

अत्र सङ्ख्यानवचनं बुधानां बौद्धुंव्यामोहकारणम् प्रश्ने । तत्रोत्तरं मोह-कामक्रोधमदलोभैस्ते पञ्च पञ्चभिः नष्टा । न नष्टो मनुजः पञ्चभिः पञ्चसेवनात् । इति । अत्र पञ्च पुरावृत्तानि ये जानन्ति ते ज्ञातुमुत्तरयितु प्रभवन्ति । तानि वृत्तानि यथा—

---

(७) संख्यातां का लक्षण—

अर्थ—जहाँ पर संख्यान वचन विद्वानों के मोह का कारण होता है उसे 'संख्यात' नामक प्रहेलिका कहते हैं ॥ ४७ ॥

विमर्श—जहाँ पर प्रश्न और उत्तर दोनों के वाचक शब्द गुह्य रूप में रहते हैं और संख्यान के द्वारा वह मोह का कारण होता है, उसे 'संख्यात' प्रहेलिका कहते हैं । जैसे—

कुरङ्ग-मातङ्ग-पतङ्ग-भृङ्ग-मीना हताः पञ्चभिरेव कैस्तैः ।
एकः प्रमादी न स को विनष्टो यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च । १०२ ॥

यहाँ पर सबका उत्तर बताया गया है—मोहकामक्रोधमदलोभः । अर्थात् मोह से कुरंग (मृग), कामसे मातंग, क्रोध से पतंग, मद से भृङ्ग (भौंरा) और लोभ के कारण मीन मारे जाते हैं । इसी प्रकार पाँचों इन्द्रियों के सेवन से प्रमादी मनुष्य विनष्ट नहीं होता ॥ ४७ ॥

अथ प्रकल्पितामाह—

अन्यथा भासते यत्र वाक्यार्थः सा प्रकल्पिता ॥ ४७ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

व्याधेन कृतमाकर्ण्य वंशीनादं प्रमोहतः ।
कुरङ्गः सन्निधिगतः शरेण च तदाहतः ॥
बन्धकृद्भिर्दृश्यमानां दृष्ट्वा कामात्तु हस्तिनीम् ।
मातङ्गः सन्निधिगतो तद्धस्ताभिश्च तैर्हतः ॥
निरीक्ष्य दीपकलिकां क्रोधान्निर्वाणलिप्सया ।
पतनपतङ्गो दीपस्य कलिकायां हतो भवेत् ॥
केतकीवनमागम्य मधु पीत्वा मदेन तु ।
केतकी कण्टकैर्विद्धो भृङ्गो भवति वै हतः ॥
मांसावृतं वडिशं मीनो ग्रसित्वा लोभतो हतः ।
मोहकामक्रोधमदलोभान् संसेव्य मानवः ।
इन्द्रियैः पञ्चभिर्लोके प्रमादान्न विनश्यति ॥ इति ॥

---

(८) प्रकल्पिता का लक्षण

अर्थ—जहाँ पर वाक्यार्थ अन्य प्रकार से भासित हो, उसे 'प्रकल्पिता' प्रहेलिका कहते हैं । ४७ ।

विमर्श—जहाँ पर प्रश्न और उत्तर दोनों के अर्थ वाचक शब्द गूढ़ हों और वाक्यार्थ अन्य प्रकार से उपलब्ध होता है, उसे 'प्रकल्पिता' कहते हैं । जैसे—

गोगजवाहनभोजभक्ष्योद्भूतपमित्रसपत्नजशत्रोः ।
वाहनवैरीकृतासनहृष्टा का गिरीशाधर उरसि च विष्णोः ॥ १०३ ॥

यहाँ पर यह प्रश्न किया गया है कि गिरीश के अधर पर क्या है ? उत्तर है 'उ' और विष्णु के हृदय में क्या है ? उत्तर 'मा' लक्ष्मीः । समस्त पद होने से उसका अर्थ है 'उमा' ।—गोग (शिव) से उत्पन्न गोगज (कार्त्तिकेय) और कार्त्तिकेय का वाहन मयूर, उसका भोजन सर्प, सर्प का भक्ष्य वायु, वायु से उत्पन्न हनुमान्, हनुमान् के 'प' पालक सुग्रीव, सुग्रीव के मित्र राम, रामके शत्रु रावण, रावण से जात (उत्पन्न) मेघनाद, मेघनाद का शत्रु इन्द्र, इंद्रका वाहन ऐरावत हाथी और उसका वैरी सिंह, सिंह है वाहन जिसका अर्थात् उमा (पार्वती), वह उमा गिरीश के अधर और विष्णु के हृदय में वास करती हैं ॥ ४७ ॥

अथ समानशब्दोपन्यस्तामाह—

समानशब्दोपन्यस्ता शब्दपर्य्यायसाधिता ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ प्रकल्पितां लक्षयति—अन्यथेत्यादि । प्रश्नोत्तरयोरर्थयोर्वाचकाः शब्दा-गूढ़ीक्रियन्ते यत्र सा प्रहेलिका तदा प्रकल्पिता नाम भवति यत्र वाक्यार्थोऽन्यथा भाषते । तद्यथा—

गोगजवाहनभोजभक्ष्योद्भूतपमित्रसपत्नजशत्रोः ।
वाहनवैरीकृतासनहृष्टा का गिरीशाधर उरसि च विष्णोः ॥१०३॥

इति प्रश्ने श्लोकस्य वाक्यार्थोऽन्यथोपलभ्यते । तद्यथा—गोगजादिरूपेणा-पातः तत्रावबोधः स्यात् तस्मादियं प्रकल्पिता । वाक्यार्थस्तु । गिरीशाधरेऽर्थात् किमिति प्रश्ने, उकार इत्युत्तरं विरूणोरुरसि च किमित्यस्य चोत्तरं मा लक्ष्मीः । इति व्यस्ततः । समस्तेन दृष्टा पर्य्यन्तस्यार्थ उमा । तद्यथा । गोगः शिवस्तस्माज्जातो गोगजः कार्त्तिकेयः, तस्य वाहनं मयूरः, तस्य भोजनं सर्पस्तस्य भक्ष्यो वायुः, तस्माद्-द्भूतो हनुमान् तस्य पालकः कः सुग्रीवः, तस्य मित्रं रामः तस्य सपत्नः शत्रुः रावणः । तज्जो मेघनाद इन्द्रजित्, तस्य शत्रुरिन्द्रस्तस्य वाहनमैरावतो हस्ती तस्य वैरी सिंहः । स एव वृत्तमासनं तेन हृष्टा उमा । इति वाक्यार्थः ॥ ४७ ॥

अथ समानशब्दोपन्यस्तां लक्षयति—प्रश्नोत्तरयोरर्थयोर्वाचकाः शब्दा यत्र गूढ़ीक्रियन्ते सा प्रहेलिका तदा समानशब्दोपन्यस्ता नाम भवति यदा शब्दपर्य्याय-साधिता भवति । यथा—

को रौति वर्षासु गजं निहन्ति कः पाति मन्वन्तरनाश्यत्र तत् ।
कः प्राकृतौ सर्गलयो च रक्षां करोति को वा न विभाति रात्रौ ॥१०४॥

इति प्रश्नस्योत्तरं हरिः । हरिशब्दार्थपर्य्यायेण साध्यते, हरिर्भेको वर्षासु रौति, हरिः सिंहो गजं निहन्ति, हरिरिन्द्रो मन्वन्तरनाशी स एतत् पाति, हरिर्विष्णुः प्राकृतसर्गलयो करोति रक्षाञ्च करोति, हरिः सूर्य्यो रात्रौ न विभा-तीति । समानशब्देन हरिशब्देन साधितेयं प्रहेलिका ।

---

(९) समानशब्दोपन्यस्ता का लक्षण

अर्थ—जहाँ पर शब्द के पर्य्याय से अर्थ की सिद्धि होती है, उसे समानशब्दोपन्यस्ता नाम की प्रहेलिका कहते हैं ॥ ४८ ॥

विमर्श—जहाँ पर प्रश्न और उत्तर के वाचक शब्द गूढ़ (गुह्य) होते हैं और पर्य्याय वाचक शब्दों द्वारा उसकी सिद्धि की जाती है उसे समानशब्दोपन्यस्ता प्रहेलिका कहते हैं । जैसे—

अथ सम्मूढामाह —

सम्मूढा नाम सा साक्षान्निर्द्दिष्टार्था प्रमोहिनी ॥ ४८ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

सम्मूढां लक्षयति --प्रश्नोत्तरयोरर्थयोर्वाचकाः शब्दा यत्र गूढ़ीक्रियन्ते सा प्रहेलिका तदा सम्मूढा नाम भवति यदा साक्षान्निर्द्दिष्टार्था सत्यपि प्रमोहकारिणी भवति। यथा—

अम्बुजसम्भवसम्भवजाता दानववैरिजवैरिजमाता।
वासववाहनशात्रवयात्रा सर्व्वान्तःपुरचारिण्यपि का ॥ १०५ ॥

इयं प्रहेलिका साक्षान्निर्द्दिष्टार्थापि प्रमोहनाय भवति। तस्मात्। सम्मूढ़ा। एषा साक्षान्निर्द्देशोऽर्थानां भवति। अम्बुजं पद्मं तत् सम्भवो ब्रह्मा तत् सम्भवो दक्षस्तस्माज्जाता का इति प्रश्नस्योत्तरं तथा दानववैरी कृष्णस्तज्जः प्रद्युम्नः कन्दर्पस्तस्य वैरी हरः शिवस्तस्माज्जातः कार्त्तिकेयस्तस्य माता च का इति प्रश्नस्योत्तरम्। वासव इन्द्रस्तस्य वाहनं ऐरावतगजस्तस्य शात्रवः सिंहः यात्रं वाहनो यस्याः सा च का। सर्व्वान्तःपुरचारिण्यपि का इत्येतयोः प्रश्नयोश्चोत्तरं गौरी। अष्टवर्षा भवेद् गौरी। सा सर्व्वेषामन्तःपुरगामिनी, हिमगिरिसुता च गौरी सर्व्वस्य शिवस्यान्तःपुरचारिणी। या पुरा अम्बुजसम्भवसम्भवदक्षसुता सती सैव हेमवती-गौरी बभूवेति सम्मूढा ॥ ४८ ॥

को रौति वर्षासु गजं निहन्ति कः पाति मन्वन्तरनाश्यत्र तत्।
कः प्राकृतौ सर्गलयौ च रक्षां करोति को वा न विभाति रात्रौ।

इस श्लोक में कई प्रश्न हैं जिनका उत्तर है— हरिः' यहाँ पर हरि के पर्य्याय वाचक शब्द के द्वारा उत्तर सिद्ध किया गया है। 'वर्षा में' कौन शब्द करता है? उत्तर है— 'हरिः' अर्थात् मेघ शब्द करता है। 'गज को कौन मारता है?' उत्तर है 'हरिः' अर्थात् सिंह, हाथी को मारता है। कौन मन्वन्तर के नाशक से रक्षा करता है?' 'हरिः' अर्थात् इन्द्र। 'कौन प्राकृत सर्ग (सृष्टि) और प्रलय की रक्षा करता है?' 'हरिः' अर्थात् विष्णु। रात्रि में कौन प्रकाश नहीं करता? 'हरिः' अर्थात् सूर्य रात्रि में प्रकाश नहीं करता। यहाँ हरि शब्द प्रहेलिका का साधक है ॥ ४८ ॥

(१०) समूढ़ा का लक्षण

अर्थ—जहाँ पर साक्षात् निर्दिष्ट अर्थ भी भ्रान्ति उत्पन्न कर देता है उसे 'संमूढ़ा' प्रहेलिका कहते हैं ॥ ४८ ॥

अथ निभृतामाह—

निभृता निभृतार्थत्वात्तुल्यधर्म्मस्पृशा गिरा ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अत निभृतां लक्षयति—प्रश्नोत्तरयोरर्थयोर्वाचकाः शब्दा यत्र गूढीक्रियन्ते सा प्रहेलिका तदा निभृतानाम स्यात्तुल्यधर्म्मस्पर्शिन्या गिरा निभृतार्थत्वाद् गुप्तार्थत्वात् । यथा—

विषं भुङ्क्ष्व महाराज सगोत्रबान्धवैः सह ।
विनाकेन न नाभ्याश्च कृष्णाजिनमकण्टकम् ॥ १०६ ॥

विमर्श—जहाँ पर प्रश्न और उत्तर के वाचक शब्द गूढ़हों और साक्षात् निर्दिष्ट अर्थ भी प्रमोह उत्पन्न करता हो, उसे 'संमूढ़ा' प्रहेलिका कहते हैं। जैसे –

अम्बुजसम्भवसम्भवजाता दानववैरिजवैरिजमाता ।
वासववाहनशात्रवयात्रा सर्व्वान्तःपुरचारिण्यपि का ॥ १०५ ॥

यहाँ पर अर्थ का साक्षात् निर्देश है फिर भी अर्थ प्रमोह उत्पन्न करता है । जैसे—अम्बुज (कमल) से उत्पन्न ब्रह्मा और ब्रह्मा से उत्पन्न (सम्भव) दक्ष से कौन उत्पन्न है ? इस प्रश्न का उत्तर और दानवों के वैरी कृष्ण, कृष्ण से उत्पन्न प्रद्युम्न (कन्दर्प), कन्दर्प (काम) के वैरी हर (शिव) के पुत्र कार्त्तिकेय और कार्त्तिकेय की माता कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर तथा वासव इन्द्र का वाहन ऐरावत हाथी, उसका शत्रु सिंह और सिंह जिसका वाहन है वह कौन है ? सर्व्वान्तःपुरचारिणी कौन है ? इन प्रश्नों का उत्तर—गौरी अर्थात् गिरिसुता गौरी । जो पहले दक्ष की सुता थीं, वही कार्त्तिकेय की माता पार्वती (गौरी) है, वही गौरी सर्व्व (शिव) के अन्तःपुर में रहने वाली हैं जिसका वाहन सिंह है अर्थात् पार्वती का वाहन सिंह है ॥ ४८ ॥

(११) निभृता का लक्षण

अर्थ—जहाँ पर समान धर्म का स्पर्श करने वाली अर्थात् साधारण धर्म के प्रतिपादक शब्द के द्वारा गुप्त अर्थ का गोपन किया गया हो, उसे 'निभृता' प्रहेलिका कहते हैं ॥ ४९ ॥

विषं भुंक्ष्व महाराज सगोत्रबान्धवैः सह ।
विना केन न नाभ्याञ्च कृष्णाजिनमकण्टकम् ॥ १०६ ॥

यहाँ पर 'निष्कण्टक राज्य करो' यह अर्थ गूढ़ है । हे महाराज ! ककार (के न) विना, ण और न के विना (विषं) अर्थात् ककार-णकार-नकार-षकार से रहित कृष्णाजिनम् अर्थात् ऋ + आजि + अम् = राज्यम्' राज्य का उपभोग करें ॥ ४९ ॥

नामान्तरितामाह—

सा नामान्तरिता यस्यां नाम्नि नानार्थकल्पना ॥ ४९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

तत्र निभृत एवार्थी राज्यं भुङ्क्ष्वेति। तत्रार्थे निभृतीकृत्यपृष्टे। तदुत्तरं राज्यमिति। अकण्टकं प्रतिबन्धकशत्रुहीनं केन विना न नाभ्याञ्च विना विषं विगतषकारं कृष्णाजिनमिति तुल्यार्थस्पर्शिन्या वाचा कृष्णाजिन शब्दस्य ककारणकारनकारणकारवर्जनेन तु कृ, आजि, अं इति। शेषाण्यक्षराणि संहितायां राज्यमिति भवतीति निभृतार्थः। इति निभृताः॥

अथनामान्तरितां लक्षयति—सेत्यादि प्रश्नोत्तरयोर्वाचकाः शब्दा यत्र निगूढी क्रियन्ते सा प्रहेलिकानामान्तरितानाम तदा भवति यदा तस्या नाम्नि नानार्थ-कल्पनाभवति। यथा—

योऽसौ गोमी किमु वृषभवान् धेनुमान् वाथ वाग्मी
किं चक्षुष्मान् किमु धरणिमान् किन्नु वज्री सलिङ्गः।
किं शेफस्वान् किमु जलधरः स्वर्गवान् नवाचक्षुः
स्वर्वत्रकुलवरानित्यतोऽसौ स गोमी ॥ १०७ ॥

अत्रासौ शक्रो गोमीति नानार्थकल्पनया नामान्तरिता प्रहेलिका ॥ ४९ ॥

---

(१२) नामान्तरिता का लक्षण

अर्थ—जहाँ पर प्रश्नोतर के वाचक शब्द गूढ़ हों और उसके नाम में नाना अर्थों की कल्पना होती है, उसे 'नामान्तरिता' प्रहेलिका कहते हैं ॥ ४९ ॥ जैसे—

तरुण्यालिङ्गितः कण्ठे नितम्बस्थलमाश्रितः।
गुरूणां सन्निधानेऽपि कः सूं गति मुहुर्मुहुः ॥ १०७ ॥

'वह कौन है जो तरुणी के द्वारा गले से आलिङ्गन किया गया नितम्ब स्थल का आश्रय लेकर गुरुजनों के मध्य में भी बार-बार शब्द करता है। यहाँ पर जलयुक्त घट के कहने से अनेक अर्थों की कल्पनाएँ की गई हैं अतः यह नामान्तरिता प्रहेलिका है ॥ ४९ ॥

अथ योगमालामाह—

योगमाला भवति सा सा यस्यां पारिहारिकी ।

अथ एकच्छन्नामाह—

सैकच्छन्नाश्रितं यस्यां व्यक्तं गुप्तस्तदाश्रयः ।। ५० ।।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ योगमालां लक्षयति—प्रश्नोत्तरयोर्वाचकाः शब्दा यत्र गूढीक्रियन्ते सा प्रहेलिका तदा सा योगमाला नाम भवति यस्यां सा कल्पना योगार्थावली पारिहारिकी पूर्व्वपूर्वोत्तरार्थपरिहारनिष्पादिका भवति । यथा—

कस्त्वं शूली मृगय भृषजं नीलकण्ठोऽस्मि मुग्धे
केकारावं कुरु पशुपतिर्लाङ्गूलं दृश्यते न ।
स्थाणुर्बाले चलसि नु कथं प्राणनाथः शिवायाः ।
गच्छारण्यं गिरीशतनये सोऽखिलं तद्विना त्वाम् ।।१०८।।

इह पूर्वपूर्वशब्दार्थपरित्यागादुत्तरवचनवाचिशब्दा गूढीक्रियन्ते इति परिहारिकी योममाला नाम प्रहेलिका ।। ५० ।।

---

(१३) योगमाला का लक्षण

अर्थ—जहाँ पर प्रश्नोत्तर के वाचक शब्द गूढ़ हों और उत्तर-उत्तर वाक्य के द्वारा पूर्व-पूर्व वाक्य का परिहार हो, उसे 'योगमाला' प्रहेलिका कहते हैं ।। ५० ।। जैसे—

कस्त्वं शूली मृगय भिषजं नीलकण्ठोऽस्मि मुग्धे ।
केकारावं कुरु पशुपतिर्लाङ्गूलं दृश्यते न ।।
स्थाणुर्बाले, चलसि नु कथं प्राणनाथः शिवायाः ।
गच्छारण्यं गिरीशतनये सोऽखिलं तद्विना त्वाम् ।। १०८ ।।

यहाँ पर पूर्व-पूर्व शब्दों के अर्थ का परित्याग से उत्तर-उत्तर वचन के वाची शब्द गूढ़ हैं, अतः यह योगमाला' प्रहेलिका है ।। ५० ।।

(१४) एकच्छन्ना प्रहेलिका

अर्थ—जहाँ पर आश्रित धर्म व्यक्त हों और उस धर्म का आश्रय (आधार) गुप्त हो, उसे 'एकच्छन्ना' प्रहेलिका कहते हैं ।। ५० ।। जैसे—

वसुदं वसुधा लोके वन्दते मन्दबुद्धिमान् ।
करभोरु रतिप्रेप्सुः द्वितीये पञ्चमे पदे ।। १०९ ।।

यहाँ पर आश्रित वसुधादि पद का अर्थ व्यक्त है और उसका आश्रय गुप्त है । द्वितीय और पञ्चम अक्षर तीन पादों में क्या है ? इसका उत्तर है—'सुन्दर' इति ।। ५० ।।

अथ उभयच्छिनामाह—

सा भवेदुभयच्छन्ना त्वाश्रयाश्रितगोपनात् ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथैकच्छन्नां लक्षयति—सैकेत्यादि । प्रश्नोत्तरयोरर्थयोर्वाचकाः शब्दा यत्र गूढीक्रियन्ते सा प्रहेलिका तस्यां प्रहेलिकायां यस्यामाश्रितं धर्म्मं व्यक्तं वर्त्तते तद्धर्म्माश्रयोऽधिकरणं गुप्तो वर्त्तते सा त्वेकच्छन्ना नाम प्रहेलिका भवति । यथा—

वसुदं वसुधा लोके वन्दते मन्दबुद्धिमान् ।
करभोरु रतिप्रेप्सुर्द्वितीये पञ्चमे पदे ॥१०९॥

इहाश्रितं वसुदादिपदमर्थतो व्यक्तं तत्राश्रयो गुप्तो द्वितीये पञ्चमेऽक्षरे यो भवति त्रिषु पादेषु स खलु क इत्यत्रोत्तरं सुन्दरेति नामा । इति एकच्छन्नानाम प्रहेलिका ॥ ५० ॥

अथ उभयच्छिनां लक्षयति—प्रश्नोत्तरयोरर्थयोर्वाचकाः शब्दा यत्र गूढीक्रियन्ते सा प्रहेलिका खल्वाश्रिताश्रययोरुभयोर्गोपनादुभयच्छन्ना नाम प्रहेलिका भवति । यथा—

या षष्ठी नरपञ्चमस्य नवमभ्रूः सप्तमीवर्जिता ।
सन्तप्ता दशमध्वजाशुगतिभिः सा मूर्च्छिता निर्जले ।
तुर्य्यद्वादशजद्दाष्टमरुजामेकादशामस्तनी,
यात्यस्यां प्रथमद्वितीय उ सति स्यात् किं तृतीयो न वै ॥११०॥

वाच्यार्थवाची शब्दस्तद्वाच्यत्वेनाश्रितो तु दम्पती इत्युभयगोपनात् प्रश्नः । नरपञ्चमस्य नरसिंहस्य या षष्ठी या कन्या । नवमभ्रूर्धनुर्वद्भ्रूः । सप्तमीवर्जिता तुलारहिता सा दशमध्वजस्य मकरध्वजस्याशुगतिभिर्बाणैः सन्तप्ता निर्जले स्थाने

---

(१५) उभयच्छिन्ना प्रहेलिका

अर्थ—जहाँ पर आश्रय और आश्रित दोनों गूढ़ (गुप्त) हों, उसे 'उभयच्छिन्ना' प्रहेलिका कहते हैं ॥ ५१ ॥

केन कः सह संभूय सर्वकार्येषु सन्निधिम् ।
लब्धा भोजनकाले तु यदि दृष्टो निरस्यते ॥ ११० ॥

कौन ऐसा पदार्थ है जो किसी पदार्थ के साथ जन्म लेकर सभी कार्यों में उपस्थित रहकर यदि भोजन के समय देखा जाय तो दूर कर दिया जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर इसी में छिपा है—कः-केश केन-मस्तक के साथ उत्पन्न होकर यदि भोजन के समय देखा जाय तो दूर कर दिया जाता है ॥ ५१ ॥

अथ सङ्कीर्णामाह—

सङ्कीर्णा नाम सा यस्यां नानालक्षणमेलनम् ॥ ५१ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

तुर्य्यद्वादशवत् कर्कटमीनवत् सम्मूर्च्छिता दृढाष्टमरुजां वृश्चिकविद्धवत् पीड़ां द्वितीये वृषे यात्यस्यां सति याति। उभौ प्रथमे मेषवुद्धिवद्वुद्धे अस्यामवस्थायां किं तृतीयो मिथुनो नैव स्यादिति। तत्रोत्तरं—

द्वितीये त्वसति क्वापि त्रयाणां पूरणं नहि।
द्वितीये सति बोधीमांस्तृतीयस्तु वुधूषति ॥ १११ ॥
इहाप्युभयार्थगोपनादुभयच्छन्ना प्रहेलिका।

अथ सङ्कर्णां लक्षयति—सङ्कीर्णेत्यादि। यस्यां प्रहेलिकायां नाना प्रहेलिकालक्षणानां मेलनं भवति सा सङ्कीर्णा नाम प्रहेलिका भवति। यथा—

भविष्यत्यब्जाक्षि त्रिदशवदनग्लानिरचिरात्
स रामोऽपि स्थातो न युधि किमु सौमित्रिसहितः।
गमिष्यत्येवोच्चैर्विपदमधुना वानरचमूः,
लघिष्ठेदं षष्ठाक्षरपरविलोपात् पठ पुनः ॥ ११२ ॥

अत्र नानाप्रहेलिकालक्षणमेलनात् सङ्कीर्णानाम प्रहेलिका भवति। अत्र प्रश्नः हे अब्जाक्षि त्रिदशानां देवानां वदनग्लानिरचिरात् भविष्यति स च रामः किं युधि सौमित्रिसहितो न स्थातः। अधुना वानरचमूः किमुच्चैर्विपदं गमिष्यतीति। तत्रोत्तरं लघिष्ठषष्ठाक्षरस्य पराक्षरविलोपात् पुनः पठ। तैवेदं खल्वेवं भवति। भविष्यत्यब्जाक्षित्रिदशवदनग्लानिरचिरात्। स रामोपि स्थातो न युधि किमु सौमित्रिसहितः। गमिष्यत्येवोच्चैः विपदमधुनावानरचमूरिति यथासम्भवं प्रमुषितादि प्रहेलिकालक्षणमनुसन्धेयमिति ॥ ५१ ॥

---

(१६) सङ्कीर्णा प्रहेलिका

अर्थ—जहाँ पर अनेक प्रहेलिकाओं के लक्षणों का मेल हो, उसे 'सङ्कीर्णा' नाम की प्रहेलिका कहते हैं ॥ ५१ ॥

भविष्यत्यब्जाक्षित्रिदशवदनग्लानिरचिरात्,
स रामोऽपि स्थातो न युधि किमु सौमित्रिसहितः।
गमिष्यत्येवोच्चैर्विपदमधुना वानरचमूः,
लघिष्ठेदं षष्ठाक्षरपदविलोपात् पठ पुन.। ११२ ॥

यहाँ पर अनेक प्रहेलिकाओं का मिश्रण है अत. इसे संकीर्ण प्रहेलिका का उदाहरण कहेंगे ॥ ५१ ॥

अथ गुप्ताख्यं चित्रालङ्कारं लक्षयति—

यस्मिन् गुप्तेऽपि वाक्याङ्गे भाव्यर्थः पारमार्थिकः[1] ।
तदङ्गे [2]विहिताकाङ्क्षस्तद्गुप्तं गूढ़मप्यदः ॥ ५२ ॥

अथ च्युतं नामचित्रालङ्कारं लक्षयति—

यत्रार्थान्तरनिर्भासो वाक्याङ्गच्यवनादिभिः ।
तदङ्गविहिता[3]काङ्क्षस्तच्च्युतं स्याच्चतुर्विधम् ॥
स्वरव्यञ्जनविन्दूनां विसर्गस्य च विच्युतेः[4] ॥ ५३ ॥

काव्यप्रभावृतिः

अथ गुप्ताख्यं चित्रालङ्कारं लक्षयति—यस्मिन् काव्ये वाक्याङ्गे क्रियापदादौ गुप्ते सति तदङ्गो गुप्तक्रियापदादौ विहिता आकाङ्क्षा यस्य स तदङ्गविहिताकाङ्क्षः पारमार्थिकः प्रकृतो भावी अर्थस्तत्र काव्ये तद्गुप्तं नाम चित्रालङ्कारः । अदो गुप्तं गूढ़मपि नाम्ना भवति । यथा—

अहञ्च भाष्यकारश्च कुशाग्रैकधियावुभौ ।
नैव शब्दाम्बुधेः पारं किमन्ये जड़बुद्धयः ॥ ११३ ॥

अत्र तु एवेति क्रियापदं गुप्तं पारमार्थिको भाव्यर्थं आकांक्षयति ।

अथ च्युतं नामचित्रालङ्कारं लक्षयति—यत्र काव्ये वाक्याऽङ्गानां च्यवनादिभिर्लोपादेशविपर्ययादिभिस्तदङ्गेषु न विहिताकाङ्क्षो यत्र स तदङ्गाविहिता-

---

(३) गुप्त चित्रालंकार

अर्थ—जहाँ पर जिस वाक्याङ्ग में क्रिया गुप्त होने पर भी वह भावी अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ हो, उस अंग की आकांक्षा से जब इसका समावेश गूढ़ होते हुए भी किया जाता है तो उसे 'गुप्त' नामक चित्रालङ्कार कहते हैं ॥ ५२ ॥ जैसे—

अहञ्च भाष्यकारश्च कुशाग्रैकधियावुभौ ।
नैव शब्दाम्बुधेः पारं किमन्ये जड़बुद्धयः ॥११३॥

यहाँ पर क्रियापद गुप्त है और वह पारमार्थिक भावी अर्थ की आकांक्षा करता है, इसलिए यहाँ वह गुप्त चित्रालंकार है ॥ ५२ ॥

---

१. भाव्यर्थोऽपारमार्थिकः—घ–अपरमार्थिकः, प–भव्यर्थोऽपरिसाधकः ।
२. तदङ्गाविहिता–इति पाठभेदः ।
३. तदङ्गविहिता—इति पाठभेदः ।
४ क–विद्यते । वीक्ष्यते इति पाठान्तरमपि ।

काव्यप्रभावृत्तिः

काङ्क्षोऽर्थान्तरनिर्भासो निश्चयेन भासस्तत्र काव्ये तत्तद्वाक्याङ्गच्यवनादिच्युतं नाम चित्रं शब्दालङ्कारः स्यात्। तच्युतं चतुर्विधम्। स्वराणां चतुर्दशानां च्यवनादितः, कादीनां हान्तानां व्यञ्जनानां च्यवनादितः, विन्दोरनुस्वारस्य च्यवनादितः, विसर्गस्यच्यवनादितश्च वीक्ष्यते। तत्र स्वरच्युतं यथा—

रागं तवाधरेवाले श्रोणी गुर्व्वी मनो मम।
मदयन्ती जनयति मत्तमातङ्गगामिनि॥ ११६॥

अत्र तवाधरे इत्यत्राधरशब्दस्य पुनरकारच्यवने रागं तवधरेवाले इति पाठे आकारविपर्य्ययेणाकारपाठतदकारनिराकांक्ष एवार्थान्तरनिर्भासो भवति। हे आले हे सखि मत्तमातङ्गगामिनि तव धरेव पृथिवीव गुर्व्वी श्रोणी मम मनो मदयन्ती रागं जनयतीत्यर्थान्तरः। तवाधरे वाले इति पाठे हे वाले मतमातङ्गगामिनि तव गुर्व्वी श्रोणी मम मनो मदयन्ती तवाधरे रागं जनयति। चुम्बनार्थमिति व्यज्यते।

---

(४) च्युत चित्रालंकार

अर्थ—जिस काव्य में वाक्यांग के च्यवन (स्खलन) आदि (लोपादेश आदि) के द्वारा उसके अंग में आकांक्षा न होने से अर्थान्तर का आभास हो, उसे 'च्युत' नामक चित्रालंकार कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है—(१, स्वरच्युत, (२) व्यञ्जनच्युत, (३) विन्दुच्युत, (४) विसर्गच्युत। ५२।।

स्वरच्युत का उदाहरण—

रागं तवाधरेवाले श्रोणी गुर्वी मनो मम।
मदयन्ती जनयति मत्तमातङ्गगामिनि॥११४॥

यहाँ पर 'तवाधरे' पद में अकार हटा देने पर 'तव धरेव आले' ऐसा पाठ होने से 'हे आले=सखि' तव धरेव अर्थात् पृथिवी के समान गुर्व्वी श्रोणी मेरे मन को आनन्दित करती हुई राग उत्पन्न करती है। प्रकारान्तर से हे बाले! गुर्व्वी श्रोणी तुम्हारे अधर में राग उत्पन्न करती है।

व्यञ्जनच्युत का उदाहरण—

काले तड़िल्लताजाले घनपीनपयोधरे।
कान्तः सर्वगुणोपेतो बालेन्दुःखे न लभ्यते॥

यहाँ पर 'बालेन्दुःखे न लभ्यते' में 'न' हटा देने से इसका अर्थ होगा—हे बाले! सब गुणसम्पन्न कान्त 'दुःखेन लभ्यते' दुःख से मिलता है।

इसी प्रकार विन्दुच्युत और विसर्गच्युत के भी उदाहरण समझने चाहिये।

अथ दत्तं नाम चित्रालंकारमाह—

दत्तेऽपि यत्र वाक्याङ्गे द्वितीयोऽर्थः प्रतीयते ।
दत्तं[1]तमाहुस्तद्भेदाः स्वराद्यैः पूर्व्ववन्मताः ।। ५४ ।।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ व्यञ्जनच्युतं यथा--

काले तडिल्लताजाले घनपीनपयोधरे ।
कान्तः सर्व्वगुणोपेतो बालेन्दुःखेन लभ्यते ।।११७।।

अत्र बालेन्दुरित्यत्र नकारच्यवनेन । बालेन्दुःखेन लभ्यते इति पाठादर्थान्तर-निर्भासः स्यात् । तडिल्लताजाले घनपीनमेघे खे आकाशे कान्तः सर्व्वगुणोपेतो बालेन्दुर्न लभ्यते इत्यर्थादन्यार्थो बालेन्दुःखेन लभ्यत इति पाठाद् भवति । हे घनपीन-पयोधरे बाले तडिल्लताजाले कान्ते सर्व्वगुणोपेतः कान्तो दुःखेन लभ्यते इति ।
अथ विन्दुच्युतं यथा—

मानं संहरपादाब्जे भ्रमरी कुर्व्वति द्रुतं ।
कान्ते स्वकं पुरं प्राप्ता वैवस्वतकरक्रिया ।। ११८ ।।

तत्र मानमित्यनुस्वारच्यवनेन मान संहर पादाब्जे इति पाठादर्थान्तर-निर्भासः स्यात् । अथ विसर्गच्युतं थया—

स्वः कामाय यजेद्देवान् न परार्थं सुबुद्धिमान् ।

कामोह्यनित्यकृन्नित्यकार्य्यकामोऽमृतप्रदः । इह स्वः कामायेत्यत्र विसर्गच्यवनेन स्वकामायेति पाठादर्थान्तरनिर्भासो भवति । इत्येवं शेषमुदाहार्य्यम् ।। ५३ ।।

अथ दत्तं नाम चित्रं शब्दालङ्कारं लक्षयति—यत्र काव्येऽधिकतया वाक्याङ्गे-ऽक्षरे दत्तेऽपि पूर्व्वार्थाद्द्वितीयोऽर्थः प्रतीयते तत्र तद्दत्तं नाम चित्रं शब्दालङ्कार-याहुः । पूर्व्ववत् स्वराद्यैः स्वरव्यञ्जनविन्दुविसर्गः तत्तद्भेदाश्चतुर्द्धा मताः । यथा—

हृदि स्वयम्भूस्पर्शेन कान्तेनैकान्ततोऽनघे ।
एनोभवाभीरत्यैव पुसा योगेन शास्यति ।।११९।।

अत्र कान्तेन इति अथवा नैकान्तत इति । अथवा एनोभवा इत्यत्र एनो-भवा । अथवा रत्यैवं इति । अथवा पुंसां इति । नानुस्वारा दत्ताः । ५४ ।।

---

(५) दत्त चित्रालंकार

अर्थ—जहाँ पर वाक्यांग में किसी वाक्यांश के देने मात्र से अद्वितीय अर्थ प्रतीत होता है, उसे दत्त चित्रालंकार कहते हैं । उपर्युक्त प्रकार से इसके भी चार भेद होते हैं—स्वरदत्त, व्यञ्जनदत्त, विन्दुदत्त और विसर्गदत्त ।। ५४ ।।

---

१. भ–'दण्डं' इति पाठः ।

अथ च्युतदत्तमाह—

अपनीताक्षरस्थाने न्यस्ते वर्णान्तरेऽपि च ।
भासतेऽर्थान्तरं यत्र च्युतदत्तं तदुच्यते[२] ॥ ५५ ॥

अथ समस्यामाह—

सुश्लिष्टं[३] पदमेकं[४] यन्नानाश्लोकांशनिर्म्मितम् ।
सा समस्या परस्याथ परयोः कृतिसङ्करात् ॥ ५६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

यत्र काव्ये खल्वेकविधाक्षरमपनीयान्यविधाक्षरदानादर्थान्तरं भासते तत् च्युतदत्तं नामचित्रं शब्दालङ्कारमाहुः । यथा—

काशिकान्ते स्निग्धरूपा सदासुरतरङ्गिणी ।
तापापहारिणी नृणां प्रीत्यैवनरसार्पणात् ॥१२०॥

तत्र काशिकान्ते इत्यत्र तालव्यशकारं च्युतं कृत्वा तत् स्थाने दन्त्यसकारदाने कासिकान्ते इति पाठेऽर्थान्तरं भासते । तस्माच्च्युतदत्तं भवति ॥ ५५ ॥

अथ समस्यां लक्षयति—प्रष्टा नानाश्लोकांशनिर्मितं नानाश्लोकानामंशरूपेण भवितुमर्हतया निर्मितं यत् सुश्लिष्टं सुन्दरं श्लेषगुणयुक्तमेकं पदमर्थप्रतिपत्तिकरं वाक्यं सुश्लिष्टमिति विशेषणान्न तु सुवन्तं तिङन्तं वा पादरूपं वा परस्याथवा परयोर्द्वयोः कृतिसङ्करात् शेषपूरणक्रिया मेलनात् ततः सा समस्या नामचित्रं शब्दालङ्कार उच्यते । यथा—

---

(६) च्युतदत्त चित्रालंकार

अर्थ—जहाँ पर एक प्रकार के अक्षर को हटाकर दूसरे प्रकार के अक्षर रख देने से अन्य अर्थ भासित होता है, उसे 'च्युतदत्त चित्रालंकार' कहते हैं ॥ ५५ ॥ जैसे—

काशिकान्ते स्निग्धरूपा सदा सुरहतरङ्गिणी ।
तापापहारिणी नृणां प्रीत्यैव न रसार्पणात् ॥

यहाँ पर 'काशिकान्ते' पद में तालव्य 'श' के स्थान पर दन्ती 'स' रख देने पर 'कासिकान्ते' इस पाठ में दूसरा अर्थ प्रतीत हो रहा है । इसलिए यहाँ यह 'च्युतदत्त' नामक चित्रालंकार है ॥ ५५ ॥

---

१. 'ग' पुस्तकेऽयं श्लोकार्द्धं नास्ति ।
२. ख—'संश्लिष्टं, घ—'स्वस्पष्टं' ।
३. परस्यात्म—इति पाठभेदः ।
४. पद्यमेकमिति पाठान्तरमपि

काव्यप्रभावृत्तिः

"चौरेणापहृतं सर्व्वं विनानासाग्रमौक्तिकम्" इत्यर्धश्लोकरूपं पदं नानाश्लोकांशार्हतया निर्मितम्। तत्र परस्य कृतिमेलनमपरकविना शेषस्य पूरणं यथा—

"निद्राव्यस्तगलद्वेणीश्वरसत्फणिमणिभ्रमाद्।
चौरेणापहृतं सर्वं विना नासाग्रमौक्तिकम्॥ १२१॥

तथा चापरस्य कवेः शेषपूरणमन्यथा यथा—

"नेत्राञ्जनोष्ठरागाभ्यां मञ्जुगुञ्जाफलभ्रमाद्"।
चौरेणापहृतं सर्वं विना नासाग्रमौक्तिकम्॥ १२२॥

उभयत्र चौरेणापहृतं सर्व्वं विनानासाग्रमौक्तिकमिति। तथा—

"ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्" इति एकं पदं चतुरुक्तं चतुर्थे पूरणीयमपरकविना। यथा—

धनं पर्व्वताभं वचश्चित्ररूपं वपुः कर्म्मयोग्यं कुशाग्रैकबुद्धिः।
न दानं न सत्यं न कीर्त्तिर्न पाठस्ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥ १२३॥

---

(७) समस्या चित्रालंकार

अर्थ—अनेक श्लोकों के अंशरूप से निर्मित श्लेषयुक्त एक पद सुश्लिष्ट हो। एक व दो का सङ्कर होने से समस्या नामक चित्रलंकार होता है॥ ५६। जैसे—"चौरेणापहृतं सर्वं विना नासाग्रमौक्तिकम्' इस श्लोकार्द्ध की समस्यापूर्ति निम्न प्रकार से की गई है—

नेत्राञ्जनौष्ठरागाभ्यां मञ्जुगुञ्जाफलभ्रमात्।
चौरेणापहृतं सर्वं विना नासाग्रमौक्तिकम्॥

दूसरे प्रकार से समस्यापूर्ति—

निद्राव्यस्तगलद्वेणीश्वरसत् फणिमणिभ्रमात्॥
चौरेणापहृतं सर्वं विना नासाग्रमोक्तिकम्।

इसि प्रकार 'ततः किं ततः किं ततः किम्' इस समस्या की पूर्त्ति कवि ने निम्न प्रकार से की है। जैसे—

धनं पर्वताभं वचश्चित्ररूपं वपुः कर्मयोग्यं कुशाग्रैकबुद्धिः।
न दानं न सत्यं न कीर्त्तिर्न पाठः ततः किं ततः किं तत किं ततः किम्॥

यह चतुर्थ चरण की समस्यापूर्त्ति का दूसरा उदाहरण है॥ ५६॥

अथ नवमं दुष्करमाह—

दुःखेन कृतमत्यर्थं कविसामर्थ्यसूचकम् ।
दुष्करं नीरसत्वेऽपि विदग्धानां महोत्सवम्[1] ।
नियमाच्च विदर्भाच्च बन्धाच्च[2] भवति त्रिधा ॥ ५७ ॥

अथ क्रमेण नियमादीनाह—

कवेः प्रतिज्ञानिर्म्माणे वर्णस्य[3] नियमः स्मृतः ।
स्थानेनापि स्वरेणापि व्यञ्जनेनापि स त्रिधा ॥ ५८ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ नवमं शब्दालङ्कारं दुष्करं नाम लक्षयति—यत् काव्यमत्यर्थं दुःखेन कविना कृतं कविसामर्थ्यसूचकं भवति, तत् दुष्करं नाम शब्दालङ्कारमुच्यते। तच्च नीरसत्वेऽपि नीरसमपि तत् काव्यं विदग्धानां पण्डितानां महोत्सवं भवति। कस्मात् ? यतः तद्दुष्करं त्रिधा भवति नियमाच्च विदर्भाच्च बन्धाच्च ॥ ५७ ॥

अथ क्रमेण नियमादीन् लक्षयति—कवेः काव्ये कर्त्तव्ये 'एवमत्र वर्णो विन्यस्तव्य' इत्येवं प्रतिज्ञया काव्यस्य निर्म्माणं वर्णस्य नियमः स्मृतः। स च वर्णनियमस्त्रिविधः। स्थानेन श्लोकपादानामादिमध्यान्तस्थानेन वर्णविन्यासनियमः। स्वरेण खल्वकारादिस्वरान्तनियमः। व्यञ्जनेन ककारादिवर्णनियमश्चेति। यथा प्रतिपादे तृतीयो वर्णानां नकारो विन्यस्तव्य इति कृत्वा काव्यं रचयति—

९—दुष्कर अलंकार

अर्थ—जो काव्य अत्यन्त कष्ट से कवि के द्वारा रचा जाता है वह कवि के सामर्थ्य (शक्ति) का सूचक होता है, उसे 'दुष्कर' शब्दालंकार कहते हैं। वह नीरस होते हुए भी विद्वानों को आनन्ददायक (रुचिकर) होता है। नियम, विदर्भ और बन्ध भेद से यह दुष्कर अलंकार तीन प्रकार का होता है ॥ ५७ ॥

(१) नियम का लक्षण

अर्थ—काव्य में कवि की प्रतिज्ञा के अनुसार काव्य-रचना में वर्णों के नियम की कल्पना 'नियम' अलंकार कहा गया है। वह वर्णनियम तीन प्रकार का होता है—स्थान नियम (यथास्थान शब्द विन्यास द्वारा), स्वर-नियम और व्यञ्जन-नियम ॥ ५८ ॥

---

१. महोत्सवः—इति पाठभेदः। २. ग—छन्दाच्च।
३. प—निर्माणरसस्य, मुद्रिते पुस्तके—निर्माणरम्यस्य इति पाठान्तरे।

काव्यप्रभावृत्तिः

नयनानन्दजनने भवने गृहशालिनि ।
अघने गगने दृष्टिरङ्गने दीयतां सकृत् ॥ १२२ ॥

इत्येवं स्थानतो नियमः ।

अथ स्वरतो नियमो यथा—कविः प्रथमपादे त्वाकारान्तं, द्वितीयेत्वीकारान्तं, तृतीयेत्वोकारान्तं, चतुर्थेत्वेकारान्तं सर्ववर्णं विन्यस्तं प्रतिज्ञाय काव्यं चकार—

आम्नायानामाहान्त्या वाग्गीतीरीतीः प्रीतीर्भीतीः ।
भोगो रोगो मोहो मोदो ध्येये वेच्छेद्देशे क्षेमे ॥ १२३ ॥

तथादिषु त्रिषु पादेषु इकारमकारमुकारश्च प्रतिज्ञाय काव्यं चकार—

क्षितिविजितिस्थितिविहितिव्रतरतयः परमतयः ।
उरु रुरुधुर्गुरु दुधुवुर्युधि कुरवः स्वमरिकुलम् ॥ १२४ ॥

अथ व्यञ्जनेन नियमो यथा—एवं चतुर्षु पादेषु नकारं सर्व्वं वर्णं प्रतिज्ञाय काव्यं चकार—

ननोननुन्नो नुन्नोनो नानानानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेनानुन्ननुन्ननुत् ॥ १२५ ॥

विमर्श—कवि अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार काव्य-रचना में वर्णों के प्रयोग का नियम की कल्पना करता है। स्थान, स्वर एवं व्यञ्जन के नियम से वह तीन प्रकार का होता है। कवि श्लोक के पाद में आदि, मध्य तथा अन्त में अमुक स्थान पर अमुक वर्ण का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार प्रतिज्ञा करता है। यही स्थान-नियम है। जैसे—प्रतिपाद में तृतीय अक्षर 'न' का प्रयोग करना—

नयनानन्दजनने भवने गृहशालिनि ।
अघने गगने दृष्टिरङ्गने दीयतां सकृत् ॥ १२२ ॥

यहाँ पर कवि की प्रतिज्ञानुसार प्रत्येक चरण में तृतीय वर्ण नकार का प्रयोग हुआ है, अतः दुष्कर अलंकार के स्थान-नियम का उदाहरण है।

इसी प्रकार कवि स्वर के लिए भी प्रतिज्ञा करता है। जैसे - प्रथम पाद में आकारान्त पद, द्वितीय पाद में ईकारान्त पद का, तृतीय पाद में ओकारान्त पद और चतुर्थ पाद में एकारान्त पद का प्रयोग करना है, इस दृष्टि से काव्य-रचना करता है। जैसे—

आम्नायानामाहान्त्या वाग्गीतीरितीः प्रीतीर्भीतीः ।
भोगो रोगो मोदो मोहो ध्येये वेच्छेद्देशे क्षेमे ॥ १२३

इस श्लोक में प्रतिज्ञानुसार प्रथम पाद में आकार, द्वितीय में ईकार, तृतीय में ओकार और चतुर्थ में एकार स्वर का प्रयोग हुआ है। अतः यह स्वरनियम का उदाहरण है।

अथ विदर्भं लक्षयति —

विदर्भ[1] प्रातिलोभ्यानुलोभ्यादेवाभिधीयते ।
प्रातिलोभ्यानुलोम्यञ्च शब्देनार्थेन[2] जायते ॥ ५९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ विदर्भं लक्षयति—काव्यस्य साकल्येन प्रतिलोभ्यानुलोभ्यात् विदर्भो नाम दुष्करं शब्दालङ्कारोऽभिधीयते । तत् प्रातिलोभ्यानुलोभ्यं द्विधा शब्देनैकं जायतेऽर्थेन द्वितीयं जायते । यथा—

यानमानयमाराविकशोनानजनाशना ।
यामुदारशताधीनामायामायमनादिना ॥ १२६ ॥

एतस्य प्रातिलोम्ये नाप्यपरं काव्यं भवति । तद्यथा—

नादिनामयमायामानाधीताशरदामुया ।
नाशनाजननाशोकविरामायनमानया ॥ १२६ ॥

कश्चित्तु प्रातिलोम्यानुलोम्यादेकमेव काव्यं भवतीत्याह । तद्यथा—

नादिनोमदनाधीस्वा न मे काचन कामिता ।
तामिका न च कामेन स्वाधीना दमनोदिना ॥ १२७ ॥

इत्येष श्लोकः प्रातिलोम्येन पठितोप्येतादृशो भवति इति । तन्न बन्धप्रकरणेऽर्द्धश्लोकभ्रमणबन्धकाव्यत्वात् । पादप्रतिलोभ्यानुलोम्याद्यथा—

इसी प्रकार कवि व्यञ्जन् के प्रयोग का भी नियम करता है कि अमुक श्लोक में अमुक-अमुक वर्ण का प्रयोग करना है । जैसे, श्लोक में केवल 'न' वर्ण का ही प्रयोग करना है, इस उद्देश्य से कवि श्लोक निर्माण करता है—

ननोननुन्नो नुन्नोनो नानानानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेनानुन्ननुन्ननुत् ॥ १२४ ॥

इस श्लोक में केवल 'न' वर्ण का प्रयोग हुआ है अतः एकवर्ण नियम का उदाहरण है ॥ ५८ ॥

(२) विदर्भ का लक्षण

अर्थ—प्रातिलोम्य एवं आनुलोम्य (शब्दों एवं अर्थों की) रचना 'विदर्भ' कहाता है । प्रातिलोम्य और आनुलोम्य शब्द और अर्थ दोनों के द्वारा होता है ॥ ५९ ॥

---

१. विकल्पः—इति पाठभेदः । २. क—शब्देनानेन इति पाठः ।

अथ बन्धदुष्करलक्षणमाह—

अनेकधावृत्तवर्णविन्यासैः शिल्पकल्पना[1] ।
तत्तत् प्रसिद्धवस्तूनां बन्ध इत्यभिधीयते ।। ६० ।।
गोमूत्रिकार्धभ्रमणं[2] सर्वतोभद्रमम्बुजम्[3] ।
चक्रं चक्राब्जकं दण्डो मुरजश्चेति चाष्टधा ।। ६१ ।।

काव्यप्रभावृत्तिः

यामताश कृतायासा सा याता कृशता मया ।
रमरणारकता तेस्तु स्तुतेताकरणामर ।। १२८ ।।

अथार्थतः प्रातिलोम्यानुलोम्याद्यथा—

द्वियानगतिहीना ये म्रियन्तेऽत्र भवन्ति च ।
भवन्ति च म्रियन्तेऽत्र द्वियानगतिवर्जिताः ।। १२९ ।।

विमर्श—जहाँ पर प्रातिलोम्य अर्थात् प्रतिकूल शब्दों एवं अर्थों की रचना की जाती है, और आनुलोम्य अर्थात् अनुकूल शब्दों और अर्थों की रचना की जाती है। दोनों विदर्भ नामक दुष्कर अलङ्कार कहलाते हैं। यह प्रातिलोम्य और आनुलोम्य शब्द और अर्थ दोनों के द्वारा हो जाता है। शब्दतः आनुलोम्य-प्रातिलोम्य का उदाहरण—

यानमानयमाराविकशोनानजनाशना ।
यामुदारशताधीनामायोमायमनादिना ।। १२५ ।।

इस श्लोक को प्रतिलोम पढ़ने से निम्नलिखित दूसरा श्लोक बन जाता है।

नादिनामयमायोमानाधीताशरदामुया ।
नाशनाजननाशोकविरामायनमानया ।। १२६ ।।

कहीं कहीं पर श्लोक प्रतिलोम से पढ़ने पर पूर्वार्द्ध का उत्तरार्द्ध बन जाता है जैसे—

नादिनोमदनाधीस्वा नमेका च न कामिता ।
तामिका न च कामेन स्वाधीना दमनोदिना ।। १२७ ।।

यह श्लोक उलटा-सीधा पढ़ने पर पूर्वार्द्ध का उत्तरार्द्ध बना लिया जाता है, अब यह प्रतिलोम यमक का उदाहरण है ।। ५९ ।।

---

१. शिल्पकर्मणा इति पाठान्तरम् । २. भ्रमणे—इति पाठान्तरम् ।
३. न, ल सर्वतोभद्रमब्जतम् मुरजाश्चेति—इति पाठान्तरम् ।

अथ गोमूत्रिकामाह—

प्रतिपादं प्रत्यर्धं[1] स्यादेकान्तरसमाक्षरा ।
द्विधा गोमूत्रिकां पूर्व्वामाहुरश्वपदां परे ।
अन्त्यां गोमूत्रिकां धेनुं जालबन्धं[2] वदन्ति हि ॥ ६२ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ बन्धदुष्करलक्षणमाह अनेकधावृत्तैः समवृत्तछन्दोभिः शिल्पकर्म्मणा तत्तत् प्रसिद्धवस्तूनां शिल्पकर्म्मणा वर्णविन्यासैर्बन्ध एव 'बन्ध' इत्यभिधीयते। अथवाऽनेकधा वृत्तानां वर्णानां तत्तत् प्रसिद्धवस्तुनः शिल्पकर्म्मणा विन्यासैर्बन्ध-इत्यभिधीयते। स च बन्धोऽसङ्ख्येयोप्यष्टधा गोमूत्रिकादिभेदेन प्राधान्यात् भवति ॥ ४८ ॥

अथ गोमूत्रिकामाह – गवां स्त्रीणां मूत्रयन्तीनां मूत्रप्रपाते यादृशी धारा तादृश-प्रकारेण शिल्पकर्मणा वृत्तवर्णविन्यासैर्बन्धो गोमूत्रिकाबन्धो द्विधा भवति। वृत्ते-चतुष्पादे प्रतिपादमेकान्तरसमाक्षरा प्रथमाक्षरमारभ्य तस्यैकाक्षरमन्तरं व्यवधानं यस्य तदेकान्तरं तदेव सममक्षरं यत्र सा एकान्तरसमाक्षरा गोमूत्रिका। एवं प्रत्यर्ध-मेकान्तरसमाक्षरा च गोमूत्रिका चेति द्विधा गोमूत्रिका। तत्तपूर्वा प्रतिपादमेकान्तर-समाक्षरां गोमूत्रिकां परेऽश्वपदां गोमूत्रिकामाहुः। अन्त्यां प्रत्यर्धमेकान्तरसमाक्षरां धेनुं कश्चित् प्रथमाक्षरे साम्याऽसाम्यनियमाभावात् द्वितीयाक्षरमारभ्य युग्माक्षरं पूर्व्वार्द्धयुग्माक्षरं समानमित्याहुरतन्न। हि यस्मात् गोमूत्रिकां परे कवयोऽश्वपदामा-हुरश्वपदेनाक्षराणां पाठः। अन्त्यां प्रत्यर्धमेकान्तरसमाक्षरां गोमूत्रिकां धेनुमाहुर्हि यस्मात्तां जालबन्धं जालवदेकान्तरसमाक्षरविन्यासैर्बन्धः क्रियते तस्माज्जालबन्धश्च

---

(३) बन्ध का लक्षण

अर्थ—अनेक प्रकार से आवृत्त होने वाले वर्णों को उन-उन प्रसिद्ध वस्तुओं की शिल्प-कल्पना द्वारा विन्यास 'बन्ध कहा गया है अथवा अनेक प्रकार के वृत्त (छन्दों) एवं वर्णों का उन-उन प्रसिद्ध वस्तुओं की शिल्प-कल्पना द्वारा विन्यास करना 'बन्ध' है। यह बन्ध आठ प्रकार का होता है – गोमूत्रिका, अर्धभ्रमण, सर्वतोभद्र, अम्बुज (कमलबन्ध) चक्र, चक्राब्ज, दण्ड और मुरज ॥ ६०–६१ ।

---

१. प्रत्यर्द्धं प्रतिपादं इति पाठभेदः। २. झ, ञ–जानुबन्धम्—'क' जलबन्ध।

काव्यप्रभावृत्तिः

तामाहुरिति परमतोपदेशेन द्वयोर्लक्षणं ज्ञापितं भवति। ततोऽश्वपदसंज्ञयाश्वपदे न एकान्तरसमानाक्षरविन्यासो न तु गजपदेन। अश्वपदगतिर्लोके प्रसिद्धाक्रीडनकविशेषे जालबन्धनश्च लोके प्रसिद्धं। तत् उक्तं तत्तत् प्रसिद्धवस्तूनां बन्ध इति। एते क्रमेणोदाह्रियन्ते। प्रत्यर्धमेकान्तरसमाक्षरविषममध्याक्षरा यथा—

भ ज मि त्र शि व पदं भ जा मि च शिवा पतिम्।
भ वा मि नि शि त प सा भ क्त्या मि त्र शिवापहः॥ १३०॥

(क) गोमूत्रिका

अर्थ—जहाँ पर प्रत्येक पाद में एक अक्षर के व्यवधान से वही पूर्व वर्ण हो, इसी प्रकार प्रत्यर्द्ध में भी एकाक्षर के व्यवधान से उसी वर्ण का प्रयोग हो, उसे 'गोमूत्रिका' बन्ध कहते हैं। इस प्रकार गोमूत्रिका के दो भेद होते हैं—प्रतिपादमेकान्तरसमाक्षरा और प्रत्यर्द्धमेकान्तरसमाक्षरा।

कुछ विद्वान् प्रतिपाद एकान्तरसमाक्षरा गोमूत्रिका बन्ध को 'अश्वपदा' गोमूत्रिका कहते हैं और प्रत्यर्द्ध एकान्तरसमाक्षरा गोमूत्रिका को 'धेनु' कहते हैं, क्योंकि उसमें जाल के समान एकाक्षर के व्यवधान से समाक्षर का विन्यास होता है। इसीलिए इसे 'जालबन्ध' भी कहते है।' इस प्रकार दूसरे के मत से गोमूत्रिका के दो भेद बताये गये हैं। ६२।

जैसे— भ ज मित्र शि व पदं भजामि च शिवापतिम्।
भ बा मि नि शि त पसा भक्त्याऽमित्र शि वा प हः। १३०॥

इस श्लोक में पूर्वार्द्ध के एक-एक अक्षर के व्यवधान से वही अक्षर उत्तरार्द्ध में भी एक-एक अक्षर के व्यवधान से आया है। इसे अश्वपदा भी कहते हैं।

भ ज भक्त्या भवं भव्य भवे भव भवो भवैः।
भ ज भक्त्या भवं भव्य भवे भव भवो भवैः।

यहाँ पर पूर्वार्द्ध का उसी रूप में परार्द्ध में पाठ है। इसे जालबन्ध भी कहते हैं। परमत से उदाहरण देते हैं—

भ ज भक्त्या भ वं भ व्य भ वे भ व्य भ वो भ वैः।
भ वते भ शो भ ते भव्य भ य भ ङ्गो भ यो भ यम्। १३१॥

इस श्लोक में प्रतिपाद में एक-एक अक्षर के व्यवधान पर वही 'भ' अक्षर आया है अतः इसे गोमूत्रिका बन्ध कहते हैं॥ ६२॥

काव्यप्रभावृत्तिः

गोमूत्रधारयाबन्धश्चेदृशो गजपदेन ।

एकान्तरं पूर्वार्धाक्षरं समं शेषार्द्धाक्षरं चैकान्तरं समं यत्र सा यथा—

भ ज भ क्त्या भ वं भ व्य भवे भव भवो भवैः ।
भ ज भ क्त्या भवं भव्य भवे भव भवो भवेः ॥ १३१ ॥

बन्धश्चैष गजपदेन यथा अस्याः सर्व्वथा पाठो भवतीति भेदः । केनचिद्व्याख्यायते परे कवय इभा धेनुवन्मूत्रणात् धेनुं जालवत् पूर्वार्धशेषार्धयोरक्षराणां पाठात् जालबन्धश्च पूर्वार्धपरार्धपाठस्तु । यथा – रेखं कार्य्यः । युग्माक्षर साम्ये यथा—

नासुरोऽयं न वा नागो
धरसंस्थो न राक्षसः ।
नासृखोऽयं न वा भोगो
धरणिस्थो हि राजसः ॥ १३२ ॥

इदं पद्यं गोमूत्रिकाभासं न तु गोमूत्रिका एतल्लक्षणलक्षितत्वात् । यतोऽत्र प्रथमाक्षरं न व्यवधानं द्वितीयाक्षरस्य प्रथमाक्षरात् पूर्व्वमक्षराभावाच्च । प्रतिपादमेकान्तरसमाक्षराभावाच्च । एकैकपादान्तरसमाक्षराच्चेति ।

भ ज मि त्र शि व प दं भ जा मि च शिवापतिम् ।
भवामि निशि तपसा भक्त्याऽमित्रशिवापहः ॥ १३३ ॥

इति प्रतिपादमश्वपदा ।

ना सु रो ऽ यं न वा ना गो
ध र सं स्थो न रा क्ष सः ।
ना सु खो ऽ यं न वा भो गो
ध र णि स्थो हि रा ज सः ॥ १३४ ॥

एतदश्वपदाभिधानेन गजपदगोमूत्रिका नामाग्नि सम्मता । अथ प्रत्यर्धमेकान्तरसमाक्षरा गोमूत्रिका परमते धेनुर्नाम नवप्रसूताया गोर्मूत्रणं विस्तररूपं भवतीत्यभिप्रायेण धेनुसंज्ञा तस्य जालबन्धाज्जालबन्धसंज्ञा च ।

तद्यथा—

भ ज भ क्त्या भ वं भ व्य भ वे भ व्य भ वो भ वेः ।
भ क्त ते भ शो भते भ व्य भ य भ ङ्गो भयो भयम् ॥ १३५ ॥

अथार्धभ्रमणसर्वतोभद्रावुच्येते—

अर्द्धाभ्या[1]मर्द्धपादैश्च कुर्याद्विन्यासमेतयोः ।
न्यस्तानामिह पादानामधोऽधः[2] क्रमभागिनाम् ॥ ६३ ॥
अधोऽधःस्थितवर्णानां या[3]वत्तुर्य्यपदं नयेत् ।
तुर्य्यपदान्नयेदूर्ध्वं पादार्द्धं प्रतिलोमतः[4] ॥ ६४ ॥
तदेव सर्वतोभद्रं.....

काव्यप्रभावृत्तिः

एतयोर्गीमूत्रिकानन्तरमुक्तयोरर्धभ्रमणसर्वतोभद्रयोरेकस्य पद्यस्यार्द्धाभ्यासेनार्धश्लोकावृत्या पादैश्च चतुर्भिर्वर्णानां विन्यासं कुर्य्यात् । इहार्धभ्रमणसर्वतोभद्रयोः खल्वधोऽधः क्रमभागिनां चतसृषु पंक्तिषु विन्यस्तानां चतुर्णां पादानामधोऽधः स्थितवर्णानि तुर्य्यपदं यावत् चतुर्थकोष्ठपर्य्यन्तं नयेत् । नतु सम्पूर्णपादवर्णानि अष्टकोष्ठपर्य्यन्तं नयेत् । इत्यर्द्धभ्रमणे सर्व्वतोभद्रे च तुल्यम् । सर्व्वतोभद्रे तु विशेषमाह—तुर्य्यपदात् चतुर्थकोष्ठादूर्द्ध्वं पञ्चमादिवर्णं शेषं पदानां चतुर्णामर्द्धं चतुर्वर्णम् । चतुर्वर्णं विन्यस्येद्यत्र एतदेव सर्व्वतोभद्रं नाम स्यात् ।

(ख) अर्द्धभ्रमण

अर्थ—एक श्लोक के अर्द्ध (आधे) श्लोक की आवृत्ति करने तथा उसके वर्णों का विन्यास करने से 'अर्द्धभ्रमण' बन्ध होता है । इसमें अर्द्धपार्द के चार नीचे-नीचे क्रमशः चारों पंक्तियों में विन्यस्त चारों पादों के नीचे-नीचे स्थित वर्ण चतुर्थ पाद तक चतुर्थ कोष्ठ पर्यन्त तक रखे, तो अर्द्धभ्रमण बन्ध होता है ॥ ६३-६४ ॥

विमर्श—आधे छन्द में ही भ्रमण करने के कारण अर्द्धभ्रमण होता है । अर्द्धभ्रमण में चारों पंक्तियों के प्रथम चार अक्षर प्रथम पाद के पूर्वार्द्ध में होते हैं, उसी के साथ उत्तरार्द्ध में द्वितीय चार अक्षर होते हैं । उसके बाद द्वितीय पाद के पूर्वार्द्ध में चारों पंक्तियों के द्वितीय अक्षर होते हैं । इसी प्रकार चारों पंक्तियों के तृतीय और चतुर्थ अक्षरों से तृतीय पाद बनता है । इसी प्रकार चारों पंक्तियों के चतुर्थ अक्षरों से चतुर्थ पाद का पूर्वार्द्ध बनता है । शेष 'जगत्पतेः' के प्रयोग से पूर्ण होता है । जैसे—

शुभा शुभा भाति भाति
भा ति भा ति ज ग त्प तेः ।
शु भा शु भा भाति भाति
भा ति भा ति ज ग त्प तेः ॥ १३६ ॥

---

१. अर्धाभ्यासेनपादैश्च—इति पाठान्तरम् । २. वर्णानामधोऽधः—इति पाठान्तरम् ।
. स्थितवर्णानि— इति पाठान्तरम् । ४. प्रातिलोम्यतः— इति पाठान्तरम् ।

काव्यप्रभावृत्तिः

तद्यथा— शु भा शु भा भा ति भा ति
भा ति भा ति ज ग त् प तेः ।
शु भा शु भा भा ति भा ति
भा ति भा ति ज गत् प तेः ॥ १३६ ॥

इत्यर्द्धभ्रमणम्—अस्य पाठे क्रमः । यथा पङ्क्ति चतुरः पादान् पठेत् । ततः परमर्द्धभ्रमणे चैवं पठेत् । चतसृषु पङ्क्तिषु प्रथमैश्चतुर्भिरक्षरैः प्रथमपादस्य पूर्व्वार्द्धं भवति, तेन सह प्रथमपादस्य शेषार्द्धं भातीत्यादि पठेत् । ततः परं द्वितीयपादस्य पूर्व्वार्द्धं चतसृषु पंक्तिषु द्वितीयैश्चतुर्भिरक्षरैर्भवति तेन सह द्वितीयपादस्य शेषार्द्धं जगत्पतेरिति पठेत् । ततः परं चतसृषु पङ्क्तिषु तृतीयैश्चतुर्भिरक्षरैस्तृतीयपादस्य पूर्व्वार्द्धं भवति, तेन सह तृतीयपादस्य शेषार्द्धं भाति भातीति पठेत् । ततः परं चतसृषु पङ्क्तिषु चतुर्थैश्चतुर्भिरक्षरैश्चतुर्थपादस्य पूर्वार्द्धं भवति, तेन सह चतुर्थपादस्य शेषार्द्धं जगत्पतेरिति पठेत् । इत्येवमर्द्धार्द्धपादानां भ्रमणेन तिर्य्यग्भूतैः शेषैरर्द्धार्धपदैः सह पाठादर्द्धभ्रमणं नाम बन्धालङ्कारः । इहार्द्धभ्रमणसर्व्वतोभद्रयोरघोऽधः क्रमभागिनां न्यस्तानां पादानामघोऽधः स्थितवर्णानि तुर्यपादं चतुर्थकोष्ठं यावन्नयेत् । तत्र तूर्य्यपादाच्चतुर्थ कोष्ठपादानां चतुर्णामर्द्धार्द्धं प्रातिलोम्यतः पूर्व्वपूर्व्वार्द्धानामधोऽधः क्रमेण न्यस्तानां विपर्य्ययेणोर्द्धोर्ध्वाविक्रमेण यत्र विन्यसेत्तदेव सर्व्वतोभद्रं स्यादिति । तस्मात् यदेतत् तदुदाह्रियते । यथा—

म नो भ व त वा नी क म् ।
नो द या पा न मा नि नी ।
भ या द मे या मा मा वा,
व य मे नो म या न त ॥ १३७ ॥

अपरञ्च — स स त्व र ति दे नि त्यं,
स द रा म र्ष ना शि नी ।
त्व रा धि क क स ना दे,
र म क त्व म क र्ष ति ॥ १३८ ॥

इत्येकमर्धभ्रमणपरञ्च अर्धभ्रमणाभासं दर्श्यते ।

काव्यप्रभावृत्तिः

ईदृशपद्यपाठस्त्वेवं भवति—चतुर्णा पदानां भिन्नानां क्रमेण यथा पाठस्तथा चतसृषु पङ्क्तिषु प्रथमैश्चतुर्भिः प्रतिलोम्यैः शेषार्धक्रमेण पठ्यते, तथा द्वितीयैश्चतुर्भिर्द्वितीयपादस्य पूर्वार्द्धमप्तमैश्चतुर्भिः प्रतिलोभैः शेषार्धक्रमेण पठ्यते, तथा तृतीयैश्चतुर्भिस्तृतीयपादस्य पूर्वार्धं षष्ठैश्चतुर्भिः प्रतिलोभैः शेषार्धक्रमेण पठ्यते, तथा चतुर्थैश्चतुर्भिश्चतुर्थपादस्य पूर्वार्द्धपञ्चमैश्चतुर्भिः प्रतिलोमैः शेषार्धक्रमेण पठ्यते। इत्येवं पादार्धभ्रमणं चतुष्पादपद्यं भवति। यथा—चतुष्पादश्लोकपाठः स्यात्तथा प्रदर्श्यते। तद्यथा श्लोकोऽयं पठ्यते तत्। शुभाशुभा भाति भाति इत्यादि पूर्वश्लोके दर्शितम्। इत्यर्धभ्रणम्।

अथ सर्वतोभद्रमाह—अनेन प्रकारेणार्धश्लोकाभ्यासेन चतुर्भिः पादैः चतसृषु पङ्क्तिषु वर्णन्यासं कुर्यात्। तत्राधोऽधो न्यस्तानां पादानां क्रमेणाधोऽधःस्थितानि वर्णानि चतुर्थस्थानपर्यन्तं नयेत्। अत्र चतुर्थपदाच्चतुर्थाक्षरादूर्ध्वंप्रातिलोम्येन पूर्व-पूर्वपादाक्षरं प्रातिलोम्येन रचयित्वा लिखित्वा सर्वतोभद्रं नाम दुष्करं शब्दालङ्कारः स्यात्। तद्यथा—

शुभा शुभा भाशु भाशु
भाति भाति तिभा तिभा।
शुभा शुभा भाशु भाशु
भाति भाति तिभा तिभा॥ १३९॥

अत्रैवं पाठक्रमः। आनुलोम्येन पाठः प्रातिलोम्येन चानुलोमप्रतिलोमाभ्यां प्रतिलोभानुलोमाभ्याञ्चेति। पंक्तिक्रमेण तथोर्ध्वाधःक्रमेणापि। अनुलोमप्रतिलोमाभ्यां प्रथमतृतीयाभ्यामेकः पादः, द्वितीयचतुर्थाभ्यां द्वितीयः पादः, षष्ठाष्टमाभ्यां तृतीयः पादः, पञ्चमसप्तमाभ्यां चतुर्थः पादः इति। एवं प्रथमाष्टमाभ्यां प्रथमः पादः द्वितीयाष्टमाभ्यां द्वितीयः, तृतीयषष्ठाभ्यां तृतीयः, चतुर्थपञ्चमाभ्यां चतुर्थः पादः। इत्येवमादिसर्वतः पाठे भद्रमिति।

(ग) सर्वतोभद्र

अर्थ—चारो ओर से (सभी प्रकार से) भ्रमण होने के कारण इसे सर्वतोभद्र कहते हैं॥ ६४॥

विमर्श—सर्वतोभद्र बन्ध में अर्धभ्रमण न होकर सभी ओर से भ्रमण होता है। अर्थात् अनुलोम प्रतिलोम उभयविध भ्रमण से पाद का उत्थान होता है। जैसे—

शुभा शुभा भाशु भाशु भाति भाति तिभा तिभा।
शु भा शुभा भाशु भाशु भाति भाति तिभा तिभा॥ १४०॥

अथाम्बुजमाह—

.....त्रिविधं सरसीरुहम् ।
चतुःपत्रं ततो द्विघ्नं चतुःपत्रमुभे अपि[1] ॥ ६५ ॥
अथ प्रथमपादस्य मूर्द्धन्यं त्रिपदाक्षरम्[2] ।
सर्व्वेषामेव पादानामन्ते तदुपजायते ॥ ६६ ॥
प्राक्पादस्यान्तिमं[3] प्रत्यक् पादादौ प्रातिलोम्यतः[4] ।
अन्त्यपादादिमश्चाद्यपादादावक्षरत्रयम्[5] ॥ ६७ ॥
चतुश्छदे भवेदष्टच्छदे वर्णद्वयं[6] पुनः ।
स्यात् षोडशच्छदे त्वेकान्तरञ्चेदेकमक्षरम् ॥ ६८ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

क्रमिकत्वादम्बुजमाह—त्रिविधं सरसीरुहमिति। सरसीरुहमम्बुजं पद्मं त्रिविधं भवति। अत्र क्रमेण पद्यत्रयञ्चारुचतुःपत्रमित्यादि। चतुःपत्रमेकं पद्यं, ततो द्विघ्नं द्विगुणं चतुःपत्रमष्टपत्रं, द्वितीयमुभे द्वे अष्टपत्रं द्विगुणं षोडशपत्रं तृतीयं पद्यमिति त्रिविधं सरसीरुहम्।

(ग) अम्बुज (कमलबन्ध)

अर्थ—पद्मबन्ध काव्य तीन प्रकार का होता है—चतुःपत्र, अष्टपत्र और षोड़शदल। इनमें चतुःपत्र कमल में प्रथम पाद का प्रथम अक्षर ही तीनों पादों का प्रथम अक्षर होता है और वही अक्षर चारों पादों अन्त में भी होता है। प्रथम पाद का अन्तिम वर्ण प्रतिलोम होने से द्वितीय पाद का प्रथम वर्ण हो जाता है। इसी प्रकार तृतीय पाद प्रथम वर्ण चतुर्थ पाद का प्रथम अक्षर होगा। इस प्रकार अनुलोम-प्रतिलोम विधि से प्रतिपत्र में तीन-तीन अक्षर होंगे और कर्णिका में एक अक्षर होगा, इस प्रकार चतुःपत्र कमलबन्ध होगा। जैसे—

शि वे दे वि वि दे वेशि शिव देव वदे वशि ।
शि वो मा यि यि मा वो शि शिलपिकोसिसिकोल्पिशि ॥ १४१ ॥

---

१. चतुष्पत्रे उभे अपि—इति पाठान्तरम्।
२. ग – मूर्धन्यस्त्रिपदाक्षरम्, घ—मूर्द्धन्यं त्रिपदाक्षरम्, क—मूर्द्धन्य स्त्रिपदीक्षमम्।
३. प्राक्पदस्यान्तिम—इति पाठान्तरम्। ४. न, ल पदादौ प्रातिलोम्यतः।
५. अनयपादान्तिमन्चान्यपादादावक्षरद्वयम्।
६. वर्णद्वयं—इति पाठान्तरम् न, ल—चतुष्पदे भवेच्छन्द छेदने च त्रयं पुनः।

काव्यप्रभावृत्तिः

क्रमेण तत्र वर्णविन्यासमाह—अथात्र त्रिविधे पद्मे प्रथमे चतुश्छदे पद्मे प्रथम पादस्य मूर्द्धन्यं प्रथमं यदक्षरं तत् त्रयाणां पादानां मूर्द्धन्यमपि जायते। सर्वेषामेव-चतुर्णां पादानामन्ते च तदेवैकमक्षरं रचयेत्। कथमिति चेत्तदाह प्राक् पादस्य पूर्वं पादस्य यदन्तिमं वर्णं तत् प्रातिलोम्यतः प्रत्यक् पादस्यादिमं पश्चात् पादस्यादौ-स्यात् एवमन्यपादस्यादिमं चान्यस्य चतुर्थपादस्यादौ स्यादित्येवं सति। प्रातिलोम्य-तोऽनुष्टभा वर्णं विन्यस्येत् प्रतिदलेऽक्षरद्वयं स्यात्, कर्णिकायामेकं स्यादित्येवं चतुश्छदे पद्मे भवेदिति। अष्टपत्रपद्मेष्येवं विन्यासात् प्रतिदले वर्णद्वयं स्यात्। षोडशपत्रेऽ-प्येवं वर्णविन्यासं एकान्तरमेकाक्षरं प्रतिदले स्यात्। तद्यथा—

शि वे दे वि वि दे वे शि शिव देव वदे वशि।
शिवो मायियिमा वोशिशिल्पकोसिसिकोल्पिशि॥ १४१॥

इति चतुर्दलपद्मे लिखेत्। अष्टदले यथा—

र ज सा सा ज र द्वि भ्यो र क्ष त्य त्य क्ष र प्र धीः।
र म ते ते म र व र र व म या या म र प्र भो॥ १४२॥

इत्यष्टदलपद्मबन्धः।

अथ षोडशदलपद्मबन्धश्लोकः। यथा—

कलौ कर्त्ता कलिः कर्मकरः कस्य कथा कथम्।
कस्मिन् कल्पे कल्प कस्य कम्प कर्तृ कथाकरः॥ १४३॥

अष्टदल कमल में इसी प्रकार वर्ण विन्यास करने से प्रतिदल में दो-दो अक्षर होंगे। कर्णिका में प्रथम अक्षर लिखे अनुलोम-विलोम विधि से प्रति पत्र पद दो-दो अक्षर लिखे। जैसे—

रजसासाजरद्विभ्यो रक्षत्यत्यक्षर प्रधीः।
र म ते ने म र व र र व मयायामर प्रभो॥ १४२॥

इसी प्रकार षोडशदल, कमल में प्रतिदल में एक के बाद एक अक्षर का विन्यास करे। कर्णिका में विषम अक्षर लिखे और सोलह पत्रों पर एक-एक अक्षर लिखे। इस प्रकार षोडशदल कमलबन्ध होगा। जैसे—

कलौ कर्त्ता कलि कर्म करः कस्य कथा कथम्।
कस्मिन् कल्पे कल्प कस्य कम्प कर्तृ कथा करः॥ १४३॥

यह षोडशदल पद्मबन्ध का उदाहरण है।

कर्णिकां तोलयेदूर्ध्वं[1] पत्राकारेऽक्षरावलिम्[2] ।
प्रवेशयेत् कर्णिकायां चतुःपत्रसरोरुहे ॥ ६९ ॥
कर्णिकायां लिखेदेकं[3] द्वे द्वे दिक्षु विदिक्षु च ।
प्रवेशनिर्गमौ दिक्षु कुर्य्यादष्टच्छदेऽम्बुजे ॥ ७० ॥
विश्वं विषमवर्णानां[4] तावत् पादावली[5]जुषाम् ।
पत्रे[6] समाक्षरन्यासः सरोजे षोडशच्छदे ॥ ७१ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

चतुःपत्रसरोरुहे कर्णिकायां प्रथममक्षरं लिखित्वा ततः पत्राकारेऽक्षरावलिमूर्द्ध्वं नयेत्तत् प्रातिलोम्येन कर्णिकायां तामक्षरावलिं पुनः प्रवेशयेदित्येवमनुष्टुभा छन्दसा श्लोकस्य कर्णिकायामेकाक्षरं पत्रेषु चतुर्षु चित्र्यक्षरमिति यथा तदीरितम् ॥६९॥

अथाष्टदलपद्मेऽक्षरावलिं यथा लिखेत्तदाह—एवं पूर्वप्रकारणाष्टदलपद्मे प्रथममक्षरं कर्णिकाया लिखेत्, ततो दिक्षु पूर्व्वदक्षिणपश्चिमोत्तरदिक्स्थदलेषु विदिक्षु च तत् कोणस्थलेषु च द्वे द्वे अक्षरे लिखेत् । तेषां वर्णानां प्रवेशनिर्गमौ कर्णिकातो निर्गमश्चेति प्रवेशश्चेति पूर्वनिपातनेन प्रवेशनिर्गमौ निर्गमप्रवेशौ दिक्षु दलेषु कार्य्या । अथवा कर्णिकातौ दिक्षु दलेषु प्रवेशस्ततो दलान्निर्गमश्च कर्णिकायामिति । दिक्षु दलेषु कार्य्या न तु विदिग्दलेषु कोणस्थदलेषु केवलं कर्णिकातौ निर्गमं कुर्य्यादिति । अष्टदले वर्णविन्यासो दर्श्यते ॥ ७० ॥

अथ षोडशदलपद्मेऽक्षरावलिं यथा लिखेत्तदाह—कर्णिकायामित्यनुवर्त्तते विषमवर्णादीनां प्रथमतृतीयादीनामयुग्मवर्णानां तावत् पादयुषां चतुर्षु पादेषु यावन्तो वर्णास्तेषां विश्वं सर्वं वर्णकर्णिकायां न्यास्यं कुर्य्यात् । यत्र षोडशदले युग्मं षोडशाक्षरं न्यास्यमत उक्तम् एकान्तरञ्चेदेधदैकमक्षरमिति । एष षोडशच्छदपद्मे वर्णविन्यासक्रम उक्तः । तद्यथा पद्मरचनायां दर्श्यते । पूर्वं पद्मं दर्शितम् ॥ ७१ ॥

---

१. क कर्णिकां तौरयेदूर्ध्वं, न, ल कर्णिकातो भयेदूर्ध्वं, भ –कर्णिकान्ते लिखेदूर्ध्वं ।
२. पत्राकाराक्षरावलिम्—इति पाठान्तरम् ।
३. कर्णिकायांलिखेदेकं इति पाठान्तरम् ।
४. विश्वञ्विषमवर्णानां --इति पाठान्तरम् ।
५. पत्रावली उषाम्—इति पाठान्तरम् । ६. मध्ये—इति पाठान्तरम् ।

अथ चक्रबन्धं लक्षयति—

द्विधा चक्रं[1] चतुररं षडरं तत्र चादिमम् ।
पूर्वार्द्धे सदृशा वर्णाः पादप्रथमपञ्चमाः ॥ ७२ ॥

सयुजश्चायुजश्चैव[2] चतुर्थाऽष्टमा अपि[3] ।
तस्योपपादप्रागवाक् प्रत्यक्षु[4] च यथाक्रमम् ॥ ७३ ॥

स्यात् पादार्द्धं चतुष्कन्तुं[5] नाभौ तस्याद्यमक्षरम् ।
पश्चिमारावधि नयेन्नेमौ[6] शेषे पदद्वयम्[7] ॥ ७४ ॥

तृतीयं तुर्य्यपादान्ते[8] प्रथमं सदृशावुभौ ।
वर्णौ[9] पादत्रयस्यापि दशमः सदृशो[10] यदि ॥ ७५ ॥

प्रथमे चरमे तस्य षड्वर्णाः पश्चिमे यदि ।
भवन्ति द्व्यन्तरं तर्हि बृहच्चक्रमुदाहृतम् ॥ ७६ ॥

(ङ) चक्रबन्ध

अर्थ—चक्रबन्ध दो प्रकार का होता है—चतुरर और षडरर। चतुरर नामक चक्रबन्ध में अनुष्टुप् छन्द में रचित श्लोक के पूर्वार्द्ध में पाद का प्रथम एवं पञ्चम अक्षर द्वितीय पाद में भी प्रथम एवं पञ्चम होंगे। इस प्रकार चारों वर्ण एक समान होंगे। इसी प्रकार युग्मपाद सहित अयुग्मपाद अर्थात् द्वितीय-चतुर्थ एवं प्रथम तृतीय पाद के चतुर्थ वर्ण और अष्टम वर्ण चारों पादों में समान होंगे। उनमें पूर्वार्द्ध के दोनों पादों के चार-चार अक्षरों के अन्तिम वर्ण यह प्रति अक्ष (अरा) में लिखे और उस पादार्द्ध के अक्षर चतुष्ट का प्रथम अक्षर नाभि में लिखे। इस प्रकार अन्तिम अरा तक लिखे। उसमें पूर्वार्द्ध का अन्तिम वर्ण उत्तरार्द्ध का प्रथम वर्ण तथा दो-दो वर्णों के व्यवधान से शेष (उत्तरार्द्ध के) दोनों पादों में लिखे। इस प्रकार चतुरर चक्रबन्ध होगा। जैसे—

पाहि हर पाप हर पाप हर पाहि हर ।
रतीश्वर रय हर रमाशर रसाकर ॥ १४४ ।

---

१. अयुजोऽश्वयुजश्चैव —इति पाठान्तर। २. तुर्यावपयष्टमावपि —इति पाठान्तरम्।
३. तस्योपपादप्राक्प्रत्यगरेषु च—इति पाठान्तरम्। ४. 'क' वक्र इति पाठः
५. नयेनैमो—इति पाठान्तरम्। ६. शेषे पदद्वयी ख - पदत्रयी।
७. तृतीयं तुर्यपादान्ते इति पाठान्तरम्। ८. नामौ —इति पाठान्तरम।
९. दशमः इति पाठान्तरम्। १०. सदृशो — इति पाठान्तरम्।

काव्यप्रभावृतिः

अथ क्रमिकत्वात् चक्रबन्धं लक्षयति—चक्रं लोके प्रसिद्धम्। तत्तु काव्यबन्धाद्दुष्करालङ्कारयोग्यं द्विविधमेव चक्रं भवति, नत्वधिकमित्यभिप्रायेणोक्तं द्विधेति। तत्तु द्विविध चतुररं षडरञ्चेति। चतुररं चतुःकीलस्योभयाग्रविद्धनाभिनेमिकं। एवं षडरञ्च। तत्र द्वयोश्चक्रयोरादिमं चतुररम् चक्रम्। तत्रादिमं चतुररं चक्रं तद्भवति यत्र चक्रे काव्यस्य श्लोकस्यानुष्टुभाच्छन्दसा रचितस्य पूर्व्वार्द्धश्लोके पादप्रथमपञ्चमाः, प्रथमपादाद्वितीयपादयोः प्रथमौ च पञ्चमौ चैत्येते चत्वारो वर्णाः सदृशाः कार्य्याः। तथा समुजश्चायुजश्चैव युग्मपादसहितस्यायुग्मपादस्य द्वितीयचतुर्थप्रथमतृतीयपादानां चतुर्धा वर्णा अष्टमाः च वर्णा इत्येते चतुर्षु पादेषु चत्वारश्च वर्णाः सदृशाः कार्य्याः। तस्य पूर्व्वार्द्धस्य पादार्द्धं चतुर्द्धा विभज्य चतुश्चतुरक्षरं पादार्द्धं चतुष्कं यत्तस्य तस्यान्तं यद्वर्णं तत्रस्थ पूर्व्वार्द्धस्योपदकपद प्रागर्वाक् प्रत्यक्षु। उत्तराराग्रनेमौ पूर्वाराग्रनेमौ दक्षिणाराग्रनेमौ पश्चिमाराग्रनेमौ यथाक्रमं लिखेत्। तस्य पादार्द्धचतुष्कस्याद्यमक्षरं नाभावेकं कृत्वा लिखेत्। इत्येवं पश्चिमारावधि। प्रथमारद्वितीयारतृतीयारचतुर्थारा अवि नयेत्। तत्र पूर्व्वार्द्धस्यान्तिमवर्णं प्रथमं वर्णं कृत्वा च पादार्द्धचतुष्कान्तं वर्णचतुष्टयं द्विद्विवर्णव्यवहितं कृत्वा शेषपादद्वयं नेमौ लिखेदिति चतुररचक्रबन्धपद्यं स्यादिति तद्यथा—

पाहि हर पापहर पापं हर पाहि हर।
रतीश्वर रयहर रमाशर रसाकर॥ १४४॥
इति चतुररचक्रवन्धपद्यम्।

षडरर चक्र में शार्दूलविक्रीडित छन्द में रचित श्लोक से तृतीय एवं चतुर्थ पाद के अन्त में प्रथम दो वर्ण समान हों। तृतीय पाद का अन्तिम वर्ण चतुर्थ पाद का प्रथम वर्ण इस प्रकार दोनों समान हों। प्रथम, द्वितीय, तृतीय पाद के दशम वर्ण नाभि में समान होंगे। उपर्युक्त तीनों पादों प्रथम और अन्त के वर्णों को दो-दो वर्णों के व्यवधान से अन्तिम (चतुर्थ) पाद में नेमि में लिखे। इसे वृहच्चक्र भी कहते हैं। जैसे—

शम्भो पाहि भवार्णवेऽनिशमिमं मां सन्निरेतुं विश,
शत्रुन् काममुखानुमेशशशभृल्लेखोत्तमाङ्कादिश।
शर्म्मन् स्वान्तमलापहा वशतमं चित्तं वशायादिश,
शद्भिन्न शमयेश चन्द्रशकलां शद्युत् प्रशस्तादिश॥ १४५॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ षडक्षर वृहच्चक्रमाह। यत्र षडक्षरचक्रे शार्दूलविक्रीडितच्छन्दसा रचितस्य श्लोकस्य तृतीयतुर्य्यपादान्तप्रथमावुभौ वर्णौ सदृशौ। तृतीयपादस्यान्त्यो यो वर्णः स एव चतुर्थपादस्य प्रथमो वर्णः स्यादित्वमुभौ सदृशौ भवतः। प्रथमद्वितीयपादयोराद्यन्तवैषम्ये क्षतिर्नास्ति। पादत्रयस्यापि प्रथमद्वितीयतृतीयपादानां दशमा वर्णा दशमवर्णा यदि नाभौ सदृशा भवन्ति। तस्यैव पादत्रस्य ये प्रथमे त्रयो वर्णाश्चरमे च त्रयो वर्णा इति ते षड्वर्णा द्व्यन्तरं द्विद्विवर्णव्यहितं पश्चिमे पदे नेमौ स्युस्तर्हि वृहच्चक्रं षडरचक्रबन्धपद्यम्। अस्योदाहरणम्—

शम्भो पाहि भवार्णवेऽनिशमिमं मां सन्निरेतु विश
शत्रून् काममुखानुमेशशशभृल्लेखोत्तमाङ्कादिश।
शर्म्मन् स्वान्तमलापहा वशतमं चितं वशायादिश
शद्भिन्न शमयेश चन्द्रशकलां शद्युत् प्रशस्तादिश॥ १४५॥

इदञ्च चक्रबन्धपद्यम्—

कर्म्मात्तस्य पराणुकालजनितं भङ्गं विदुः के जना
नश्यत्येवमनुक्षणस्तु जन एवैषोऽखिलः शङ्कर।
कश्शश्तोऽयमिहास्ति कर्मजफलं नास्तीति वक्तुं दिवि
विद्यार्थं करुणारसार्द्रनयने नालोक्य कल्म्यो भुवि॥ १४६॥

अथ चक्राब्जबन्धलक्षणमाह—षडरचक्रस्य सम्मुखं वर्त्तमानेहरद्वये एकैकं पादं क्रमशः प्रथमपादं द्वितीयपादं तृतीयपादञ्च लिखेत्। श्लोकस्य चतुर्णा पादानामाद्यन्तदशमा वर्णाः समाः कार्य्याः। युजो युग्मस्य पादस्य द्वितीयपादस्य चतुर्थं पादस्य चाद्यन्तिमा वर्णाः समाः कार्य्याः यो वर्णो द्वितीयपादस्यान्तः स एव चतुष्पादस्याद्यन्ते च कार्य्य इत्यर्थः। तेषां त्रयाणां पादानां दशमं वर्णं सममेव नाभौ लिखेत्। तुर्य्यपदं नेमौ पूर्ववन्नयेत्। तद्यथा द्वितीयपादस्यान्तवर्णचतुर्थपादस्याद्यवर्णं कृत्वा प्रथमादिपादत्रयस्याद्यन्त वर्णषट्कं नेमौ यद्विन्यस्तं तत्तु द्विद्विवर्णव्यवहितं कृत्वा लिखेदिति चक्राब्जकं व्याख्यातम्। एतेन चतुररचक्राब्जकमपि चोक्तमित्याह-कश्चित्तन्न। चतुररचक्रमनुष्टभा वक्ष्यते तेनेदृशं न भवतीति। अस्योदाहरणम्—

अथ चक्राब्जकबन्धलक्षणमाह—

सम्मुखारद्वये[1] पादमेकैकं क्रमशो लिखेत् ।
नाभौ तु दशमं वर्णं[2] नेमौ तुर्यपदं नयेत् ॥ ७७ ॥
श्लोकस्याद्यन्तदशमाः समा आद्यन्तिमाः[3] युजः[4] ।

काव्यप्रभावृत्तिः

शम्भो पाहि भवार्णवेऽनिशमिमं दुःशीलकं मां शिव
शत्रोः काममुखादुमेशशभृल्लेखोत्तमाङ्गादिश ।
शर्म्म स्वान्तमलापहन् वशतया चित्तं ममाद्यादिश
शर्वत्वं शमयेश चन्द्रशकलां शद्युत् प्रशस्ता कृश ॥ १४६ ॥

अपरञ्च चक्राब्जकं यथा—

कर्म्माण्यालभते यत्र च कमलाकान्त क्रिया-कारक-
कर्ता पापविमोचनस्य करुणासिन्धो जगत्पालक ।
कल्पान्तवटपत्रशायक कियत् कालञ्च संहारक
कल्पान्ते करुणां करोतु कमलाकण्ठाङ्ग कर्म्मात्मक ॥ १४७ ॥

(च) चक्राब्जबन्ध

अर्थ—षडरर चक्रबन्ध के सन्मुख एक-एक पाद क्रमशः लिखे । श्लोक के चारों पादों में दशम वर्ण समान रखे और द्वितीय एवं चतुर्थ पाद आदि और अन्तिम वर्ण समान रखे अर्थात् द्वितीय पाद का जो अन्तिम वर्ण है वह चतुर्थ पाद का आदि वर्ण हो । प्रथम, द्वितीय, तृतीय इन तीनों पादों का दशम वर्ण समान हों और चतुर्थ पाद में प्रथमादि तीनों पादों आद्यन्त वर्णों को दो-दो वर्णों के व्यवधान से नेमि में लिखे । जैसे—

शम्भो पाहि भवार्णवेऽनिशमिमं दुःशीलकं मां शिव,
शत्रोः काममुखादुमेश शशमुल्लेखोत्तमाङ्गादिश ।
शर्म्मन् स्वान्तमलापहन् वशतया चित्तं ममाद्यादिश
शर्व्वत्वं शमयेश चन्द्रशकलां शद्युत् प्रशस्ता कृश ॥१४६॥

---

१. त्रये—इति पाठभेदः । २. वर्णदशमं—इति पाठभेदः ।
३. आद्यन्तिमौ—इति पाठभेदः । ४. युजोः—इति पाठभेदः ।

अथ दण्डबन्धलक्षणमाह—

आदौ वर्णाः समाः[1] तुर्य्यपञ्चमावाद्यतुर्य्ययोः[2] ॥ ७८ ॥
द्वितीये[3] प्रातिलोम्येन तृतीयो[4] जायते यदि ।
पादो[5] विदध्यात् पत्रस्य दण्डं चक्राब्जकं कृतम्[6] ॥ ७९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ दण्डबन्धलक्षणमाह—पत्रस्य चक्रदण्डं चक्राब्जकाकृतिम् विदध्यात् । तत्र सम्मुखारद्वये पादमेकैकं क्रमशो न्यसेदिति । इह चाय विशेषः आद्यतुर्य्ययोरित्यादि । प्रथमसम्मुखारद्वये पर्य्यायत एव क्रमेणानुलोम्येन वर्णान् विन्यस्य ततो द्वितीये सम्मुखारद्वये प्रातिलोम्येन तृतीयः पादः । तद्यथा—प्रथमः पादः क्रमेण सम्मुखारद्वये विन्यस्य, तत् प्रातिलोम्येन द्वितीयं पादं विन्यस्य, तत् प्रातिलोम्येन-तृतीयं पादं विन्यस्य, नेमौ चतुर्थपादं विदध्यात् । तच्चतुर्थपादस्याद्याक्षरं प्रथमपादस्याद्याक्षरं कृत्वा नेमौ विन्यस्तं त्रयाणां पादानां प्रथमचरमाः षड्वर्णा ये ताश्चतुर्थपादस्य प्रथमाक्षरमारम्य द्व्यन्तरं कृत्वा नेमौ लिखेदिति चक्रदण्डबन्धपद्यं स्यादिति । तद्यथा—

शम्भो पाहि भवार्णवेऽनिशमिमं दुःशीलकं मां विश
शत्रोः काममुखादुमेश शशभृल्लेखोत्तमाङ्गादिश ।
शर्व्वस्वान्तमलापहन् वशतया चित्तं ममाद्यादिश
शर्म्मस्त्वं शमयेश चन्द्रशकलां शद्युत् प्रशस्ता कृश ॥ १४८ ॥

(छ) दण्डबन्ध

अर्थ—प्रथम पाद क्रम से सम्मुख दो अराओं में लिखकर, उसके प्रतिलोम विधि से द्वितीय पाद लिखे और उसी प्रतिलोम क्रम से तृतीय पाद लिखकर नेमि में चतुर्थ पाद लिखे । उनमें चतुर्थ पाद का प्रथम अक्षर प्रथम पाद का प्रथम अक्षर लिखकर विपरीत क्रम से तीनों पादों के प्रथम और अन्तिम वर्णों के चतुर्थ पाद में दो-दो अक्षरों के व्यवधान से नेमि में लिखे । इस प्रकार दण्ड चक्रबन्ध होता है ॥ ७८-७९ ॥ जैसे—

शम्भो पाहि भवार्णवेऽनिशमिमं दुःशीलकं मां विश,
शत्रोः काममुखादुमेशशशभृल्लेखोत्तमाङ्गादिश ।
शर्म्मन् स्वान्तमलापहन् वशतया चित्तं ममाद्यादिश,
शर्व्वस्त्वं शमयेश चन्द्रशकलां शद्युत् प्रशस्ता कृश ॥१४८॥

---

१. वर्णः समौ—इति पाठभेदः ।
२. तुर्यपञ्चमावाद्यतुर्य्ययोः—इति पाठान्तरम् ।
३. द्वितीय—इति पाठान्तरम् ।
४. तृतीयं—इति पाठान्तरम् ।
५. पदं—इति पाठान्तरम् ।
६. दण्डश्चक्राब्जकं कृतेः—इति पाठान्तरम् ।

अथ मुरजबन्धलक्षणमाह—

द्वितीयौ प्राग्दले तुल्यौ सप्तमौ च तथापरौ ।
सदृशावुत्तरदलौ द्वितीयाभ्यामथार्द्धयोः[1] ॥ ८० ॥
तृतीयषष्ठाः[2] सदृशाश्चतुर्थ[3]पञ्चमावपि ।
आद्यन्तपादयोस्तुल्यौ परार्द्धे[4]सप्तमावपि ॥ ८१ ॥
समौ तुर्य्यं पञ्चमन्तु क्रमेण विनियोजयेत् ।
तुर्य्यौ योज्यौ तु तद्वच्च दलान्ताः क्रमपादयोः ॥ ८२ ॥
अर्द्धयोरन्तिमाद्यौ तु मुरजे[5] सदृशावुभौ ।
पादार्द्धपतितो वर्णः प्रातिलोम्यानुलोम्यतः[6] ॥ ८३ ॥
अन्तिमं परिबन्धीयाद्यावत्तुर्य्यमिहादिवत् ।
पादात्तुर्य्यादिवाद्यं[7] नवमात् षोडशावपि[8] ॥ ८४ ॥
अक्षरात् पुटके[9] मध्ये मध्येऽक्षरचतुष्टयम् ।
कृत्वा कुर्य्याद्यथैतस्य मुरजाकारता भवेत् ॥ ८५ ॥

(ज) मुरजबन्ध

अर्थ— मुरज बन्ध में श्लोक के पूर्वार्द्ध में प्रथम एवं द्वितीय पाद के द्वितीय वर्ण समान होते हैं। इसी प्रकार प्रथम और द्वितीय पाद के सप्तम और अष्टम वर्ण समान होते हैं। इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में तृतीय एवं चतुर्थ पाद के द्वितीय वर्ण समान होते हैं। और पूर्वार्द्ध और परार्द्ध दोनों के चारों पादों के तृतीय और षष्ठ वर्ण समान होते हैं इसी प्रकार पूर्वार्द्ध के तथा उत्तरार्द्ध के चारों पादों के चतुर्थ और पञ्चम अक्षर समान होते हैं।

पूर्वार्द्ध में दोनों पादों के सप्तम वर्ण समान होते हैं। इसी प्रकार चतुर्थ और पञ्चम भी समान होने चाहिये। पूर्वार्द्ध के द्वितीय पाद का अन्तिम वर्ण प्रथम पाद का प्रथम वर्ण होना चाहिए। इसी प्रकार चतुर्थ पाद का अन्तिम वर्ण चतुर्थ पाद का प्रथम होना चाहिए ॥ ८०-८५ ॥ जैसे—

मगाधाम मधागाम मगाधाम मधागाम ।
मरधाम मधारम मरधाम मधारम । १४६ ॥

---

१. न, ल—द्वितीयायामथ द्वयोः । २. द्वितीयषष्ठाः—इति पाठभेदः ।
३. सदृशाश्चतुर्थौ पञ्चमावपि—इति पाठभेदः । ४. परार्धे—इति पाठान्तरम् ।
५ तुद्युरजे-इति पाठान्तरम् । ६. लोमतः-इति पा० ।
७. प-पादात्तुर्य्यात्पदे वाक्यं, न, ल-पादात्तुर्य्याधिदेवार्धं ।
८. षोडशादपि—इति पाठान्तरम् । ९. क-अक्षरपुटकौ ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ मुरजबन्धलक्षणमाह —अन्ये बन्धस्त्वनुष्टुभेतिवक्ष्यमाणत्वादनुष्टुब्छन्दसा सम्पाद्यस्यास्य श्लोकस्य प्राग्दले पूर्व्वार्द्धे प्रथमद्वितीययोः पादयोः द्वितीयौ वर्णौ तुल्यौ भवतः। एक एव द्वे अक्षरे भवतः। तथा तयोः प्रथमद्वितीययोः पादयोः सप्तमौ च परौ चाष्टमौ च तुल्यावेकाक्षररूपौ भवतः। द्वितीयसप्तमाष्टमानां भिन्नरूपत्वे क्षतिर्नास्ति। एवमुत्तरदलो तृतीयाभ्यां वर्णाभ्यां सदृशौ भवतः। तयोर्द्वितीयौ वर्णौ द्वौ चैकाक्षररूपौ भवतः। अथार्द्धयोः पूर्व्वार्द्धपरार्द्धयोर्द्धयोस्तृतीयषष्ठाः सदृशाः कार्य्याः। प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थेषु पादेषु तृतीयाः षष्ठाश्च वर्णाः सदृशा एकरूपाः कार्य्या इत्यर्थः, बहुवचनात्। न तु तृतीयतुल्यास्तृतीयाः षष्ठतुल्याः षष्ठाः कार्य्याः चतुर्थीपञ्चमावपीति। द्विवचनात्। पूर्व्वार्द्धे चतुर्थी सदृशौ परार्द्धे च चतुर्थी सदृशौ परस्परं भवतः। पूर्व्वार्द्धे चतुर्थाद्वैषम्ये क्षतिर्नास्ति। एवं पञ्चमावपि। पूर्व्वार्द्धे द्वयोः पादयोर्द्वौ पञ्चमौ परस्परसदृशौ। परार्द्धे च द्वौ पञ्चमौ परस्परसदृशौ पूर्वार्द्धपञ्चमाद्वैषम्येन तु नास्ति हानिः। प्राग्दल सप्तमौ तुल्यावुक्तौ। परार्द्धे सप्तमौ यादृशौ भवतस्तदाह—परार्द्धे सप्तामावपि द्वौ वर्णौ परार्द्धे आद्यन्त पादयोस्तृतीयचतुर्थपादयोस्तुल्यौ भवतः। परार्द्धे तुर्य्यपञ्चमस्तु क्रमेण पादद्वये समौ समानरूपेण। यद्विनियोजयेत् तत्र पादद्वये यौ तुर्य्यौ योज्यौ तौ द्वौ पादद्वयस्य चतुर्थवर्णौ समौ योज्यौ पञ्चमौ तु चतुर्थाभ्यां साम्यासाम्ये क्षतिर्नास्ति। तद्वच्च क्लान्ताऽदलयोर्द्वयोश्चतुर्णां पादानामन्ताश्चत्वारो वर्णास्तद्वत् पूर्व्वार्द्धपादद्वयेऽष्टमौ यौ तत् समौ शेषार्द्धपादयोर्द्वयोरष्टमौ भवतः। क्रमपादयोरर्द्धयोः प्रथमद्वितीयपादरूपे पूर्व्वार्द्धेऽन्तिमाद्यौ द्वौ यौ वर्णौ तृतीयचतुर्थपादरूपेशेषार्द्धे चान्तिमादौ द्वौ यौ वर्णौ तावुभौ द्वौ तुर्य्याभ्यां सदृशौ प्रथमपादद्वितीयपादयोः सदृशौ प्रथमान्तिमाद्यौ द्वौ तृतीयपादतुर्य्यपादयोस्तुर्य्याभ्यां सदृशो शेषान्तिमाद्यौ द्वौ वर्णौ भवतु। पूर्व्वार्द्धेऽन्तिमो वर्णो द्वितीयपादान्तवर्ण आद्यः प्रथमपादस्याद्यो वर्णः शेषार्द्धेऽन्तिमश्चतुर्थपादान्तवर्ण आद्यस्तृतीय पादस्याद्यवर्णो न तु प्रत्येकपादान्तिमाद्यवर्णादिति। एष वर्णविन्यास क्रम उक्तः।

अथ मुरजाकारकरणमाह—पादार्द्धे पूर्व्वार्द्धपरार्द्धयोश्चतुर्णा पादानामर्द्धार्द्धं प्रातिलोम्यानुलोम्यतः पतितो यो यो वर्णस्तस्य तस्य वर्णस्यान्तिमं वर्णं परिचतुर्द्दिक्षु यावत्तुर्य्यचतुर्थपादपर्य्यन्तं बध्नीयात् बन्धनं कुर्य्यात्। प्रथमपादस्य पूर्व्वार्द्धे च शेषार्द्धं च द्वितीयपादस्य पूर्व्वार्द्धे शेषार्द्धे च पादार्द्धं वेष्टयित्वा बन्धन

द्वितीयं चक्रं शार्दूल[1]विक्रीडितकसम्पदम्[2] ।
गोमूत्रिका सर्ववृत्तैरन्ये बन्धास्त्वनुष्टुभा ॥ ८६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

कुर्य्यादित्येवं चत्वारि बन्धनानि पादार्द्धश्लोके । आद्यर्द्धं श्लोकवच्छेषार्द्धं श्लोके च चत्वारि बन्धनानीत्यष्टौ बन्धानि । ततो नवमादिति नवममक्षरमारभ्य षोडशौ द्वौ द्वितीयपादचतुर्थपादौ मध्येऽक्षरचतुष्टयं द्वौ द्वौ पुटकौ मध्ये कृत्वा मध्ये बन्धनं कुर्य्यादीदृशमेव प्रथमपादतृतीयपादौ षोडशावपि वर्णौ चतुष्टयं मध्ये पुटेके द्वौ कृत्वा मध्ये बन्धनं कुर्य्यात् । ततः सर्व्वबन्ध्यमेकबन्धनेन बन्धं कुर्य्यादिति एतस्य मुरजाकारता यथा भवेत्तथा कुर्य्यादिति मुरजाकृतियन्त्राकारकरणमुक्तम् ।

तदुदाहरणं यथा—

मगाधाम मधागाम मगाधाम मधागाम ॥ १४९ ॥
मरधाम मधारम मरधाम मवारम ॥

मगाधामेत्यादि श्लोके प्रथमपादे द्वितीयो वर्णो गा द्वितीयपादेऽपि द्वितीयो वर्णो गा इति तुल्यौ । तथा प्रथमपादे सप्तमो गा द्वितीयपादेऽपि सप्तमो गा । तयोरष्टमैश्च मकारैरिति तुल्यो । तयोत्तरदलौ तृतीयचतुर्थपादौ द्वितीयाभ्यां वर्णाभ्यां सदृशौ रेफद्वयोः पादयोर्द्वितीय इति ताभ्यां सदृशौ द्वौ पादौ । तथार्द्धयोर्द्वयोर्द्वयोस्तृतीया धाः षष्ठाश्च धा इति सदृशाः । एवं द्वयोरर्द्धयोश्चतुर्था माः पञ्चमाश्च मा इति सदृशाः । एवं परार्द्धे आद्यन्तपादयोः तृतीयचतुर्थपादयोः सप्तमौ द्वौ रेफौ ततस्तुल्यौ । तथा तृतीयचतुर्थयोः पादयोस्तुर्य्यो मः पञ्चमश्च म इति तुल्यौ तत्र चतुर्थवर्णस्य मकारस्य तुल्याश्चत्वारः पादान्ता मकारा इति । मुरजबन्धः श्लोकः साधुः । इत्युक्तोऽष्टविधो बन्धः प्राधान्येन ॥८५॥

अथैषां गोमूत्रिकादीनां यद्यल्लक्षणमुक्तं तत्तल्लक्षणलक्षितं येनच्छन्दसा वचनेन काव्यं स्यात्तत्तच्छन्दांस्याह—द्वितीयचक्रं षडक्षरचक्रं तदन्तर्भूतं चक्राब्जं दण्डचक्रञ्च शार्दूलविक्रीडितच्छन्दसा सम्पन्नमुक्तं तत्तल्लक्षणं न लक्षितं भवति न त्वान्यछन्दसा गोमूत्रिका तु सर्वैरेव समैर्वृत्तैश्चतुष्पदीछन्दोभिः सम्पादनेन प्रोक्तलक्षणलक्षितं भवति । अन्ये बन्धा अर्द्धभ्रमणसर्व्वतोभद्रपद्ममुरजबन्धा अनुष्टुभा छन्दसा सम्पादिता । उक्त लक्षणैर्लक्षिता भवन्ति नत्वन्येन छन्दसेति ॥८६॥

---

१. द्वितीयं चक्रशार्दूल–इति पाठान्तरम् । २. क–सम्प्रदः–इति पाठान्तरम् ।

नामधेयं यदि भवेदमीषु कविकाव्ययोः ।
मित्राभिधेयास्तुष्यन्ति[1] नामित्रं[2] खिद्यते तथा ॥ ८७ ॥

अन्ये बन्धाः—

बाण-बाणासन - व्योम-खड्ग[3]- मुद्गर - शक्तयः ।
द्वित्रिचतुष्कशृङ्गाटोदम्भोलीमुषलाङ्कुशाः ॥ ८८ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथैवं बन्धेषु तत्सर्वं विशेषार्थं धर्मान्तरमाह —अमीषु गोमूत्रिकादिबन्धकाव्येषु अवान्तरं यदि कवेः काव्यस्य काव्यार्धस्य चान्यस्य वा नामधेयं भवेत्तदा मित्राभिधेयाः सर्वे जना अधिकं तुष्यन्ति महामोदेन तत्रमित्रं वैरिभावापन्नजनगणास्तुष्यन्ति। परन्तु यथा खिद्यते दुःखितो भवति। एतेनेदं ख्यापितं यदि कवेः शक्तिविशेषो वर्तते तदा काव्यदीनां नामधेयं श्लोकान्तर्गर्भे घटयित्वा काव्यं कविर्विरचयेदिति ॥ ८७ ॥

अथैतावन्त एव किं बन्धाः अथान्येबन्धाः सन्ति न वेत्यत आह —अथ सन्ति चापरे बन्धास्ते यथा बाणबन्धश्च बाणासनं, धनुर्धनुर्बन्धश्च, व्योमबन्धश्च, खड्गबन्धश्च, मुद्गरबन्धश्च, शक्तिबन्धश्च द्विशृङ्गारबन्धश्च, चतुः शृङ्गारबन्धश्च,

---

अर्थ—इसके बाद छन्दः प्रयोग का नियम बताते हुए कहते हैं कि चक्रबन्ध; चक्राब्ज, दण्डचक्र में शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि अन्य छन्द में रचना करने पर बन्धकाव्य नहीं बनेगें। गोमूत्रिका किसी भी छन्द में रचा जा सकता है। किन्तु अर्द्धभ्रमण, सर्वतोभद्र, पद्मबन्ध, मुरजबन्ध अनुष्टुप् छन्द में ही रचे जाने चाहिए ॥ ८६ ॥

अर्थ—इन गोमूत्रिका आदि बन्ध काव्यों में यदि कवि अथवा काव्य का नामधेय हो तो मित्रगण तो अधिक प्रसन्न होंगे और शत्रुगण भी खिन्न नहीं होंगे। ८७ ॥

अब प्रश्न यह है कि ये जितने बन्ध कहे गये हैं उतने ही बन्ध काव्य होंगे या इससे अधिक भी हो सकते हैं ? इस पर कहते हैं कि इसके अतिरिक्त और भी बन्ध होते हैं। जैसा कि आगे वर्णन किया जायगा।

---

१. मित्रधेयाभितुष्यन्ति इति पाठान्तरम्। २. नामित्रः—इति पाठान्तरम्।
३. खड्ग - इति पाठभेदः।

पदं रथस्य नागस्य पुष्करिण्यसिपुत्रिका ।
एते बन्धास्तथा चान्ये[1] एवं ज्ञेयाः स्वयं बुधैः ॥ ८९ ॥

इत्याग्नेये काव्यालङ्कारशास्त्रे शब्दालङ्कारविवेको नाम
सप्तमोऽध्यायः ।

काव्यप्रभावृत्तिः

त्रिशृङ्गारबन्धश्च, दम्भोलिवज्रबन्धश्च, मुषलबन्धश्चाङ्कुशबन्धश्च, रथपदबन्धश्च, पुष्करिणीबन्धश्चासिपुत्रिकाबन्धश्चेत्येते बन्धा अन्येऽपि लोके प्रसिद्धवस्तुरूपेण बन्धा असङ्ख्येया बुधैः स्वयं बुद्धया ज्ञेयाः इति । एषां बन्धानां लक्षणानि प्रसिद्धानि तानि तानि बाणादीनि दृष्ट्वा कल्पतियव्यानि कविभिर्भवन्तीत्यभिप्रायेणाग्निना नोक्तानि ॥ ८८-८९ ॥

इत्याग्नेये काव्यालङ्कारशास्त्रे काव्यप्रभावृत्तौ शब्दालङ्कारविवेचनं नाम
सप्तमोऽध्यायः ।

अर्थ बाणबन्ध, बाणासनबन्ध, व्योमबन्ध, खड्गबन्ध, मुद्गरबन्ध, शक्तिबन्ध, द्विशृङ्गारबन्ध, चतु,शृङ्गारबन्ध, त्रिशृङ्गारबन्ध, दम्भोलिवज्रबन्ध, मुशलबन्ध, अङ्कुशबन्ध, रथपदबन्ध, गजपदबन्ध, पुष्करिणीबन्ध, असिपुत्रिका बन्ध ये बन्ध और अन्य बन्ध भी विद्वानों द्वारा अपनी बुद्धि से कल्पित कर लेना चाहिए । इसीलिए इतने लक्षण अग्निपुराणकार प्रतिपादित नहीं किये हैं ॥ ८८-८९ ॥

इस प्रकार अग्निपुराण का 'शब्दालङ्कारविवेक' नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

---

१. चान्ये–इति पाठभेदः ।

अष्टमोऽध्यायः

अर्थालङ्कार-विवेकः

अग्निरुवाच

सुभगङ्करणोऽर्थानामर्था[1]लङ्कार इष्यते ।
तं[2] विना शब्दसौन्दर्य्यमपि नास्ति मनोहरम्[3] ॥
अर्थालङ्काररहिता[4] विधवेव[5] सरस्वती ॥ १ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

काव्यस्य शोभाकरो यो धर्मः पुनरर्थानां सुभङ्गकरणो भवति सोऽर्थालङ्कार इष्यते, न चैष व्युत्पादितान् शब्दानलङ्कर्त्तुं प्रभवतीति न शब्दालङ्कार इति। ननु शब्दालङ्कारेण किं काव्यं न सुभगभाग् भवतीत्यत आह—तमर्थालङ्कारं विना शब्दालङ्कारेणालङ्कृतस्य काव्यस्य शब्दसौन्दर्य्यं सदपि न मनोहरं भवतीत्यर्थानां सौभाग्ये काव्यं सशब्दालङ्कारं मनोहरं भवतीति शब्दालङ्कारार्थालङ्कारयोर्भेदः। तत्र दृष्टान्तमाह—अथ विधवा पतिभूषणरहिता नारी विविधालङ्कारैरलङ्कृतापि न मनोहरा भवति, तथैव काव्यवाङ्मयी सरस्वती शब्दालङ्कारभूषितापि अर्थालङ्काररहिता न मनोहरा भवति ॥१॥

अर्थ—अग्निदेव ने कहा—अर्थों को अलंकृत करने वाले धर्म को अर्थालङ्कार कहते हैं। उसके विना काव्य शब्द-सौन्दर्य होते हुए भी हृदय-ग्राही नहीं होता। अर्थालङ्कार से रहित सरस्वती विधवा नारी के समान होती है ॥ १ ॥

---

१. 'ख' पुस्तके सुभदाकरणमर्थानामथालङ्कार इष्यते। ग, प पुस्तकयोः— सुभगीकरणोऽर्थानामथालङ्कार इष्यते। घ—षड्वर्गंकरणोत्वानामथालङ्कार दृश्यते, न, ल—षड्वङ्ग करणोऽथानाम्। 'छ'—स्वभंगकरणोच्चानामथालङ्कार इष्यते। मुद्रितपुस्तके अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इति पाठः।

२. 'य' पुस्तके 'यं विना' इति पाठः।

३. क, ख पुस्तकयोः 'मपि नास्ति मनोहरम्' इति नास्ति।

४. क, छ, ज पुस्तकेषु 'अथालङ्काररहिता' इति पाठः।

५. ञ, छ—विधुरेव इति पाठः।

तद्भेदानाह—

स्वरूपमथ सादृश्यमुत्प्रेक्षातिशयावपि ।
विभावनाविशेषश्च विरोधो हेतुरष्टधा[1] ॥ २ ॥

तत्र प्रथमं स्वरूपमाह—

स्वभाव एव भावानां स्वरूपमभिधीयते ॥ ३ ॥
निजमागन्तुकं चेति द्विविधं तदुदाहृतम् ।
सांसिद्धिकं निजं नैमित्तिकमागन्तुकं स्मृतम्[2] ॥ ४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ स्वरूपमाह—भावानां खलु वस्तूनां सर्वेषामेव यः स्वभावो निसर्गः स्वोधर्मस्तत् स्वरूपं नामार्थालङ्कारः । तत्स्वरूपं द्विविधं निजमागन्तुकं च । तत्र निजं सांसिद्धिकं सहजातं स्वं रूपं यद्रूपेण यद् वस्तु जायते तद् रूपमिति । निमित्तकृतं नैमित्तिककमागन्तुकं स्वरूपं यथा वस्त्रादिपरिधाननिमित्तं रूपमिति । तत्राद्यं यथा—

विमर्श—काव्य के शोभाकारक धर्म को अलङ्कार कहा गया है और वह शोभाकारक धर्म यदि अर्थ को अलंकृत करता है तो उसे अर्थालङ्कार कहते हैं । अब प्रश्न यह है कि शब्दालङ्कार से क्या काव्य मनोरम नहीं होता ? कहते हैं कि शब्दालङ्कार से अलंकृत होने पर भी अर्थालङ्कार के विना काव्य मनोहर नहीं होता और अर्थालङ्कार के होने पर ही शब्दालङ्कारसहित काव्य मनोहर होता है । भाव यह कि यदि अर्थ का सौन्दर्य है तभी शब्दालङ्कार काव्य में शोभाजनक होता है यदि अर्थ-सौंदर्य नहीं है तो शब्द-सौंदर्य होने पर भी काव्य मनोहर (हृदयहारी) नहीं होता । जैसे, पतिरूप भूषण से रहित होने पर विधवा नारी अनेक अलङ्कारों से अलंकृत होने पर भी मनोहरा (सौभाग्य युक्त) नहीं होती, उसी प्रकार काव्य-सरस्वती (वाङ्मयी-देवी) भी शब्दालङ्कार से भूषित होने पर भी अर्थालङ्कार से रहित मनोहारिणी नहीं होती । यदि अर्थ सौन्दर्य है तभी शब्द-सौन्दर्य भी काव्य को शोभित करता है ॥ १-७ ॥

अर्थ—अर्थालङ्कार आठ प्रकार का होता है—स्वरूप, सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभावना, विशेष, विरोध और हेतु ॥ २-३ ॥

---

१. 'विरोधश्च हेतुश्च सममष्टधा—इति पाठातन्रम्ः ।
२. तथा—इति पाठान्तरम् । ३. स्याच्च—इति पाठान्तरम् ।

काव्यप्रभावृत्तिः

तुण्डैराताम्रकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलैः ।
त्रिवर्णराजिभिः कण्ठैरेते मञ्जुगिरः शुकाः ॥१५०॥

इति सांसद्धिकं स्वरूपमर्थसुभगं करोति । नैमित्तिकं यथा --

कलक्वणितगर्भेण कण्ठेनाघूर्णितेक्षणः ।
पारावतः परिभ्रम्य रिरंसुश्चुम्बति प्रियाम् ॥१४९॥

इह कामनिमित्तं कलक्वणितादिकं स्वरूपमर्थसुभगं करोति ॥४॥

१—स्वरूप का लक्षण

अर्थ—भाव अर्थात् वस्तुओं के स्वभाव का वर्णन 'स्वरूप' कहलाता है । उसके दो भेद होते है—निज और आगन्तुक । उनमें स्वाभाविक वर्णन को 'निज' और नैमित्तिक वर्णन को 'आगन्तुक' कहते हैं ।। ३-४ ।।

विमर्श—स्वरूप अलङ्कार का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जहाँ पर वस्तुओं के नैसर्गिक स्वभाव का वर्णन होता है उसे 'स्वरूप' अलङ्कार कहते हैं । भाव यह कि वस्तु के स्वभाव के वर्णन में कवि-प्रतिभा-जन्य चमत्कार होता है, इसीलिए उसे अलङ्कार कहते हैं । इसके दो भेद होते हैं निज और आगन्तुक । स्वाभाविक वर्णन को 'निज' कहते हैं अर्थात् जो वस्तु जिस रूप में है उसका उसी रूप में वर्णन करना 'निज' नामक स्वरूपालङ्कार है । जैसे—

तुण्डैराताम्रकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलैः ।
त्रिवर्णराजिभिः कण्ठैरेते मञ्जुगिरः शुका ॥ १५० ॥

तुण्डमुख चोंच लाल एवं कुटिल है, पंख हरे एवं कोमल है और गले में नील लाल एवं धूसर वर्ण की रेखाएँ हैं, ऐसे तोते मञ्जुभाषी होते है । यहाँ पर शुक के स्वाभाविक स्वरुप का वर्णन है इसलिए इसे 'निज' अलङ्कार कहते हैं ।

जहाँ पर किसी निमित्त से वस्तु के स्वभाव का वर्णन होता है उसे 'आगन्तुक' स्वरूपालङ्कार कहते हैं । जैसे --

कलक्वणितगर्भेण कण्ठेनाघूर्णितेक्षणः ।
पारावत परिभ्रम्य रिरंसुश्चुम्बति प्रियाम् ॥ १५१ ॥

मधुर ध्वनि युक्त कण्ठ एवं तिरछी आंखों से रमणाभिलाषी कपोत पीछे से आकर अपनी प्रिया का चुम्बन करता है । यहाँ पर कलक्वणितादि स्वरूप कामनिमित्तक होने से 'आगन्तुक' स्वभावालङ्कार है ।

अथ सादृश्यालङ्कारानाहुः—

सादृश्यं धर्मसामान्यमुपमारूपकं तथा ।
सहोक्त्यर्थान्तरन्यासाविति स्याच्चतुर्विधम्[1] ॥ ५ ॥

तत्रोपमामाह—

उपमा नाम सा यत्तु स्यादुपमानोपमेययोः[2] ।
सद्भावान्तर[3]सामान्ययोगित्वेऽपि विवक्षितम् ॥ ६ ॥
किञ्चिदादाय सारूप्यं लोकयात्रा प्रवर्तते ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ सादृश्यमाह—काव्यस्य धर्मसामान्यमर्थस्य सुभगङ्करणं सादृश्यं नामार्थालङ्कारो भवति । तत्सादृश्यञ्चोपमादिभेदेन चतुर्विधमिति ॥५॥

२—सादृश्य अलङ्कार

अर्थ—जहाँ पर सामान्य (साधारण) धर्म की समानता पायी जाय उसे 'सादृश्य' अलङ्कार कहते हैं । सादृश्य अलङ्कार चार प्रकार का होता है – उपमा, रूपक, सहोक्ति और अर्थान्तरन्यास ॥ ५ ॥

(१) उपमा अलङ्कार

अर्थ—जहाँ पर उपमान और उपमेय में अन्तर होते हुए भी सदृशता (समानता) बतायी जाती है और उस सदृशता के आधार पर ही लोक-व्यवहार का प्रवर्त्तन होता है, उसे 'उपमा' नामक सादृश्यालङ्कार कहते हैं ॥ ६-७ ।

विमर्श उपमा अलङ्कार में दो वस्तुओं अर्थात् उपमान और उपमेय में सदृशता बताई जाती है । इसी सादृश्य के आधार पर उसमें चमत्कार पाया जाता है । भाव यह कि उपमा में दो वस्तुओं (उपमान-उपमेय) के सादृश्य के आधार पर चमत्कार होता है । इस प्रकार इसमें चमत्कार-सादृश्य पर आधारित है । उपमा अलङ्कार के चार अङ्ग होते हैं - उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और उपमा वाचक शब्द । सादृश्य का प्रतियोगी उपमान और अनुयोगी उपमेय है । दोनों में रहने वाला धर्म साधारण धर्म है तथा इव, यथा आदि उपमान वाचक शब्द है । ६-७ ॥

---

१ चतुर्विधः—इति पाठान्तरम् ।

२. यस्यामुपमानौपमेययौः—इति पाठभेदः ।

३. 'क'—स तु चोत्तरमासाद्य, घ' सम्मुखान्तरसामान्य, मुद्रितपुस्तके सत्ता चान्तर—इति पाठभेदाः ।

समासेनासमासेन सा द्विधा प्रतियोगिनः ॥ ७ ॥
विग्रहानभिधानस्य[1] स समासान्यथोत्तरा ।
उपमाद्योतकपदेनोपमेयपदेन च ॥ ८ ॥
ताभ्याञ्चाविग्रहात् त्रेधा ससमासान्तिमा त्रिधा[2] ।
विशेष्यमाणा[3] उपमा भवन्त्यष्टादश स्फुटाः[4] ॥ ९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

तत्रोपमामाह—उपमानोपमेययोः सद्भावान्तरसामान्ययोगित्वे सत्यपि कविना विविक्षितं यदेव किञ्चित् सारूप्यं समानं रूपमादाय लोकयात्रा प्रवर्त्तते सा उपमा नाम सादृश्यमर्थालङ्कारः काव्यार्थस्य सुभङ्गकरणात् । सा पुनर्द्विधा-समासेनासमासेन भवति । तत्र प्रतियोगिन उपमानोपमेयान्यतरस्य विग्रहानभि-धानस्य विग्रहेण समासवाक्येन नाभिधानं यस्य तस्य सा तूपमा स्यात् स समासा समासयुक्ता । उपमा उपमानस्य ह्रस्वीकरणेन संक्षेपकरणात् स्यादतोऽन्यथा प्रति-योगिन उपमानस्याभिधानं यत्र विग्रहवाक्येन सा उत्तरा असमासयुक्ता उपमा भवति । यथा—

उपमा के भेद

अर्थ—उपमा के दो भेद होते है समासयुता और असमासयुता । जहाँ पर उपमान और उपमेय में विग्रह न होकर वाक्य संश्लिष्ट होता है उसे समासगता उपमा कहते हैं और जहाँ पर उपमान का कथन विग्रह वाक्य के द्वारा होता है, उसे असमासगता उपमा कहते हैं । उपमान द्योतक पद के साथ विग्रह न होने से प्रथम, उपमेय पद के साथ अविग्रह होने से द्वितीय और दोनों के साथ अर्थात् उपमावाच पद एवं उपमेयक के साथ अविग्रह होने के तृतीय भेद होता है । इसी प्रकार असमासगा उपमा के भी तीन भेद होते हैं—उपमा वाचकपद (सादृश्य) पद के साथ विग्रह होने से प्रथम, उपमेय के साथ विग्रह होने से द्वितीय और दोनों अर्थात् उपमावाचकपद एवं उपमेय के साथ विग्रह होने से तृतीय भेद होता है । इस प्रकार धर्म्मादि विशेषणों के द्वारा उपमा के अठारह भेद होते हैं । ७-९ ॥

---

१. विग्रहादभिधानस्य—इति पाठभेद ।
२. ससमासान्तिमात् त्रिधा इति पाठभेदः ।
३. विशिष्यमाणा इति पाठभेदः ।
४. ख पुस्तके 'भवन्त्यष्टादश स्फुटाः' इति नास्ति ।

काव्यप्रभावृत्तिः

कान्ते यो हि तवाननं शशिसमं प्राहाल्पबुद्धिः स वै,
विद्यन्ते बहवो विधोर्मलिनता ह्रासादिदोषा गुणाः।
त्वद्वक्त्रं विमलं दिवानिशि समं पूर्णं सदा नावृतं,
मेघेनासमनिर्मितं मधुवचः पुंसां मनोहारकम् ॥१५०॥

इह कान्ताया मानेन शशिनो गुणादिसद्भावान्तरयोगवत्त्वेऽपि विविक्षितं यत् किञ्चिदाह्लादजनकत्वादिकमादाय लोके यात्रा भवति सेयमुपमा ससमासा। शशिन उपमानस्याभिधानं शशिसममिति विगृह्य कथनादुपमेयतो लघूकरणात् ससमासा ससंक्षेपा भवति। अन्यथा तूत्तरा उपमानस्यालघूकरणादसमासयुक्ता उपमा सा चोदाहार्य्या ॥७॥

उपमाद्योतकपदेनेत्युपमार्थसमादिपदेन यदुपमीयते सा तूपमा। उपमेयपदेन चेति यदुपमीयते तदुपमेयं तदर्थकपदेन। ताभ्यामुपमाद्योतकपदोपमेयपदाभ्यां प्रतियोगिनोऽभिधानमविग्रहात् समासात् ससमासोपमा त्रिधा भवति। उपमानपदस्य सादृश्यार्थपदेनाविग्रहादेका, द्वितीया तूपमेयपदेनाऽविग्रहात्, तृतीया द्वाभ्यामुपमार्थोपमेयपदाभ्यामविग्रहात् समासात्। एवमन्तिमाचासमासयुक्तोपमा त्रिधा—उपमापदेन विग्रहादेका, उपमेयपदेन विग्रहाद्द्वितीया, ताभ्यां विग्रहात्तृतीया भवतीति। क्रमेणोदाह्रियन्ते—उपमानस्योपमावाचकपदेन यथा—

कान्ते यो हि तवाननं शशिसमं प्राहाल्पबुद्धिः स वै,
विद्यन्ते बहवो विधोर्मलिनता ह्रासादिदोषाः गुणाः
त्वद्वक्त्रं विमलं दिवानिशि समं पूर्णं सदा नावृतं
मेघेनासमनिर्मितं मधुवचः पुंसां मनोहारकम् ॥१५३॥

इह शशिन उपमानस्य शशिसममिति सादृश्येनाविग्रहात् समासोपमा।

विमर्श—उपमा वाचक शब्द और उपमेय में विग्रह न होने से समासोपमा के तीन भेद होते हैं—जहाँ पर उपमान का सादृश्यार्थ के साथ अविग्रह होती है उसे प्रथम, उपमान का उपमेय के साथ अविग्रह होने से द्वितीय और उपमान का सादृश्य-वाचक पद तथा उपमेय दोनों के साथ अविग्रह होने से तृतीय भेद होता है। इसी प्रकार असमासोपमा के भी तीन भेद होते हैं—उपमान का उपमा वाचक शब्द के साथ विग्रह होने से प्रथम, उपमान का उपमेय के साथ विग्रह होने से द्वितीय और उपमान का उपमा वाचक और उपमेय दोनों साथ विग्रह होने से तृतीय भेद होता है। जिनका क्रम से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

काव्यप्रभावृत्तिः

उपमानस्योपमेयपदेन यथा—

चकितहरिणलोललोचनायाः
क्रुधिततरुणारुणावहारिकान्ति ।
सरसिजमिदमाननञ्च तस्याः
सममिति चेतसि सम्पदं विधत्ते ॥

इहोपमानयोस्तु हरिणलोलतरुणारुणपदयोः प्रतियोगिनोर्लोचनकान्तिपदाभ्यामुपमेयाभ्यां समासादुपमाभिधानमतो द्वितीया ससमासा उपमा। अथ द्वाभ्यां समासात् यथा -

(क) उपमा का सादृश्य के साथ

कान्ते यो हि तवाननं शशिसमं प्राहाल्पबुद्धिः स वै ।
विद्यन्ते बहवो विधोर्मलिनता ह्रासादि दोषाः गुणाः ॥
त्वद्वक्त्रं विमलं दिवा निशिसमं पूर्णं सदा नावृतं ।
मेघेनासमनिर्मितं मधुवचः पुंसां मनोहारकम् ॥ १५३ ॥

हे कान्ते ! जो तुम्हारे मुख को चन्द्रमा के समान बताते हैं वे अल्पबुद्धि (मूर्ख) हैं, क्योंकि चन्द्रमा में मलिनता, कलङ्क, क्षीणता आदि बहुत से दोष विद्यमान हैं, किन्तु आपका मुख तो विमल (निर्मल) है, दिन में भी पूर्ण है, और कभी भी मेघ से आवृत नहीं होता और मधुर वाणी पुरुषों के मन को मोहित करने वाली है। यहाँ पर कान्ता के मुख पर चन्द्रमा के गुणों का सादृश्य योग विवक्षित हैं क्योंकि आह्लादकता के द्वारा ही लोक में व्यवहार होता है। उपमान चन्द्रमा का कथन 'चन्द्रसमम्' इस प्रकार विग्रह करके कान्तामुख उपमेय से चन्द्र उपमान न्यून बताया गया है। अतः यह समासगत उपमान उपमावाचक शब्द के साथ विग्रह होने से समासगता उपमा का प्रथम उदाहरण है।

(ख) उपमान का उपमेय के साथ

चकितहरिणलोललोचनायाः क्रुधिततणारुणवहारिकान्ति ।
सरसिजभिदमाननं च तस्याः सममिति चेतसि सम्पदं विधत्ते ॥१५४।

चकित हरिण के समान चञ्चल नेत्र वाली उस नायिका का क्रुद्ध होने से अत्यन्त रक्त सुन्दर कान्ति-युक्त मुख कमल के समान है, यहाँ पर उपमान हरिण-लोल और तरुणारुण पद का उपमेय लोचन और कान्ति के साथ समास होने से द्वितीय समासगता उपमा का उदाहरण है।

काव्यप्रभावृत्तिः

अस्याः स्थिरा चन्द्रसमानकान्तिर्दिवानिशं तुल्यमहो विभान्ती ।
यूनामयूनां नयने पतन्ती आरेव चेतांसि विदारयन्ति ॥१५५॥

इह चन्द्रसमानकान्तिरिति उपमाद्योतकसमानपदोपमेयकान्तिपदाभ्यां समासात् ससमासा उपमा भवति । असमासेन यथा—

अम्भोरुहमिवाताम्रं मुग्धे करतलं तव ।
राजीवमिव ते वक्त्रं नेत्रे नीलोत्पले इव ॥१५६॥

इहोपमार्थोपमेयपदाभ्यां प्रतियोगिनो विग्रहादसमासादसमासः नामोपमा । उपमार्थेव उपमानस्य प्रतियोगिन उपमेयेन सह विग्रहे भवत्यसमासोपमा प्रतियोगिन उपमानस्य चोपमेयप्रयोगे उपमार्थप्रयोगो यत्र तत्रासमासोपमा च यथा—

अग्निर्माणवकोऽयञ्च यूनीयञ्चाग्निरेतयोः ।
शीती कुर्य्यान्माणवको मनो यूनीचिरं दहेत् ॥१५७॥

इहाग्निपदमग्निरिवेत्यर्थे उपमेयेन सह विग्रहादसमासादसमासोपमा ।

(ग) उपमावाचकपद और उपमेय के साथ

अस्याः स्थिरा चन्द्रसमानकान्तिर्दिवानिशं तुल्यमहो विभान्ती ।
यूनामयूनां नयने पतन्ती आरेव चेतांसि विदारयन्ति ॥ १५५ ॥

इस नायिका की चन्द्रमा के समान कान्ति (शोभा) रातों-दिन समान रूप से सुशोभित है । उसकी कान्ति नेत्रों में पड़ने से आरा के समान युवक, वृद्ध सबके हृदय को विदीर्ण कर देती है ।

यहाँ पर उपमान चन्द्र का उपमा वाचक 'समान' तथा 'उपमेय' 'क्रान्ति' पदों के साथ समास होने से समासगा उपमा के तृतीय भेद का उदाहरण है । इसके बाद अब असमासगा उपमा के तीनों भेदों का उदाहरण देते है—

अम्भोसहभिवाताग्रं मुग्धे करतलं तव ।
राजीवमिव ते वक्त्रं नेत्रे नीलोत्पले इव ॥१५६ ॥

'हे मुग्धे ! तुम्हारी हथेली रक्त कमल के समान रक्त है, मुख लाल कमल के समान है और नेत्र नीलकमल के समान है ।'

यहाँ पर उपमान कमल का उपमेय करतल, वचन (मुख) और नेत्र के साथ विग्रह-वाक्य होने से (समास न होने से) असमासगा उपमा के प्रथम भेद का उदाहरण है ।

काव्यप्रभावृत्तिः

तथा च—

लक्ष्मीरिव सदा गेहे यस्य भाति शिवेव वा ।
उपभुक्ते सुखं वै स सुकृतिदुःखवर्जितः ॥१५८॥

इहोपमेयाप्रयोगे उपमाद्योतकशब्देनासमासादसमासोपमा भवतीति ।

विशेष्यमाणा उपमा भवन्त्यष्टादशस्फुटा इति । धर्म्मविशेषादिभिर्विशेष्यन्ते या उपमास्ता अष्टादशस्फुटा भवन्ति । धर्म्मप्रधाना धर्म्मोपमा च, वस्तुप्रधाना धर्म्मोपमा च, परस्परोपमा च, विपरीतोपमा च, नियमोपमा च, समुच्चयोपमा च, व्यतिरेकोपमा च, बहूपमा च, मालोपमा च, विक्रियोपमा च, अद्भुतोपमा च, मोहोपमा च, संशयोपमा च, निश्चयोपमा च, वाक्यार्थोपमा च, आत्मोपमा च, अन्योपमा च, गगनोपमा चेति ॥९॥

अग्निर्नाणवकोऽप्रश्च यूनीयश्चाग्निरेतयो ।
शीतीकुर्यान्माणवको मनो यूनीं चिरं दहेत् ॥ १५७ ॥

यह बालक अग्नि के समान है और यह युवती अग्निरेत के समान है, किन्तु यह बालक शीतलता प्रदान करता है और युवती हृदय से जलाती है। यहाँ पर अग्नि पद अग्नि के समान है, इस अर्थ में उपमेय के साथ विग्रह होने से असमास उपमा का द्वितीय भेद है।

लक्ष्मीरिव सदा गेहे यस्य भाति शिवेव वा ।
उपभुक्ते सुखं वै स सुकृतिदुःखवर्जितः ॥ १५८ ॥

जिसके घर में स्त्री लक्ष्मी के समान अथवा शिवा (पार्वती) के समान सुशोभित रहती है। वह दुःखरहित होकर सदा सुख का भोग करता है। यहाँ पर उपमेय पद का प्रयोग न होने पर भी उपमा वाचक शब्द के साथ विग्रह होने से असमास उपमा का उदाहरण है।

इस प्रकार उपमा के चार तत्त्व है—उपमान, उपमेय, वाचक शब्द और साधारण धर्म। इनमें उपमा वाचक शब्द 'इव' 'यथा' आदि हैं। उपमान और उपमेय के सामान्य धर्म को साधारण धर्म कहते है।

धर्मादि विशेषताओं के कारण उपमा के अठारह भेद होते है—धर्म्मप्रधान-धर्मोपमा, वस्तुप्रधान-धर्मोपमा, परस्परोपमा, विपरीतोपमा, नियमोपमा, समुच्चयोपमा, व्यतिरेकोपमा, बहूपमा, मालोपमा, विक्रियोपमा, अद्भुतोपमा, मोहोपमा, संशयोपमा, निश्चयोपमा, वाक्यार्थोपमा, अन्योपमा और गगनोपमा। आगे इनका क्रम से विवेचन करते हैं ॥ ९ ॥

अथ धर्मोपमामाह—

यत्र साधारणो धर्मः कथ्यते गम्यते[1]ऽपि वा ।
ते[2] धर्म्मवस्तुप्राधान्याद् धर्मवस्तूपमे उभे ॥ १० ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

यत्रोपमानोपमेययोरुपमायां साधारणो धर्मः शब्देन कथ्यते अथवा वाक्यार्थेन गम्यते व्यज्यते सा धर्म्मोपमा द्विधा - धर्म्मप्राधान्यादेका वस्तुप्राधान्याद् द्वितीया चेति । धर्म्मयोरुपमे उभे धर्म्मप्रधाना धर्म्मोपमा वस्तुप्रधाना धर्म्मोपमा चेति द्वे भवतः । तद्यथा—

धनस्यानन्यसामान्यसौजन्योत्कर्षिणः सतः ।
वचः सत्यं करणीयं चेतस्तस्यामृतं यथा ॥१५९॥

इह सतो जनस्य सत्यं करणीयं, यतस्तस्य यच्चेतस्तदमृतमिवेति सज्जनत्व-धर्म्मप्राधान्यात् तद् वचसोऽमृतत्वाभावस्तत्र हेतुः चेतसोऽमृतरूपेणोपमा धर्म्म-प्रधानोपमा । वचसोऽमृतस्य च साधारणो धर्म्मो हि तत्त्वं गम्यते । अथ वस्तुप्रधाना धर्म्मोपमा । यथा—

अम्भोरुहमिवाताम्रं मुग्धे करतलं तव ।
राजीवमिव ते वक्त्रं नेत्रे नीलोत्पले इव ॥१६०॥

इह पूर्व्वार्द्धे आताम्रमिति पदेन साधारणधर्म्मकथनं शेषार्द्धे वाक्यार्थेन साधारणो धर्म्मो गम्यते । राजीववक्त्रयोर्नेत्रनीलोत्पलयोरत्राम्भोरुहादिवस्तु-प्राधान्यात्तत्तदाताम्रादिधर्म्मोपमा इति द्वे धर्म्मोपमे ॥१०॥

धर्मोपमा

अर्थ—जहाँ पर साधारण धर्म का शब्द के द्वारा कथन किया जाता है अथवा वाक्यार्थ के द्वारा गम्य होता है उसे 'धर्म्मोपमा' कहते हैं । धर्म्मोपमा के दो भेद होते है—धर्मप्रधान धर्म्मोपमा और वस्तुप्रधान धर्म्मोपमा ॥ १० ॥

(१) धर्म्मप्रधान धर्म्मोपमा

धनस्यानन्यसामान्यसौजन्योत्कर्षिणः सतः ।
वचः सत्यं करणीयं चेतस्तस्यामृतं यथा ॥ १५९ ॥

यहाँ पर यह बताया गया है कि सज्जन का सत्य वचन पालन करना चाहिए, क्योंकि सज्जन का हृदय अमृत के समान होता है । यहाँ पर सज्जनत्व धर्म की प्रधानता के कारण उनकी वाणी में अमृतत्व का अभाव है, यहाँ पर चित्त का अमृतत्व रूप सादृश्य धर्म होने से धर्म्मप्रधानोपमा है ।

---

१. 'क' पुस्तके 'गम्यते' इति नास्ति ।
२. 'ख' पुस्तके ते धर्मवस्तुप्राधान्यादित्यारम्य नियमोपमेति यावत् श्लोकत्रयं नास्ति ।

अथ परस्परोपमामाह—

तुल्यमेवोपमीयेते यत्रान्योन्येन धर्मिणौ[1] ।
परस्परोपमा[2] सा स्यात्... ... ...॥ ११ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ परस्परोपमां लक्षयति—यत्रोपमायां धर्म्मिणौ द्वावन्योन्येन परस्परेण तुल्यमेवोपमीयेते । येनैकेन धर्म्मिणा परधर्म्मिणाप्युपमीयते इत्यतः सा परस्परोपमा स्यात् । यथा—

तवाननमिवाम्भोजमम्भोजमिव ते मुखम् ।
नित्यं धावति मे चित्तमिवालिरलिवन्मनः ॥ १६० ॥

---

(२) वस्तुप्रधान धर्म्मोपमा

अम्भोरुहमिवाताम्रं मुग्धे करतलं तव ।
राजीवमिव ते वक्त्रं नेत्रे नीलोत्पले इव ॥ १६० ॥

हे मुग्धे ! तुम्हारा करतल कमल के समान लाल है, मुख लाल कमल के समान है और नेत्र नील कमल के समान है । यहाँ पर पूर्वार्द्ध में 'आताम्र' इस पद से साधारण धर्म का कथन है । अतः यहाँ पर धर्मोपमा पूर्णोपमा है । उत्तरार्द्ध में साधारण धर्म गम्य है । यहाँ राजीव और मुख का कथन नेत्र और नीलोत्पल का अम्भोरुहादि (कमल आदि , वस्तुप्रधान होने के कारण वस्तुप्रधान धर्म्मोपमा है ॥ १० ॥

(३) परस्परोमा

अर्थ—जहाँ पर दो धर्म्मी परस्पर समान हो और एक धर्म्मी के साथ दूसरे धर्म्मी सादृश्य बतलाया जाय, उसे परस्परोपमा कहते हैं ॥ ११ ॥

जैसे— तवाननमिवाम्भोजमम्भोजमिव ते मुखम् ।
नित्यं धावति मे चित्तमिवालिरलिवन्मनः ॥ १६१ ॥

तुम्हारा मुख कमल के समान है और कमल तुम्हारे मुख के समान है । उससे यह प्रतीत होता है कि कमल और मुख के समान तीसरा पदार्थ नहीं है । अतः यहाँ परस्परोपमा अलंकार है ॥११॥

---

१. 'म' धर्मिणा इति पाठान्तरम्ः ।
२. न, ल—परस्परोपसामान्यात् प्रसिद्धे वान्यथा तयोः इति पाठान्तरम्ः ।

अथ विपरीतोपमामाह—

… … … … …प्रसिद्धेरन्यथा तयोः[1] ।

विपरीतोपमा सा… … … … … ॥

अथ नियमोपमामाह—

… … … … …अन्यस्माद्व्यावृत्तेर्नियमोपमा[2] ।

अन्यत्राप्यनुवृत्तेश्च[3] भवेच्च नियमोपमा ॥ १२ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ विपरीतोपमां लक्षयति—प्रसिद्धेरन्यथा तयोः विपरीतोपमा स्यादिति। तयोर्धर्म्मिणोर्यत्रोपमायां लोके उपमानस्य प्रसिद्धस्य प्रसिद्धेरन्यथोच्यते सा विपरीतोपमा स्यात्। यथा—

तवाननमिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिदम्।
प्रियस्य दशनैर्दशाकाङ्क्षीव भ्रमरस्य तत् ॥ १६१ ॥

प्रसिद्धं लोके पद्मेनोपमीयते मुखादि, इह मुखेनोपमितं पद्ममिति विपरीतोपमा।

अथ नियमोपमां लक्षयति—अन्यस्माद्व्यावृत्तेरेका नियमोपमा अन्यत्रानुवृत्तेश्चापरा च नियमोपमा भवेत्। नियमो द्विविधः स्वान्यावृत्तिकत्वं, धर्म्मस्य स्वान्योभयवृत्तिकत्वमिति। तत्र स्वान्यावृत्तिकत्वं नियमो यथा—

---

(४) विपरीतोपमा

अर्थ—जहाँ पर दोनों धर्म्मियों के प्रसिद्ध उपमान के विपरीत सादृश्य बतलाया जाय, उसे 'विपरीतोपमा' कहते हैं। जैसे—

तवाननमिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिदम् ।
प्रियस्य दशनैर्दशाकांक्षीव भ्रमरस्य तत् ॥ १६१ ॥

हे प्रिये! तुम्हारे मुख के समान यह कमल खिल गया है। लोक में प्रसिद्ध उपमान कमल है किन्तु यहाँ पर उसकी सदृशता मुख से बताई गयी है अतः अप्रसिद्ध मुख उपमान है इसलिए यहाँ विपरीतोपमा है।

---

१. विपरीतोपमा सा स्याद्व्यावृत्तेर्नियमोपमा—इति पाठः। न, ल पुस्तकयोः विपरीतोपमा न स्याद्विच्छित्तिर्नियमोपमा इति पाठान्तरम्।

२. अन्यत्राप्यनुवृत्तेस्तु—इति पाठान्तरम्।

३. भवेदनियमोपमा वा भवेदनियमोपमा—इति पाठान्तरम्।

काव्यप्रभावृत्तिः

स्तनौ बिल्वफलसमौ स्थूलौ सुकठिनौ तव।
न तालफलतुल्यौ च न पद्मकोरकोपमौ ॥ १६२ ॥

अत्र तालफलपद्मकोरकादितो व्यावृत्तित उपमा।

अपरश्चोदाहरणं यथा—

त्वन्मुखं कमलेनैव तुल्यं नान्येन केनचित्।
कमलेनैव तुल्यौ च यौवनोद्भिन्नसुस्तनौ ॥ १६३ ॥

अन्यत्रानुवृत्तिर्यथा—

पद्मं नाभिर्मुखं पद्मे करौ पादौ स्तनौ प्रिये।
नेत्रे नीलोत्पले कस्माद्विकसन्ति कथं समम् ॥ १६४ ॥

इह पद्मसादृश्यं यथा नाभौ तथान्यत्रापि मुखादिषु इति ॥ १२ ॥

---

(५) नियमोपमा

अर्थ—जहाँ पर एक से उपमान बतलाकर दूसरे का निषेध कर दिया जाय उसे 'नियमोपमा' कहते हैं। यह नियमोपमा दो प्रकार की होती है—स्वान्यावृत्तिकत्व और स्वान्यवृत्तिकत्व। प्रथम का उदाहरण—

स्तनौ बिल्वफलसमौ स्थूलौ सुकठिनौ तव।
न तालफलतुल्यौ न च पद्मकोरकोपमौ ॥ १६२ ॥

यहाँ पर तालफल और कमलकोरक आदि से व्यावृत्ति बताई गयी है। अतः यह नियमोपमा है।

नियमोपमा का दूसरा उदाहरण—

त्वन्मुखं कमलेनैव तुल्यं नान्येन केनचित्।
कमलेनैव तुल्यौ च यौवनोद्भिन्नसुस्तनौ ॥ १६३ ॥

हे प्रिये! तुम्हारा मुख कमल के समान है अन्य किसी के समान नहीं, और यौवन से उभरे हुए दोनों स्तन कमल के समान हैं। यहाँ पर नियमोपमा है। द्वितीय का उदाहरण—

पद्मं नाभिर्मुखं पद्मे करौ पादौ स्तनौ प्रिये।
नेत्रे नीलोत्पले कस्माद्विकसन्ति कथं समम् ॥ १६४ ॥

यहाँ पर यह बताया गया है कि जिस प्रकार कमल के समान नाभि है उसी प्रकार मुख, हाथ, पैर, स्तन और नेत्र भी कमल के समान हैं। इस प्रकार अपने से अन्यत्र भी रहने से द्वितीय प्रकार का 'नियमोपमा' अलंकार है।

समुच्चयोपमां लक्षयति—

समुच्चयोपमातोऽन्यधर्म्मबाहुल्यकीर्त्तनात् ।

अथ व्यतिरेकोपमामाह—

बहोर्धर्म्मस्य साम्येऽपि वैलक्षण्यं विवक्षितम्[1] ॥ १३ ॥
यदुच्यतेऽतिरिक्तत्वं व्यतिरेकोपमा[2] तु सा ।

काव्यप्रभावृत्तिः

समुच्चयोपमां लक्षयति—यत्रैकस्योपमानस्यैकधर्म्मेणोपमां कृत्वा पुनरन्येन तद्वस्तुनो धर्मेण सदृश्यबाहुल्यकीर्त्तनं करोति तस्मात् सा समुच्चयोपमा भवति । यथा—

प्रभाकरकरोत्फुल्लोन्मुखाम्भोजसमौ स्तनौ ।
कठिनौ मानसाह्लादकरौ यूनां सुखोदयौ ॥ १६५ ॥

इह प्रफुल्लोन्मुखपद्मपुष्पाकृति सादृश्यं कृत्वा पुष्पस्य काठिन्येन मानसाह्लाद-जनकत्वसुखोदयधर्म्माभ्यां सादृश्यकीर्त्तनात् समुच्चयोपमा ।

अथ व्यतिरेकोपमां लक्षयति—बहोर्धर्म्मस्य खल्वेकोयमानगतस्यानेकोप-मानगतस्य वा साम्येऽपि सति ततो वैलक्षण्यं पृथग्भावं भेदं विवक्षितं कविना । यदतिरिक्तत्वमुमेयस्योच्यते सा व्यतिरेकोपमा भवति । यथा—

कान्ते प्रह्लादकारित्वशैत्यभासुरतादिभिः ।
तवाहुश्चन्द्रवद्वक्त्रं नाहं वच्मीन्दुह्रासतः ॥ १६६ ॥

---

(६) समुच्चयोपमा

अर्थ—जहाँ पर एक उपमान के अनेक धर्म बताये जाँय, उसे 'समुच्चयोपमा' कहते हैं ॥ १३ ॥ जैसे—

प्रभाकरकरोत्फुल्लोन्मुखाम्भोजसमौ स्तनौ ।
कठिनौ मानसाह्लादकरौ यूनां सुखोदयौ ॥ १६५ ॥

यहाँ पर सूर्य की किरणों से खिले हुए कमल पुष्प से मुख की सदृशता बतलाकर पुनः कमल पुष्प की कठोरता से मन के आह्लादजनकत्व तथा सुखजनकत्व धर्म से सादृश्य बतलाने के कारण समुच्चयोपमा है ।

---

१. न, ल पुस्तकयोः प्रकीर्त्तितम्, मुद्रितपुस्तके—विवक्षता—इति पाठान्तरम् ।
२. क, ख, घ पुस्तकेषु 'व्यतिरेकोपमेति सा' इति पाठः ।

अथ बहूपमामाह—

यत्रोपमा स्याद्बहुभिः सदृशैः सा बहूपमा ॥ १४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

इह चन्द्रगतबहुधर्म्मसाम्येऽपि ततो वैलक्षण्यं वक्ति चन्द्रस्य ह्रासत इत्यतिरक्तत्वकथनाद् व्यतिरेकोपमा ।

अथ बहूपमां लक्षयति—यत्रोपमा बहुभिः सदृशैर्वस्तुभिः क्रियते सा बहूपमा स्यात् । यथा—

चन्दनोदकचन्द्रांशु चन्द्रकान्तादिभिः समा ।
स्पर्शनत्वं सुमुग्धाक्षि वीणाकोकिलभाषिणि ॥ १६७ ॥

इह चन्दनोदकादिभिर्बहुभिर्वस्तुभिरुपमास्पर्शेन कृता । ततो बहूपमा ॥१४॥

---

(७) व्यतिरेकोपमा

अर्थ—जहाँ पर उपसमानगत अनेक धर्मों की समानता होने पर भी विलक्षणता (भेद) विवक्षित हो और उपमेय का आधिक्य बताया जाय, उसे 'व्यतिरेकोपमा' कहते हैं ॥ १३ ॥ जैसे—

कान्ते प्रह्लादकारित्वशैत्यभासुरतादिभिः ।
तवाहुश्चन्द्रवद्वक्त्रं नाहं वाच्मीन्दुह्रासतः ॥ १६६ ॥

हे कान्ते ! आह्लादकत्व, शैत्य, भासुरता आदि के कारण तुम्हारे मुख को चन्द्रसादृश्य बतलाया गया है उसे मैं नहीं मानता, क्योंकि चन्द्रमा का तो ह्रास होता है और तुम्हारा मुख एक सा रहता है । यहाँ पर कान्ता का मुख चन्द्रगत अनेक धर्मों की सदृशता होने पर भी उससे विलक्षणता बताने के लिए चन्द्र के ह्रासत्व का कथन किया गया है अतः यहाँ पर 'व्यतिरेकोपमा' है ।

(८) बहूपमा

अर्थ—जहाँ पर उपमेय की अनेक समान वस्तुओं से सदृशता बताई जाती है, उसे 'बहूपमा' कहते हैं ॥ १४ ॥ जैसे—

चन्दनोदकचन्द्रांशु चन्द्रकान्तादिशीतलः ।
स्पर्शेन त्वं सुमुग्धाक्षि वीणाकोकिलभाषिणि ॥ १६७ ॥

हे मुग्धाक्षि ! चन्दन-जल, चन्द्र-किरण, चन्द्रकान्तमणि आदि वस्तुओं की तरह तुम्हारा स्पर्श शीतल है । यहाँ पर चन्दन-जलादि अनेक वस्तुओं से सादृश्य बतलाया गया है । अतः यहाँ 'बहूपमा' है ।

अथ मालोपमामाह—

धर्म्माः प्रत्युपमानं चेदन्ये मालोपमैव सा ।

अथ विक्रियोपमामाह—

उपमानविकारेण तुलना विक्रियोपमा ॥ १५ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ मालोपमां लक्षयति – यत्रोपमायां प्रत्येकमुपमानं चेदन्ये भिन्ना धर्म्माभवन्ति सा मालोपमा स्यात् । यथा—

कुचौ न च सन्निभौ विषमवर्तुलौ कोमलौ,
शुभौ कठिनवर्तुलौ रुचिरबिल्वतुल्यावुभौ ।
सुदाडिमफलाकृति न च विदीर्य धर्मो स्वयं,
विदारयति ईक्षितो हृदयमन्वहं कामिनाम् ॥ १६८ ॥

इह प्रत्युपमाने विभिन्नधर्नाः तेन मालोपमा ।

अथ विक्रियोपमां लक्षयति—उपमानस्य विकारेण यत्र तुलना क्रियते सा विक्रियोपमा भवति । यथा—

पक्वविम्बफलाभासावोष्ठौ ताम्बूलवर्जितौ ।
सुधापूर्णौ विलम्बफलरसं जानीमहे नहि ॥ १६९ ॥

अत्र पक्वतो विम्बफलस्योपमानस्य विकारः । तेनोपमा कृतेति विक्रियोपमा ॥ १५ ॥

---

(९) मालोपमा

अर्थ—जहाँ पर एक उपमेय के अनेक उपमानों का कथन होता है उसे 'मालोपमा' कहते हैं ॥१५॥ जैसे—

पूष्ण्यातप इवाह्नीव पूषा व्योम्नीव वासर. ।
विक्रमस्त्वय्यधाल्लक्ष्मीमिति मालोपमा मता ॥ १६८ ॥

हे राजन् ! जिस प्रकार प्रभात ने सूर्य को लक्ष्मी दी है, सूर्य ने दिन को और दिन ने आकाश को लक्ष्मी दी है उसी प्रकार पराक्रम ने आपको लक्ष्मी दी है । यहाँ पर अनेक उपमानों का कथन होने से 'मालोपमा' है ।

विमर्श—बहूपमा और मालोपमा में अन्तर यह है कि बहूपमा में केवल उपमान बाहुल्य का कथन होता है जबकि मालोपमा में पूर्व वाक्य का उत्तरवाक्य में अन्वय तथा तत्पश्चात् उपमानबाहुल्य का कथन होता है । कुछ आचार्य दोनों को ही 'मालोपमा' कहते हैं ॥१५॥

अथ अद्भुतोपमां लक्षयति—

त्रैकाल्यासम्भवि[1] किमप्यारोप्य प्रतियोगिनि ।
कविनोपमीयते यत्[2] प्रथते साद्भुतोपमा ॥ १६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ अद्भुतोपमां लक्षयति—यत्रोपमायां प्रतियोगिनि उपमेये त्रैकाल्यासम्भवि भूते भवति भविष्यति यत्र सम्भाव्यते त्रैकाल्यासम्भवि किमपि धर्ममारोप्य यत् कविनोपमीयते सा खल्वद्भुतोपमा प्रथते । यथा—

राकाचन्द्रमसौ विधिः प्रतिदिनं कान्तां कलासुन्दर-
न्नेकेकां तव वक्त्रं चार्वंवयवानसंघाट्य वै निर्ममौ ।
स्थैर्य्येणेति कुहो कला न च विधोः वक्त्रे सदा ते स्थिरा,
कस्मादेव पुनः कलाः शशिनि ता आयन्ति चन्द्रानने ॥ १७० ॥

इह त्रैकाल्यासम्भवि कामिन्या मुखस्य कान्तामुखस्य कलोदाहरणमिति अद्भुतोपमा भवति ॥ १६ ॥

---

(१०) विक्रियोपमा

अर्थ—जहाँ पर उपमान के विकार (विकृति) से सदृशता बताई जाता है, उसे 'विक्रियोपमा' कहते हैं ॥१५॥ जैसे—

पक्वबिम्बफलाभासावोष्ठौ ताम्बूलवर्जितौ ।
सुधापूर्णौ बिम्बफलरसं जानीमहे नहि ॥ १६९ ॥

हे प्रिये ! पके हुए बिम्बाफल के समान तुम्हारे ओठ ताम्बूल से रहित अमृतमय हैं । यहाँ पर 'पक्वता' उपमानभूत बिम्बाफल का विकार है, अतः 'विक्रियोपमा' है ।

(११) अद्भुतोपमा

अर्थ—जहाँ पर उपमेय में त्रिकाल में असम्भव किसी धर्म का आरोप करके सादृश्य बतलाया जाता है, उसे 'अद्भुतोपमा' कहते हैं ॥१६॥ जैसे—

यदि किञ्चिद्भवेत् पद्मं सुभ्रु विभ्रान्तलोचनम् ।
तत्ते मुखश्रियं धत्तां कदाचिदिति मे मतम् ॥ १७० ॥

हे सुभ्रु ! यदि कमल चञ्चलनयन हो जाय तो कदाचित् वह तुम्हारे मुख की शोभा को प्राप्त करे । यहाँ पर 'अद्भुतोपमा' है ।

---

१. 'क' पुस्तके त्रैलोक्यासम्भवे, मुद्रितपुस्तके त्रैलोक्यासम्भवि—इति पाठान्तरम् ।
२. या—इति पाठभेदः ।

अथ मोहोपमां लक्षयति—

प्रतियोगिनमारोप्य[1] तदभेदेन कीर्त्तनम् ।
उपमेयस्य सा मोहोपमाऽसौ भ्रान्तिमद्वचः[2] ॥ १७ ॥

अथ संशयोपमां लक्षयति—

उभयोर्धर्म्मिणोस्तथ्यानिश्चयात् संशयोपमा ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ मोहोपमां लक्षयति--प्रतियोगिनमुपमानमारोप्य तदुपमानस्याभेदेन यदुपमेयस्य कीर्त्तनं सा मोहोपमा नाम । असौ मोहोपमा भ्रान्तिमद्वच एवेति । यथा—

पूर्णं चन्द्रानने पूर्णचन्द्रबुद्ध्या तवाननम् ।
चकोराः परिधावन्ति युवानः कामरूपिणः ॥ १७१ ॥

इह कामिन्या मुखं चन्द्रमुपमानमारोप्य तदभेदेन मुखस्योपमेयस्य कीर्त्तनान्मोह इव ततो मोहोपमा ॥ १७ ॥

अथ संशयोपमां लक्षयति—उभयोर्धर्म्मिणोरुपमानोपमेययोस्तथ्यस्य सत्यत्वस्य निश्चयाभावात् संशयोपमा भवति । यथा—

कर्णिकामग्नभृङ्गं किं चञ्चलेन्दीवरद्वयम् ।
किमीक्षणद्वयं लोलं तव वक्त्रं सरोवरे ॥ १७२ ॥

इह नीलोत्पलनयनयोर्धर्म्मिणोस्तथ्यस्य तदेकतरस्य निश्चयकरणाभावात् संशयोपमा भवति ।

---

(१२) मोहोपमा

अर्थ—जहाँ पर सादृश्यता के कारण उपमेय में भ्रान्ति से उपमान का आरोप करके दोनों में अभेद कथन हो उसे 'मोहोपमा' कहते हैं । मोहोपमा में भ्रान्त-वचन होता है । इसे अन्य आचार्य 'भ्रातिमान्' अलंकार कहते हैं ॥१७॥ जैसे—

पूर्णचन्द्रानने पूर्णचन्द्रबुद्ध्या तवाननम् ।
चकोराः परिधावन्ति युवानः कामरूपिणः ॥ १७१ ॥

हे चन्द्रमुखि ! चकोर और युवक तुम्हारे मुख को पूर्णचन्द्रमा समझकर भाग रहे हैं—यहाँ पर मुख में चन्द्रमा की भ्रान्ति होने से 'मोहोपमा' अलंकार है ।

---

१. प्रतियोगिनमारोप्य—इति पाठभेदः । २. भ्रान्तिसद्वचः इति पाठान्तरम् ।

अथ निश्चयोपमामाह—

उपमेयस्य संशय्य निश्चयान्निश्चयोपमा ॥ १८ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ निश्चयोपमां लक्षयति—उपमेयस्य धर्म्मं संशय्य निश्चयान्निश्चय-करणादुपमा निश्चयोपमा स्यात् । यथा—

पद्ममेव विधुग्लानं फुल्लं कान्तोदये निशि ।
वितनोति तनोर्लक्ष्मीं लीनभृङ्गं युगं मुखम् ॥ १७३ ॥

अत्रोपमेयं नार्या मुखं पद्ममुपमानं तत्र संशेते । पद्मतुल्यरूपलावण्यादित इदं किं पद्मं न वा । पद्मञ्चेत्तदा विधुग्लानं भवति । विधुना ग्लायति ततो न पद्मं तर्हि किमिति संशये निश्चिनोति । यतः कान्तस्योदये फुल्लं भवति तनोर्लक्ष्मीं वितनोति तस्मान्न पद्मं किन्तु लीनभृङ्गयुगं मुखमिति निश्चीयते । अत्र संशयसमो-हेतुर्हेत्वाभासो नाशङ्क्यः नहि यः सशयहेतुः स संशयच्छेदहेतुः । संशयहेतुस्तु पद्मतुल्यरूपादिधर्म्मो विधुना ग्लानिश्च । संशयच्छेदहेतुस्तु कान्तोदये प्रफुल्लता तनु-लक्ष्मीविस्तारकरणमिति ॥ १८ ॥

---

(१३) संशयोपमा

अर्थ—जहाँ पर उपमेय और उपमान दोनों से सत्य का निश्चय (निर्णय) न हो, उसे 'संशयोपमा' कहते हैं । अर्थात जहाँ पर सादृश्य के कारण उपमेम में उपमान का सन्देह हो और उसका निश्चय न हो, वहाँ 'संशयोपमा' होती है । कुछ विद्वान् इसे सन्देह अलङ्कार कहते हैं ॥१८॥ जैसे—

कार्णिकामग्नभृङ्गं किं चञ्चलेन्दीवरद्वयम् ।
किंमीक्षणद्वयं लोलं तव वक्त्रसरोवरे ॥ १७२ ॥

हे प्रिये ! क्या सरोवर में कर्णिका में मग्न भौरें से युक्त दो नील कमल हिल रहे हैं अथवा तुम्हारे मुख-सरोवर में दोनों नेत्र चञ्चल हो रहे हैं । यहाँ पर सत्य का निश्चय न होने से 'संशयोपमा' है ।

(१४) निश्चयोपमा

अर्थ—जहाँ पर उपपेय में उत्पन्न सशय (सन्देह) का निश्चय हो जाय, उसे 'निश्चयोपमा कहते हैं ॥१८॥ जैसे—

पद्ममेव विधुम्लानं फुल्ल कान्तोदये निशि ।
वितनोति तनोलक्ष्मीं लीनभृङ्गं युगं मुखम् ॥ १७३ ॥

अथ वाक्यार्थोपमां लक्षयति—

वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थोपमा स्यादुपमानतः[1] ।

अथात्मोपमामाह—

स्वात्मनोपमात्मोपमा साधारणातिशायिनी[2] ॥ १९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ वाक्यार्थोपमां लक्षयति--वाक्यार्थेन याऽन्यस्योपमा स्यात् सा वाक्यार्थोपमा मता। यथा—

नैकस्मिन् काले भृङ्गद्वयं पिबति माक्षिकम्।
खञ्जरीटद्वयं न्यूनं नृत्यतीऽस्मिताननें ॥ १७४ ॥

इह वाक्यार्थेन पद्मोपमाऽन्यस्य कामिनीमुखस्योपमा भवति तत एषा वाक्यार्थोपमा।

अथात्मोपमां लक्षयति—स्वस्येव निजस्येवात्मनो या तूपमा क्रियते साधारणतोऽतिशयत्वेन सा भवत्यात्मोपमा। यथा—

यहाँ पर नायिका मुख उपमेय है और कमल उपमान है। कमल के समान होने से संशय है कि यह क्या कमल है? यदि कमल होता तो रात्रि में चन्द्रमा की कान्ति से मलिन हो जाता, किन्तु यह मलिन नहीं हो रहा है वल्कि कान्त के उदय होने से प्रफुल्लित है और शरीर में शोभा उत्पन्न करता है। अतः यह कमल नहीं है, किन्तु दो भ्रमरों से लीन मुख है, यह निश्चय होता है। अतः 'निश्चयोपमा' है ॥१८॥

(१५) वाक्यार्थोपमा

अर्थ—जहाँ पर वाक्यार्थ के द्वारा दूसरे (उपमेय) का सादृश्य बतलाया जाय, उसे 'वाक्यार्थोपमा' कहते हैं ॥१९॥ जैसे—

नैकस्मिन् काले भृङ्गद्वयं पिबति माक्षिकम्।
खञ्जरीटद्वयं न्यूनं नृत्यतोऽस्मिताननें ॥ १७४ ॥

यहाँ पर वाक्यार्थ के द्वारा पद्मोपमा कामिनी के मुख की उपमा है अतः यहाँ वाक्यार्थोपमा है।

---

१. न्यस्योपमा मता—इति पाठभेदः।

२. आत्मनोपमानादुपमा साधारण्यतिशायिनी—अथवा आत्मावोवमानादुपमा साधारण्यतिशायिनी इति पाठभेदः।

अथ अन्योपमां लक्षयति—

उपमेयं यदन्यस्य तदन्यस्योपमा मता ।

काव्यप्रभावृत्तिः

रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ।
वलिवासवयोर्युद्धं वलिवासवयोरिव ॥ १७५ ॥

इहान्यसाधारणयुद्धादतिशयत्वेन रामरावणयोर्वलिवासवयोर्युद्धमिति ख्यापयत्यात्मोपमया ॥ १९ ॥

अथान्योपमां लक्षयति—यद्येकस्योपमानस्योपमेयमन्यस्योपमानस्योपमेयं भवति तदन्यस्योपमा मता । यथा—

दिवाकरकरोत्फुल्लमिव पद्मं मुखं तव ।
प्रौढस्तनयुगञ्चेदं बालतालफलाकृति ॥ १७६ ॥

इह पद्मस्योपमानस्योपमेयं मुखं स्तनयुगञ्च । तत्र स्तनयुगमन्यस्य बालतालफलस्योपमानस्योपमेयं भवतीति अन्योपमा भवति ।

---

(१६) आत्मोपमा

अर्थ—जहाँ पर एक वस्तु अपना ही उपमान और उपमेय दोनों हो उसे 'आत्मोपमा' कहते हैं । अन्य आचार्य इसे 'अनन्वय अलंकार' कहते हैं ॥२०॥ जैसे—

रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ।
वलिवासवयोर्युद्धं वलिवासवयोरिव ॥ १७५ ॥

राम और रावण का युद्ध राम और रावण के समान है और वलि तथा वासव (इन्द्र) का युद्ध वलि-वासव के युद्ध के समान हैं । यहाँ पर राम-रावण और वलि-वासव दोनों ही उपमान और उपमेय दोनों हैं । अतः यहाँ 'आत्मोपमा है ।

(१७) अन्योपमा

अर्थ—जहाँ पर एक उपमान दूसरे उपमान का उपमेय होता है, उसे 'अन्योपमा' कहते हैं ॥२०॥ जैसे—

दिवाकरकरोत्फुलमिव पद्मं मुखं तव ।
प्रौढ़स्तनयुगञ्चेदं बालतालफलाकृति ॥ १७६ ॥

यहाँ पर उपमान कमल का उपमेय मुख और स्तनद्वय हैं और वही स्तनद्वय बालतालफल (उपमान) का भी उपमेय है । अतः यहाँ 'अन्योपमा' है ।

अथ गगनोपमामाह

यद्युत्तरोत्तरं याति तदाऽसौ गगनोपमा[1] ॥ २० ॥

अथान्याः पञ्चविधा उपमा आह—

प्रशंसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा ।
किञ्चिच्च सदृशी ज्ञेया उपमा पञ्चधा पुनः ॥ २१ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ गगनोपमां लक्षयति- या तूपमा यद्युत्तरोत्तरं याति तदासावुपमा गगनोपमा भवति । यथा—

भूधरा इव मत्तेभा मत्तेभा इव सूनवः ।
सुता इव भटास्तस्य परमोन्नतविग्रहाः ॥ १७७ ॥

इहोपमा तूत्तरोत्तरं याताऽतो गगनोपमा भवति इत्यष्टादशस्फुटा उपमा उक्ता भवन्ति ॥ २० ॥

---

(१८) गगनोपमा

अर्थ—जहाँ पर उपमेय उत्तरोत्तर उपमान होता जाय, उसे 'गगनोपमा' कहते हैं । कुछ विद्वान् इसे 'रसनोपमा' कहते हैं । जैसे—

भूधरा इव मत्तेभा मत्तेभा इव सूनवः ।
सुता इव भटास्तस्य परमोन्नतविग्रहाः ॥ १७७ ॥

यहाँ पर पूर्व वर्णित उपमेय उत्तरोत्तर उपमान रूप में परिवर्त्तित होता चला गया है अतः यहाँ पर 'गगनोपमा है । कुछ आचार्य इसे रशनोपमा भी कहते हैं ॥०२॥

इस प्रकार उपमा के अठारह भेदों का विवेचन किया गया है । इसके बाद उपमा के पाँच अन्य भेदों का निरूपण करते हैं ।

अर्थ—पुनः उपमा के पांच अन्य भेद भी होते हैं --प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सादृशी और किंचित् सदृशी ॥ २१ ॥

(क) प्रशंसोपमा

मृणालाङ्कुरमत्तुं यत् सरो हंसास्त्यजन्ति न ।
तत्राब्जकुसुमायार्थी गत्वा न स्यात् प्रवञ्चितः ॥ १७८ ॥

यहाँ पर सरोवर की प्रशंसा के द्वारा याचक सरोवर की उपमा दाता से करता है, अतः यहाँ 'प्रशंसोपमा' अलङ्कार है ।

---

१. झ, ध, भ पुस्तकेषु गगनोपमा—'ञ' पवनोपमा— इति वा पाठभेदाः ।

काव्यप्रभावृतिः

अथान्ये पञ्चविधा उपमा आह—पुनश्चोपमाः प्रशंसादिभेदेन स्फुटास्फुटाः पञ्चधा भवति। तत्र प्रशंसोपमाह—अन्यस्य प्रशंसया यदुपमीयते सा प्रशंसोपमा भवति। यथा—

मृणालाङ्कुरमत्तुं यत् सरो हंसास्त्यजन्ति न।
तत्राब्जकुसुमायार्थी गत्वा न स्यात् प्रवञ्चितः॥ १७८॥

अत्र सरोवरप्रशंसया अर्थी सरोवरोपमां दातरि करोतीति प्रशंसोपमा। एवमन्यस्य निन्दया यदुपमीयते सा निन्दोपमा स्यात्। यथा—

पद्मं बहुरजश्चन्द्रः क्षयवृद्धी दिने दिने।
ताभ्यां समं तव मुखं न तत् तत्त्वविदो विदुः॥ १७९॥

अत्र पद्मचन्द्रयोः बहुरजस्त्वक्षयवृद्धिभिर्निन्दया मुखोपमा कृतेति निन्दोपमा ज्ञेया बुधैरिति।

अथ कल्पितामाह—कविना या तूपमा प्रकल्प्योपमीयते सा कल्पितोपमा भवति। यथा—

वाणी हृदि सद्मनीव स्थिता कुलवतीव च।
लज्जया मानिनी बहिर्न निःसरति सम्प्रति॥ १८०॥

अत्र कविना हृदयं गृहं कल्पयित्वा वाणी कुलवतीं नारीं कल्पयित्वोपमीयते अतोऽत्र कल्पितोपमा भवति।

(ख) निन्दोपमा

पद्मं बहुरजश्चन्द्रः क्षयवृद्धी दिने दिने।
ताभ्यां समं तव मुखं न तत् तत्त्वविदो विदुः॥ १७९॥

यहाँ पर कमलमें धूलि (पराग) से धूसरित होना और चन्द्रमा में क्षय तथा वृद्धि होना बताया गया है, इन्हीं दोनों से मुख की सदृशता बताई गई है, अतः यहाँ 'निन्दोपमा' अलङ्कार है।

(ग) कल्पितोपमा

वाणी हृदि सद्मनीव स्थिता कुलवतीव च।
लज्जया मानिनी बहिर्न निःसरति सम्प्रति॥ १८०॥

यहाँ पर कवि ने हृदय को घर की कल्पना करके और वाणी की कुलवती नारी की कल्पना करके सादृश्य बतलाया है, अतः यहाँ पर 'कल्पितोपमा' अलङ्कार है।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ सदृशी नामोपमा—उपमानस्य सर्व्वधर्म्मतो यत् सादृश्यं सा सदृशी नामोपमा भवति। यथा—

पद्मात्मिके तवाम्भोजसमस्तनयुगं मुखम्।
करद्वयं पादयुगं नेत्रयुग्मं मनोहरम्॥ १८१॥

इह उपमेयस्य सर्वस्य पद्मसादृश्यं सदृशी नामोपमा।

अथ किञ्चित्सदृशी नामोपमा सा यत्रोपमानस्य किञ्चित्सादृश्येनोपमा क्रियते। यथा—

कान्त्या चन्द्रसमं धाम्ना सूर्य्यं धैर्य्येण वारिधिम्।
राजन्ननुकरोसि त्वं जवेन मनसा ध्रुवम्॥१८१॥

अत्रोपमा लुप्तेति लुप्तोपमा परैरभिधीयते किञ्चिदंशेन सादृश्यात् किञ्चित् सदृशीति नामोपमा ज्ञेया।

इति त्रयोविंशतिविधोपमानिर्देशेनातोऽधिकोपमानामार्थालङ्कारो भवतीति ख्यापितम्, तस्मादनृषिभिः स्वबुद्धिरचिता आचिख्यादय उपमाः कल्पितोपमा—यामन्तर्भूता ज्ञेया इति। इत्युपमाख्यः सादृश्यालङ्कारः॥ २१॥

(घ) सदृशी उपमा

पद्मात्मिके तवाम्भोजसमं स्तनयुगं मुखम्।
करद्वयं पादयुगं नेत्रयुग्मं मनोहरम्॥ १८१॥

यहाँ पर समस्त उपमेय का कमल से सादृश्य बतलाया गया है। अतः यहाँ पर 'सदृशी उपमा' है।

(ङ) किञ्चित्सदृशी उपमा

कान्त्या चन्द्रसमं धाम्ना सूर्य्यं धैर्येण वारिधिम्।
राजन्ननुकरोषि त्वं जवेन मनसा ध्रुवम्॥ १८२॥

यहाँ पर उपमान के कुछ अंशों से सादृश्य बतलाया गया है अतः यहाँ किञ्चित् सदृशी नामक उपमा है। कुछ लोग इसे लुप्तोपमा कहते हैं।

इस प्रकार तेइस प्रकार के उपमा-भेदों का निर्देश किया गया है। इनके अतिरिक्त स्वबुद्धि कल्पित जो आचिख्यासा आदि उपमा अलङ्कार के भेद कहे गये हैं वे 'कल्पिता' नामक उपमा अलङ्कार में अन्तर्भूत हो जाते हैं। अतः उनका अलग से विवेचन नहीं किया गया है। इस प्रकार उपमा नामक सादृश्यालङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ।

अथ रूपकं लक्षयति—

उपमानेन यत्तु[1]ल्यमुपमेयस्य रूप्यते ।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ॥ २२ ॥
उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमेव वा ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ रूपकं नाम सादृश्यालङ्कारमाह—उपमानेन खलूपमेयस्य गुणानां बहूनां समतां दृष्ट्वा कविना यत्तुल्यमुपमानस्य प्रायेण सममुपमेयं रूप्यते तद् रूपकं नाम सादृश्यमर्थालङ्कारमुच्यते । यथा—

ताम्राङ्गुलिदलश्रेणि नखदीधितिकेसरम् ।
ध्रियते मूर्ध्नि भूपालैर्भवच्चरणपङ्कजम् ॥ १८२ ॥

इति रूपकं नाम सादृश्यालङ्कारः ॥ २२ ॥

रूपकस्य लक्षणान्तरमेतत् । तिरोभूतो भेदो यत्र सा तिरोभूतभेदा भेदरहित-उपमैव रूपकमिति वा लक्षणमिति उदाहृतं प्रागेव, रूपकं नाम सादृश्यमित्युक्तम् ।

---

(२) रूपक अलङ्कार

अर्थ—जहाँ पर गुणों की समता देखकर उपमान के साथ उपमेय का निरूपण किया जाता है, उसे 'रूपक' अलङ्कार कहते हैं । अथवा जहाँ पर उपमान और उपमेय में अतिशय सादृश्य बताने के लिए दोनो में काल्पनिक अभेद बतलाया जाय, उसे रूपक अलंकार कहते हैं ॥ २२-२३ ॥

विमर्श—रूपक सादृश्यालङ्कार है । जहां पर उपमान और उपमेय दोनों पृथक् पृथक् तत्त्व हैं किन्तु जब दोनों में अत्यन्त सादृश्यता के कारण काल्पनिक अभेद बताया जाता है तब वहाँ रूपक अलङ्कार होता है । जैसे –

ताम्राङ्गुलिदलश्रेणि नखदीधितकेसरम् ।
ध्रियते मूर्ध्नि भूपालैर्भवच्चरणपङ्कजम् ॥ १८३ ॥

लाल लाल अङ्गुलियाँ पत्रावली है, नख की कान्ति केसर है, ऐसे आप के चरण कमल की राजा लोग अपने शिर पर धारण करते हैं । यहाँ पर अङ्गुलियों में पत्रावली, नखकान्ति में केसर और चरण में कमल का रूपण (आरोप) किया गया है, अतः यहाँ पर 'रूपक' नामक अलङ्कार है ॥ २२-२३ ॥

---

१. यत्तत्वं—इति पाठभेदः ।

अथ सहोक्तिं लक्षयति—

सहोक्तिः सहभावेन कथनं तुल्यधर्मिणाम् ॥ २३ ॥

अर्थान्तरन्यासं लक्षयति—

भवेदर्थान्तरन्यासः सादृश्येनोत्तरेण सः ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ सहोक्तिं लक्षयति—तुल्यधर्म्मिणां सहभावेन साहित्येन यत् कथनं सा सहोक्तिर्नाम सादृश्यालङ्कारः । यथा—

सहदीर्घा मम श्वासैरिमाः सम्प्रति रात्रयः ॥ १८३ ॥

इह तुल्यधर्म्मिणोः रात्रिश्वासयोः साहित्येन कथनमिति सहोक्तिर्नाम सादृश्यालङ्कारः ।

अथार्थान्तरन्यासं लक्षयति—यत्र सादृश्येन पूर्व्वोक्तस्य शब्दासादृश्येनार्थसादृश्येन वा उत्तरेण योऽर्थान्तरस्य न्यासः क्रियते सोऽर्थान्तरन्यास उच्यते । यथा—शब्दतः सादृश्येन—

कस्त्वं शूली मृगय भिषजं सत्वरं रोगराशेः
स्थाणुर्बाले न वदति तरुर्नीलकण्ठः प्रमुग्धे ।
केका वाणी वदत वै पशुपतिरयं नैव दृष्टे विषाणे
इत्थं देव्यानुवचनजितः पातु वः पार्वतीशः ॥ १८४ ॥

---

(३) सहोक्ति अलङ्कार

अर्थ—जहाँ पर उपमान और उपमेय के साधारण धर्म का सहभाव (साथ-साथ) कथन हो, उसे सहोक्ति अलङ्कार कहते हैं । २३ ॥ जैसे—

सह दीर्घा मम श्वासैरिमाः सम्प्रति रात्रयः ॥ १८४ ॥

सम्प्रति दीर्घ सांसों के साथ यह रात्रि बड़ी होती जा रही है । श्वास और रात्रि का साधारण धर्म 'दीर्घता' का सहभाव से कथन है अतः यहाँ 'सहोक्ति' अलङ्कार है ।

(४) अर्थान्तरन्यास

अर्थ—जहाँ पर उत्तर वाक्य के साथ पूर्व वाक्य का शब्दतः अथवा अर्थतः सादृश्य बतलाया जाता है, उसे 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार कहते हैं ॥ २३ ॥

शब्दतः सादृश्य का उदाहरण—

कस्त्वं शूली मृगय भिषजं सत्वरं रोगराशेः
स्थाणुर्बाले न वदति तरुर्नीलकण्ठः प्रमुग्धे !
केका वाणी वदत पशुपतिरयं नैव दृष्टे विषाणे
इत्थं देव्यानुवचनजनितः पातु वः पार्वतीशः ! ॥ १८४ ॥

३—अथोत्प्रेक्षां लक्षयति

अन्यथोपस्थितावृत्तिश्चेसनस्येतरस्य च ।
अन्यथा मन्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते ॥ २४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अर्थतौ यथा—

कावेतौ हृदये धृतौ सुनयने यूनां मनोहारिणौ
कान्तौ कान्तपयोधरौ किमु दृढौ कुन्तौ सुवर्णैः कृतौ ।
कामारेरपि मन्दिरो परिसखे पश्यामि पश्यामि च
कामारेः हृदि मन्दिरेप्युपरि ते धाता स्वयं स्थापितौ ॥ १८५ ॥

इति चतुर्विधं सादृश्यमुक्तम् ॥ २३ ॥

अथोत्प्रेक्षां लक्षयति--यत्र काव्ये चेतनस्य तदितरस्याचेतनस्य च वृत्तिरेव स्थितिरन्यथोपस्थिता एकप्रकारेणोपस्थिता चेतनाचेतनानां या वृत्तिः सा वृत्तिरन्यान्यप्रकारेण यन्मन्यते तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते कवय इति । यथा--

---

अर्थतः सादृश्य का उदाहरण—

कावेतौ हृदये धृतौ सुनयने यूनां मनोहारिणौ
कान्तौ कान्तपयोधरौ किमु दृढौ कुन्तौ सुवर्णैः कृतौ ।
कामारेरपि मन्दिरो परिसखे पश्यामि पश्यामि च ।
कामारेः हृदि मन्दिरेऽप्युपरि ते धाता स्वयं स्थापितौ ॥ १८५ ॥

३—उत्प्रेक्षालङ्कार

अर्थ—जहाँ पर अन्यरूप में प्रस्तुत चेतन और अचेतन वस्तु की स्थिति अन्यरूप से उपस्थित की जाय (कही जाय), इसे 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार कहते हैं ॥ २४ ॥

विमर्श—भाव यह कि जहाँ पर उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाय, वहां उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है । जैसे—

मध्यन्दिनार्कसन्तप्तः सरसीं गाहते गजः ।
न शैत्याय प्रियाण्यर्कस्याब्जान्युद्धर्त्तुमिच्छया ॥ १८६ ॥

अर्थात् यहाँ पर दोपहर की किरणों से सन्तप्त हाथी शैत्य कामना से (शीतलता प्राप्त करने के लिए) सरोवर में प्रवेश करता है, मानों वह सन्तापक सूर्य के प्रिय (पक्षपाती) कमलों को उखाड़ने की इच्छा से सरोवर में अवगाहन करता है। यहाँ पर उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ २४ ॥

४—आतिशयोक्तिं लक्षयति

लोकसीमानिवृत्तस्य वस्तुधर्म्मस्य कीर्त्तनम् ।
भवेदतिशयो नाम सम्भवासम्भवा द्विधा ॥ २५ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

मध्यन्दिनार्कसन्तप्तः सरसीं गाहते गजः ।
न शैत्याय प्रियाण्यर्कस्याब्जान्युद्धर्त्तुमिच्छया ॥ १८६ ॥

इहार्कसन्तप्तगजस्य शैत्यकामनया सरोऽवगाहनं कृत्यमन्यथा मन्यतेऽर्कः सन्तापेन दुःखेन सन्तापयितस्य प्रियाणि पद्मान्युत्पाटयामीत्यभिप्रायेण गजस्य सरोऽवगाहनमित्युत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥

अथातिशयोक्तिं लक्षयति—लोके यस्य वस्तुनो यद्धर्म्मस्य यावती सीमापर्यन्तं ततो निवृत्तस्य तामतिक्रान्तस्य तद्वस्तु धर्म्मस्य यत् कीर्त्तनं सोऽतिशयो नामार्थालङ्कारः । स च सम्भवाऽसम्भवा द्विधा भवति । तत्रासम्भवादतिशयो यथा—

स्तनयोर्जवनस्यापि मध्ये मध्यं प्रिये तव ।
अस्ति नास्तीति सन्देहो न मेऽद्यापि निवर्त्तते ॥ १८७ ॥

अत्र नास्तीत्यसम्मवादतिशयोक्तिः । सम्भवाद्यथा—

मालिकाः सर्वभूषाढ्याः सर्वाङ्गलिप्तचन्दनाः ।
क्षोभवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिकाः ॥ १८८ ॥

इहेतादृशवेशेन ज्योत्स्नासमनैर्म्मल्याल्लक्षणाभावः सम्भवतीति सम्भवादतिशयोक्तिः ॥ २५ ॥

---

(४) अतिशयोक्ति अलङ्कारः

अर्थ—जहाँ पर किसी पदार्थ का सीमा का अतिक्रमण करके वर्णन किया जाय उसे 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार कहते हैं । यह अतिशयोक्ति सम्भव और असम्भव भेद से दो प्रकार की होती है ॥ २५ ॥

असम्भवातिशयोक्ति का उदाहरण—

स्तनयोर्जघनस्यापि मध्ये मध्यं प्रिये तव ।
अस्ति नास्तीति सन्देहो न मेऽधापि निवर्त्तते ॥ १८७ ॥

सम्भवातिशयोक्ति का उदाहरण—

मालिका सर्वभूषाढ्या सर्वाङ्गलिप्तचन्दनाः ।
क्षोभवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिकाः ॥१८८॥

५—विभावनां लक्षयति

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत् किञ्चित् कारणान्तरम्[1] ।
यत्र स्वभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना[2] ॥ २६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

विभावनां लक्षयति—यत्र काव्ये प्रसिद्धस्य हेतोर्व्यावृत्त्या यस्य वस्तुनो यः प्रसिद्धो हेतुस्तद्व्यावृत्त्य वर्जयित्वा यत् किञ्चित् कारणान्तरमपरं किञ्चित् कारणं यद्विभाव्यं स्यादथवा स्वाभाविकत्वं यत् विभाव्यं स्यात् सा विभावना नामार्थालङ्कार उच्यते । तत्र कारणान्तरविभावना यथा—

अपीतक्षीबकादम्बमसंमृष्टामलाम्बरम् ।
अप्रसादितशुद्धाम्बु जगदासीन्मनोहरम् ॥ १८९ ॥

इह जगति खल्वप्रसन्नशुद्धजलस्य कारणं वर्षाकालकृतवर्षा जलधौतमृत्तिकादिकं प्रसिद्धं तद्व्यावृत्त्यामलाम्बरदर्शने कारणान्तरं विभाव्यते इति विभावना । स्वभावविभावना यथा—

---

(५) विभावना अलंकार

अर्थ—जहाँ पर किसी प्रसिद्ध कारण का अभाव बतला कर किसी दूसरे कारण की स्थापना की जाय अथवा कारणभाव में कार्य की स्वाभाविकता की कल्पना की जाय, उसे विभावना अलङ्कार कहते हैं ॥ २६ ॥

कारणान्तर विभावना का उदाहरण—

अपीतक्षीवकादम्बमसंमृष्टामलाम्बरम् ।
अप्रसादितशुद्धाम्बु जगदासीन्मनोहरम् ॥ १८९ ॥

जिसमें विना मद्यपान के ही हंस मदमत्त हो रहे हैं, जिसमें विना साफ किये ही आकाश स्वच्छ हो रहा है और जिसमें स्वच्छ न करने पर भी पानी शुद्ध हो रहा है, इस प्रकार का जगत् मनोहर ही है । यहाँ पर मत्तता, निर्मलता और शुद्धता के कारण मद्यपान, मार्जन और प्रसादन के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है, अतः यहाँ पर विभावना अलंकार है ।

---

२. 'क' पुस्तकेऽयं श्लोकार्द्धं नास्ति ।
२. मुद्रितग्रन्थे विभावनालक्षणवर्णनं वर्त्तते विशेषान्तरे ।

६—अथ विशेषोक्तिं लक्षयति

गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम्[1] ।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरुच्यते ॥ २७ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अनञ्जिताऽसिता दृष्टिर्भ्रूलता वनवर्जिता ।
अताम्बूलारुणश्चायमधरस्तव सुन्दरि ॥ १९० ॥

इहाञ्जनादिरहितानां दृष्ट्यादीनामसितत्वादिकं स्वाभाविकं विभाव्यते इति स्वभावविभावना ॥ २६ ॥

अथ विशेषोक्तिं लक्षयति—यत्र वस्तूनां विशेषदर्शनाय गुणजातिक्रियाद्रव्यप्रभावादीनां यत्किञ्चित्भावान्तरेण येषां वैकल्यदर्शनं विकलतया दर्शनं सा विशेषोक्तिर्नामार्थालङ्कार उच्यते । यथा—

न कठोरं न वा तीक्ष्णमायुधं पुष्पधन्वनः ।
तथापि जितमेवासीदमुना भुवनत्रयम् ॥ १९१ ॥

इह कठोरादिगुणाभावस्य मृद्वादेर्विशेषदर्शनाय भुवनत्रयजयदर्शनाय तत्तन्मार्दवादिगुणवैगुण्यदर्शनमिति विशेषोक्तिः ॥ २७ ॥

स्वभावविभावना का उदाहरण—

अनञ्जिताऽसिता दृष्टिर्भ्रूलता वनवर्जिता ।
अताम्बूलारुणश्चायमधरस्तव सुन्दरि ॥ १९१ ॥

यहाँ पर कृष्णता आदि के कारण अञ्जन आदि के अभाव में भी कृष्णता आदि कार्य पाया जाता है, अतः यहाँ विभावना अलङ्कार है ।

(६) विशेषोक्ति अलङ्कार

अर्थ—जहाँ पर किसी वस्तु की विशेषता प्रदर्शित करने के लिए गुण, जाति, क्रिया आदि की विकलता बताई जाय, उसे 'विशेषोक्ति' अलङ्कार कहते है ॥ २७ ॥

जैसे— न कठोरं न वा तीक्ष्णमायुधं पुष्पधन्वनः ।
तथापि जितमेवासीदमुना भुवनत्रयम् ॥ १९२ ॥

अर्थात् पुष्पधन्वा कामदेव का अस्त्र (वाण) न कठोर हैं, न तीक्ष्ण है। फिर भी उसने तीनों लोक को वश में कर लिया है, यहाँ पर काम के पराक्रमातिशय को प्रदर्शित करने के लिये कठोरता एवं तीक्ष्णता आदि गुणों की विफलता (न्यूनता) बताई गई है, अतः यहाँ 'विशेषोक्ति' अलंकार है ।

---

१. यत्तद्वैकल्यदर्शनम्—इति पाठभेदः ।

७—विरोधं लक्षयति

सङ्गतीकरणं युक्त्या यदसंगच्छमानयोः ।
विरोधपूर्वकत्त्वेन तद्विरोध इति स्मृतम् ॥ २८ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

विरोधं लक्षयति—असंगच्छमानयोर्विरुद्धरूपेणभासमानत्वेनासङ्गतिमतोर्द्वयोर्वस्तुनोर्युक्त्या यत् सङ्गतीकरणं तद्विरोधपूर्वकत्वेन पूर्व्वविरोध आसीदित्यनेन कारणेन तत् विरोध इति स्मृतम् । बहुविधकारणोपपत्तितो याथार्थ्यदर्शिनी बुद्धिर्युक्तिः तया बुद्ध्या या पुनरयुक्तयोरसङ्गतयोर्योजना सा युक्तिः । अस्योदाहरणं यथा—

अस्या मृगाक्ष्या हन्तेक्षा निहन्ति जीवयत्यपि ।
माने विषे समुत्पन्ने भग्नेऽमृते सखे किल ॥ १९२ ॥

इह पूर्वं हननजीवनयोरेकस्यामवस्थायां विरोधस्ततो युक्त्या सङ्गतीकृतं मानरूपे विषे समुत्पन्ने हननं मानभञ्जनेऽमृतसमुत्पन्ने जीवनमिति विरोधपूर्व्वकत्वादर्थस्य विरोधालङ्कारः ॥ २८ ॥

---

(७) विरोध अलङ्कार

अर्थ—जहाँ पर परस्पर विरोध रूप में आभासित दो वस्तुओं का युक्ति से उनका संगत रूप दिखाया जाय, उसे 'विरोध' अलङ्कार कहते हैं ॥ २८ ॥

विमर्श—भाव यह कि जहाँ पर परस्पर विरोध रूप में आभासित होने के कारण असंगत दो वस्तुओं में युक्ति से समाधान कर दिया जाय उसे विरोध अलंकार कहते हैं। विरोध में अलङ्कार में वास्तविक विरोध नहीं होता है, वल्कि विरोध आभासित होता है और विरोध आभासित होने से उनमें सङ्गति नहीं बैठती, किन्तु युक्ति से उनका समाधान करके सङ्गत कर दिया जाता है वहाँ 'विरोध' अलङ्कार होता है। कुछ आचार्य इसे 'विरोधाभास' भी कहते हैं।

अस्या मृगाक्ष्या हन्तेक्षा निहन्ति जीवत्यपि ।
माने विषे समुत्पन्ने मग्नेऽमृते सखे किल ॥ १९३ ॥

यहाँ पर 'हनन' और 'जीवन' परस्पर विरोध-कारक हैं। किन्तु सङ्गतीकरण इस प्रकार किया जाता है कि मृगाक्षी के मान रूप विष के उत्पन्न होने पर 'हनन' है और मानभङ्ग अमृत उत्पन्न होने पर 'जीवन' है। अतः यहाँ विरोध अलङ्कार है।

८—अथ हेतुं लक्षयति

सिसाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः ।
कारको ज्ञापक इति द्विधा सोऽप्युपजायते ॥ २९ ॥

तत्र कारकं हेतुं लक्षयति—

प्रवर्त्तते कारकाख्यः प्राक् पश्चात् कार्य्यजन्मनः ।
पूर्वशेष इति ख्यातस्तयोरेव विशेषयोः ॥ ३० ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ हेतुं लक्षयति—सिसाधयिषितार्थस्येति साधयितुं निष्पादयितुमिष्टस्यार्थस्य वस्तुनः साधको निष्पादको यः स हेतुर्भवति । स द्विविधोप्युपजायते कारकश्च ज्ञापकश्चेति ॥ २९ ॥

तत्र कारकं हेतुं लक्षयति—करोतीति कर्ता कारकः । स च कार्य्यजन्मनः पूर्वं पश्चाच्च प्रवर्त्तते । तयोः कार्य्यजन्मनः पूर्वपश्चात्प्रवर्त्तकयोर्द्वयोः कारकस्य विशेषयोः प्राक्प्रवृत्तपश्चात्प्रवृत्तयोः कारकप्रभेदयोर्मध्ये पूर्वः पूर्वप्रवर्त्तको यः स पूर्वकारकः । स पूर्व इति ख्यातः पश्चात् प्रवर्त्तते यः कारकः स शेष इति नाम्ना ख्यातः स्यात् । यथा—सिसाधयिषितस्यार्थस्य वृष्टेः साधको मेघः कारको हेतुः । स च वृष्टिजन्मनः पूर्वं यत् प्रवर्त्तमानः स पूर्व इत्याख्यः मेघो वृष्टिकारक इति वर्षिष्यति । यथा—

---

(८) हेतु अलङ्कार

अर्थ—(इष्ट) अर्थ को निष्पादित करने वाले साधक को हेतु कहते हैं । वह हेतु दो प्रकार का होता है—कारक और ज्ञापक ॥ २९ ॥

(२) कारक हेतु

अर्थ—कारक हेतु कार्य के होने के पूर्व और बाद में प्रवृत्त होता है । इनमें जो पूर्व प्रवर्त्तक होता है वह पूर्व कारक कहलाता है और जो पश्चात् (बाद) में प्रवृत्त होता है वह शेष कारक कहलाता है ॥ ३० ॥

विमर्श—स्वतः कार्य को निष्पन्न करने वाला कारक हेतु है, जैसे-अग्नि धर्म का कारक हेतु है । कारक हेतु के दो भेद बताये गये हैं—पूर्वकारक और शेषकारक । इनमें जो हेतु कार्योत्पत्ति के पूर्व प्रवृत्त होता है उसे 'पूर्व' कहते हैं । जैसे—वृष्टि का साधक हेतु मेघ है । वह वृष्टि के पूर्व प्रवर्त्तमान है अतः उसे 'पूर्व' कारक हेतु है । जैसे—

कान्ते कान्तो नवपयोधरो जातः समुन्नतः ।
वर्षिष्यति वारि पुष्पबाणानद्य सुदुःसहान् ॥ १९३ ॥

ज्ञापकहेतुमाह—

कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद् वा नियामकात् ।
अविनाभावनियमोह्यविनाभावदर्शनात् ।
ज्ञापकाख्यस्य भेदोक्तिर्नदी[1]पूरादिदर्शनात्[2] ॥ ३१ ॥

इत्याग्नेये काव्यालङ्कारशास्त्रे अर्थालङ्कारविवेको नाम
अष्टमोऽध्यायः ।

काव्यप्रभावृत्तिः

कान्ते कान्तो नवपयोधरो जातः समुन्नतः ।
वर्षिष्यति वारिपुष्पवाणानद्य सुदुःसहान् ॥ १९३ ॥

इह पूर्व्वकारको हेतुर्नवपयोधर इति । पश्चात्कारको हेतुर्यथा—अरणिमन्थने वह्निकार्य्यस्य धूमस्य जन्मनः पश्चाद्वह्निः प्रवर्त्तते । यथा—

प्रिये मनोजाश्रयाशो निगूढ़ा हृदयारणौ ।
उच्छ्वासधूमं जनयत्याविर्भवति चाचिरात् ॥ १९४ ॥

इह मनोजाश्रयाशो मनोजो वह्निरुच्छ्वासधूमजननः पश्चादाविर्भवतीति पश्चात्कारकः शेष इति ख्यातो हेतुः ॥ ३० ॥

हे कान्ते ! आज सुन्दर नवीन मेघ (बादल) उमड़ा हुआ है अतः वृष्टि अवश्य होगी । यहाँ 'नव पयोधर' पूर्व कारक हेतु है । पश्चात् कारक हेतु वहाँ जहाँ कार्य के बाद हेतु प्रवृत्त हो, जैसे—अरणिमन्थन में कार्य धूम की उत्पत्ति के पश्चात् अग्नि प्रवृत्त होती है । जैसे—

प्रिये ! मनोजाश्रयाशो निगूढा हृदयारणौ ।
उच्छ्वासधूमं जनयत्याविर्भवति चाचिरात् ॥१९४॥

यहाँ पर हृदय रूप अरणि में विद्यमान कामाग्नि उच्छ्वासरूप धूम की उत्पत्ति के बाद प्रवृत्त होती है, अतः यहाँ पर शेष कारक हेतु है ।

---

१. भेदोऽस्ति— इति पाठभेदः ।
२. मुद्रितग्रन्थेषु क्रमपरिवर्तितोऽस्ति । तत्रायं क्रमः—
ज्ञापकाख्यभेदोऽस्ति नदीपूरादि दर्शनात् ।
अविनाभावनियमो ह्यविनाभावदर्शनात् ॥
॥ अग्निपुराण ३४४।३२ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

ज्ञापकहेतुमाह—ज्ञापकाख्यस्य हेतोर्भेदोक्तिः कुत्रचित् कश्चित् कार्य्यकारण-भावात् सिसाधयिषितस्यार्थस्य ज्ञापकः। यथा वह्नेर्ज्ञापकोधूमः। कश्चित् स्वभावात् ज्ञापकः। यथा वह्नेर्ज्ञापक उष्णालोककृदादिः स्वभावः। कश्चिन्नियामकात् सिसाध-यिषितस्यार्थस्य ज्ञापकः। अविनाभाव एव हि नियमः। अविनाभावदर्शनान्नियामकः। यथा दहनक्रिया वह्न्यविनाभूता दहनक्रिया वह्नेर्ज्ञापक हेतुः। तथा नदीपूरादि-दर्शनात् कश्चित् सिसाधयिषितार्थस्य ज्ञापकः। क्रमेण यथा—

कान्ते पुरःस्थिते कान्ता स्निग्धकान्तिः सुमानसा।
प्रफुल्लवदनाह्लादपरिपूर्णा विराजते॥ १९५॥

इह कार्य्यस्य सुरतस्य जन्मनः पूर्वं प्रवर्त्तमानः कारकः। पुरः स्थितः कान्तः स्निग्धकान्त्यादिः स्वभावस्तस्य सुरतस्य ज्ञापकः। तथा कार्य्यजन्मनः पश्चात् कारकः स्वभावात्। यथा—

सुश्लिष्टाधररागासौ भ्रष्टालेपस्तनी मुदा।
प्रभाते राजते कान्ता राका चन्द्रमुखी सखि॥ १९६॥

इह हृदि निगूढः स्नेहः पश्चात् कारकः कार्य्यस्य सुरतस्य जन्मनः पश्चात् प्रवर्त्तते तत्र मुदा चन्द्रवन्मुखः स्वभावः पुनर्भाविसुरतस्य ज्ञापकः।

---

(२) ज्ञापक हेतु

अर्थ—ज्ञापक हेतु कहीं कार्य-कारण भाव सम्बन्ध से निष्पादित अर्थ का ज्ञापक होता है और कहीं स्वाभाविक नियम से ज्ञापक होता है तथा कहीं नियामक सम्बन्ध से ज्ञापक होता है। अविनाभाव सम्बन्ध को नियामक कहते हैं। इसका उदाहरण नदीपूरादि है॥ ३१-३२॥

विमर्श—दूसरों के द्वारा निष्पादित वस्तु को बोधित कराने वाला ज्ञापक-हेतु होता है। जैसे—धूम अग्नि का ज्ञापक हेतु है। ज्ञापक-हेतु कहीं कार्य-कारणभाव सम्बन्ध से निष्पादित अर्थ का ज्ञापक होता है, जैसे—धूम अग्नि का ज्ञापक-हेतु है। कहीं स्वाभाविक रूप से निष्पादित अर्थ का बोधक ज्ञापक होता है। जैसे—उष्णालोक अग्नि का ज्ञापक है। कहीं नियामक अर्थ अविनाभाव सम्बन्ध से ज्ञापक-हेतु होता है, जैसे—दहनक्रिया अग्नि का ज्ञापक हेतु है। क्योंकि दहन-क्रिया अग्नि के बिना नहीं रह सकती, दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है, जैसे—नदी की बाढ़ वर्षा का ज्ञापक हेतु होता है; क्योंकि बिना वर्षा के नदी में बाढ़ नहीं आती, अतः दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ नियामकाद्यथा—अविनाभावनियमो हीत्यविनाभावादर्शनादविनाभावनियमाद्वह्निर्वनदाहे पूर्वकारकः। तथा धूमोन्मानात् कार्य्यात् पश्चात् प्रवर्त्तको वह्निः कारकोऽविनाभावनियमदर्शनात्। वह्निं विना दहनक्रियानिष्पत्त्यदर्शनान्नियामक सम्बन्धाद्वनदाहो वह्नेर्ज्ञापको हेतुः। अथातीतदृष्टयादेर्ज्ञापकाख्यहेतुर्नदीपूरादिदर्शनमिति। यथा—नदीपूरणादनुमीयते मेघौ वृष्टवानतीतवृष्टेर्ज्ञापको नदीपूरः। आदिना भस्मादिदर्शनमतीतवह्निज्ञापकमिति। यथा—

सखि निर्वृतचित्तासि भाले म्लिष्टविशेषक।
भ्रष्टकुङ्कुमपङ्कोराः प्रफुल्लवदनोज्वला॥ १९७॥

इति सर्वमतीतसुरतज्ञापकहेतुरिति। इत्यष्टमो हेतुर्नामार्थालङ्कारः, इत्यष्टविधार्थालङ्कारः समाप्तः।

॥ इत्याग्नेये काव्यालङ्कारशास्त्रे अर्थालङ्कारविवेको नाम अष्टमोऽध्यायः॥

कार्यकारणभाव का उदाहरण

कान्ते पुरःस्थिते कान्ता स्निग्धकान्तिः सुमानसा।
प्रफुल्लवदनाह्लादपरिपूर्णा विराजते ॥१९५॥

अर्थात् कान्त (नायक) के सामने देखने पर नायिका (कान्ता) स्निग्धकान्ति वाली, सुष्ठु हृदयवाली, प्रसन्न-वदन और आह्लादपूर्ण हो रही है। वहाँ पर सुरत (सम्भोग) रूप कार्य के पहले ही सामने नायक का उपस्थित होना सुरत का ज्ञापक हेतु है।

स्वाभाविक ज्ञापकहेतु

सुश्लिष्टाधररागासौ भ्रष्टा लेपस्तनी मुदा।
प्रभाते राजते कान्ता राका चन्द्रमुखी सखि ॥१९६॥

हे सखि! जिसका अधर राग मिट गया और स्तनों पर लगा हुआ लेप छूट गया है, ऐसी चन्द्रमुखी राकारूपी रमणी प्रातःकाल प्रसन्न हो रही है। यहाँ हृदय में गूढ़ स्नेह सुरत के बाद ज्ञापित हो रहा है, अतः ज्ञापक हेतु है।

अविनाभाव (नियामक) हेतु

सखि! निर्वृत्तचित्तासि भाले म्लिष्टविशेषक।
भ्रष्टकुङ्कुमपङ्कोराः प्रफुल्लवदनोज्ज्वला ॥१९७॥

यहाँ पर निर्वृत्तचित्त होना, मस्तक का तिलक मिटना, वक्षःस्थल का कुंकुम छूटना, प्रसन्नवदन होना ये सुरत के अविनाभाव सम्बन्ध होने से अतीत सुरत के ज्ञापक हैं॥

इस प्रकार अग्निपुराण के काव्यालङ्कारशास्त्र का आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

नवमोऽध्यायः

उभयालङ्कार-विवेकः

अग्निरुवाच

शब्दार्थयोरलङ्कारो द्वावलङ्कुरुते[1] समम् ।
एकस्तु[2] निहितो हारः स्तनं ग्रीवामिव[3] स्त्रियाः ॥ १ ॥

प्रशस्तिः कान्तिरौचित्यं संक्षेपो यावदर्थता ।
अभिव्यक्तिरिति व्यक्तं षड्भेदास्तस्य जाग्रति ॥ २ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

वसिष्ठायाग्निरुवाच—शब्दार्थयोर्द्वयोरेकोऽलङ्कारः शब्दार्थञ्चेति द्वौ समं युगपदलङ्कुरुते शोभान्वितौ कुरुते। कथमिति चेत्? तत्र दृष्टान्तमाह—एकस्तु हारो गले निहितः सन् स्त्रियाः स्तनं ग्रीवाञ्च समं युगपद्यथालङ्कुरुते तथा ॥ १ ॥

अस्योभयालङ्कारस्य प्रशस्त्यादयः षड् भेदा व्यक्तं जाग्रति, ये चाव्यक्तं जाग्रति ते तु नोपदिश्यते ॥ २ ॥

अर्थ—शब्दार्थालङ्कार (उभयालङ्कार) शब्द और अर्थ दोनों को साथ ही अलंकृत करते हैं जिस प्रकार स्त्री के वक्ष पर निहित (धारित) हार स्तन और ग्रीवा दोनों को सुशोभित करता है ॥ १ ॥

विमर्श—अग्निदेव ने वशिष्ठ से कहा है कि शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के अतिरिक्त उभयालङ्कार भी होता है, जो शब्द और अर्थ दोनों को साथ-साथ समान रूप से सुशोभित करता है। जैसा कि स्त्री के वक्षःस्थल पर धारण किया गया हार स्त्री के स्तन और ग्रीवा दोनों को साथ-साथ सुशोभित करता है उसी प्रकार उभयालङ्कार शब्द और अर्थ दोनों को साथ-साथ सुशोभित करता है ॥१॥

अर्थ—उभयालङ्कार छः प्रकार का होता है—प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता और अभिव्यक्ति ॥ २ ॥

---

१. 'घ' पुस्तके 'वाचा सत्कुरुते' ; न, ल पुस्तकयो. 'वाचालं कुरुते' इति पाठान्तरे ।
२. 'एकत्र' इति पाठभेदः । ३. 'क' ग्रीवादि च ।

तत्र प्रशस्तिं लक्षयति—

प्रशस्तिः परमं[1] मर्मद्रवीकरणकर्मणः ।
वाचोयुक्तिर्द्विधा सा च प्रेमोक्तिस्तुतिभेदतः ॥ ३ ॥
प्रेमोक्तिस्तुतिपर्य्यायौ प्रियोक्तिगुणकीर्त्तने ।

काव्यप्रभावृत्तिः

तत्र प्रशस्तिं लक्षयति—परममुत्कृष्टं यथा स्यात्तथा मर्मद्रवीकरणं हृदयस्थमनोद्रवीकरणं कर्म्म यस्या वाचस्तस्या वाचोयुक्तिः प्रयोगः प्रशस्तिर्नामोभयालङ्कारः। सा प्रशस्तिर्द्विधा भवति—प्रेमोक्तिस्तुतिभेदात् । तत्र प्रेमोक्तिस्तुत्योः पर्य्यायावेकार्थशब्दौ प्रियोक्तिगुणकीर्त्तने प्रेमोक्तिः प्रियोक्तिरित्यर्थान्तरम् । स्तुतिर्गुणकीर्त्तनमित्यर्थान्तरमिति लक्षणार्थपर्य्यायकथनमिति । यथा—

सुतनु ! जहिहि कोपं पश्य पादानतं मां,
न खलु तव कदाचित् कोप एवम्विधोऽभूत् ।
इति निगदति नाथे तिर्य्यगामीलिताक्ष्या,
नयनजलमनल्पं मुक्तमुक्तं न किञ्चित् ॥ १९८ ॥

इसके बाद प्रशस्ति आदि अलङ्कारों का लक्षण कहते हैं । उनमें प्रथम प्रशस्ति का स्वरूप बताते हैं—

१. प्रशस्ति का लक्षण

अर्थ—हृदय के मर्म को द्रवित करने वाले कर्म को प्रशस्ति कहते हैं । प्रशस्ति दो प्रकार की होती है—प्रोमोक्ति और स्तुति । उसमें प्रिय कथन को प्रेमोक्ति (प्रियोक्ति) और गुणों के कीर्त्तन (कथन) को 'स्तुति' कहते हैं ।। ३-४ ।।

विमर्श—अग्निपुराण में हृदय के मर्मस्थल को द्रवित करने वाले कथन को 'प्रशस्ति' नामक 'अलङ्कार' कहा है । वहाँ प्रशस्ति के दो भेद बताये गये हैं—प्रेमोक्ति और स्तुति । जहाँ पर प्रिय कथन होता है उसे 'प्रेमोक्ति' अलङ्कार कहते हैं । जैसे—

सुतनु ! जहिहि कोपं पश्य पादानतं मां
न खलु तव कदाचित् कोप एवम्विधोऽभूत् ।
इति निगदति नाथे तिर्यगामीलिताक्ष्या
नयनजलमनल्पं मुक्तमुक्तं न किञ्चित् ॥ १९८ ॥

यहाँ पर नायिका के प्रति प्रिय-वचन का कथन किया गया है अतः यहाँ 'प्रेमोक्ति' अलङ्कार है । 'स्तुति' अलङ्कार का उदाहरण देते हैं—

---

१. 'परवत्' इति पाठभेदः ।

अथ कान्तिं लक्षयति—

कान्तिः[1] सर्वमनोरुच्यवाच्यवाचकसंगतिः ॥ ४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

रामाणां रमणीयवक्त्रशशिनः स्वेदोदविन्दुप्लुता
व्यालालाकरपल्लवीः प्रचलयन् धुन्वन्नितः स्वाम्बरम् ।
प्रातस्त्यो वहति प्रकामविलसद् राजीवराजीरजः—
पुञ्जामोदमनोहरो रतिरणग्लानिं हरन्मारुतः ॥ १९९ ॥

इति प्रातःकाले वहद्वायुस्तुतिः ।

अथ कान्तिं लक्षयति—कान्तिः सर्वमनोरुच्यवाच्यवाचकसंगतिरिति । सर्व्वेषां जनानां मनसो रुचिजनकं यद्वाच्यमभिधेयं वाचकं तदभिधायकं पदञ्च तयोः संगतिरेकत्र योगः कान्तिः शब्दश्चार्थश्च द्वावेव मनोज्ञौ भवतश्चेत्तदा कान्तिर्नामोभयालङ्कार उच्यते । यथा—

पीतो यतः प्रभृतिकामपिपासितेन तस्या मयाद्यररसः प्रचुरः प्रियायाः ।
तृष्णा ततः प्रभृति मे द्विगुणत्वमेति लावण्यमहितं बहु तत्र किमत्र चित्रम् ॥२००॥

अत्र शब्दार्थयोर्मनोरमत्वमिति कान्तिः ॥ १४ ॥

रामाणां रमणीयवक्त्रशशिनः स्वेदोदविन्दुप्लुता
व्यालालाकरपल्लवीः प्रचलयन् धुन्वन्नितः स्वाम्बरम् ।
प्रातस्त्यो वहति प्रकामविलसद् राजीवराजीरजः—
पुञ्जामोदमनोहरो रतिरणग्लानिं हरन्मारुतः ॥ १९९ ॥

यहाँ पर प्रातःकालीन वायु की स्तुति की गई है अतः यहाँ 'स्तुति' नामक प्रशस्ति अलङ्कार है ।

२. कान्ति का लक्षण

अर्थ—अग्निपुराण के अनुसार जहाँ पर सभी लोगों के मन के रुचिजनक शब्द और अर्थ का योग होता है, वहाँ 'कान्ति' नामक उभयालङ्कार होता है । जैसे—

पीतो यत प्रभृति कामपिपासितेन
तस्या मयाधररसः प्रचुरः प्रियायाः ।
तृष्णाः ततःप्रभृति मे द्विगुणत्वमेति
लावण्यमहितं बहु तत्र किमत्र चिचम् ॥ २०० ॥

यहाँ पर मन को रुचिकर शब्द और अर्थ की सङ्गति है अतः यहाँ 'कान्ति' नामक उभयालङ्कार है ॥ ४ ॥

---

१. 'घ' पुस्तके 'कीर्त्तिः' इति पाठः ।

अथौचित्यं लक्षयति—

यथावस्तु तथारीतिर्यथावृत्तिस्तथा रसः ।
ऊर्ज्जस्विमृदुसन्दर्भादौचित्यमुपजायते ॥ ५ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथौचित्यं लक्षयति—वर्णनीयं वस्तु यथा यादृशरूपं भवति सद्रूपमसद्रूपं वा तथा रीतिस्तादृशी रीतिर्वस्त्वनुरूपा रीतिः पाञ्चाली गौड़ी वा वैदर्भी वा लाटीया वा या यस्योपयुक्ता भवति। एवं वृतिश्च यथा भवति तथैव रसः शृङ्गारादिः। तथा रसानुरूपेण ऊर्जस्वित्व-मृदुत्वादिरूपेण सन्दर्भो चेद्भवति तस्मादौचित्यं जायते, अन्यथा चेत्तदानौचित्यं दोषः स्यात्। यथा मातापित्रादि-गुरुजनादि-स्वाभीष्टदेवता दुर्गा-शिव-विष्णु-लक्ष्मी-सरस्वती-ब्रह्मादीनां शृङ्गारवीभत्सरसवर्णनमौचित्यम्। ये च भूलोकेऽवताराणां कृष्णादीनां शृङ्गारं वर्णयन्ति चाराधयन्ति च, ते चानौचित्यमुभयालङ्कारं न विदन्ति। यथा—

मातासीत्कमलैव धान्यधनसम्पूर्णं गृहं मेऽभवत्,
सावित्री किल जन्महेतुरभया दुर्गान्नपूर्णा शिवा।
विद्याहेतु सरस्वती भगवती स्नेहार्द्रवाग्भाषिणी,
मद्दौर्भाग्यवशात् विमुच्य तनुमैन्माऽवाङ्मनोगोचरा ॥ २०१ ॥

---

३. औचित्य अलंकार

अर्थ—वर्णनीय वस्तु जिस प्रकार हो, उसी प्रकार (वस्तु के अनुकूल) रीति, वृत्ति और रस का वर्णन हो और उसी के अनुकूल ऊर्जस्वि एवं मृदु सन्दर्भों का वर्णन हो, तो वहाँ 'औचित्य' अलङ्कार होता है ॥ ५ ॥

विमर्श—अग्निपुराणकार का कथन है कि 'औचित्य' अलङ्कार में जैसी वस्तु हो उसी के अनुकूल रीति, वृत्ति और रस का वर्णन करना चाहिये और रस के अनुरूप ही ऊर्जस्वि और मृदु प्रसंग होने चाहिए। जिस प्रकार माता, पिता, गुरुजन, इष्टदेव आदि के सम्बन्ध में शृङ्गार एवं वीभत्स रस का वर्णन नहीं करना चाहिए। जहाँ माता-पिता आदि के विषय में शृङ्गारादि का वर्णन किया जाता है वहाँ 'अनौचित्य' दोष माना जाता है। अतः वस्तु (सन्दर्भ) के अनुकूल रसादि का वर्णन करे। जैसे—

मातासीत् कमलैव धान्यधनसम्पूर्णं गृहं मेऽभवत्,
सावित्री किल जन्महेतुरभया दुर्गान्नपूर्णा शिवा।
विद्याहेतुसरस्वती भगवती स्नेहार्द्रवाग्भाषिणी,
मद्दौर्भाग्यवशात् विमुच्य तनुमेऽन्यावाङ्मनोगोचरा ॥ २०१ ॥

अथ संक्षेपं लक्षयति—

संक्षेपो वाचकैरल्पैर्बहोरर्थस्य संग्रहः ।

यावदर्थतां लक्षयति—

अन्यूनाधिकता शब्दवस्तुनोर्यावदर्थता ॥ ६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

संक्षेपं लक्षयति -अल्पैर्वाचकैःपदैर्बहोरर्थस्य संग्रहः संक्षेपो नामोभयालङ्कार उच्यते । यथा—

पित्रोर्भक्त्या गृही सत्यास्तेयाहिंसादयादिभिः ।
यज्ञैश्च पञ्चभिर्नित्यं वसन् गेहे न नश्यति ॥ २०२ ॥

इहाल्पपदेन बह्वर्थसंग्रहात् संक्षेपः ।

अथ यावदर्थतानामोभयालङ्कार उच्यते—नास्त्यन्यूनाधिको यत्र तस्य भावोऽन्यूनाधिकता शब्दार्थयोर्यथारूपता यथा शब्दस्तथैवार्थो न न्यूनो नवाधिक इति यावदर्थता नामोभयालङ्कारो भवति । यथा—

शक्तिः सर्वेषु भावेषु विधिविष्ण्वादिषु प्रभुः ।
शिवोऽस्मिन् महदानौ च वर्त्ततेऽव्यक्तमव्ययम् ॥ २०३ ॥

इह यावन्तः शब्दास्तावन्तोऽर्था नयूना नाधिका वा ततो यावदर्थता ॥ ६ ॥

---

४. संक्षेप अलंकार

अर्थ—जहाँ पर अल्प शब्दों से अधिक अर्थ का संग्रह हो, उसे 'संक्षेप' नामक अलङ्कार कहते हैं ॥ ६ ॥ जैसे—

पित्रोर्भक्त्या गृही सत्यास्तेयाहिंसादयदिभिः ।
यज्ञैश्च पञ्चभिर्नित्यं वसन् गेहे न नश्यति ॥ २०२ ॥

यहाँ पर थोड़े शब्दों में अनेक अर्थों का संग्रह है अतः यहाँ पर 'संक्षेप' नामक उभयालङ्कार है ।

५. यावदर्थता अलंकार

अर्थ—जहाँ पर शब्द अर्थ और वस्तु का न अधिक वर्णन किया जाय और न कम, वहाँ 'यावदर्थता' नामक अलङ्कार होता है ॥ ६ ।

जैसे— शक्ति सर्वेपु भावेपु विधिविष्ण्वादिपु प्रभुः ।
शिवेऽस्मिन् महदादौ च वर्त्ततेऽव्यक्तमव्ययम् ॥ २०३ ॥

यहाँ पर जितने शब्द हैं उतने ही अर्थ है, कम और अधिक नहीं है । अतः यहाँ 'यावदर्थता' नामक अलङ्कार है ॥ ६ ॥

अथाभिव्यक्तिं लक्षयति—

प्रकटत्वमभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेप इत्यपि ।
तस्या भेदौ श्रुतिस्तत्र शाब्दं स्वार्थसमर्पणम्[1] ॥ ७ ॥
भवेन्नैमित्तिकी पारिभाषिकी द्विविधैव सा ।
जातिर्गुणः क्रिया तत्र निमित्तं त्रिविधं भवेत्[2] ॥ ८ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथाभिव्यक्तिर्नामोभयालङ्कारं लक्षयति—अभिव्यक्तिर्नामोभयालङ्कारः प्रकटत्वमर्थानां व्यक्तीकरत्वं सा खलु प्रवृत्तिः शब्दानामर्थाभिव्यक्तिकरी शक्तिः । तस्या अभिव्यक्तेर्भेदो श्रुतिराक्षेप इत्यपि द्वौ भवतः । तत्र श्रुतिर्नामाभिव्यक्तिः शाब्दं शब्दकृतं स्वार्थस्य समर्पणं, शब्देन योऽर्थः समर्प्यते तदर्थसमर्पणम् । श्रुतिः शब्दार्थ-श्रवणमिति ध्वनितोऽर्थः ॥ ७ ॥

---

६. अभिव्यक्ति अलंकार

अर्थ—(शब्द से) अर्थ के प्रकटीकरण (प्रकाशन) को 'अभिव्यक्ति' कहते हैं । अभिव्यक्ति के दो भेद हैं—श्रुति और आक्षेप । इनमें जहाँ पर शब्द अपने अर्थ का समर्पण करता है उसे श्रुति कहते हैं ॥ ७ ॥

अर्थ—श्रुति के भी दो भेद होते हैं—नैमित्तिकी और पारिभाषिकी । नैमित्तिकी में जाति, गुण और क्रिया के निमित्त से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है । इस प्रकार नैमित्तिकी जाति, गुण, क्रिया के भेद से तीन प्रकार की होती है ॥ ८ ॥

विमर्श अग्निपुराण में अभिव्यक्ति को एक अलङ्कार माना गया है । अर्थ के प्रकटीकरण (प्रकाशन) को अभिव्यक्ति कहते हैं अर्थात् शब्दों के अर्थ को अभिव्यक्त (प्रकट) करनेवाली शक्ति को 'अभिव्यक्ति' कहते हैं । वह अभिव्यक्ति दो प्रकार की होती है—श्रुति और आक्षेप । जहाँ पर शब्द अपने अर्थ का अन्यत्र समर्पण कर देता है उसे श्रुति कहते हैं । श्रुति का अर्थ है शब्दार्थ का श्रवण । अर्थात् जहाँ पर शब्द अपने अर्थ का प्रकाशन करता है, उसे श्रुति नामक अभिव्यक्ति अलङ्कार कहते हैं ॥ ७ ॥

---

१. 'चार्थ' समर्पणम् इत्यादि पाठः ।
२. मुद्रितग्रन्थेषु श्लोकार्द्धोऽयं नास्ति ।

काव्यप्रभावृत्ति

श्रुतिं विभजते—सा श्रुतिर्नामाभिव्यक्तिः शब्दानां प्रवृत्तिर्द्विविधा भवति—नैमित्तिकी पारिभाषिकी चेति। तत्र नैमित्तिक्यां श्रुतौ निमित्तं त्रिविधं जातिश्च गुणश्च क्रिया चेति। जातिः प्रवृत्तिनिमित्तं, गुणः प्रवृत्तिनिमित्तं, क्रिया प्रवृत्तिनिमित्तं च। आदिसर्गादारभ्य महानिर्वाणप्रलयपर्य्यन्तं यावन्तः कल्पा महाकल्पा निर्व्वाणप्रलया वा तावत् भूमौ जायमानेषु यस्मिन् वस्तुनि यः शब्दो नामधेयतया प्रवर्त्तते, तत्र तत्र वस्तुनि तस्य तस्य शब्दस्य प्रवृत्तौ निमित्त जातिश्च गुणश्च क्रिया च। जात्या वस्तुषु प्रवर्त्तन्ते केचिच्छब्दा गौरश्वो गजोऽजो मेषो महिष इत्येवमादयस्तत्तज्जातिविशिष्टे प्रवर्त्तन्ते। केचिच्च शब्दा गुणेन निमित्तेन तत्तद्गुणिषु प्रवर्त्तन्ते। गौः शुक्लोऽश्वः कपिलः श्वेतो वा नीलो वेत्येवमादयः। तथान्ये केचिच्छब्दाः क्रियाया निमित्तेन क्रियावति वर्त्तन्ते। यथा—गौश्चलो रथाः स्थिराः, स्थिरा पृथिवी, जलं निम्नगमूर्द्ध्वज्वलनो वह्निरित्येवमादयः। इत्येवं क्रियानिमित्ततो नैमित्तिकी श्रुतिः प्रवृत्तिस्त्रिधा। तथा च औणादिका यावन्तः शब्दास्ते पुनरव्युत्पन्नाः केचिज्जातिप्रवृत्तिनिमित्ताः केचिद्गुणप्रवृत्तिनिमित्ताः। समासतद्धितान्ताश्च ये संज्ञायां समस्यन्तेऽथवा तद्धिता विधीयन्ते तेऽपि केचिज्जातिप्रवृत्तिनिमित्ताः, केचिद्गुणप्रवृत्तिनिमित्ताः, केचित्क्रियाप्रवृत्तिनिमित्ताः शेषाः कृदन्तास्तु क्रियाप्रवृत्तिनिमित्तत्वान्नैमित्तिकी योगवृत्त्या यौगिकी। तत्र भाववत्रनास्तु किं प्रवृत्तिनिमित्ताः क्रियात्वजातिप्रवृत्तिनिमिता इति।

विमर्श—श्रुति नामक अभिव्यक्ति के दो भेद होते हैं—नैमित्तिकी और पारिभाषिकी। उनमें किसी निमित्त से अर्थ का समर्पण होने से नैमित्तिकी श्रुति होती है। इस नैमित्तिकी श्रुति में तीन प्रकार के निमित्त होते हैं—जाति, गुण और क्रिया। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर प्रलय पर्यन्त जितने कल्प, महाकल्प, निर्वाण, प्रलय हैं उनमें उत्पन्न जिस वस्तु के लिए जो शब्द प्रवृत्त होता है उस उस वस्तु में उस उस शब्द की प्रवृत्ति में जाति, गुण और क्रियाएँ निमित्त होती हैं। अर्थात् उनमें कुछ शब्द जाति के द्वारा वस्तु में प्रवृत्त होते हैं। जैसे—गौ, अश्व, गज, महिष, मेष आदि शब्द जाति की निमित्त से व्यक्ति में प्रवृत्त होते हैं। कुछ शब्द गुण के निमित्त से वस्तु (गुणी) में प्रवृत्त होते हैं। जैसे—श्वेत गाय, कपिला गौ, नील गाय, श्वेत अश्व आदि शब्द गुण के निमित्त से वस्तु में प्रवृत्त होते हैं। कुछ शब्द क्रिया के निमित्त से वस्तु में प्रवृत्त होते हैं। जैसे—गौ चला है, पृथ्वी स्थिरा (अचला) है, जल निम्नगामी है, अग्नि ऊर्ध्वज्वलन है, आदि शब्द क्रिया के निमित्त से वस्तु में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार कुछ शब्दों की जाति से प्रवृत्ति-निवृत्ति देखी जाती है। तथा कुछ शब्दों की गुण से और कुछ शब्दों की क्रिया से प्रवृत्ति-निवृत्ति देखी जाती है।

सङ्केतः परिभाषेति ततः स्यात् पारिभाषिकी ।
मुख्यौपचारिकी चेति सा च सा च द्विधा द्विधा[1] ॥ ९ ॥

काव्यप्रभावृत्ति

अथ पारिभाषिकी कीदृशीत्यत आह—सङ्केतः परिभाषेत्युच्यते । विशिष्टा हि महर्षयो वा देवादयः खल्वस्मिन्नयं शब्दोऽस्मान्निमित्तात् प्रवर्ततामित्येवं सङ्केतं कुर्वन्ति । क्वचिद् गुणेन, क्वचित् क्रियया, क्वचिद् द्रव्येण, यदृच्छया च । यथा मनोरपत्यत्वान्मनुष्यजात्यां मानवः शब्दः । गुणेन यथा—उग्रो रुद्रः शिवे वर्त्तते । क्रियाया यथा—गङ्गाधारणाद् गङ्गाधरः शिवे । शार्ङ्गधनुपरिणाहात् शार्ङ्गी विष्णौ । यदृच्छया भसंज्ञा टिसंज्ञा धातुसंज्ञा चेत्येवमादिपरिभाषया परिभाषिकी श्रुतिर्भवति । वैयाकरणैः सङ्केतकरणात् परिभाषिकी यौगिकी नामोच्यते इति । अथ पुनः सा च श्रुतिर्द्विधा विभजते—मुख्यौपचारिकी चेति । मुख्या त्वभिधानाम श्रुतिः । यथा भूपचादिप्रकृतिप्रत्ययात्मकाः शब्दाः । औपचारिकी त्वत्र वक्ष्यते सा च सा च द्विधा द्विधेति । द्विधा सा च नैमित्तिकी च परिभाषिकी च श्रुतिर्मुख्या चौपचारिकी चेति द्विधा भवति । मुख्या नैमित्तिकी औपचारिकी च नैमित्तिकी । मुख्या परिभाषिकी औपचारिकी च पारिभाषिकी च श्रुतिर्मुख्या नैमित्तिकी मुख्या परिभाषिकी च दर्शिता ॥ ९ ॥

अर्थ—संकेत को 'परिभाषा' कहते हैं । अतः संकेतित अर्थ को प्रकट करने वाली अभिव्यक्ति 'पारिभाषिकी' कहलाती है । उनके भी दो भेद होते हैं—मुख्या और औपचारिकी ॥ ९ ॥

विमर्श—अब पारिभाषिकी का स्वरूप बताते हैं । संकेत को परिभाषा कहते हैं । विशिष्ट व्यक्ति या महर्षि 'यह शब्द इस निमित्त से इस अर्थ में प्रवृत्त हो' इस प्रकार जो संकेत करते हैं और संकतित अर्थ को प्रकट करने के लिए शब्द का उस अर्थ में प्रवृत्ति होती है । वह संकेत कहीं जाति के द्वारा, कहीं गुण के द्वारा कहीं क्रिया के द्वारा, कहीं यदृच्छा के द्वारा संकेतित होता है । जैसे : मनु की सन्तान होने से मानव शब्द मनुष्य जाति में प्रवृत्त होता है उग्र (गुण) होने से रुद्र शब्द शिव के लिए प्रवृत्त होता है और गङ्गा को धारण करने के कारण गङ्गाधर शब्द शिव के लिए प्रयुक्त होता है । शार्ङ्ग धनुष धारण करने के कारण शार्ङ्गी शब्द विष्णु के लिए प्रवृत्त होता है । यदृच्छा से भी शब्दों की प्रवृत्ति देखी जाती है । जैसे—टि संज्ञा, भ संज्ञा आदि । इस प्रकार संकेत के द्वारा प्रवृत्त होने के कारण इन्हें पारिभाषिकी श्रुति कहते हैं । पारिभाषिकी को यौगिकी भी कहते हैं ।

---

१. घ, न, ल पुस्तकेषु श्लोकार्द्धोऽयं नास्ति ।

स्वाभिधेयस्खलद्वृत्तिरमुख्यार्थस्य वाचकः ।
यया शब्दो निमित्तेन केनचित् सौपचारिकी ॥ १० ॥
सा च लाक्षणिकी गौणी लक्षणागुणयोगतः ।

काव्यप्रभावृत्ति

अथौपचारिकी दर्शयते—यः शब्दः केनचिन्निमित्तेनान्वयबाधादिना स्वाभिधेयात् स्ववाच्यार्थात् स्खलन्ती वृत्तिरर्थे प्रवृत्तिर्यस्य स स्वाभिधेयस्खलद्वृत्तिः सन्नमुख्यार्थस्य स्वाभिधेयार्थभिन्नार्थस्य वाचको यया श्रुत्या भवति सा श्रुतिरौपचारिकीत्युच्यते । इत्यौपचारिकशब्दस्यामुख्यार्थवाचकत्ववचनात् । साक्षात्सङ्केतितार्थाभिधायी शब्दो वाचक इति यदुक्तं तदसाधु, अनार्षत्वाच्च । मुख्यो लाक्षणिको गौणश्चेति त्रिविध एव शब्दोऽस्य त्रिविधस्य वाचक इति ॥ १० ॥

श्रुति के पुनः दो भेद होते हैं—मुख्या और औपचारिकी । अर्थात् श्रुति के दो भेद बताये गये हैं—नैमित्तिकी और पारिभाषिकी । वे दो दो प्रकार के होते हैं—मुख्या और औपचारिकी । इस प्रकार नैमित्तिकी और पारिभाषिकी श्रुति मुख्या और औपचारिकी भेद से दो दो प्रकार की होती है—मुख्या नैमित्तिकी, औपचारिकी नैमित्तिकी । मुख्या पारिभाषिकी और नैमित्तिकी पारिभाषिकी । इनमें मुख्या नैमित्तिकी और मुख्या पारिभाषिकी का विवेचन ऊपर किया जा चुका है अब औपचारिकी श्रुति का विवेचन करते हैं । ८-९ ॥

अर्थ—जहाँ पर किसी कारण विशेष से अभिधेय (मुख्यार्थ) का स्खलन (बाध) हो और जिसके द्वारा अमुख्य (मुख्यार्थ से भिन्न) अर्थ के वाचक शब्द का ग्रहण हो, उसे 'औपचारिकी' श्रुति कहते हैं ॥ १० ॥

अर्थ—औपचारिकी श्रुति भी दो प्रकार की होती है—लाक्षणिकी और गौणी । उनमें लक्षणा की विशेषता के कारण मुख्यार्थ का बाध होने से 'लाक्षणिकी' नामक औपचारिकी (श्रुति) होती है और गुण की विशेषता के कारण 'गौणी' नामक औपचारिकी श्रुति होती है । ॥ ११ (१) ॥

विमर्श—औपचारिकी श्रुति वहाँ होती है जहाँ पर शब्द किसी कारण से अपने अभिधेय (वाच्य) अर्थ का बाध (स्खलन) करके मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ का वाचक होता है । औपचारिकी श्रुति दो प्रकार की होती है—लाक्षणिकी और गौणी । इनमें लक्षणा की विशेषता के योग से लाक्षणिकी और गुण की विशेषता के योग से गौणी होती है । इस प्रकार नैमित्तिकी लाक्षणिकी, पारिभाषिकी लाक्षणिकी, नैमित्तिकी गौणी और पारिभाषिकी गौणी भेद से औपचारिकी श्रुति के चार भेद होते हैं । उनमें प्रथम लक्षणा का विवेचन करते हैं—

अभिधेयाविनाभूत[1]प्रवृत्तिर्ल[2]क्षणोच्यते[3] ॥ ११ ॥
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥

काव्यप्रभावृत्ति

सा खल्वौपचारिकी श्रुतिः पुनर्द्विधा लाक्षणिकी च गौणी च। लक्षणायोगाल्लाक्षणिकी गुणयोगाद् गौणीति। तथा च नैमित्तिकी लाक्षणिकी पारिभाषिकी लाक्षणिकी नैमित्तिकी गौणी पारिभाषिकी गौणी चेति चतुर्विधौपचारिकी श्रुतिः।

तत्र लक्षणां लक्षयति—अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्तिर्लक्षणोच्यते इति। अभिधेयो मुख्यार्थस्तेन सहापरपदार्थान्वये मुख्यैव भवति। ततस्तस्यार्थस्यापरार्थेन सहान्वयबाधे सति तदपरपदार्थान्वययोग्येऽर्थे या तच्छब्दस्य स्वाभिधेयार्थाविनाभूतेऽर्थे प्रवृत्तिः सा लक्षणोच्यते। अभिधेयाविनाभूतेति विशेषणेन स्वाभिधेयार्थसम्बन्धादयः प्रवृत्तेर्हेतव उक्ता स्तने घटं परिदधातीत्यत्र परिधानपदार्थान्वयस्य घटे बाधात्तदन्वययोग्ये वस्त्रे घटसम्बन्धाभावान्न घटपदस्य पटे प्रवृत्तिः स्यादतो न घटशब्दस्य पटे लक्षणा ॥ ११ ॥

गौणीं लक्षयति—लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता इति। लक्ष्यमाणा लक्षणया बोध्यमाना दृश्यमाना वा ये गुणास्तैर्योगाद् सम्बन्धात् या वृत्तिस्तस्या गौणतेष्टेति भावः ॥ ११ ॥

अर्थ—अभिधेय अर्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति को लक्षणा कहते हैं ॥ ११ ॥

अभिर्श—अभिधेय अर्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति को लक्षणा कहते हैं। अर्थात् जहाँ पर अभिधेय से अविनाभूत (सम्बद्ध) अर्थ की प्रतीति होती है उसे 'लक्षणा' कहते हैं। अभिधेय का अर्थ है मुख्य। जहाँ पर मुख्य अर्थ का अपर अर्थ के साथ अन्वय नहीं बनता (बाध होता है) और अपर पदार्थ के अन्वय योग्य अर्थ में शब्द की अपने अभिधेय अर्थ से अविनाभूत (सम्बद्ध) अर्थ में जो प्रतीति होती है उसे लक्षणा कहते हैं। इस प्रकार अभिधेय अर्थ से सम्बद्ध अर्थ में प्रवृत्ति होने पर ही लक्षणा होती है। जैसे—'स्तने घटं परिदधाति बाला' इस उदाहरण में परिधान पदार्थ का अन्वय घट में बाध होने से उसके अन्वय योग्य वस्त्र में घट का सम्बन्ध न होने से घट पद की पट अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होती, अतः घट शब्द का पट अर्थ में लक्षणा नहीं होती ॥ ११ ॥

अर्थ—लक्ष्यमाण गुणों के योग से गौणी वृत्ति होती है। अर्थात् लक्षणा के द्वारा बोध्यमान जो गुण हैं, उनकी विशेषता के सम्बन्ध से गौणी वृत्ति होती है ॥१२-१॥

---

१. 'अभिधेयाविनाभूता' इति पाठान्तरम्। २. 'प्रतीति' इति पाठान्तरम्।
३. तत्रवार्त्तिकटीकासूपलभ्यतं श्लोकार्धोऽयम्।

अभिधेयस्य सम्बन्धात् सामीप्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ॥ १२ ॥

काव्यप्रभावृत्ति

अभिधेयस्य मुख्यार्थस्याविनाभावः सम्बन्धः पञ्चधा। तत्रैकः सम्बन्ध एवाधाराधेयभावादिरप्राप्तयोः प्राप्तिलक्षणः संयोगस्तत्र का लक्षणा यथा—मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ मञ्चपदाभिधेयस्य मञ्चाख्यवस्तुनः क्रोशपदार्थेन सहान्वयबाधे तत् क्रोशपदार्थान्वययोग्ये मञ्चशब्दस्य सम्बन्धो भवति मञ्चस्थपुरुषे प्रवृत्तिर्लक्षणा। अत्राधाराधेयभावः सम्बन्धो न तु स्वत्वस्वामित्वसम्बन्धेन मञ्चस्वामिनि पुरुषे प्राप्तिलक्षणसम्बन्धाभावात्। न चासम्बन्धवति वस्तुनि लक्षणा स्यादिति। इत्येकालक्षणा सम्बन्धात्।

अभिधेयस्याविनाभावः सामीप्याच्च भवति—ततः समीपे वस्तुनि तच्छब्दो वर्त्तते। यथा गङ्गायां घोषो वसति। घोषवासस्य गङ्गायां बाधाद् गङ्गासामीप्यात्तीरे गङ्गाशब्दप्रवृत्तिर्लक्षणा। सामीप्यं न प्राप्तिलक्षणम्।

अर्थ—अभिधेय अर्थ का अविनाभाव सम्बद्ध अर्थ पाँच प्रकार का होता है – अभिधेय अर्थ के सम्बन्ध से, सामीप्य सम्बन्ध से, समवाय सम्बन्ध से, वैपरीत्य के कारण, क्रिया के योग से लक्षणा पाँच प्रकार की होती है ॥ १२ ॥

विमर्श—अब अविनाभूत सम्बन्ध कहाँ-कहाँ प्रवृत्त होता है इसका निरूपण करते हैं। अविनाभाव सम्बन्ध पाँच प्रकार का होता है– आधाराधेयभावादि सम्बन्ध, सामीप्य, समवाय, वैपरीत्य और क्रियायोग आदि सम्बन्ध। प्रथम आधाराधेयभावादि सम्बन्ध का उदाहरण देते हैं –'मञ्चाः क्रोशन्ति'। यहाँ पर मञ्च शब्द के अभिधेय अर्थ मचान वस्तु का क्रोश पदार्थ के साथ अन्वय नहीं बनता, अतः क्रोश पदार्थ के अन्वय योग्य मञ्चस्थ पुरुष में लक्षणा होती है। यहाँ पर आधाराधेयभाव सम्बन्ध है। सामीप्य सम्बन्ध से भी लक्षणा होती है। जैसे—गङ्गायां घोषः। यहाँ पर घोष का स्थान गङ्गा में बाध (असंगत) होने से गङ्गा के सामीप्य सम्बन्ध से तट में लक्षणा होती है। समवाय सम्बन्ध से भी लक्षणा होती है। जैसे –'इमाः क्षत्रियजातयो वृषलत्वं गताः' यहाँ पर क्षत्रिय जाति का वृषलत्व जाति से अन्वय बाध होने से उसके अन्वय के योग्य क्षत्रिय जाति विशिष्ट पुरुष में समवाय सम्बन्ध से क्षत्रिय जाति की लक्षणा होती है। ब्राह्मण आदि में लक्षणा नहीं होगी, क्योंकि ब्राह्मण में क्षत्रिय जाति का समवाय सम्बन्ध नहीं होता। वैपरीत्य सम्बन्ध से लक्षणा का उदाहरण है –'दिवोपवासी पीनो जायते देवदत्तः'। यहाँ पर दिन में उपवास से पीनत्व असम्भव होने से अन्वय बाध है, अतः दिवोपवासी शब्द का रात्रिभोजन में लक्षणा होती है। क्रिया योग से अविनाभाव सम्बन्ध क्रियावान् में होता है। जैसे—'अम्लो रोचकः' यहाँ पर अम्ल

काव्यप्रभावृत्ति

समवायतश्चाभिधेयस्याविनाभावः स्यात्तस्मात्तृतीया लक्षणा। यथा—इमाः क्षत्रियजातयो वृषलत्वं गता इत्यादौ क्षत्रियजातेर्वृषलत्वजातिप्राप्तान्वयबाधे-तदन्वययोग्ये क्षत्रियजातिमत्सु समवायतः क्षत्रियजातिशब्दस्य प्रवृत्तिर्लक्षणा, न तु ब्राह्मणे लक्षणा। समवायस्तु सहज एवाविनाभावहेतुर्नत्वप्राप्तयोः प्राप्तिलक्षण इति पृथगुक्तम्।

वैपरीत्याच्चाभिधेयस्याविनाभावस्तद्विपरीता भवति तस्मात् वैपरीत्याद्यथा दिवोपवासी पीनो जायत इति। दिवोपवासेन पीनत्वासम्भवादन्वयबाधे दिवो-पवासिशब्दस्य रात्रिभोजने प्रवृत्तिः।

तथा क्रियायोगाच्चाभिधेयस्याविनाभावः क्रियावति भवति। यथा—अम्लो रोचक इति। अम्लरसस्य रुचिक्रियावत्त्वाभावे तदन्वयबाधे तदन्वययोग्याम्ल-रसवति द्रव्येऽम्लशब्दस्य प्रवृत्तिर्लक्षणा। यथा आयुर्घृतं, अन्नं प्राणा इत्यादयः।

इति पञ्चधा लक्षणा सम्बन्धादिपञ्चातिरिक्तहेतुतोऽविनाभावाभावात्। अभिधेयाविनाभावे सम्बन्धादिपञ्चविधहेतूनामुपदेशाल्लक्षणा क्वचिदभिधेयार्थ—सहितलक्ष्यार्थबोधिनी भवति सा पुनरजहत्स्वार्थेत्युच्यते। यथा 'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'युद्धे हयान् प्रवेशय'। क्वचिदभिधेयार्थपरित्यागेन लक्ष्यार्थबोधिनी भवति सा पुनर्जहत्स्वार्थेत्युच्यते। यथा - 'गङ्गायां घोषो वसति' 'अन्नं प्राणाः', दिवोपवासी पीनो जायते, जलेनानेन देहो दह्यत इत्यादयः।

रस में रुचि क्रिया का अभाव होने पर अन्वय बाध होने से अम्ल रसयुक्त द्रव्य में अम्ल शब्द की प्रवृत्ति होती है। जैसे—'आयुर्घृतम्' इस उदाहरण में आयु शब्द का घृतार्थ के साथ अन्वय बाध होने से उसका अन्वय बोध के लिए उसके अन्वय योग्य आयुःकारक घृत में प्रवृत्ति रूप लक्षणा होती है।

इस प्रकार अविनाभाव सम्बन्ध से लक्षणा पाँच प्रकार की होती है। लक्षणा कहीं अभिधेय अर्थ के साथ लक्ष्यार्थ का बोध कराती है, उसे 'अजहत्स्वार्था' लक्षणा कहते हैं। जैसे – 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इस उदाहरण में 'कुन्त' शब्द अपने अर्थ का परित्याग न करते हुए कुन्तधारी पुरुष में लक्षणा होती है। लक्षणा कहीं पर अभिधेय अर्थ का परित्याग करके लक्ष्यार्थ का बोध कराती है। उसे 'जहत्स्वार्था' लक्षणा कहते हैं। जैसे—'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में गङ्गा शब्द प्रवाह रूप अर्थ में घोष का आवास असम्भव होने से गंगा का परित्याग करके सामीप्य सम्बन्ध से तट रूप लक्ष्यार्थ का बोध कराती है।

काव्यप्रभावृत्तिः

भ्रान्त्यास्तु अपरां निरुढ़लक्षणामाहुर्यथा शुक्लः पट इत्येवमादयः। तदयुक्तम्। लक्षणा ह्यभिधेयार्थान्वयबाधमालोच्य प्रयुक्ते वाक्ये शब्दस्याभिधेयार्थान्वयोग्येऽभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्न तदा तच्छब्दः स्वलिङ्गं जहाति। यथा गङ्गायां घोष इति गङ्गाशब्दः स्वलिङ्गं न जहाति तथा शुक्लादयः शब्दा गुणिषु लक्षणायां स्वलिङ्गत्यागं न कुर्व्वन्तु। कथं शुक्लः पटः, शुक्ला शाटी, शुक्लं वस्त्रमित्येवं वाच्यलिङ्गाः स्युः? तस्मादत्र न लक्षणा, नापि सा निरूढ़ा। यश्चापरां लक्षणामाह—घटं परिदधातीति घटशब्दस्य पटे लक्षणेति, तदपि तस्य स्ववचनविरोधादयुक्तम्। घटाभिधेयार्थस्य पटार्थेन सह सम्बन्धाभावात्। पटार्थसम्बन्धवति घटे शक्तो न घटशब्द इति। न च यथाकथञ्चिद् रूपेण सम्बन्धः कल्पनीयो भवति घटपटयोः। तथात्वे हि सर्व्वः सर्व्वस्य सम्बन्धी स्यात्। पितृशब्दस्य पत्यौ लक्षणा भवतु, श्यालकशब्दस्य पुत्रे चेत्येवमादिव्यवहारविरोधात्तन्न युक्तम्। न वा तदपि लक्षणाया लक्षणं भवति सामीप्यवैपरीत्ययोः सम्बन्धत्वाभावात्।

जैसा कि मम्मट आदि आचार्यों ने रूढ़िलक्षणा का प्रतिपादन किया है वह उचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि लक्षणा वहाँ होती है जहाँ पर अभिधेय (वाच्य) में अन्वय बाध होने पर वाक्य में शब्द का अभिधेय अर्थ के अन्वय योग्य (अविनाभूत) अर्थ में प्रवृत्ति होती है, उस समय शब्द अपने लिङ्ग (स्वरूप, आकृति) को नहीं छोड़ता। जैसे—'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में गङ्गापद अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार 'शुक्ल. पट.' में शुक्ल शब्द गुणी स्वरूप में लक्षणा होने पर अपने स्वरूप को नहीं छोड़ेगा। तो 'शुक्लः पटः, शुक्ला शाटी, शुक्लं वस्त्रम्' इन उदाहरणों में वाच्य के अनुकूल लिङ्ग कैसे होगा? इस प्रकार न यहाँ लक्षणा होगी और न निरूढ़ा लक्षणा होगी।

आचार्य मम्मट ने निरूढ़ा लक्षणा का उदाहरण 'कर्मणि कुशलः' दिया है। यहाँ पर 'कुशल' शब्द का मुख्य अर्थ 'कुश लाने वाला' है। (कुशान् लाति आंदत्ते इति कुशलः); किन्तु यह अर्थ (कुशग्रहण रूप अर्थ) यहाँ असंगत है। इस असंगति के निवारण के लिए यह शब्द दक्ष या चतुर रूप लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन करता है, जिस प्रकार कुशानयन के लिए विवेक की आवश्यकता है, उसी प्रकार किसी कार्य को अच्छी तरह करने के लिए विवेक की आवश्यकता है। यहाँ पर साधर्म्य से कुशल शब्द दक्ष या चतुर अर्थ में रूढ़ि हो गया है। इसलिए यह रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण है। किन्तु विश्वनाथ आदि कुछ आचार्य इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि उक्त उदाहरण में 'कुशल' शब्द लाक्षणिक नहीं, बल्कि वाचक है। यद्यपि कुशल शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ 'कुशानयन' है, किन्तु व्यवहार

काव्यप्रभावृत्तिः

अथापरे लक्षणालक्षणमिदमाहुः—

'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रुढ़ितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥

एवं च—

लक्षणाशक्यसम्बन्धात्तात्पर्यानुपपत्तितः ।

से यह दक्ष या कुशल अर्थ में रूढ़ि (प्रसिद्ध) हो गया है। इस प्रकार व्युत्पत्तिजन्य अर्थ मुख्यार्थ नहीं होता, अपितु व्यवहार से प्राप्त होनेवाला प्रकृतिजन्य अर्थ ही मुख्य होता है, क्योंकि यदि व्युत्पत्तिजन्य अर्थ को मुख्य मानेंगे तो 'गौः शेते' में लक्षणा होगी 'गच्छतीति गौः' इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ चलनेवाली गौ के लिए 'गो' शब्द का प्रयोग होगा और 'गौः शेते' शयनशील गो के लिए (लक्षणा) होगी इस प्रकार 'कुशल' शब्द का प्रवृत्तिलभ्य अर्थ यह सिद्ध करता है कि 'कुशल' वाचक शब्द है, अतः यहाँ लक्षणा के लिए अवकाश ही नहीं है।

इसी प्रकार 'घटं परिदधाति' इस वाक्य में घट पद की पट में लक्षणा नहीं होती; क्योंकि शब्द का जिस प्रकार के अर्थ में शक्ति होती है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है। यहाँ घट के अभिधेय अर्थ का पट के साथ सम्बन्ध नहीं है, इसलिए पट रूप अर्थ में घट शब्द शक्त नहीं है। यदि जिस किसी रूप में सम्बन्ध की कल्पना करते हैं तो सब सबके सम्बन्धी हो जायेंगे। इस प्रकार पितृ शब्द की पति में लक्षणा होने लगेगी, इसलिए व्यवहार में विरोध होने से इस प्रकार की कल्पना उचित नहीं है।

आचार्य मम्भट के अनुसार मुख्यार्थबाध और मुख्यार्थयोग होने पर रूढ़ि या प्रयोजनवश अन्य अर्थ का लक्षित होना लक्षणा है और उन्होंने रूढ़ि का उदाहरण 'कर्मणि कुशलः' तथा प्रयोजन का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' दिया है। इनमें 'कर्मणि कुशलः' इस उदाहरण के सम्बन्ध में पहिले विचार किया जा चुका है। 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण के सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'गङ्गाया घोषः' का मुख्य अर्थ 'गङ्गा में घोष' है अर्थात् यहाँ पर गङ्गा का अर्थ 'जल-प्रवाह' और 'घोष' का अर्थ 'आभीर ग्राम' है। अतः यहाँ पर जल-प्रवाह और ग्राम का अन्वय नहीं हो सकता है। क्योंकि जल-प्रवाह में ग्रामावास की योग्यता नहीं है अतः सामीप्य सम्बन्ध से 'गङ्गा' पद का 'गङ्गा-तट' में लक्षणा होती है। यहाँ पर शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन है। इस प्रकार गङ्गा शब्द अपने प्रवाह रूप मुख्यार्थ का परित्याग करके सामीप्य सम्बन्ध से तट रूप अर्थ को प्रतीति कराता है। यह मम्भट का अभिप्राय है।

काव्यप्रभावृत्तिः

तद् द्वयमपि सामीप्यवैपरीत्याभ्यामभिधेयाविनाभूते लक्षणाकरणाभावादयुक्तम्। तथा रूढ़ितः प्रयोजनाच्च चेल्लक्षणा भवति तर्हि प्रयोजनार्थसहितार्थे लक्षणाऽथ किं प्रयोजनार्थं विहाय ? तत्र गङ्गायां घोषो वसतीत्यादौ शैत्यपावनत्ववति तीरे लक्षणायां लक्ष्यार्थ एव शैत्य-पावनत्वादिप्रयोजनं स्यान्न व्यङ्ग्यार्थः स्यात्। ततस्तस्य स्ववचनविरोधः स्यात्। यथा चोक्तम्—

अव्यङ्ग्या रुढ़ितस्तत्र सव्यङ्ग्या तु प्रयोजने।

पण्डितराज जगन्नाथ ने शक्य सम्बन्ध को लक्षणा कहा है (**लक्षणा शक्यसम्बन्धा**) किन्तु तात्पर्य की अनुपपत्ति की स्थिति में ही लक्षणा होगी। अर्थात् वक्ता के तात्पर्य के अनुपपन्न होने पर शक्य (वाच्य) सम्बन्ध रूप लक्षणा होती है। इस प्रकार वक्ता के तात्पर्य का वाच्य के द्वारा अन्वय न होने पर लक्षणा होती है। यदि केवल अन्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा का प्रयोजक मानते हैं तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस वाक्य में लक्षणा नहीं होगी, क्योंकि यहाँ पर 'काक' पद का मुख्यार्थ के साथ अन्वय होने में कोई बाधा नहीं प्रतीत होती, किन्तु वक्ता का तात्पर्य केवल कौओं से ही दही की रक्षा करना अभीष्ट नहीं, बल्कि अन्य प्राणियों से भी दही की रक्षा अभीष्ट है, अतः सभी प्राणियों से दही की रक्षा रूप वक्ता के तात्पर्य का अन्वय नहीं बनता, इसलिए उक्त अर्थ तात्पर्यार्थ के लिए लक्षणा की आवश्यकता है।

इस प्रकार शक्य (वाच्य) अर्थ के किसी अन्य अर्थ के साथ सम्बन्ध होना लक्षणा है। यह सम्बन्ध समीप्यादि सम्बन्ध से कई प्रकार का होता है। उनके सामीप्य सम्बन्ध का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' दिया जा चुका है और वैपरीत्य सम्बन्ध का उदाहरण निम्न प्रकार है—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे! सुखितमास्व ततः शरदां शतम्॥

यहाँ वैपरीत्य सम्बन्ध से लक्षणा के द्वारा अर्थान्तर का बोध होता है कि 'आपने बड़ा उपकार किया, क्या कहें, आपने अपनी दुर्जनता दिखा दी, अतः तुम सौ वर्ष तक अनेकविध कष्टों को सहते हुए जीवित रहो।'

किन्तु ये दोनों सामीप्य और वैपरीत्य सम्बन्ध के द्वारा अभिधेयाविनाभूत में लक्षणा नहीं होगी, क्योंकि दोनों का आविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। अतः यह कथन समीचीन नहीं

काव्यप्रभावृत्तिः

यदि प्रयोजनं विहाय मुख्यार्थबाधे तन्मुख्यार्थयोगोऽन्यार्थे लक्षणोच्यते तदा सर्व्वत्रैव लक्षणायाः प्रयोजनं मुख्यार्थबाधे मुख्यार्थान्वयस्तञ्चान्वयं विहाय लक्षणा प्रसज्यते। तदङ्गीकारे गङ्गापदार्थस्तीरं तत्र घोषवासस्यान्वयो वाक्यार्थः। तर्हि चाभिहितार्थानामन्वयः किं प्रयुक्तवाक्ये ? किं प्रयोक्तव्ये वाक्ये वा ? तत्राद्येऽन्वितार्थाभिधानं भवति, शेषेऽभिहितार्थान्वयः स्यादिति। अत्रायमभिसन्धिः— प्रयोक्ता प्रयोगं चिकीर्षुः पदानामभिहितार्थमन्वेतुमर्हमभिसन्धाय वाक्यं प्रयोजयेदिति प्रयोक्तुरभिहितार्थान्वयः। प्रयोक्त्रा प्रयुक्तन्तु वाक्यं श्रुत्वा व्याख्याता तत्रन्वितमभिसन्धाय तत्तत्र पदार्थानामन्वितानां तत्तत् पदैरभिधानं ज्ञात्वा व्याचक्षेतेति अन्वितार्थाभिधानमिति।

प्रतीत होता ? क्योंकि यदि रूढ़ि या प्रयोजन रूप हेतु होने पर लक्षणा होती है तो प्रयोजन सहित अर्थ में लक्षणा होगी या प्रयोजनार्थ को छोड़कर ? यदि प्रयोजन सहित अर्थ में लक्षणा होगी तो 'गंगायां घोषो वसति' इस उदाहरण में गंगा पद का मुख्य अर्थ 'प्रवाह' है। तट में उसका सामीप्य सम्बन्ध है और शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन हैं तो 'गङ्गायां तटे घोषः' ऐसा क्यों नहीं कहते ? इस पर कहते हैं कि गङ्गा में (प्रवाह में) घोष' कहने का प्रयोजन शैत्यपावनत्व आदि है। इस प्रकार शैत्य-पावनत्वविशिष्ट तीर में लक्षणा होने पर शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन लक्ष्यार्थ ही होगा, व्यङ्ग्यार्थ नहीं होगा। इस प्रकार मम्मट के कथन से स्वतः विरोध होगा। यदि प्रयोजन को छोड़कर मुख्यार्थ का बाध होने पर अन्य अर्थ में मुख्यार्थ का योग लक्षणा है तो सब जगह लक्षणा का प्रयोजन मुख्यार्थ का बाध होने पर मुख्यार्थ का अन्वय होगा तो अन्वय को छोड़कर लक्षणा होने लगेगी। यदि अन्वय को छोड़कर लक्षणा करते हैं तो गङ्गा पद के तीर रूप अर्थ में घोषवास का अन्वय वाक्यार्थ होगा। तो कहते हैं कि अभिहित अर्थ का अन्वय क्या प्रयुक्त वाक्य में होगा या प्रयोग के योग्य वाक्य में ? यदि अभिहित अर्थ का अन्वय प्रयुक्त वाक्य में मानते हैं तो वह अन्वितार्थाभिधान होगा और प्रयोक्तव्य वाक्य में मानते हैं तो अभिहितार्थाभिधान होगा अर्थात् इस प्रकार प्रयोक्ता प्रयोग करने की इच्छा से अभिहित पदार्थ का अन्वय की योग्यता देखकर वाक्य का प्रयोग करेगा, यह अभिहितार्थ अन्वय है। प्रयोक्ता के द्वारा प्रयोग किये गये वाक्य को सुनकर व्याख्याता उनमें अन्वित पदों को खोजकर उन उन अन्वित पदार्थों का उन उन पदों के द्वारा अभिधान जानकर व्याख्या करता है, यह अन्वितार्थाभिधान है।

इस प्रकार मम्मट ने व्यङ्ग्यरहित लक्षणा का हेतु रूढ़ि और व्यङ्ग्य-सहित लक्षणा का हेतु प्रयोजन बताया है किन्तु यदि 'गङ्गायां घोष' में शैत्य-पावनत्व रूप प्रयोजन को लक्ष्यार्थ माना जाता है तो मम्मट के उक्त कथन से बिरोध होने से अयुक्त होगा। विश्वनाथ ने लक्षणा का प्रयोजन धर्मगत माना है, उनके अनुसार 'गङ्गायां घोषः' शैत्यपावनत्वादि धर्मों के अतिशय की प्रतीति प्रयोजन है।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ यस्तु लक्षणां षड्विधां विभजते—

स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥

सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।
विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका ॥

भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षड्विधा ॥

तत्र स्वसिद्धये पराक्षेप उपादानाख्या लक्षणा। यथा—'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यत्र कुन्तप्रवेशसिद्धयर्थं कुन्तधारानाक्षिपति, या तूक्ताऽजहत्स्वार्था। परार्थे स्वसमर्पणाद्या लक्षणा सा लक्षणा लक्षणं नाम। यथा गङ्गायां घोषो वसतीति घोषवासस्य गङ्गाधिकरणतार्थं गङ्गायाः स्वसमर्पणं परार्थे गङ्गातीरेऽर्थे तत एषा लक्षणं नाम। इति द्विधा लक्षणा शुद्धा उक्ता। अन्या तु लक्षणा न शुद्धा, किन्तु सारोपा आरोपितार्था। यत्र विषयी तथा विषयश्चेति द्वावुक्तौ। यथा गौर्वाहीकः, अग्निर्माणवकः। इयं लक्षणा सादृश्याद् गौणी सारोपा। अत्र हि विषयी गौः गौरिव-वाहीको विषयः, अग्निर्विषयी, अग्निरिव माणवको विषयः। सम्बन्धान्तरतश्चैषा भवति। यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति। अत्र विषयी मञ्चः मञ्चस्थपुरुषो विषय आरोप्यत्वात्। एषा शुद्धा सारोपा। इति द्विधा सारोपा।

मम्मट ने लक्षणा के छः भेद प्रतिपादित किये हैं—

(१) **उपादानलक्षणा**—अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप करना 'उपादान लक्षणा' है (**स्वसिद्धये पराक्षेपः**)। जैसे—'कुन्ताः प्रविशन्ति' में 'कुन्त' अचेतन होने से प्रवेश-क्रिया में असमर्थ है, इसलिए कुन्त शब्द अपने अन्वय-सिद्धि के लिए कुन्तधारी पुरुष का आक्षेप कर लेता है तब कुन्ताः प्रविशन्ति' का 'कुन्तधारी पुरुष प्रवेश करते हैं' यह अर्थ हो जाता है। वैयाकरण लोग इसको 'अजहत्स्वार्था वृत्ति' कहते हैं।

(२) **लक्षणलक्षणा**—दूसरे के अन्वय-सिद्धि के लिए अपने मुख्यार्थ का समर्पण (परित्याग) करना 'लक्षण-लक्षणा' है (**परार्थं स्वसमर्पणम्**) अर्थात् जहाँ पर शब्द दूसरे (अशक्य) अर्थ के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का परित्याग कर देता है, उसे 'लक्षण-लक्षणा' कहते हैं। जैसे—'गङ्गायां घोष' में 'गङ्गा' शब्द अपने जल-प्रवाह रूप मुख्यार्थ का परित्याग करके तट रूप अर्थ को लक्षित करता है अतः यहाँ 'लक्षण-लक्षणा है। इसी को 'जहत्स्वार्था वृत्ति कहते हैं। ये दोनों शुद्धा लक्षणा के भेद हैं।

काव्यप्रभावृत्तिः

एवं विषयिणा ततोऽन्यस्मिन् आरोपविषयेऽन्तःकृते सति सा लक्षणा साध्यवसानिकेत्युच्यते। सा च द्विधा सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतश्च। सादृश्याद्यथा गौरयम् इति। अत्र गौर्विषयी। ततोऽन्यस्मिन् विषये गोसदृशधर्म्मे विषयिणा (गवादिना) अन्तःकृते निगीर्णे सति लक्षणेयं साध्यवसाना गौणी नाम। सम्बन्धान्तरतस्तु—आयुरेवेदमिति। अत्र विषयी विषयश्चान्तःकृतो न ह्यायुर्भवति घृतं तदन्वयार्थं विषयोऽत्रायुर्जननं जनकतासम्बन्धेनात्रायुःपदस्यायुर्जनके घृते लक्षणा साध्यवसानिका। एषा साध्यवसाना शुद्धा नामलक्षणेति द्विधा साध्यवसाना-गौणी शुद्धा चेति। तेन षड्विधा लक्षणा द्वे उपादानलक्षणाख्ये शुद्धे, द्वे च गौणी शुद्धा चेति सारोपे, द्वे च गौणी शुद्धे साध्यवसानिके इति षट्। इत्येवं षड्भेदा लक्षणाया अनृषिभिः स्वबुद्धिकल्पिता न साध्वी गौण्या लक्षणातः पृथुगुक्तेः। सा च लाक्षणिकी गौणी लक्षणा गुणयोगत इति यदुच्यतेऽग्निनातल्लक्षणणातः पृथगुक्ता गौणी अस्माभिर्लक्षणेवोच्यते इति।

सारोपा और साध्यवसाना—जहाँ पर विषयी (आरोप्यमाण) तथा विषय (आरोप विषय) दोनों शब्दतः कथित होते हैं, वहाँ 'सारोपा' लक्षणा होती है और जहाँ पर विषयी (आरोप्यमाण, उपमान) दूसरे आरोप विषय (उपमेय) को अपने में अन्तर्भाव कर लेता है, वहाँ 'साध्यवसानिका' लक्षणा होती है। ये दोनो सारोपा और साध्यवसाना सादृश्य से तथा सादृश्य को छोड़कर अन्य सम्बन्ध से क्रमशः शुद्धा और गौणी लक्षणा कहलाती है। इस प्रकार कुल चार भेद होते हैं।

(१) गौणी सारोपा (२) गौणी साध्यवसाना
(३) शुद्धा सारोपा (४) शुद्धा साध्यवसाना।

३. गौणी सारोपा—मम्मट ने गौणी सारोपा का उदाहरण 'गौर्वाहीकः' दिया है। यहाँ पर सादृश्य के कारण गौणी सारोपा है। यहाँ पर विषयी (गौ) और आरोप विषय (वाहीक) दोनों शब्दतः कथित हैं अर्थात् दोनों का समानाधिकरण रूप में निर्देश किया गया है। यहाँ पर सादृश्य के कारण गौणी लक्षणा हैं। गौरिव वाहीको विषयः अर्थात् गोगत गोत्वधर्म (जड़ता-मन्दता आदि) का वाहीक व्यक्ति में सदृशता के कारण आरोप किया गया है, अतः यहाँ गौणी सारोपा लक्षणा है।

४. गौणी साध्यवसाना—मम्मट ने गौणी साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण 'गौरयम्' दिया है। यहाँ पर विषयी (आरोप्यमाण गौ आदि) के द्वारा आरोप विषय (वाहीक) का अपने भीतर अन्तर्भाव कर लिया गया है। यहाँ आरोप विषय शब्दतः कथित नहीं है, अतः यहाँ सादृश्य के कारण गो सदृश वाहीक में साध्यवसाना लक्षणा है।

काव्यप्रभावृत्तिः

गुणयोगतस्तु या खल्वौपचारिकी श्रुतिः सा गौणी । तत्र केनचिन्निमित्तेन शब्दः स्वाभिधेयस्य स्खलद्वृत्तिः सन्नमुख्यार्थस्य वाचको भवतीति ? तत्र निमितं योग्यत्वाभावादिकं तेनान्वयबाध एव, नत्वन्वयबाधमुख्यार्थयोगप्रयोजनानीत्येतत् सर्वं निमित्तं लक्षणायान्तु तत् सर्वमेव निमित्तमित्यतो लक्षणातो भिन्ना गौणी । स्वाभिधेयार्थाविनाभूतार्थे प्रवृत्तिर्लक्षणा स्वाभिधेयार्थविनाभूतार्थे प्रवृत्तिर्गौणीति लक्षणागौण्योर्भेदः ।

---

५. शुद्धा सारोपा—मम्मट ने शुद्धा सारोपा का उदाहरण 'आयुर्घृतम्' दिया है। यहाँ पर विषयी (आयु, आरोप्यमाण) तथा आरोपितविषय (घृत) दोनों शब्दतः कथित हैं। अतः यहाँ शुद्धा सारोपा है। यहाँ पर 'घृत' आयु का कारण है और 'आयु' उसका कार्य। अतः दोनों में कार्य-कारण-भाव रूप सम्बन्ध होने से आयु शब्द का घृत अर्थ में लक्षणा होती है।

६. शुद्धा साध्यवसाना—मम्मट ने शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण 'आयुरेवेदम्' दिया है। यहाँ पर विषयी आरोप्यमाण आयु के द्वारा आरोप विषय (घृत) का निगरण कर लिया गया है। यहाँ 'घृत' शब्द शब्दतः कथित नहीं है। यहाँ पर कार्यकारणभाव रूप सम्बन्ध से आयु शब्द लाक्षणिक है। अतः यहाँ पर आरोप विषय घृत का निगरण होने से शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा है।

इस प्रकार मम्मट के अनुसार लक्षणा छः प्रकार की होती है। किन्तु ये छः लक्षणाएँ स्वबुद्धिकल्पित होने कारण साधु नहीं है। इसलिए अग्निपुराणकार ने गौणी को लक्षणा से पृथक् प्रतिपादन किया है। अग्निपुराणकार का कथन है कि 'गौर्वाहीकः' में मुख्य अर्थ का बाध होने पर भी गो का मुख्यार्थ में योग (सम्बन्ध) न होने से लक्षणा नहीं होगी। क्योंकि लक्ष्यमाण गुणों के योग से जो औपचारिकी श्रुति है, वही गौणी है। वहाँ किस निमित्त से शब्द अपने अभिधेय मुख्य अर्थ का स्खलन (परित्याग) कर अमुख्य अर्थ का वाचक होता है ? इस पर कहते हैं—यहाँ योग्यता का अभाव ही निमित्त है। इसलिए अन्वय बाध होने पर शब्द मुख्य अर्थ का परित्याग कर अमुख्य अर्थ का वाचक होता है। गौणी वृत्ति में अन्वय बाध और मुख्यार्थ का योग तथा प्रयोजन ये सभी निमित्त नहीं होते जबकि लक्षणा में वे तीनों निमित्त होते हैं। यही गौणी वृत्ति और लक्षणा वृत्ति में अन्तर है। इसलिए गौणी को लक्षणा से पृथक् कहा गया हैं। जैसे—अग्निर्माणवकः। उन वस्तुओं में जिस प्रकार के गुण होते हैं, उसी प्रकार के गुणों के योग होने पर गौणी वृत्ति होती है। किन्तु 'अग्निर्माणवकः' अग्नि में विद्यमान सभी गुण बालक में नहीं पाये जाते, अतः यहाँ लक्षणा नहीं होती। दूसरे लक्षणा में अविनाभाव सम्बन्ध नियामक होता है अर्थात् अपने अर्थ से अविनाभूत अर्थ में प्रवृत्ति लक्षणा होती है।

लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता ।
गौणी गुणानामानन्त्यादनन्ता तद्विवक्षया ॥ १३ ॥
अन्यधर्म्मस्ततोऽन्यत्र लोकसाम्यानुरोधिना[1] ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिति[2]स्मृतः[3] ॥ १४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ का गौणी ? कतिविधा च इत्यत आह—लोके वस्तूनां गुणानामानन्त्याद् गौणीनामौपचारिकी श्रुतिरनन्ता भवति । सा यथाभूता यदाख्या भवति तदाह—तद्विवक्षयेत्यादि । तत्तद्वस्तूनां तत्तत् प्रसिद्धगुणानां विवक्षया वक्तुरिच्छया लोकसाम्यानुरोधिना लोके वस्तूनां साम्यं सादृश्यमनुरोधकारिणा कविना वक्त्रा योऽन्यस्य धर्मोऽन्यत्रापरत्र सम्यगाधीयते यत्रौपचारिक्यां श्रुतौ सौपचारिकी गौणी नाम श्रुतिः समाधिरिति नाम्ना स्मृतः । यथा—गौर्वाहीकः, अग्निर्माणवकः, गौरेष पुरुषः, सिंहः पुरुषः, इत्येवमादयः । इत्यभिव्यक्तिभेदः श्रुतिः षड्विधा व्याख्याता । मुख्या नैमित्तिकी मुख्या पारिभाषिकी लाक्षणिकी नैमित्तिकी लाक्षणिकी पारिभाषिकी गौणी नैमित्तिकी गौणी पारिभाषिकी चेति ॥ १३-१४ ॥

और गौणी वृत्ति में गुण-सादृश्य नियामक होता है अर्थात् अपने अभिधेय अर्थ—विनाभूत अर्थ में प्रवृत्ति गौणी वृत्ति होती है यही दोनों में अन्तर है । जैसे—'अग्निर्माणवकः' में अग्नि शब्द के लक्ष्यार्थ तथा माणवक शब्द के वाच्यार्थ में आविनाभाव सम्बन्ध नहीं है, बल्कि अग्नि के लक्ष्यार्थ तेजस्विता आदि गुणों के साथ माणवक का सादृश्य सम्बन्ध ही एकमात्र नियामक सम्बन्ध है अतः यह गौणी वृत्ति का उदाहरण है ।

अर्थ—वस्तु के गुणों के अनन्त होने के कारण गौणी वृत्ति अनन्त प्रकार की होती है । जहाँ पर लोक-मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए (अर्थात् लोक-सीमा का निर्वहन करते हुए) अन्य वस्तु का धर्म इससे भिन्न वस्तु में आरोपित (आहित) किया जाता है, उसे 'समाधि' कहते हैं ॥ १३ ॥

विमर्श—अग्निपुराण की कुछ प्रतियों में 'लोकासीमानुरोधिना' के स्थान पर 'लोकसाम्यानुरोधिना' पाठ है । अग्निपुराणकार का कथन है कि उन-उन वस्तुओं के उन-उन प्रसिद्ध गुणों के कहने की इच्छा से लोक में साम्य (सदृशता, सादृश्य)के आग्रह से वक्ता द्वारा अन्य वस्तु के धर्म को अन्य वस्तु में जहाँ (जिस औपचारिकी श्रुति में) सम्यक् आधान (आरोपित) किया जाता है उस औपचारिकी गौणी श्रुति को समाधि कहते हैं । जैसे—'गौर्वाहीक', 'अग्निर्माणवकः आदि ।

---

१. 'सीमानुरोधिना' इति पाठान्तरम् । २. 'समाधिरिह' इति पाठान्तरम् ।
३. 'स्मृतैः' इति पाठान्तरम् ।

अथाक्षेपं लक्षयति—

श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो[1] यस्माद् भाति स चेतरः ।
स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते[2] यतः ॥ १५ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

श्रुतितो न लभ्यमानो योऽर्थो यस्मान्निमित्ताद् भाति प्रकाशते तदर्थस्य निमित्तं स इतरः श्रुतेरन्य आक्षेपो नामाभिव्यक्तिः। आक्षेपेणाभिव्यक्तित्वात् स चार्थो प्याक्षेपः। स चार्थो ध्वनिना स्याद्यत ध्वनिनाक्षेपनाम्न्याभिव्यक्त्या व्यज्यते। यथा—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो,
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे,
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्। २०४॥

अत्र निःशेषच्युतचन्दनादिभिः शब्दे नैमित्तिक्यादिमुख्याभिर्लक्षणादिभिरौपचारिकीभिश्च श्रुतिभिर्योऽर्थोऽभिहितस्तेन वापीस्नानमनुमीयते। इत्येवमर्थो वाक्येन स्फोट्यते। तद्वाक्यध्वनिना तु ध्वन्यते—तस्याधमस्यान्तिकं रन्तुं गतासि, न तु स्वबान्धवस्य समपीडागमं त्वं जानासीत्यपरोऽर्थः। न चायं श्रुत्या लभ्योऽर्थो वाक्यात् प्रतीतत्वात्। वापीं स्नातुमितो गतासीति वापीस्नानवाचकशब्दसद्भावाद्वापीस्नानगमनमेव श्रुतिलभ्योऽर्थः।

इस प्रकार श्रुति नामक अभिव्यक्ति के छः भेद प्रतिपादित हैं—(१) मुख्या नैमित्तिकी (२) मुख्या परिभाषिकी (३) लाक्षणिकी नैमित्तिकी (४) लाक्षणिकी परिभाषिकी। (५) गौणी नैमित्तिकी। (६) गौणी परिभाषिकी ॥१४॥

इसके बाद 'आक्षेप' नामक अभिव्यक्ति अलंकार का लक्षण लिखते हैं—

अर्थ—श्रुति के द्वारा प्राप्य अन्य अर्थ की प्रतीति जिससे होती है, उसे 'आक्षेप' कहते हैं, उसे ही 'ध्वनि' कहते हैं, क्योंकि वह 'ध्वनि के द्वारा 'अभिव्यक्त' होता हैं ॥ १५ ॥

---

१. छ, न, ल पुस्तकेषु 'श्रुतं' वलसमानोऽर्थो इति पाठः।
२. 'छ' बुध्यते इति पाठः।

विमर्श—अग्निपुराणकार ने अभिव्यक्ति नामक अलङ्कार के दो भेद बताये है—श्रुति और आक्षेप। उनमें श्रुति नामक अभिव्यक्ति अलङ्कार का सभेद विवेचन किया जा चुका है। अब आक्षेप नामक अभिव्यक्ति अलङ्कार का विवेचन करते हैं। अग्निपुराणकार आक्षेप अलङ्कार का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि जो अर्थ श्रुति अर्थात् अभिधा और लक्षणा के द्वारा उपलब्ध न हो, वह अर्थ जिस निमित्त से प्रकट हो, वह श्रुति से भिन्न आक्षेप नामक 'अलङ्कार' होता है। वह अर्थ ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त होता है, इसलिए उसे 'ध्वनि' भी कहते हैं।

अग्निपुराण में आक्षेप को 'ध्वनि' कहा गया है और अभिव्यक्ति-विशेष ही आक्षेप है। आक्षेप (ध्वनि) वर्ण, पद और वाक्य के अतिरिक्त अन्य अर्थ का ध्वनन करता हैं, इसलिये उसे 'ध्वनि कहते हैं। अर्थ चार प्रकार के होते हैं – मुख्य, लाक्षणिक, गौण और व्यङ्ग्य। ये अर्थ (वर्ण्य) जिन ध्वनियों से वर्णित होते हैं, उन्हें वर्ण कहते हैं। अकारादि वर्ण ही ध्वनि हैं। विभक्त्यन्त वर्णसमूह को पद कहते हैं (**पदं विभक्त्यन्तमनेकवर्णात्मकम्**), और अभीष्ट अर्थ को प्रतिपादन करने वाले पदसमूह (पदावली) को वाक्य कहते हैं।

वैयाकरण स्फोटरूप शब्द के व्यञ्जक शब्द को 'ध्वनि' कहते हैं (ध्वनति स्फोटं व्यनक्ति इति ध्वनिः)। तदनुसार ध्वनिवादी आचार्य भी व्यङ्ग्यार्थ के व्यञ्जक शब्द और अर्थ के लिए 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार करने लगे। वैयाकरणों के अनुसार जिससे अर्थ स्फुटित (प्रकाशित) हों, वह 'स्फोट है (स्फुटत्यर्थो यस्मात् स स्फोटः)। भर्तृहरि ने नित्य स्फोटरूप शब्द के प्रकाशक श्रूयमाण वर्णों को 'ध्वनि' कहा है। अब प्रश्न यह कि श्रोत्रग्राह्य ध्वनि (वर्ण) के आशुतरविनाशी होने के कारण (अर्थात् एक वर्ण के उच्चारण के बाद जब द्वितीय वर्ण का उच्चारण किया जाता है तो प्रथमवर्ण नष्ट हो जाता है तो समुदायरूप (वर्णसमूहरूप) पद की उपस्थिति एक साथ कैसे होगी ? इसी प्रकार अनेक पदसमूहरूप वाक्य की भी उपस्थिति नहीं होगी। तब पदार्थ या वाक्यार्थ की प्रतीति कैसे होगी ? इस शंका के समाधान के लिए वैयाकरणों ने 'स्फोट-सिद्धान्त' की कल्पना की है। उनका कहना है कि पूर्व-पूर्व वर्णों के श्रवण से एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है। वह संस्कार आत्मा में स्थिर रहता है और अन्तिम वर्ण के श्रवण से अर्थ स्फुटित होता है अर्थात् पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से जनित संस्कार से सञ्चित अन्तिम वर्ण के अनुभव से पद की प्रतीति होती हैं, उसे ही 'स्फोट' कहते हैं। इस स्फोटरूप शब्द के व्यञ्जक भिन्न-भिन्न स्थानों से उच्चार्णमाण वर्णसमूह रूप शब्दों को वैयाकरण लोग 'ध्वनि' कहते हैं, क्योंकि स्फोट की अभिव्यक्ति ध्वनि से होती है (ध्वनिना व्यज्यते यतः)। इस प्रकार व्याकरणशास्त्र में स्फोट की अभिव्यक्ति शब्द से होने के कारण वैयाकरण लोग स्फोट के व्यञ्जक शब्द के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग करते हैं—

'प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते । शब्दं कुरु, शब्दं मा कार्षीः, शब्दकार्यंयं माणवक।' इति ध्वनि कुर्वन्नेवमुच्यते । तस्मात ध्वनिः शब्दः ।

इस प्रकार व्यङ्ग्यरूप अर्थ के व्यञ्जक वाक्य को स्फोट या ध्वनि कहते हैं । इसलिए व्यङ्ग्य होने के कारण व्यङ्ग्यार्थ भी 'ध्वनि' है । इसी प्रकार श्रुति अर्थात् वाच्य एवं लक्ष्य अर्थ को दबाकर (अन्य, उससे भिन्न) व्यङ्ग्य अर्थ के व्यञ्जन (प्रकाशन) में समर्थ शब्दार्थ को आक्षेप या ध्वनि कहते हैं । जैसे—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो,
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं वपुः ।
मिथ्यावादिनि दूति ! बान्धजनस्याज्ञातपीड़ागमे,
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥२०४॥

अर्थात् हे दूति ! तुम्हारे स्तनों के किनारों पर लगा हुआ चन्दन पूरा छूट गया है, तुम्हारे अधरों का राग (लाली) भी धुल गया है, तुम्हारे आँखो का अञ्जन पूरा पुंछ गया है और तुम्हारा कृश-शरीर पुलकित (रोमाञ्चित) है । अरे अपनी सखी की पीड़ा को न समझने वाली, झूठ बोलने वाली दूति ! तू तो यहाँ से बावड़ी में स्नान करने के लिए गई थी, उस नीच के पास नहीं गई थी ।

यह उदाहरण 'अमरुशतक' से उद्धृत है । कोई विदग्धा नायिका अपने प्रियतम नायक को बुलाने के लिए अपनी प्रिय सखी को भेजी थी, किन्तु उसकी सखी नायक के पास जाकर स्वयं रमण करके लौट आई और विदग्धा नायिका से झूठ बोल गई कि मैंने उससे बहुत प्रार्थना की, किन्तु उसने आने से मना कर दिया । किन्तु विदग्धा नायिका ने उसकी झूठ बनावटी बात समझ गई और फटकारती हुई बोली—अरे ! झूठी, दूती ! तू उस नीच (अधम) के पास थोड़े ही गई थी, तू तो बावड़ी में नहाने गई थी, क्योंकि तुम्हारे स्तनों पर लगा चन्दन, अधरों पर लगा राग, आँख का आंजन धुल गया है और तुम पुलकित (रोमाञ्चित) हो गई हो ।

यहाँ पर 'च्युतचन्दनादि' शब्दों से जो अभिधेय या लक्ष्य अर्थ कहा गया है, उससे 'तू बावड़ी में स्नान करने के लिए गई थी' यह अर्थ स्फुटित है, किन्तु ध्वनि के द्वारा यह व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित हो रहा है कि 'तू उस अधम (नीच) के पास रमण करने के लिए गई थी' । 'तुम अपनी सखी की पीड़ा को नहीं जानती हो' यह व्यङ्ग्य है । यह श्रुतिलभ्य अर्थ नहीं है । वापी स्थान वाचक शब्द होने से 'बावड़ी में स्नान करने के लिए गई थी' यही श्रुतिलभ्य अर्थ है । इसलिए दोनों को ही वाक्यार्थ मान लिया जाय ? इस पर कहते हैं 'उस अधम के पास नहीं गई थी' इस कथन से 'उसके साथ रमण करने के लिए गई थी' यह अर्थ

काव्यप्रभावृतिः

तर्हि द्वयमेव वाक्यार्थो भवतु। नैवं तस्याधमस्यान्तिकं न गतासीति वचनेन तेन सह रन्तुं गतासीत्यर्थो न श्रुत्या लभ्यते। वैपरीत्याल्लक्षणया श्रुत्या तस्याधमस्यान्तिकं गतासीत्यर्थो लभ्यते। तेन सह रन्तुमित्यर्थस्तु निःशेषच्युतचन्दनस्तनादिचिन्हे रन्तुं गतासीत्यर्थोऽनुमीयते। तत आक्षेपो नाभ व्यञ्जनावृत्तिर्नास्ति। नैवं लोके हि यदुक्तं कविना वाक्येन तद्वृतं वाङ्मये काव्ये प्रोच्यते। लोकवृत्तं यन्निःशेषच्युतचन्दनस्तनतटादिचिह्नं तेन लोके वृत्तं तद्रमणार्थं गमनमनुमीयते। वाङ्मये तु न तदनुभेयं भवति निःशेषच्युतचन्दनस्तनतटादिवाक्यं न तदर्थस्य लिङ्गसम्बन्धाभावात्। शब्दार्थावसम्बन्धो लिङ्गसम्बन्धेन लिङ्गेन ह्यनुमानं भवति। सम्बन्धस्तु द्विविधो भवति—प्राप्तिलक्षणोऽप्राप्तिलक्षणश्च। तत्र लिङ्गानि प्राप्तिलक्षणसम्बन्धेन लिङ्गेन लिङ्गिनोऽनुमानं भवति। शब्दार्थयोस्तु न प्राप्तिलक्षणसम्बन्धोऽस्ति, अप्राप्तिलक्षणस्तु वाच्यवाचकभावः सम्बन्धोऽस्ति, न च तेनानुमानं भवति, लिङ्गिलिङ्गयोरप्राप्तः। तस्मादाक्षेपेण ध्वनिनाऽसावर्थो व्यज्यते नतु वाक्येनाभिधीयते। तस्मादास्त व्यञ्जनावृत्तिरति।

श्रुति द्वारा लभ्य नहीं है। यदि यह कहा जाय कि वैपरीत्य लक्षणा के द्वारा 'उस अधम के पास रमण के लिए गई थी' यह अर्थ व्यक्त हो जायगा। दूसरे 'च्युतचन्दनादि' चिह्नों के द्वारा 'उस नीच के पास रमण के लिए गई थी' इस अर्थ का अनुमान हो जायगा, अतः व्यञ्जना मानने की क्या आवश्यकता है। इस पर कहते हैं कि लोक में जो बात कही जाती है काव्य में उसका कथन नहीं होता। लोक में 'चन्दन-च्यवनादि' कहा गया है, उसके द्वारा लोक में 'उसके साथ रमण करने गई थी' इसका अनुमान हो जायगा किन्तु काव्य में (साहित्य में) लोकवृत्त चन्दन-च्यवनादि लिङ्ग के द्वारा उसका अनुमान नहीं किया जा सकता। क्योंकि चन्दन-च्यवनादि वाक्य उस अर्थ का लिङ्ग नहीं है। क्योंकि लिङ्गी के साथ शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नहीं होता। सम्बन्ध दो प्रकार का होता है - प्राप्तिलक्षणसम्बन्ध और अप्राप्तिलक्षणसम्बन्ध। वहाँ प्राप्तिलक्षण सम्बन्ध के द्वारा लिङ्ग से लिङ्गी का अनुमान होता है। शब्द और अर्थ का प्राप्तिलक्षण सम्बन्ध है ही नहीं। अप्राप्तिलक्षण वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध होता है, उससे भी अनुमान नहीं होगा क्योंकि लिङ्ग-लिङ्गी का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध होता ही नहीं है। इसलिए यहाँ पर आक्षेप (ध्वनि) के द्वारा यह अर्थ अभिव्यक्त होता है, वाक्य के द्वारा अभिहित नहीं होता। यहाँ प्राप्तिलक्षण सम्बन्ध नहीं होगा, क्योंकि शब्द और अर्थ प्राप्तिलक्षण सम्बन्ध नहीं होता। 'कारण यह कि जिस इन्द्रिय (श्रोत्रेन्द्रिय) से शब्द का ग्रहण होता है उसी से उसके अर्थ का भी ज्ञान होना चाहिए। यहाँ पर श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा शब्द का ग्रहण होता है किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा

काव्यप्रभावृत्तिः

इत्येवं पदसमूहो वाक्यं तृतीयक्षणविनाशिपूर्व्वपूर्व्ववर्णनाशे कथमर्थं स्फोटयति ? वर्णा अकारादयः प्रसिद्धास्तदुपहिताः शब्दा अनित्याः पुनः पुनर्जायन्ते नश्यन्ति वर्णास्तु सिद्धा। न च नश्यन्ति शब्दनाशे तिरोभवन्ति पूर्व्वत्र वर्णा मनसि धृतास्ते वाक्यस्था वर्णास्तथैवानुपूर्व्या स्मृताः प्रकृत्यादिरूपा अभिव्यक्त्या तं तमर्थं ब्रुवन्ति। पदं च वाक्यञ्चेति वाक्यावस्थायां वाक्यान्तर्गतायां धातु - प्रत्यय - प्रादि-चादि-देवादि-प्रातिपदिकानां मुख्यार्थ-लक्ष्यार्थ-गौणार्थ-द्योत्यार्थवत्त्वम्। तत्र धातुप्रत्ययवर्जमर्थवत् प्रातिपदिकम्। प्रादि-चादिकमपि द्योत्यार्थवत्त्वादिति।

वर्णजातिः पदजातिर्वाक्यजातिश्च स्फोटार्थं स्फोटयन्ति। तत्र पूर्व्ववद्वर्णजातिः पदजातिर्न स्फोट। वाक्यजातिश्च स्फोटः। उक्तं च भर्तृहरिणा—

अनेकव्यक्तयभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृतः।
कैश्चिद् व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिता॥ इति

तर्हि चायं व्यङ्ग्योऽर्थः केन स्फोट्यते ? वाक्येन स्फोट्यते। तदभिव्यञ्जकं वाक्यं शब्दः। इति श्रुत्यर्थवाचकः शब्दः श्रौतस्तत्र मुख्यो नैमित्तिकः पारिभाषिकः। औपचारिको नैमित्तिकः पारिभाषिकश्च। तत्र लाक्षाणिकौ गौणश्च। तथा व्यञ्जनयार्थ-प्रतिपादको व्यञ्जक इति प्रतीत्यर्थको लोके ध्वनिः शब्द इति महाभाष्यम्। एतदभिहितं प्राक्—"ध्वनिवर्णः पदं वाक्यमित्येतद्वाङ्मयं मतमिति। व्यङ्ग्यार्थव्यञ्जकं वाक्यं ध्वनिस्तेन व्यङ्ग्यत्वाद्व्यङ्ग्योऽर्थोऽपि ध्वनिरुच्यते इति।

अर्थ का ज्ञान नहीं होता। अतः शब्द और अर्थ का परस्पर प्राप्ति रूप स्वाभाविक सम्बन्ध (प्राप्तिलक्षण सम्बन्ध) नहीं हो सकता, यदि दोनों का प्राप्तिलक्षण सम्बन्ध मानेंगे तो मोदक शब्द कहने से मुख में मोदक (लड्डू) भर जायगा। अग्नि शब्द कहने से मुख जलने लगेगा। इस प्रकार शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक-भाव रूप नियम से शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है।

इसके बाद 'आक्षेप' नामक अभिव्यक्ति अलङ्कार के भेदों का निरूपण करते हैं। आक्षेप को ही ध्वनि कहते हैं क्योंकि वह ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त होता है। 'श्रुति' (अभिधा तथा लक्षणा) के द्वारा जो अर्थ व्यञ्जित (गम्य) नहीं होता, वह अर्थ जिसके द्वारा अभिव्यक्त होता है, उसे आक्षेप 'ध्वनि' कहते हैं। अग्निपुराणकार ने आक्षेप को 'ध्वनि' कहा है अर्थात् आक्षेप ध्वनि का एक प्रकार है। इसके अतिरिक्त ध्वनि या आक्षेप के अन्य प्रकार भी होते हैं। आक्षेप, स्तुत या अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, अपह्नुति और पर्यायोक्त। इन पांचों अलङ्कारों को 'सम' नामक 'ध्वनि' कहते है। इनका क्रमशः विवेचन करते हैं—

शब्देनार्थेन यत्रार्थं कृत्वा स्वयमुपार्जनम् ।
प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषोऽभिधित्सया[1] ॥ १६ ॥
तमाक्षेपं ब्रुवन्त्यत्र… … … … … … … …

काव्यप्रभावृत्तिः

आक्षेपं लक्षयति—यत्राक्षेपे शब्देन श्रौतार्थेन द्वारा स्वयमेवार्थमुपार्जनं कृत्वा इष्टस्याभिमतस्यार्थस्य विशेषमभिधातुमिच्छया यः प्रतिषेध इव क्रियते तमाक्षेपमत्र ब्रुवन्ति । यथा निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटमित्यादिश्लोके मिथ्यावादिनीति सम्बोधनेन कान्तसाक्षात्काराभावोक्तिवाक्येन बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे इति सम्बोधनेन स्वपीड़ागममात्रबोधो व्यञ्जितः । निःशेषच्युतचन्दनस्तनतटादिभिः शब्दैस्तेषामर्थैश्च वापीस्नानार्थगमनमेवार्थमुपार्जनं कृत्वा तेनैवार्थेन इष्टस्य निजार्थं कान्तस्यानयनाय दूतीप्रेरणस्य विशेषं दूत्यास्तेन कान्तेन सह सम्भोगकरणफलमभिधातुमिच्छया वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकमिति प्रतिषेध इव क्रियते इति व्यञ्जना ।

---

(१) आक्षेप अलङ्कार

अर्थ—जहाँ पर किसी अर्थ (वस्तु) को शब्दार्थ के द्वारा स्वयं उपस्थित करके विशेष अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) के कहने की इच्छा से इष्टार्थ (इष्ट वस्तु) का निषेध सा कर दिया जाता है, उसे आक्षेप अलङ्कार कहते हैं ॥ १५ ॥

विमर्श—अग्निपुराण के अनुसार जहाँ पर शब्दार्थ के द्वारा पूर्व में उपन्यस्त, अभीष्ट अर्थ का विशेषरूप में कहने की इच्छा से निषेध सा किया जाता है । उसे आक्षेप अलङ्कार कहते हैं । अग्निपुराण में आक्षेप का लक्षण तो बताया गया है, किन्तु उसके भेद की चर्चा नहीं की गई है । इस प्रकार विशेषाभिधानेच्छा से इष्ट वस्तु के कथन का निषेध सा प्रतिपादन करना आक्षेप है । जैसे—'निःशेषच्युतचन्दनतटमित्यादि' श्लोक में 'मिथ्यावादिनि' इस सम्बोधन के द्वारा प्रिय-समागम के अभाव के कथन के द्वारा 'बान्धवजनस्याज्ञातपीड़ागमे' इस कथन के द्वारा स्वपीड़ागम ज्ञान रूप अर्थ अभिव्यञ्जित होता है । 'निःशेषच्युतचन्दनतटादि' शब्दों तथा उनके अर्थों के द्वारा 'वापीस्नानगमन' रूप अर्थ को उपन्यस्त करके और उसी अर्थ के द्वारा इष्टार्थ कान्त के आनयन के लिए दूती का प्रेषण और दूती का कान्त (नायक) के साथ रमण रूप कार्य बताने की इच्छा से यहाँ से 'वापी स्नान के लिए गई थी, उस अधम के पास नहीं' यह निषेध सा किया गया है, इसलिए यहाँ आक्षेप अलंकार है ।

---

१. 'क' पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति ।

अथ स्तुतं लक्षयति—

... ...स्तुतं स्तोत्रमिदं पुनः ।
अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः[1] ॥ १७ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

स्तुतं स्तोत्रं वा लक्षयति—यत्राक्षेपेऽधिकारादपेतस्य यत्र कर्मणि यस्य नैपुण्येनाधिकारोऽस्ति तस्य गुणकीर्त्तनं न कृत्वा यस्य नैपुण्येनाधिकारो नास्ति अधिकारादपेतस्य तस्यान्यस्य वस्तुनो या स्तुतिर्गुणकीर्त्तनं ततः स्तुतं स्तोत्रं वा नामाक्षेपः । यथा—

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेषु,
विश्रब्धचाटुशतकानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहितेऽपि करे प्रियेण,
सख्यः ! शपामि यदि किञ्चिदहं स्मरामि ॥ २०५ ॥

---

(२) स्तुत या स्तोत्र अलंकार

अर्थ—जहाँ पर अधिकार (प्रस्तुत, प्रकरण) से अपेत (व्यतिरिक्त) अन्य वस्तु (अप्रस्तुत) की जो स्तुति है, उसे स्तुत या स्तोत्र अलंकार कहते हैं। इसी को भामह अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं ॥ १६ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में स्तुत या स्तोत्र नामक एक अलङ्कार कहा गया है जिसका लक्षण है कि जहाँ पर प्रस्तुत (प्रकरण) के अतिरिक्त अन्य वस्तु (अप्रस्तुत) की स्तुति की जाती है, उसे स्तुत या स्तोत्र अलङ्कार कहते हैं। भामह आदि आचार्य इसी को अप्रस्तुत-प्रशंसा कहते हैं। यहाँ पर अधिकार का अर्थ (प्रकरण) प्रस्तुत है। भाव यह कि जहाँ पर अधिकार (प्रकरण) की स्तुति न करके उससे भिन्न अन्य वस्तु (अप्रकरण) की स्तुति की जाती है उसे स्तुत (स्तोत्र) अलङ्कार कहते हैं। जैसे—

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेषु
विश्रन्धचाटुशतकानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः ! शपामि यदि किञ्चिदहं स्मरामि ॥ २०५ ॥

---

१. 'क' पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति ।

अथ समासोक्तिं लक्षयति—

यत्रोक्ते[1] गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः ।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षेपार्थतया बुधैः ॥ १८ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ समासोक्तिं लक्षयति—यस्मिन्नर्थे खलूक्ततत्समानविशेषणोऽन्योऽर्थो गम्यते, सा समासोक्तिः संक्षेपार्थत्ववचनादिति । यथा—निःशेषच्युतचन्दनादिसमान-विशेषणोऽर्थः कृतशृङ्गारत्वं वापीस्नानस्य व्यञ्जितमिति समासोक्तिः स्तुतम् । केवलात्तु यथा—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोप्याददानोंऽशुकान्तं,
गृह्णन् केशेष्ववपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः,
काभीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥ २०६ ॥

इह कामीवेति वचनेन क्षिप्त इत्यादि समानविशेषणोऽन्योऽर्थो गम्यते, इति समासोक्तिः ॥ १७ ॥

अर्थात् कोई सखी अपनी अन्य सखियों से कहती है कि हे सखी ! तुम धन्य हो, जो प्रिय के साथ समागम होने पर तथा सुरतकाल में भी अनेकों विश्वास से युक्त चाटुकारिता (चापलूसी) की बातें कर लेती हो । हे सखि ! मैं कसम खाती हूँ कि प्रियतम के द्वारा नीवी की ओर हाथ बढ़ाने पर मुझे कुछ भी स्मरण नहीं रहता । यहाँ पर 'तुम अधन्य हो' यह व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित होता है । किन्तु यहाँ पर 'तुम अधन्य हो और मैं धन्य हूँ' इस प्रस्तुत कथन से भिन्न (अतिरिक्त) 'तुम धन्य हो' इस अप्रस्तुत की स्तुति की गई है । अतः यहाँ स्तुत (स्तोत्र) अलंकार है ।

(३) समासोक्ति अलङ्कार

अर्थ—जहाँ पर एक (वस्तु या अर्थ) के कहने पर उसके समान विशेषण वाले अन्य अर्थ की प्रतीति हो, संक्षिप्त अर्थ होने के कारण विद्वान् लोग उसे 'समासोक्ति' कहते हैं ॥ १६ ॥

विमर्श—समासोक्ति का अर्थ है 'संक्षिप्त कथन' । अर्थात् एक अर्थ के कहने से दूसरे अर्थ की प्रतीति समासोक्ति है । अग्निपुराणकार का कथन है कि जिस उक्ति (कथन) में समान विशेषणों के कारण दूसरे अर्थ की प्रतीति हो, अर्थ के संक्षिप्त होने के कारण विद्वान्

---

१. 'यत्रौक्तं' इति पाठान्तरम् ।

अथापह्नुतिं लक्षयति—

अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम् ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अपह्नुतिं लक्षयति—यत्राक्षेपे किञ्चिद्वस्तु अपह्नुत्यान्यार्थसूचनं क्रियते सापह्नुतिर्नामाक्षेपः । यथा—

कस्य न वा रोषः स्यात् समीक्ष्य सव्रणमधरं प्रियायाः ।
सभृङ्गपद्माघ्रायिणि वारितवामेऽधुना सहस्व ॥ २०७ ॥

अत्र नायकान्तरकृताधरदर्शनमपह्नुत्य स भ्रमरपद्माघ्राणे तद्भ्रमरदंशोऽधरेऽयमिति सूचितमित्यतोऽपह्नुतिः ॥

लोग उसे 'समासोक्ति' कहते हैं । जैसे—निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरः इत्यादि श्लोक में 'वापी-स्नान' तथा 'रमण' के च्युत-चन्दनादि समान विशेषणों के द्वारा नायिका का नायक के साथ रमण की प्रतीति हो रही है, अतः यहाँ पर 'समासोक्ति' अलंकार है ।

अन्य उदाहरण—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहितोऽप्यापददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवाद्रापरार्धः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥ २०६ ॥

यहाँ पर कामुक व्यक्ति के लिए प्रयुक्त 'क्षिप्तोहस्तावलग्नः' (हाथ छूने पर झटक दिया) आदि विशेषणों के द्वारा त्रिपुर-शराग्नि के कार्य रूप अन्य अर्थ की प्रतीति हो रही है, अतः यहाँ पर 'समासोक्ति' अलंकार है ।

अग्निपुराण के समान ही भामह ने भी 'समासोक्ति' का लक्षण किया है । अग्निपुराणकार और भामह तथा रुय्यक ने विशेषण-साम्य के आधार पर समासोक्ति अलङ्कार कहा है किन्तु साहित्यदर्पणकार ने विशेषण-साम्य के साथ कार्य-साम्य एवं लिंग-साम्य के आधार पर भी समासोक्ति अलंकार कहा है—

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥

(४) अपह्नुति अलंकार

अर्थ—जहाँ पर (वर्णनीय, प्रकट) वस्तु का अपह्नुत करके (छिपा कर) किसी अन्य अर्थ को सूचित किया जाय, वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है ॥ १८-१ ॥

अथ पर्यायोक्तं लक्षयति—

पर्य्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ॥ १९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ पर्यायोक्तं लक्षयति--यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते, यद्वस्तु यत्प्रकारं तस्य तद्विपर्ययेणाभिधानं पर्यायोक्तं नामाक्षेपः। यथा—

कान्ते कत्यपि वासराणि गमय त्वं मीलयित्वा दृशौ,
त्वरित स्वस्ति निमीलयाभि नयने यावन्न शून्या दिशः।
आयाता वयमागमिष्यथ सुहृद्वर्गस्य भाग्योदये,
सन्देशो वद कस्तवाभिलषितस्तीर्थेषु तोयाञ्जलिः ॥ २०८ ॥

अत्र भर्त्ताप्रवासगमनमिच्छन् यदुवाच तद्विपर्ययेण कान्तोवाचेति पर्यायोक्तमिति ॥ १८ ॥

विमर्श—अपह्नुति का अर्थ है छिपाना अर्थात् प्रकृत (वास्तविक, सत्य) वस्तु को छिपाकर किसी अन्य अर्थ को सिद्ध करना अपह्नुति है। भाव यह कि प्रकृत अर्थ का निषेध करके अप्रकृत (दूसरे) अर्थ की कल्पना अपह्नुति है। अग्निपुराण के आधार पर दण्डी, मम्मट, अप्पयदीक्षित, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भी अपह्नुति का लक्षण प्रस्तुत किया है—

अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम्। (दण्डी)
प्रकृतं च निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः। (मम्मट)
प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः। (विश्वनाथ)
प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम्। (दीक्षित)

इस प्रकार प्रकृति को निषेध करके अन्य अर्थ (अप्रकृत) का आरोप करना अपह्नुति है। जैसे—

कस्य वा न रोषः स्यात् समीक्ष्य सव्रणमधरं प्रियायाः।
सभृङ्गपद्माघ्रायिणि वरितवामेऽधुना सहस्व ॥ २०७ ॥

अर्थात् प्रिया के व्रणयुक्त अधर को देखकर किसे क्रोध नहीं होगा ? अरे ! भौंरे के साथ कमल को सूँघने वाली और मना करने पर न मानने वाली वामे ! अब कष्ट को सह।

यहाँ पर नायिका के अधर परपुरुष के द्वारा दन्तक्षत से व्रणयुक्त हो गये हैं जिसे देखकर पति का नाराज होना स्वाभाविक है। किन्तु उसकी चतुर सखी उक्त बात को छिपाने के लिए कह रही है कि अरे ! भौंरे से युक्त कमल को सूँघने से भौंरे ने अधर में काट लिया है जिससे अधर में घाव हो गया है। मेरे मना करने पर भी तू नहीं मानी, इसलिए अब कष्ट सह ! यहाँ पर नायक के दन्तक्षत को छिपाकर भ्रमरदंश रूप अर्थ की कल्पना की गई है, अतः अपह्नुति अलंकार है।

(५) पर्यायोक्त

अर्थ—जो बात अन्य प्रकार से कही जाय, उसे 'पर्यायोक्त' अलंकार कहते हैं। अर्थात् किसी वस्तु का प्रकारान्तर से कथन करना 'पर्यायोक्त' है ॥ १८ ॥

विमर्श—पर्यायोक्त का अर्थ है पर्याय के द्वारा कथन अर्थात् प्रकारान्तर से विवक्षित अर्थ (वस्तु) का कथन पर्यायोक्त है। अग्निपुराण में पर्यायोक्त का लक्षण निम्न प्रकार बताया गया है—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।

अर्थात् जो वस्तु जिस रूप में है उसका उससे भिन्न प्रकार से कहना पर्यायोक्त है। अग्निपुराण के अनुसार भामह ने भी पर्यायोक्त का लक्षण प्रतिपादित किया है (**पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते**)। उद्भट के अनुसार वाच्य-वाचक-भाव से भिन्न व्यञ्जन-व्यापार (आवागमन) के द्वारा विवक्षित अर्थ का कथन पर्यायोक्त' है (**पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। वाच्य-वाचक-वृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥**) अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने गम्य अर्थ का भङ्ग्यन्तर (प्रकारान्तर) से अभिधान को 'पर्यायोक्त' कहा है (**गम्यस्यापि प्रकारान्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्**)। साहित्यदर्पणकार ने भी इसी अर्थ का प्रतिपादन किया है (**पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते**)। आचार्य अभिनवगुप्त इसी पक्ष का समर्थन करते हुए कहा है कि (**अत एव पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सह पर्यायोक्तमभिधीयते इति**)। इस प्रकार विवक्षित अर्थ का प्रकारान्तर (व्यञ्जन-व्यापार) से अभिधान 'पर्यायोक्त' अलंकार है। जैसे—

कान्ते ! कत्यपि वासराणि गमय त्वं मीलयित्वा दृशौ ।
स्वस्ति स्वस्ति निमीलयामि नयने यावन्न शून्या दिशः ॥

आयाता वयमागमिष्यथ सुहृद्वर्गस्य भाग्योदये ।
सन्देशो वद कस्तवाभिलषितस्तीर्थेषु तोयाञ्जलिः ॥ २०८ ॥

कोई व्यक्ति परदेश जाते समय अपनी प्रिया से कह रहा है कि हे प्रिये ! तुम कुछ दिन आँखें बन्द कर बिता लेना। तब पत्नी कहती है कि आपका कल्याण हो, तब तक आँखें बन्द रखूँगी जब तक दिशाएँ शून्य नहीं हो जातीं। पति कहता है कि हम आयेंगे। पत्नी कहती है कि मित्रों के भाग्योदय होने पर आओगे ? फिर पति कहता है कि हे प्रिये ! कुछ सन्देश कहो, तुम्हें क्या चाहिए ? तब पत्नी कहती है कि तीर्थ में 'तिलाञ्जलि'।

यहाँ पर परदेश जाते समय पति ने अपनी पत्नी से जो कुछ कहा है, पत्नी ने उसके विपरीत बात प्रकारान्तर से कही, अतः यहाँ पर्यायोक्त अलंकार है।

अथ समाख्यमाक्षेपं लक्षयति—

एषामेकत्र सङ्गे च समाख्या ध्वनिरित्यतः ।

इत्याग्नेये महापुराणे काव्यालङ्कारशास्त्रे उभयालङ्कारविवेचनं नाम नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ समाख्यमाक्षेपं लक्षयति—एषां पञ्चानामाक्षेपाणां सङ्गे खल्वेकत्रावस्थाने सतीत्यतः समं युगपदित्यतः समाख्या नाम ध्वनिरुच्यते । यथा—

हन्तालिसन्तापनिवृत्तयेऽस्याः किन्तालवृत्तन्तरलीकरोषि ।
उत्ताप एषोऽन्तरदाहहेतुर्नतभ्रुवो न व्यजनोपनोद्यः ॥ २०९ ॥

इह कामिन्याः कामजमुत्तापमुपलभ्य वैद्येन स्वयं शब्देनार्थेनार्थमुपार्जनं कृत्वा-कामजातमुत्तापं विशेषं वक्तुमिच्छया हन्तालिसन्तापनिवृत्तयेऽस्याः किन्तालवृन्तं तरलीकरोषि ? उत्ताप एषोऽन्तरदाहहेतुर्नतभ्रुवो न व्यजनोपनोद्य इति प्रतिषेध इव कृतः, इति स्तुतम् । तालवृन्तव्यजनवायुना प्रशान्ताधिकादपेतस्य सन्तापस्य स्तुतिरियम् । उत्ताप एषोऽन्तरदाहहेतुरिति स्तोत्रम् । अथात्र न व्यजनोपनोद्या इति समासोक्तिः । समानविशेषणोऽन्योऽर्थोऽत्र गम्यते । यथास्याः कामिन्याः कामजननो व्याकुलत्वमपह्नुत्यान्यस्यार्थस्यान्तरदाहहेतुक एष उत्ताप इत्यस्य सूचनमपह्नुतिश्च । एवमत्र पर्य्यायोक्तं न व्यजनोपनोद्य इति वचनेन अन्तरदाहहेतुके तत् सन्तापस्य निवृत्तिर्नखलु-व्जनेनेति । किन्तर्हि नव्यजनेन नवीनपुरुषेणेति विपर्य्ययेणोक्तमिति युगपत् पञ्चा-नामाक्षेपाणां मेलने समाख्या नाम ध्वनिराक्षेप इति पञ्चविधाक्षेपवचनेनान्यविध-ध्वनिर्नास्ति ।

समाख्यालङ्कार

अर्थ—उपर्युक्त आक्षेप (ध्वनि) मूलक अलंकारों का एकत्र अवस्थान 'सम' नामक अलंकार है ॥ १९ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में ध्वनिमूलक अलंकारों में 'सम' नामक एक अलंकार का प्रतिपादन किया गया है । जहाँ पर आक्षेपमूलक अलंकार एकत्र समवस्थित हों वहाँ 'सम' नामक अलंकार होता है । इन सभी प्रकारों को 'ध्वनि' भी कहते हैं । अग्निपुराण की यह विशेषता है कि यहाँ पर 'ध्वनि' को एक अलंकार के रूप में देखा गया है और आक्षेप, स्तुत, समासोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति इन पाँचों अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव कर लिया गया है । समाख्यालङ्कार का उदाहरण निम्न प्रकार है—

काव्यप्रभावृत्तिः

एतेन शब्दव्यङ्ग्यमर्थव्यङ्ग्यमुभयव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्यार्थव्यङ्ग्यमित्येवं ध्वनयोऽनृषिभिर्बुद्धैर्यत् स्वबुद्ध्या कल्प्यन्ते तदसाधु। आर्षत्वाभावादिति। इत्येषाऽभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेपश्चेति द्वयी शब्दार्थोभयालङ्कार इति ॥ १९ ॥

इति आग्नेये काव्यलङ्कारशास्त्रे उभयालङ्कारविवेचनं नाम
नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ९ ॥

हस्तालिसन्तापनिवृत्तयेऽस्याः किं तालवृन्तं तरलीकरोषि।
उत्ताप एषोऽन्तर्दाहहेतुर्नतभ्रुवो नव्यञ्जनोपनोद्यः॥ २०९ ॥

यहाँ पर कामिनी नारी के कामजन्य संताप को देखकर वैद्य ने स्वयं शब्द और अर्थ से अर्थ को उपन्यस्त करके कामजन्य संताप को विशेष रूप से कहने की इच्छा से उपर्युक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है। उक्त उदाहरण में एक नायिका अपनी सखी के काम सन्ताप को देखकर सखी से कहती है कि हे सखि! इस कामिनी के सन्ताप को दूर करने के लिए ताड़ के पंखे से क्यों हवा कर रही है? इस नायिका के अन्तःकरण का संताप पंखे से दूर नहीं होगा? यहाँ पर 'न व्यजनोपनोद्यः' में इष्टार्थ का प्रतिषेध सा किया गया है कि कामिनी का सन्ताप व्यजन (पंखे) से दूर नहीं किया जा सकता, बल्कि 'नव्यजनोपनोद्यः' अर्थात् नव्य पुरुष (नवयुवक) के द्वारा दूर किया जा सकता है। यह अर्थ आक्षेप के द्वारा ध्वनित हो रहा है। तालवृन्त के द्वारा दूर न किये जाने से कामिनी के सन्ताप का 'नव्यजोपनोध' होने से उसकी स्तुति की गई है अतः स्तुत अलंकार है। क्योंकि नायिका का ताप अन्तःकरण को जलाने वाली है। यहाँ पर 'नव्यजनोपनोद्यः' में समान विशेषण के द्वारा अन्य अर्थ का कथन होने से समासोक्ति है। यहाँ पर कामिनी नारी के काम-जन्य व्याकुलता को छिपाकर अन्य अर्थ (वस्तु) यह सन्ताप अन्तःकरण को जलाने वाला है, यह सूचित होने से अपह्नुति अलङ्कार है। 'नव्यजनोपनोद्यः' इस कथन के द्वारा अन्तर्दाह कारण (हेतु) इस सन्ताप की निवृत्ति (शान्ति) व्यजन (पंखे) के द्वारा नहीं हो सकती। बल्कि 'नव्यजन' (नवयुवक) के द्वारा हो सकती है, इस प्रकार शब्दान्तर (विपर्यय) से कहा गया है, अतः यहाँ 'पर्यायोक्त' अलङ्कार है। इस प्रकार यहाँ पर एक साथ ही आक्षेप (ध्वनि) के प्रकारों का उल्लेख होने से 'सम' नामक ध्वनि है।

इस प्रकार विद्वानों ने शब्दव्यङ्ग्य, अर्थव्यङ्ग्य, उभयव्यङ्ग्य, व्यङ्ग्यार्थव्यङ्ग्य आदि ध्वनियों का जो अपनी बुद्धि से कल्पित किया है, वह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वह आर्ष नहीं है। इस प्रकार अभिव्यक्ति अलंकार के श्रुति और आक्षेप ये भेद शब्दार्थोभयालङ्कार के मध्य परिगणित किये गये हैं। काव्य के शोभाकारक धर्म को अलङ्कार कहा गया है, वह अभिव्यक्ति अलङ्कार में है ही, अतः 'अभिव्यक्ति' एक अलङ्कार है। यद्यपि मम्मट आदि आचार्यों ने अभिव्यक्ति अलङ्कार को स्वीकार नहीं किया है, किन्तु पर्यायोक्त आदि अलङ्कारों का विवेचन मम्मट आदि आचार्यों ने किया है। आनन्दवर्द्धन ने भी पर्यायोक्त आदि को अलङ्कार माना है, अतएव अभिव्यक्ति के अलङ्कार होने में कोई विरोध नहीं दिखाई देता। जैसाकि कहा गया है—

'कामं सर्वेऽप्यलङ्कारः रसमर्थे निषिञ्चति'

इस प्रकार अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्र का उभयालङ्कारविवेचन नामक नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

काव्यगुण-विवेकः

अग्निरुवाच

अलङ्कृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत् ।
वपु[1]ष्यललिते[2] स्त्रीणां हारो भारायते परम् ॥ १ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

वसिष्ठयाग्निरुवाच । गुणोपदेशस्य प्रयोजनं नास्ति। काव्यस्योत्कर्षोऽलङ्कारेणैव भवतीत्यतः पूर्वं गुणस्य प्रयोजनमाह —काव्यमलङ्कृतमपि अलङ्कारेण शोभितमपि निर्गुणञ्चेत् तदा न प्रीत्यै भवेत् । तत्र दृष्टान्तमाह— स्त्रीणां निगुर्णानां सौन्दर्यादिगुणरहिते वपुषि शरीरे यथा हारः परं भारायते भार इवाचरति न तु प्रीत्यै भवेत् । वपुषीति दृश्यांशे दृष्टान्तः । तेन स्त्रीणां निर्गुणत्वं न केवलं शरीरगुणराहित्यमात्ममनोगुणराहित्यमपि बोध्यम् सुबुद्धि-सुशीलत्वादि-गुणवतीनां कुत्सितवपुषां स्त्रीणामपि हारो भारायते । आत्मनः शरीरगुणहीनानां नारीणां वपुषि हारः परं भारायते । आत्मनो गुणाभावे सौन्दर्य्य-गुणवति वपुष्यलङ्कृते तु स्त्रीणां हारोऽपि भारायत इति ॥ १ ॥

अर्थ—अलङ्कृत होने पर भी निर्गुण काव्य आह्लाद-जनक नहीं होता । नारी (स्त्री) के सौन्दर्य-हीन शरीर में हार भार बन जाता है ॥ १ ॥

विमर्श—अग्निपुराण का गुण-विवेचन सर्वथा नवीन हैं । काव्य अलङ्कृत अर्थात् अलङ्कार से शोभित होने पर भी गुण-रहित हो तो प्रीति-जनक नहीं होता । जैसा कि भोज ने भी कहा है कि अनेक अलङ्कारों से सुशोभित होने पर भी गुण-हीन काव्य श्रव्य नहीं होता । (अलङ्कृतमपि श्रव्यं न काव्यं निर्गुणं भवेत्) । वामन का कथन है कि सुन्दर अलङ्कारों से अलङ्कृत होने पर भी जिस प्रकार कामिनी का शरीर यदि सौशील्यादि गुणों से रहित हो

---

१. घ, ङ, न, ल पुस्तकेषु वपुष्यलङ्कृत इत्यारभ्य वैशेषिक इति द्विधा इति यावत् सार्द्धश्लोकद्वयं नास्ति ।

२. 'छ' पुस्तके वपुष्यलापिते, मुद्रितपुस्तके वपुष्यलङ्कृते इति पाठान्तरे ।

न च वाच्यं[1] गुणो दोषाभाव एव भवेदिति[2] ।
गुणाः श्लेषादयो दोषा गूढाद्यर्थाः पृथक् कृताः ॥ २ ॥

काव्यप्रभावृत्ति

दोषाभाव एव गुणो भवेदिति न वाच्यं दोषाभावेऽपि हि निर्गुणः सम्भवति । यतो हि गुणाः श्लेषादयो दोषा गूढाद्यर्थाः परस्परं पृथक् कृता इति ॥ २ ॥

तो दुर्भग होता है उसी प्रकार उपमा आदि अलङ्कारों से मण्डित भी काव्य प्रसादादि गुणों से हीन होने पर दुर्भग होता है। यदि युवती के रूप के समान काव्य अलङ्कार रहित भी हो और गुणों (सुशीलादि, प्रसादादि) से युक्त हो तो हृदयावर्जक होता है—

यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनमबन्ध्यमङ्गनायाः ।
अपि जनयदपि तानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते ॥

इस प्रकार काव्य में गुणों की अनिवार्य स्थिति बतायी गई है क्योंकि गुण-हीन काव्य कभी भी चित्ताकर्षक नहीं होते । अग्निपुराणकार का कथन है कि नारी का शरीर सौन्दर्यादि गुणों से हीन होने पर हार भार बन जाता है । तात्पर्य यह कि केवल गुण शरीर के ही बाह्य धर्म नहीं हैं, बल्कि शरीर के अन्तःतत्त्व आत्मा, मन के भी धर्म हैं । इस प्रकार स्त्री का निर्गुणत्व से तात्पर्य शरीरात्ममनोगुणराहित्य है । अतः स्त्री का कुत्सित शरीर भी यदि सुबुद्धि, सुशीलता आदि गुणों से हीन हो तो हार परम भार के समान प्रतीत होता है और वह चित्ताकर्षक नहीं होता, यहाँ तक कि आत्मा तथा मन के गुणों के अभाव में नारी के सुन्दर शरीर में भी हार भार बन जाता है । अतः आत्मा, मन, शरीर के गुणों से हीन नारी का शरीर अलङ्कारों से अलङ्कृत होने पर हार भार बन जाता है ।

अर्थ—दोषों का अभाव ही गुण है, ऐसा नहीं कहना चाहिए । क्योंकि गुण श्लेषादि है और गूढार्थादि दोष हैं, ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं ॥ २ ॥

विमर्श—भरत ने दोषाभाव को गुण कहा है । अग्निपुराणकार ने दोषाभाव को गुण नहीं माना है । उनका कहना है कि गुण दोषाभाव रूप नहीं है । बल्कि गुण अपने रूप में स्वतन्त्र है, पृथक् है । जैसा कि अग्निपुराण में कहा गया है कि गुण श्लेषादि हैं और दोष गूढार्थ आदि है, ये दोनों परस्पर पृथक् हैं । दोषाभाव गुण है, यह कभी भी नहीं कहना चाहिए; क्योंकि दोष के अभाव में भी काव्य निर्गुण होता है । इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं दोष भी गुण हो जाते हैं । इस प्रकार अग्निपुराण में गुण को भावात्मक माना गया है, वह दोषों का अभावमात्र नहीं, बल्कि उसकी भावात्मक सत्ता है ।

---

१. 'ख' पुस्तके 'वाक्यं' इति पाठः ।
२. 'भविष्यति' इति पाठान्तरम् ।

यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः ।
सम्भवत्येष सामान्यो[1] वैशेषिक इति द्विधा ॥ ३ ॥

काव्यप्रभावृत्ति

अथ काव्यगुणान् लक्षयति—सर्वत्र गुणशब्दः प्रशंसासाधनधर्म्मार्थोऽलङ्कारस्तु शोभाकरधर्म्म इति भेदः । तत्र काव्यस्य प्रशंसाहेतुधर्म्मरूपगुणमाह—

काव्ये यो भावः काव्यस्य महतीं छायामनुगृह्णाति एकदेशस्थोऽपि सर्वां काव्यछायामुत्कर्षयति योऽसौ काव्यस्य महाछायानुग्राहको भावो गुण उच्यते, गौणत्वात् । मुख्यांशो गुणांशश्चेति द्वावंशौ सर्व्वत्र वर्त्तेते । छाया तु द्विधा—छाया प्रतिछाया च । तत्र छाया च—

गुण-लक्षण

अर्थ—जो काव्य में महती शोभा को अनुगृहीत करता है अर्थात् जो काव्य को अत्यन्त शोभित करता है, उसे गुण कहते हैं । इसके सामान्य और वैशेषिक दो भेद होते हैं ॥ ३ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में काव्य में महती शोभा का अनुग्राहक भाव गुण कहा गया है । भाव यह कि काव्य में जो भाव शोभा का आधान करता है, काव्य-शोभा का उत्कर्ष करता है, वह गुण है । इस प्रकार गुण काव्य का शोभादायक धर्म है । अग्निपुराण में काव्य के शोभाकारक धर्म को अलंकार कहा गया है (**काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते**) । इस प्रकार अग्निपुराण में गुण को भी काव्य का शोभाकारक बताया गया है और अलंकारों को भी काव्य का शोभाकारक धर्म बताया गया है । इस प्रकार काव्य में गुण भी शोभा करते हैं और अलंकार भी शोभा करते हैं तो दोनों ही शोभाकारक धर्म हुए तो फिर दोनों में अन्तर क्या रहा ? इसका समाधान अग्निपुराण में नहीं किया गया है । सर्वप्रथम वामन ने गुण और अलंकार में भेद स्थापित करने का प्रयास किया है । उनके अनुसार गुण तो काव्य के शोभाकारक धर्म हैं और अलंकार काव्य की शोभा के उत्कर्षाधायक हैं (**काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः । तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः**) । मम्मट ने काव्यात्मक रस के उत्कर्षक धर्म को गुण कहा है जिनकी अचल-स्थिति है और अलंकार को काव्यांग के (शब्द और अर्थ) के शोभावर्द्धक धर्म कहा है । पण्डितराज का कहना है कि गुण काव्यात्मक रस के धर्म नहीं हैं; किन्तु स्वतन्त्र हैं और शब्दादि में रहते हैं । अब अग्निपुराण की शब्दावली पर ध्यान दीजिये । काव्य में महती छाया का अनुग्राहक भाव गुण है । छाया का अर्थ कान्ति है, छाया का एक अर्थ प्रतिबिम्ब भी है (**छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः—अमरकोश**) । छाया का अर्थ आकृति की झलक, प्रतिच्छाया भी है ।

---

१. 'सामान्यो' इति पाठान्तरम् ।

काव्यप्रभावृत्तिः

वर्णमाक्रामति छाया प्रभावर्णप्रकाशिनी ।
आसन्ना लक्ष्यते छाया विकृष्टायाः प्रकाशते ॥
नाछायो नाप्रभः कश्चित् काले छायाः प्रभाश्रयाः ॥
प्रतिप्रमाणसंस्थानं जलादर्शातपादिषु ।
छाया या सा प्रतिच्छाया या च वर्णप्रभाश्रया ॥

तेन काव्ये जलादर्शादिषु प्रमाणसंस्थानयोः प्रतिरूपेण छाया न सम्भवति वाङ्मयत्वात् । मूर्त्तस्य हि छाया जलादर्शादिषु सम्भवति । वस्तुतः सर्व्व-छायालक्षणमुक्तं प्रमाणसंस्थानयोरानुपूर्व्वीकं आभासश्छाया सा काव्यस्यापि सम्भवति परिमाणञ्च संस्थानञ्च काव्यस्य वर्त्तते । तच्चैकदेशस्याप्यस्तीति तद्व्या-वृत्त्यर्थं महतीमिति । काव्ये आद्यन्तसमुदायात्मकं परिमाणसंस्थानं गद्यपद्यात्मकं छन्दोविशेषघटितसार्थपदावलीसमुदायस्तयोरानुपूर्व्वीक आभासश्छाया महती । तां महतीं छायां सार्थवाक्यावलिं यो भावोऽनुगृह्णाति स गुण इति । एष गुणः काव्यस्य सामान्यो वैशेषिक इति द्विधा सम्भवति । सामान्यतो वर्त्तते यः स सामान्यः, विशेषतो वर्त्तते यः स वैशेषिकः । सामान्यमनेकस्य समानताविशेषोऽसमानतो भेद-कृत् सामान्यविशेषौ परस्परबुद्ध्यपेक्षौ भवत इति ॥ ३ ॥

काव्यप्रभावृत्ति के अनुसार छाया दो प्रकार की होती है—छाया और प्रतिच्छाया । छाया वर्ण को आक्रान्त करती है और प्रभा वर्ण की प्रकाशिनी है । छाया आसन्न होने पर लक्षित होती है और प्रभा दूर होने पर प्रकाश करती है । कोई भी वस्तु न छाया से रहित है और न प्रभा से रहित है । छाया प्रभा के आश्रित होती है । जल, दर्पण, प्रकाश आदि में प्रमाण और संस्थान के प्रतिरूप जो छाया है, वह प्रतिछाया है । वस्तुतः प्रमाण और संस्थान का आनुपूर्व्वी आभास छाया है और वह छाया काव्य में भी सम्भव है । क्योंकि काव्य का भी प्रमाण और संस्थान होता है । काव्य में आदि से अन्त तक समुदायरूप प्रमाण है और गद्य-पद्यात्मक, छन्दोविशेष से घटित सार्थक पदावली समुदाय संस्थान है उनका आनुपूर्व्वी आभास छाया है, उस छाया को जो अनुगृहीत करता है, उसे गुण कहते हैं । भाव यह कि

तत्र सामान्यं सप्रभेदं लक्षयति—

सर्वसाधारणीभूतः सामान्य इति मन्यते।
शब्दमर्थमुभौ प्राप्तः सामान्यो भवति त्रिधा ॥ ४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

तत्र सामान्यं सप्रभेदं लक्षयति—कतिचिदर्थाः साधारणीभवन्ति। यथा—गृहस्थानां भ्रातॄणामेक एव सतामर्थाः, न ते पृथग्वसतां भ्रातॄणां साधारणीभवन्ति। ततः सर्व्वसाधारणीभूतोऽर्थः स सामान्य इति मन्यते। तर्हि किं पञ्चविधगद्यकाव्य-सप्तविधपद्यकाव्यमिश्रकाव्याष्टाविंशतिविधानां साधारणीभूतो गुणः सामान्यगुण इति सर्व्वेषामेव काव्यानां शब्दगुणोऽर्थगुण उभयगुण इति त्रिधा सामान्यगुणो भवति। तत्र शब्दं प्राप्तो यश्छायां महतीमनुगृह्णाति स सामान्यः शब्दगुणः।

काव्य में आद्यन्त समुदाय रूप प्रमाण या परिणाम है और छन्द विशेष से घटित (रचित) गद्य-पद्यरूप सार्थक वाक्य (पदावली) समुदाय संस्थान है उन दोनों प्रमाण और संस्थान का आनुपूर्व्वी आभास छाया है। इस प्रकार सार्थक वाक्यसमूह रूप जो छाया है उसे अनुगृहीत करने वाला (अनुग्राहक, उपकारक) गुण है। मानस-पटल पर किसी भी वस्तु की जो छाप पड़ती है, वही उस वस्तु की छाया है। वस्तु छाया को फेंकती हैं, वही विम्ब, प्रतिविम्ब या प्रतिछाया है। उस छाया को जो अनुगृहीत करता है वह गुण है। इस प्रकार काव्य में सार्थक पद-समूह को अनुगृहीत करने वाला धर्म गुण है। इस प्रकार गुण काव्य में छाया (छवि) को अनुगृहीत करते हैं, वस्तु को रूपायित करते हैं, भावों एवं विचारों को ग्राह्य बनाते है। अलङ्कार उसे बढ़ाते हैं, चमत्कृत करते हैं। गुण काव्य में छाया को अनुगृहीत कर उसे प्रतिबिम्बित करते हैं, वस्तु को बोधगम्य बनाते है, भावों को अभिव्यक्त करते हैं। अलङ्कार काव्य में छाया (छवि) को कल्पना का रंग देते हैं, उसे चमत्कृत करते हैं। गुण भावाभिव्यक्ति के साधन हैं, हेतु हैं, श्लाध्यता के साधनभूत धर्म हैं, अलङ्कार शोभाकारक धर्म है। गुण प्रशस्यता के साधन है, अलंकार कारक हैं, यहीं दोनों में अन्तर है।

गुण के दो भेद कहे गये हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य सर्वसाधारण होता है। प्रथम सामान्य के स्वरूप एवं प्रकारों का निरूपण करते हैं—

अर्थ—(सभी प्रकार की रचना में) साधारण रूप में प्राप्य गुण सामान्य गुण माना जाता है। सामान्य गुण के तीन भेद होते हैं—शब्दगुण, अर्थगुण और शब्दार्थ गुण (उभयगुण) ॥ ४ ॥

अथ शब्दगुणादीन् लक्षयति विभजते च—

शब्दमाश्रयते काव्यं शरीरं[1] यः स तद्गुणः ।
श्लेषोलालित्यगाम्भीर्य्यसौकुमार्य्यमुदारता ॥ ५ ॥
ओजश्च यौगिकञ्चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अर्थं प्राप्तो यश्छायां महतीमनुगृह्णाति स सामान्योऽर्थगुणः । यः शब्दश्चार्थश्चोभयं प्राप्तो महतीं काव्यस्य छायामनुगृह्णाति एकदेशस्थोऽपि सर्व्वां काव्यछायामुत्कर्षयति, स सामान्य उभयगुण इति ।

अथ क्रमेण शब्दगुणादीन् लक्षयति विभजते च—काव्यशरीरं शब्दं महाछाया यो गुण आश्रयते स शब्दगुणः । काव्यस्य महाच्छायानुग्राहको यो भावः काव्यस्य शब्दात्मकशरीराश्रयः शब्दस्य गुणः स्यात् । शब्दस्य ते गुणाः श्लेषादिभेदात् सप्तधा भवन्ति ।

विमर्श—सर्व साधारण धर्म को सामान्य कहते हैं अर्थात् जो धर्म अनेक वस्तुओं में समानरूप से पाया जाता है, उसे सामान्य कहते हैं । उसी प्रकार काव्य में सभी रचनाओं में साधारण रूप से पाया जाने वाला गुण सामान्य गुण कहलाता है । वह तीन प्रकार का होता है— शब्दगुण, अर्थगुण और उभयगुण । ये तीन सामान्य गुण कहे गये हैं ।

मम्मट ने गुण को काव्य के अङ्गीभूत रस का धर्म कहा है, रस के उत्कर्ष का हेतु कहा है और अचल स्थिति कहा है, किन्तु मम्मट का यह कथन युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि सभी काव्य गुण काव्यात्मा रस के धर्म नहीं हो सकते; क्योंकि गुण शब्द में रहते हैं, रस में नहीं । शब्द ही काव्य का शरीर है, रस आत्मा होने से शरीर नहीं है अतः गुण (काव्यात्मा) रस के धर्म नहीं है, गुण शब्दादि में रहते है, शब्दादि के धर्म हैं ।

शब्दगुण का सभेद विवेचन

अर्थ—जो गुण काव्य-शरीर शब्द को अनुगृहीत करता है, उसे गुण कहते हैं । शब्दगुण श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदारता, ओज और यौगिक भेद से सात प्रकार का होता है ॥ ५-६ (१) ॥

---

१. 'काव्यशरीरं' इति पाठभेदः ।

श्लेषं लक्षयति—

सुश्लिष्टसन्निवेशत्वं[1] शब्दानां श्लेष उच्यते ॥ ६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

तत्र श्लेषं लक्षयति—काव्ये ये शब्दाः शब्दान्तरावयवेन सुश्लिष्टा ईषदवयवेन सर्व्वावयवेन वा सर्व्वथा वाश्लिष्टाः सन्तः सन्निविशन्ति, ते शब्दा सुश्लिष्टसन्निविष्टास्तत्त्वं शब्दानां श्लेषगुण उच्यते । यथा—

या पांशुपाण्डुरवपुर्विरसा पुरासीत्,
सैवालकाङ्कुरलतामधुना विभर्ति ।
वक्रं प्रसर्पति तनोर्वितनोति लक्ष्मीं,
प्रायः पयोधरसमुन्नतिरत्र हेतुः ॥ २१० ॥

अत्र सैवालकाङ्कुरलतामिति सैवाल एव सैवालक इति पदस्यावयवं सैवेति शब्दरूपमाश्लिष्य सन्निविष्टः सैवेति शब्दः श्लिष्टः तस्याश्लेष इति । एवं प्रकारेण श्लिष्टशब्दसन्निवेशादानन्त्यादस्य भेदो नोक्तः ।

विमर्श—अग्निपुराण की मुद्रित प्रतियों में ओज गुण के स्थान पर 'सत्या' या 'सती' पाठ मिलता है, किन्तु इसका कोई स्पष्ट अर्थ या भाव नहीं निकलता और न ही इसकी परिभाषा दी गई है । बंगला अनुवाद की एक प्रति में सत्येष' के स्थान पर 'ओजस्थ' पाठ मिलता है । यही पाठ समीचीन भी प्रतीत होता है क्योंकि ओज को सभी आचार्यों ने गुण की मान्यता दी है और उसे गुण स्वीकार किया है । अब क्रमशः प्रत्येक गुणों का निरूपण करते है—

(१) श्लेष का लक्षण

अर्थ—(काव्य में) शब्दों के संश्लिष्ट सन्निवेश को श्लेष गुण कहते हैं ॥ ६ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में श्लेष का लक्षण बताया गया है कि काव्य में जो शब्द अन्य शब्दों से आश्लिष्ट होते हैं, उनका सन्निवेश श्लेष गुण कहा जाता है । इसी आधार पर भोज ने 'सुश्लिष्टपदता' को श्लेष गुण कहा है । श्लेष गुण का उदाहरण निम्न प्रकार है—

या पांशुपाण्डुरवपुर्विरसा पुरासीत् ।
सैवालकाङ्कुरलतामधुना विभर्त्ति ॥
वक्रं प्रसर्पति तनोर्वितनोति लक्ष्मीं ।
प्रायः पयोधरसमुन्नतिरत्र हेतुः ॥ २१० ॥

---

१. 'ख' पुस्तके 'अगूढ़' इति पाठः अन्यत्र 'आश्लिष्टसन्निविष्टत्वम्' इति ।

लालित्यं लक्षयति—

गुणादेशादिना[1] पूर्व्वं पदं सम्बद्धमक्षरम् ।
यत्र सन्धीयते नैव तल्लालित्यमुदाहृतम् ॥ ७ ॥

काव्यप्रभावृत्ति

लालित्यं लक्षयति-यत्र काव्ये पूर्व्वपदनिष्पादनकाले गुणादेशादिना वर्णानां गुणादेशवृद्धिदैर्घ्यह्रस्वागमादिना सुप्तिङ्पदे सम्बद्धं यदक्षरं पश्चात् काव्यघटनाकाले यदि न पुनः सन्धीयते तदा तस्य शब्दस्य पदरूपस्य तदेव पदान्तरेणाऽसन्धिकरणं लालित्यमुदाहृतम् । यथा—

तया कवितया वा किं तया वनितया च किम् ।
पदविन्यासमात्रेण यया नापहृत मनः ॥ २११ ॥

इह नापहृतमिति संहितमपि न नकारोऽकारो वा गुणादिना पदसम्बन्धमक्षरमिति । एवंविधसंहितायां न लालित्यभङ्गः इति लालित्यं शब्दगुणः ॥ ७ ॥

यहाँ पर 'सैवालकाङ्कुरलता' में श्लेष है । सेवाल एव सैवालकः तस्य अङ्कुरा एव लता = सेवालकाङ्कुरलता । यह शब्द 'सैव अलकाङ्कुरलता' (सैव अलका एव अङ्कुरलता) इस रूप से आश्लिष्ट होकर सन्निविष्ट है' यहाँ पर 'सैवालकशब्द श्लिष्ट है । (सैवालक सेवार) तथा सैव अलक (वाल) । अतः यहाँ 'श्लेष' अलङ्कार है ।

(२) लालित्य का लक्षण

अर्थ—जहाँ पर गुणादेश आदि के द्वारा पूर्व पद में सम्बद्ध अक्षरों में सन्धि नहीं होती, उसे 'लालित्य' गुण कहा गया है ॥ ७ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में 'लालित्य' शब्दगुण की परिभाषा यह बताई गई है कि गुण, वृद्धि, दीर्घ आदि आदेशों के द्वारा पद में (सुबन्त-तिङन्त रूप पद में) सम्बद्ध अक्षरों की जहाँ पर सन्धि नहीं होती अर्थात् सभी वर्ण स्पष्ट रहते हैं, उसे 'लालित्य' गुण कहा गया है । वामन ने पृथक्पदता को 'माधुर्य' गुण कहा है । भोज ने भी 'पृथक्पदता' को माधुर्य गुण कहा है, वहाँ पर 'लालित्य' गुण का उल्लेख नहीं है । अग्निपुराण में 'लालित्यगुण' का वर्णन है किन्तु माधुर्य का उल्लेख नहीं है; किन्तु दोनों की परिभाषाओं में समानता है, अतः दोनों का समीकरण किया जा सकता है । उदाहरण—

तया कवितया किं वा तया वनितया च किम् ?
पदविन्यासमात्रेण यया नापहृतं मनः ॥ २११ ॥

यहाँ पर 'नापहृतम्' में सन्धि होने पर भी पद के वर्ण स्पष्ट 'लालित्य' गुण है ।

---

१. ख, ग, घ पुस्तकेषु 'यणादेशादिना' इति पाठः ।

गाम्भीर्यं लक्षयति—

विश्लिष्टलक्षणोल्लेखलेख्यामुत्तान[1]शब्दता ।
गाम्भीर्य्यं कथयन्त्यार्य्यास्तदेवान्येषु शब्दताम् ॥ ८ ॥

काव्यप्रभावृत्ति

अथ गाम्भीर्यमाह—यत्र काव्ये विश्लिष्टलक्षणोल्लेखलेख्यं विश्लिष्टलक्षणं वर्णानां परस्परं संश्लिष्टभावहीनं लक्षणं स्वरूपं तदुल्लेखेनलेख्यमक्षरं यत्र स तादृश एवानुत्तानशब्दः, सोऽल्पप्राणाघोषवच्छब्दभिन्नशब्दो यत्र, तस्य भावः तत्तस्य काव्यस्य गाम्भीर्य्यं नाम शब्दगुणमार्य्याः कथयन्ति, परे सुशब्दतां कथयन्ति । यथा—

युद्ध्वा शुम्भनिशुम्भाभ्यां शम्भोः कान्ता जघान तौ ।
जम्भमेद्यादयो दम्भा चक्रुः सिंहध्वनिं मुदा ॥ २१२ ॥

इह संश्लिष्टभावहीनलक्षणोल्लेखेन लेख्यं युद्धादिपदमनुत्तानशब्दकं तब्दत्तवाद् गाम्भीर्य्यम् । यत्र हि काव्ये महाप्राणनादघोषप्रयत्नवद्वर्णघटितपदप्रयोगो बाहुल्येन वर्त्तते तत्र गाम्भीर्य्यं गुणः स्यादिति ॥ ८ ॥

---

(३) गाम्भीर्य का लक्षण

अर्थ—जहाँ पर विश्लिष्ट लक्षण अर्थात् संश्लिष्ट भाव से रहित वर्ण हों, और शब्द अनुत्तान हों, उसे 'गाम्भीर्य' गुण कहते हैं । उसे ही कुछ लोग सुशब्दता गुण कहते हैं ।। ८ ।।

विमर्श—यहाँ पर 'विश्लिष्टलक्षणोल्लेख्यलेख्य' का अभिप्राय है संश्लिष्ट भाव हीन पद-प्रयोग और 'अनुत्तानशब्दता' का अर्थ है अल्पप्राण, अघोष वर्णरहित शब्द । इस प्रकार वर्णों के परस्पर संश्लिष्ट भाव हीन पदों का तथा अल्पप्राण, अघोष वर्णरहित पदों का प्रयोग जहाँ पर हो उसे 'गाम्भीर्य गुण' कहते हैं । कुछ विद्वान् 'अनुत्तानपदता' के स्थान पर 'उत्तानपदता' पाठ मानते हैं, उनके अनुसार 'उत्तानपदता' का अर्थ उच्चभाव व्यञ्जक शब्द प्रयोग है । तदनुसार गम्भीर भाव के व्यञ्जक शब्दों का प्रयोग जहाँ हो, उसे 'गाम्भीर्य' शब्द गुण कहते हैं ।

काव्यप्रभावृत्तिकार 'अनुत्तानपदता' का अर्थ महाप्राण, नाद, घोष प्रयत्न वाले वर्णों से युक्त पद-बाहुल्य का प्रयोग करते हैं । इस प्रकार जहाँ पर वर्णों के परस्पर संश्लिष्ट भाव से रहित तथा महाप्राण, नाद, घोष प्रयत्न वाले वर्णों से घटित पदों का बहुल प्रयोग होता है, उसे 'गाम्भीर्य' गुण कहते हैं । जैसे—

---

१. लेख्यमुत्तानशब्दकम् इति पाठान्तरम् ।

सौकुमार्यं लक्षयति—

अनिष्ठुराक्षरप्रायशब्दता सुकुमारता ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ सौकुमार्यं लक्षयति—निष्ठुराक्षरं श्रुतिकठिनमक्षरं तदक्षरभिन्नाक्षर-घटिताः प्रायेण शब्दा यत्र स तस्य भावः सुकुमारता सौकुमार्यं नाम शब्दगुण उच्यते। प्रायपदेन बहुषु मध्ये क्वचित् किञ्चिन्निष्ठुराक्षरशब्दत्वेऽपि नासौकुमार्य्यं स्यादिति। यथा—

मधुरालापतापेन तप्तमानसकामिनः ।
कामिनीनामलाभेन मुग्धाः सीदन्ति सर्वदा ॥ २१३ ॥

अत्र निष्ठुराक्षराभावात् सौकुमार्यम्।

युद्ध्वा शुम्भनिशुम्भाभ्यां शम्भो कान्ता जघान तौ ।
जम्भभेद्यादयो दम्भा चक्रुः सिंहध्वनिं मुदा ॥ २१२ ॥

यहाँ पर संश्लिष्ट भाव हीन लक्षण (स्वरूप) का उल्लेख होने से 'युद्ध्वा' आदि शब्द उत्तानपद है अतः 'गाम्भीर्य' शब्द गुण है। जहाँ पर महाप्राण, नाद, घोष प्रयत्न वाले वर्णों से घटित (रचित) पदों का प्रयोग बाहुल्य होता है, वहाँ 'गाम्भीर्य' गुण होता है। यहाँ पर 'युद्ध्वा' 'शुम्भनिशुम्भाभ्यां' 'शम्भोः' आदि पदों में महाप्राण, नाद, घोष प्रयत्न वर्णों का बाहुल्य है ॥ ८ ॥

(४) सौकुमार्य गुण (सुकुमारता)

अर्थ—जहाँ पर अनिष्ठुर अर्थात् सुकोमल वर्णों से युक्त शब्द का प्रयोग हो, वहाँ 'सौकुमार्य' गुण माना गया है ॥ ९ (१) ॥

विमर्श—अग्निपुराण में 'सुकुमारता' का लक्षण बताया गया है कि जहाँ पर प्रायः कोमल वर्णों से घटित शब्दों का प्रयोग हो, उसे 'सौकुमार्य' गुण कहते हैं। यहाँ पर 'प्राय' पद के प्रयोग का अभिप्राय यह है कि सुकुमार वर्णों के प्रयोग में यदि बीच में कठोर वर्ण भी आ जाय तो कोई हानि नहीं है। कोमल वर्णों का बाहुल्य होना चाहिए। अग्निपुराण के अनुसार ही दण्डी और भोज भी 'अनिष्ठुराक्षरप्रायता' को 'सौकुमार्य' गुण कहते हैं। जैसे—

मधुरालापतापेन तप्तमानसकामिनः ।
कामिनीनामलाभेन मुग्धाः सीदन्ति सर्वदा ॥ २१३ ॥

यहाँ पर निष्ठुर अक्षर का प्रयोग न होने से 'सौकुमार्य' गुण है।

औदर्यगुणमाह—

उत्तानपदतौदार्यं युता श्लाघ्यैर्विशेषणैः ॥ ९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथौदार्य्यं लक्षयति—उत्तानपदता काव्यस्य यदि श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युता स्यात्तदौदार्यमुच्यते। उत्तानत्वं पदानां नाद-घोष-महाप्राण-वर्ण-रहितत्वं श्लाघ्यं प्रौढ़िवचनम्। यथा—

असद्वृत्तो नायं न च सखि गुणैरेष रहितः,
प्रियो मुक्ताहारस्तव चरणयुग्मे निपतितः।
गृहाणैनं कण्ठे व्रजतु तव मुग्धे प्रणयिता—
मुपायो नास्त्यन्यो हृदयपरितापोपशमने ॥ २१४ ॥

अत्र सर्वत्र वोत्तानशब्दाः श्लाघ्यविशेषणाः। तस्मादुदारत्वं गुणः शब्दस्य ॥ ९ ॥

---

(५) औदार्य-गुण

अर्थ—जहाँ पर श्लाघ्य विशेषणों से युक्त उत्तान पदों का प्रयोग होता है, वहाँ 'औदार्य' गुण माना गया है ॥ ९ ॥

विमर्श—अग्निपुराण के अनुसार श्लाघ्य विशेषणो से युक्त उत्तानपदता 'औदार्य' गुण है। 'उत्तानपदता' का अर्थ है—नाद, घोष, महाप्राण प्रयत्न वाले वर्णों से भिन्न पद और श्लाघ्य का अर्थ है—प्रौढ़िवचन। इस प्रकार श्लाघ्य विशेषणों से युक्त प्रौढ़ि-रचना को औदार्य गुण कहते हैं। भोज ने अग्निपुराण के 'औदार्य' गुण के समान ही 'उदात्तता' गुण का वर्णन किया है। दण्डी ने अग्निपुराण की धारणा के अनुसार **'श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते'** यह 'उदारता' का लक्षण किया है। यहाँ पर कैश्चित् पद के द्वारा अग्निपुराण का मत अभिप्रेत है। उदाहरण जैसे—

असद्वृत्तो नायं न च सखि गुणैरेष रहितः।
प्रियो मुक्ताहारस्तवचरणयुग्मे निपतितः॥
गृहाणैनं कण्ठे व्रजतु तव मुग्धे प्रणयिता—
मुपायो नास्त्यन्यो हृदयपरितापोपशमने ॥ २१४ ॥

यहाँ पर श्लाघ्य विशेषणों से युक्त उत्तान शब्दो का प्रयोग है, अतः यहाँ पर 'उदारता' गुण है।

ओजोगुणमाह—

ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यादिजीवितम्[1] ।
आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्तमोजसैकेन पौरुषम् ॥ १० ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

ओजोगुणमाह—काव्ये समासभूयस्त्वमोजो नाम शब्दगुणः । एतद् ओजस्तु ब्रह्मादिजीवितम् । कस्मात् ? आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमेकेनोजसा पौरुषं तस्मादोजो मूलं दम्भादिकम् । यथा—

ज्याकृष्टबद्धखटकामुखपाणिपृष्ठ—
प्रेङ्खन्नखांशु च यः संवलितोऽम्बिकायाः ।
त्वां पातु मञ्जरितपल्लवकर्णपूरः
लोभाद्रभद्भ्रमरविभ्रमभृत्कटाक्षः ॥ २१५ ॥

इह समासभूयस्त्वं स्फुटमर्द्धश्लोके शेषार्द्धे च अम्बिकाभक्तो दम्भेनाशिषमाह त्वां पात्वित्यादि ।

---

(६) ओज गुण

अर्थ—समास की बहुलता होने पर 'ओज' गुण होता है । यह ओज गुण गद्य का प्राण है । ब्रह्म से लेकर तृण-पर्यन्त समस्त पदार्थों की सत्ता ओज गुण पर आधारित है ॥१०॥

विमर्श—अग्निपुराण के अनुसार समास का बाहुल्य ओज गुण है । दण्डी तथा भोज ने भी 'समास-भूयस्त्व' को ओज कहा है, और उसे गद्य का प्राण बताया है । अग्निपुराण में ओज को 'गद्यादि' का जीवन कहा है और दण्डी ने केवल गद्य का प्राण बताया है ।

ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम् (दण्डी) ।

ओजः समासभूयस्त्वम् (भोज) ।

उदाहरण, जैसे—

ज्याकृष्टबद्धखटकामुखपाणिपृष्ठ-
प्रेङ्खन्नखांशु च यः संवलितोऽम्बिकायाः ।
त्वां पातु मञ्जरितपल्लवकर्णपूरः,
लोभाद्रभद्भ्रमरविभ्रमभृत्कटाक्षः ॥ २१५ ॥

यहाँ पर समास की अधिकता होने से ओज गुण है ।

---

१. 'दम्भादिजीवितम्' 'पद्यादिजीवितम्' वा पाठभेदाः ।

यौगिकगुणमाह—

पदानां योगवृत्त्यैव यौगिकं सप्तमो गुणः[1] ॥ १० ॥

अर्थगुणानाह—

उच्यमानस्य[2] शब्देन येन केनापि वस्तुनः ।
उत्कर्षमावहत्यर्थो[3] गुण इत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ यौगिकमाह—पदानां योगवृत्त्या तु यौगिकं नाम गुणः स्यात् । यथा—पाचकवाहकनीलोत्पलादि ।

० सप्तविधान् शब्दगुणानुक्त्वार्थगुणानाह—यः काव्यस्य महाछायाग्राहको भावो येन केनापि शब्देनोच्यमानस्य वस्तुनोऽथस्योत्कर्षभावहति स खल्वर्थोत्कर्षावहनमर्थो गुण इत्यभिधीयते । ११ ॥

---

(७) यौगिक गुण

अर्थ—पदों की योग-वृत्ति यौगिक गुण है अर्थात् जहाँ पर प्रकृति प्रत्यय के योग से लभ्य अर्थ के बोधक पदों का प्रयोग हो वहाँ यौगिक गुण होता है ॥ ११ (१) ॥

विमर्श—अग्निपुराण में सातवाँ शब्द गुण 'यौगिक' माना गया है । 'यौगिक' शब्द का अर्थ है प्रकृति-प्रत्यय के योग से लभ्य अर्थ का वाचक शब्द । अर्थात् जहाँ पर प्रकृति-प्रत्यय के योग से लभ्य अर्थ के वाचक शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ 'यौगिक' गुण होता है । अथवा जहाँ पर समस्त शब्दों का प्रयोग हो, वहाँ 'यौगिक' गुण होता है । (केवलभवयवशक्त्या अर्थप्रत्यायकत्वं यौगिकत्वम् अथवा प्रकृति-प्रत्यय-योगलभ्यार्थवाचकः शब्दो यौगिकः) । इस प्रकार प्रकृति-प्रत्यय रूप अवयव शक्ति से लभ्य अर्थ के वाचक शब्द को यौगिक कहते हैं और यौगिक शब्दों का जहाँ पर प्रयोग हो, वह 'यौगिक' गुण है । जैसे—

पाचक-वाचक-पाठक-लेखक-वाहकादयः

अर्थगुण का सभेद विवेचन

सात प्रकार के शब्द गुणों के विवेचन के पश्चात् अब अर्थगत सामान्य गुणों का विवेचन करते हैं—

---

१. कारिकार्धोऽयं नोपलभ्यते मुद्रितेऽग्निपुराणे ।

२. 'क' पुस्तके 'उच्यमानेत्यारभ्य···वहत्यर्थो इति यावन्नास्ति । 'घ' पुस्तके तु उच्यमानेत्यारभ्य —उदारेतति यावत् सार्द्धश्लोकैको नास्ति ।

३. 'उत्कर्षमावहन्नर्थो' इति पाठभेदः ।

माधुर्यं संविधानञ्च कोमलत्वमुदारता ।
प्रौढिः सामयिकञ्चेति[1] तद्भेदा षट् चकासति[2] । १२ ॥

माधुर्यगुणमाह –

क्रोधेर्ष्या[3]कारगाम्भीर्यं माधुर्यं धैर्यमाहिता[4] ।

काव्यप्रभावृत्तिः

माधुर्यगुणमाह—यत्रार्थे क्रोधे चाक्रोधे चाकृत्याक्रोधाक्रोधबोधकचिह्नाभाव आकार-गाम्भीर्य-धैर्य्य-भाजिता च तस्यार्थस्य माधुर्यगुण उच्यते । यथा—

चैत्रे चित्रं पिको रौति श्रुत्वा दृष्ट्वा च चन्द्रिकाम् ।
स्मरन्ती प्रोषितं कान्तं स्मरार्त्ता ग्लायतीव न ॥ २१६ ॥

आकारगाम्भीर्यधैर्यभाजितार्थस्य युवत्या माधुर्यमित्यर्थः ।

अर्थ जिस किसी भी शब्द के द्वारा कहे गये अर्थ का उत्कर्ष होता है, उसे अर्थगुण कहते हैं । अर्थगुण छः प्रकार का होता है—माधुर्य, संविधान, कोमलत्व, उदारता, प्रौढ़ि और सामयिकत्व ॥ ११-१२ ॥

(१) माधुर्य गुण

अर्थ—क्रोध, ईर्ष्या आदि की दशा में आकार में गम्भीरता और धीरता (धैर्य धारण करना) 'माधुर्य' गुण कहा जाता है ॥ १३ (१) ॥

विमर्श—अग्निपुराण के अनुसार जहाँ पर क्रोध, ईर्ष्या आदि भावों की अवस्था में भी आकार में क्रोधादि चिह्नों का अभाव, गम्भीरता और धैर्यशीलता होती है, वहाँ माधुर्य गुण होता है । भोज ने भी अग्निपुराण के अनुसार ही माधुर्य गुण का विवेचन किया हैं ।

माधुर्यमुक्तमाचार्यैः क्रोधादावप्यतीव्रताः ।

अर्थात् क्रोध आदि की दशा में भी तीव्रता का न होना माधुर्य गुण कहा गया है । जैसे—

चैत्रे चित्रं पिको रौति श्रुत्वा दृष्ट्वा च चन्द्रिकाम् ।
स्मरन्ती प्रोषितं कान्तं स्मरार्त्ता ग्लायतीव न ॥ २१६ ॥

---

१. सामयिकत्कञ्च इति पाठभेदः ।
२. घ, न, ल पुस्तकेषु 'उदाहृता' इति पाठः ।
३. 'क्रोधेर्ष्याकार' इति पाठभेदः ।
४. 'धैर्यगाहिता' इति पाठभेदः ।

संविधानं लक्षयति—

संविधानं परिकरः स्यादपेक्षितसिद्धये[७] ॥ १३ ॥

कोमलतां लक्षयति—

यत् काठिन्यादिनिर्मुक्तसन्निवेशविशिष्टता ।
तिरस्कृत्यैव मृदुता भाति कोमलतेति सा ॥ १४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

संविधानं लक्षयति--येन केनापि शब्दनोच्यमानस्यार्थस्यापेक्षितस्य प्रयोजनस्य सिद्धये यः परिकरः आरम्भः सोऽर्थस्य संविधानं नाम गुणः । यथा—

पटा लग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया,
दृढ़ा श्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम् ।
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखी दत्तनयना,
ह्रिया त्रस्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः ॥ २१७ ॥

इहार्थस्य नववध्वाः स्वापेक्षितस्य रतिभोगमुखस्य सिद्धये पटाः लग्नादौ पत्यौ मुखनमनाद्यारम्भः संविधानं नाम तस्यार्थगुणः ॥ १३ ॥

---

(२) संविधान गुण

अर्थ—अपेक्षित अर्थ (प्रयोजन) की सिद्धि के लिए आरम्भ या यत्न 'संविधान' संज्ञक गुण कहलाता है ॥ १३ ॥

विमर्श—भाव यह कि जहाँ पर जिस किसी भी शब्द के द्वार कहे जाने वाले अर्थ के अपेक्षित प्रयोजन की सिद्धि के लिए जो आरम्भ होता है, उसे 'संविधान'गुण कहते है । जैसे—

पटलग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया,
दृढां श्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम् ।
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखी दत्तनयना,
ह्रिया त्रस्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः ॥ २१७ ॥

यहाँ पर नववधू के अपेक्षित रति सम्भोग सुख की सिद्धि के लिए पति के मुखनमन आदि का आरम्भ 'संविधान' गुण है ।

(३) कोमलता

अर्थ—जो काठिन्य आदि से रहित हो और जहाँ पर शब्दों के सायास सन्निवेश से रहित मृदुता का वर्णन हो, उसे 'कोमलता' गुण कहते हैं ॥ १४ ॥

---

६. 'क' पुस्तकेऽयं श्लोकार्द्धो नास्ति ।

उदारतागुणं लक्षयति—

लक्ष्यते स्थूललक्ष्यत्वप्रवृत्तेर्यत्र लक्षणम् ।
गुणस्य तदुदारत्वमाशयस्यातिसौष्ठवम् ॥ १५ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

कोमलतां लक्षयति—काठिन्यादितः खल्वर्थस्य बोधान्वयादिकाठिन्यसंगतार्थीकरणादिभ्यो विनिर्मुक्तो यः शब्दानां सन्निवेशस्तेन विशिष्टता तत् काठिन्यादिकं तिरस्कृत्यैव मृदुताया भाति साऽर्थस्य कोमलतेति नाम गुणः । यथा—

इयमसौ तरलायतलोचना, घनसमुन्नतपीनपयोधरा ।
पृथु नितम्बधरालसगामिनी, प्रियतमा मम जीवितहारिणी ॥२१८॥

इह नास्ति अर्थस्य काठिन्यादिकम्, अतः कोमलतार्थगुणः ॥ १४ ॥

अथ अर्थस्योदारतागुणं लक्षयति—यत्र स्थूलरूपलक्ष्यत्वप्रवृत्तेर्लक्षणं चिह्नं लक्ष्यते नतु सूक्ष्मत्वप्रवृत्तेर्लक्षणं लक्ष्यते तदार्थगुणस्योदारत्वं तच्चाशयस्यातिसौष्ठवं भवति । यथा—

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यः कोपपराङ्मुखं शयितया चाटूनि कुर्व्वन्नपि ।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणाद्
भूतः सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥२१९॥

इह मानस्य स्थूलरूपेण लक्ष्यत्वप्रवृत्तेर्हेतोर्मानस्य गुणस्य सद्यः कोपपराङ्मुखशयनादिलक्षणं लक्ष्यते, नतु गाढ़रूपेण ततः पुनरीक्षितवचनेनाशयस्य सौष्ठवं लक्ष्यते इत्यतोऽर्थस्योदारता नाम गुणः ॥ १५ ॥

विमर्श—भाव यह कि जो रचना कठिनता से रहित हो और जिसमें शब्दों का प्रयासपूर्वक सन्निवेश का त्याग हो तथा मृदुता निर्वाह किया गया हो, उसे 'कोमलत्व' गुण कहते है । जैसे—

इयमसौ तरलायतलोचना घनसमुन्नतपीनपयोधरा ।
पृथुनितम्बधरालसगामिनी प्रियतमा मम जीवितहारिणी ॥ २१८ ॥

यहाँ पर अर्थ काठिन्यादि से रहित होने से 'कोमलता' गुण है ।

(४) उदारता गुण

अर्थ—जहाँ पर स्थूल लक्ष्य प्रकट करने की प्रवृत्ति का लक्षण लक्षित हो और आशय (अभिप्राय) का सौष्ठव स्पष्ट हो, वहाँ पर 'उदारता' गुण होता है ॥ १५ ॥

प्रौढिं गुणं लक्षयति—

अभिप्रेत[1]प्रनियत[2]निर्वाहस्योपपादिकाः ।
युक्तयो[3] हेतुगर्भिण्यः प्रौढाः प्रौढिरुदाहृता[4] ॥ १६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

प्रौढिं गुणं लक्षयति—अभिप्रेतस्य प्रनियतमेकान्तेन निर्वाहस्योपपादिका निष्पादिका याः प्रौढ़ा उद्धता युक्तयो हेतुगर्भिण्योऽन्तर्गतहेतवो भवन्ति । ता युक्तयोऽर्थस्य प्रौढिर्नाम गुण उदाहृता । यथा—

दृष्ट्वैकासनसंस्थितेः प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रिमकन्धरः सपुलकःप्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥ २२० ॥

अत्र नियतस्याभिप्रेतस्य द्वयोः प्रिययोरेकस्यां स्नेहातिशयस्य निर्वाहस्य निष्पादिकाः प्रौढ़ा उद्धता अलस्नेहवत्योऽबोधनहेतुगर्भिण्यो युक्तयः कौतुकच्छलेनापरस्या नयनयोः कराभ्यामाच्छादनकरणमिति अर्थस्य प्रौढिर्नामगुणः ॥१६॥

विमर्श—'उदारता' गुण का उदाहरण निम्न प्रकार है—

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया,
सद्यः कोपपराङ्मुखं शयितया चाटूनि कुर्वन्नपि ।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणात्,
भूतः सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥ २१९ ॥

यहाँ पर मान के स्थूल लक्ष्य की प्रवृत्ति के हेतु मानरूप गुण के तुरन्त क्रोध से पराङ्मुख होकर शयन आदि लक्षित हो रहा है, और पुनः गरदन मोड़कर देखने से सौष्ठव लक्षित हो रहा है, अतः यहाँ 'उदारता' गुण है ॥ १५ ॥

(५) प्रौढ़ि गुण

अर्थ—जहाँ पर अभिप्राय के पूर्ण निर्वाह को निष्पन्न करने वाली हेतुगर्भित (कारण युक्त) युक्तियों का प्रयोग हो, वहाँ 'प्रौढ़ि' गुण कहा गया है ॥ १६ ॥

---

१. क पुस्तके 'अभिप्रायं' मुद्रितपुस्तके—'अभिप्रेतं' इति पाठभेदः ।
२. 'प्रतिहितं' इति पाठभेदः । ३. न, प, फ पुस्तकेषु 'मुक्तयो' इति पाठः ।
४. 'क' पुस्तके श्लोकार्द्धोऽयं नास्ति ।

सामयिकत्वं लक्षयति—

स्वतन्त्रस्यान्यतन्त्रस्य राद्धान्तः[1] समयो मतः[2] ।
तत्र व्युत्पत्तिरर्थस्य या सामयिकतेति सा[3] ॥ १७ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में अभिप्रेत अर्थ की निर्वाहिका हेतु गर्भित युक्ति को 'प्रौढ़ि' गुण कहा गया है। भोज ने विवक्षित (अभिप्रेत) अर्थ का निर्वाह 'प्रौढ़ि' गुण कहा है (विवक्षितार्थनिर्वाहः प्रौढ़िः)। जैसे—

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीड़ानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रिमकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्त्तोऽपरां चुम्बति ॥ २२० ॥

यहाँ पर नायक के अभिप्रेत दो नायिकाओं में एक के प्रति स्नेहातिशय की निर्वाहिका और दूसरी के अवमान (तिरस्कार) के हेतु से युक्त युक्ति (आँखमिचौनीरूप उपाय) से कुतूहल के बहाने दूसरी नायिका के आँखों को हाथों से ढँककर पहली नायिका के चुम्बनरूप अर्थ का निर्वाह होने से प्रौढ़ि गुण है।

(६) सामयिकत्व गुण

अर्थ—स्वतन्त्र तथा अन्यतन्त्र के सिद्धान्त को काव्य में समय कहा गया है। वहाँ अर्थ की जो व्युत्पत्ति की जाती है, उसे सामयिकत्व गुण कहते हैं ॥ १७ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में स्वतन्त्र और अन्यतन्त्र के सिद्धान्त को समय कहा गया है। यहाँ पर 'राद्धान्त' का अर्थ 'सिद्धान्त' है। परीक्षकों द्वारा अनेक बार परीक्षा कर और हेतुओं के द्वारा सिद्ध कर जो निर्णय किया जाता है, उसे सिद्धान्त कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है—(१) सर्वतन्त्र सिद्धान्त, (२) प्रतितन्त्र सिद्धान्त, (३) अधिकरण सिद्धान्त, (४) अभ्युपगम सिद्धान्त। कुछ आचार्य स्वतन्त्र, परतन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम भेद से चार प्रकार के सिद्धान्त मानते हैं। यहाँ पर तन्त्र का अर्थ शास्त्र है अर्थात् जो अर्थ सर्वशास्त्र सम्मत हो वह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है और जो अर्थ समानशास्त्र से सिद्ध हो किन्तु दूसरे शास्त्र से सिद्ध न हो, उसे प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहते हैं। स्वतन्त्र सिद्धांन्त को सर्वतन्त्र सिद्धान्त से और परतन्त्र सिद्धान्त को प्रतितन्त्र सिद्धान्त से समीकृत किया जा सकता है। इन दोनों तन्त्रों (स्वतन्त्र और परतन्त्र) के सिद्धान्त को काव्य में समय कहा गया है। वहाँ अर्थ की जो व्युत्पत्ति की जाती है, वह 'सामयिकत्व' गुण है। जैसे—

---

१. बाह्यान्तः इति पाठभेदः। २. समयो गतः इति पाठभेदः।
३. क पुस्तके श्लोकार्द्धोऽयं नास्ति।

काव्यप्रभावृत्तिः

सामयिकत्वं लक्षयति—राद्धान्तः सिद्धान्तः स यः परीक्षके बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिः साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः। स चतुर्विधः—सर्वतन्त्रसिद्धान्तः, प्रतितन्त्रसिद्धान्तोऽधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगमसिद्धान्तः" इति चरकः। अन्ये तु स्वतन्त्रसिद्धान्तं परतन्त्रसिद्धान्तमधिकरणसिद्धान्तमभ्युपगमसिद्धान्तञ्चाहुः। तत्र प्रतितन्त्रसिद्धान्ते स्वतन्त्रसिद्धान्तपरतन्त्रसिद्धान्तो लब्धो त्वन्तर्भूतौ। तत्र स्वतन्त्रस्यान्यतन्त्रस्य सिद्धान्तस्तु इह समयो मतः। ततस्तत्र पुनरर्थस्य या व्युत्पत्तिः क्रियते सार्थस्य सामयिकता नाम गुणः। यथा—

ईश्वरः कारणं पुंसां कर्मवैफल्यदर्शनात्।
इति सिद्धं कथं नु स्यान्न्याये वैशेषिकेऽपि च ॥२२१॥

न ह्यस्तीश्वरनिर्देशो यतो वैशेषिके तु षट् पदार्थाः स्युस्तथात्मादिप्रमेयं न्यायशासने पदार्थास्तु षडेवेति नियमो न वैशेषिके। न्याये प्रमाणादिषोडशेवेति नियमो न च। एतत्तथाधिकरणसिद्धान्तसिद्ध ईश्वरः। मोक्षे हीश्वररूपेण निष्पत्तिरात्मनस्तथा। ईश्वरादन्यतो नैव फलसिद्धिरिति स्थितिः। इह वैशेषिकाणां स्वतन्त्रे गौतमन्यायशासने परतन्त्रे वैशेषिकतन्त्रे चेश्वरस्यापदार्थत्वम्। तत ईश्वरः कारणं पुंसां कर्मवैफल्यदर्शनादिति वचनमयुक्तं भवति इति स्वतन्त्र-परतन्त्रराद्धान्ते समये ॥ १७ ॥

ईश्वरः कारणं पुंसां कर्म वैफल्यदर्शनात्।
इति सिद्धं कथं नु स्यान्न्याये वैशेषिकेऽपि च ॥२२१॥

ईश्वर कारण है मनुष्यों के कर्म की विफलता होने से। अर्थात् मनुष्य जो कर्म करता है उन सभी कार्यों में सफलता नहीं मिलती, क्योंकि उसका कारण ईश्वर है। अर्थात् ईश्वर ही कार्यसिद्धि का कारण है। गौतम न्याय तथा वैशेषिक शास्त्र में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। उसकी सिद्धि के लिए कहते हैं कि ईश्वर सृष्टि का कारण है क्योंकि मनुष्यों के कर्म में विफलता देखी जाती है। स्वतन्त्र और परतन्त्र सिद्धान्त के अनुसार यह नियम प्रतिपादित है। अतः ईश्वर की सिद्धि के लिए व्याख्या की गई है। ईश्वर के बिना अपवर्गादि फल की सिद्धि नहीं होती, अतः फल की सिद्धि के लिए ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है। इस प्रकार यहाँ 'सामयिक' गुण है ॥ १७ ॥

अथ शब्दार्थोभयगुणं लक्षयति—

शब्दार्थावुपकुर्व्वाणो नाम्नोभयगुणः स्मृतः[1] ।
तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासङ्ख्यं प्रशस्तता ।। १८ ।।
पाको राग इति प्राज्ञैः षट्प्रपञ्चाः प्रपञ्चिताः[2] ।

तत्र प्रसादं लक्षयति—

सुप्रसिद्धार्थपदता प्रसाद इति गीयते ।। १९ ।।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ शब्दार्थोभयगुणं लक्षयति—शब्दश्चार्थश्चेति द्वौ युगपदुपकुर्वाणो यः काव्यस्य महच्छायानुग्राहकः स शब्दार्थोभयगुणो नाम्ना स्मृतः । तस्य प्रसादादिभेदेन षट्प्रपञ्चाः प्राज्ञैः प्रपञ्चिताः इति ।। १८ ।।

तत्र प्रसादं लक्षयति—लोके सुप्रसिद्धे अर्थपदे यत्र तत् सुप्रसिद्धार्थपदं वैयाकरणैः पदसाधनं विद्यया सुबोधार्थपदं संसाध्य यत्प्रयुज्यते तत्प्रसिद्धार्थपदम् । तस्य भावः सुप्रसिद्धार्थपदता शब्दार्थोभयमुपकुर्वती प्रसादो नामोभयगुणः स्यात् । यथा—

कन्ये धन्योऽप्यसौ मन्ये यस्त्वामद्योद्वहेदयम् ।
नाल्पेन तपसा लभ्यः सुन्दरस्त्रीसमागमः ।। २२२ ।।

इह सुप्रसिद्धोऽर्थः पदञ्च सुप्रसिद्धिमिति प्रसादः ।। १९ ।।

शब्दार्थोभयगुण विवेचन

अर्थ—शब्द और अर्थ दोनों को उपकार करने वाले गुण को उभयगुण कहते हैं । शब्दार्थोभयगुण के छः भेद किये गये हैं—(१) प्रसाद (२) सौभाग्य (३) यथासंख्य (४) प्रशस्ति (५) पाक और (६) राग ।। १८-१९ (१) ।।

(१) प्रसाद गुण

अर्थ—जहाँ पर प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों का प्रयोग हो, उसे 'प्रसाद' गुण कहते हैं ।।१।। जैसे—

कन्ये धन्येऽप्यसौ मन्ये यस्त्वामद्योद्वहेयदयम् ।
नाल्पेन तपसा लभ्यः सुन्दरस्त्रीसमागमः ।।२२२।।

यहाँ पर प्रसिद्ध अर्थ वाची शब्दों का प्रयोग होने से प्रसाद गुण है ।

---

१. 'क' पुस्तके श्लोकार्द्धोऽयं नास्ति ।
२. मुद्रितपुस्तके—'प्रपञ्चविपञ्चिताः' इति पाठः ।

सौभाग्यं लक्षयति—

उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।
तत्सौभाग्यमुदारत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ २० ॥

अथ यथासङ्ख्यं लक्षयति—

यथासङ्ख्यमनुद्देशः समानामुपदिश्यते[1] ।

काव्यप्रभावृत्तिः

सौभाग्यं लक्षयति—यस्मिन्नर्थे तूक्ते कश्चिदुत्कर्षवान् प्रतीयते तादृशार्थवचनं सौभाग्यमुदारत्वं च मनीषिणः प्रवदन्ति । यथा—

न जाने सम्मुखाया ते प्रियाणि वदति प्रिये ।
सर्वाण्यङ्गानि मे यान्ति नेत्रतां किमु कर्णताम् ॥ २२३ ॥

अथ खल्वस्मिन्नर्थे तूक्ते तस्य पुरुषस्यातिशयसौन्दर्यमतिमधुर-स्वर-वचन-वक्तृत्वं प्रतीयते सा गुणोत्कर्षस्योक्तिरिह सौभाग्यं नामोभयगुणः ॥ २० ॥

---

(२) सौभाग्य गुण

अर्थ—जिस अर्थ के कहे जाने पर जो किसी उत्कर्ष की प्रतीति होती है उसे 'सौभाग्य' गुण कहते है । मनीषी लोग इसी को 'उदारता' भी कहते हैं । २० ॥

विमर्श—अग्निपुराण के अनुसार जिस अर्थ (वाक्य) के प्रयुक्त होने पर शब्दार्थ के द्वारा उत्कर्ष युक्त अर्थात् अति कमनीय चमत्कार की प्रतीति हो, उसे 'सौभाग्य' गुण कहते हैं । दण्डी उसे 'उदारता' गुण कहते हैं । अग्निपुराण का लक्षण दण्डी से मिलता-जुलता है ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी ने अग्निपुराण से ग्रहण कर अपनी परिभाषा लिखी है । इस प्रकार अग्निपुराणकार ने गुणोत्कर्ष-कथन को 'सौभाग्य' गुण माना है । जैसे—

न जाने सम्मुखायाः ते प्रियाणि वदति प्रिये ।
सर्वाण्यङ्गानि मे यान्ति नेत्रतां किमु कर्णताम् ॥ २२३॥

यहाँ पर पुरुष के अतिशय सौन्दर्य एवं मधुर स्वर युक्त वचन रूप गुणों का उत्कर्ष बताया गया है अतः यहाँ सौभाग्य (उदारता) गुण है ।

(३) यथासंख्य गुण

अर्थ—समान विषय का आनुपूर्व्वी कथन (यथाक्रम वर्णन) 'यथासंख्य' नामक गुण है ॥ २१ (१) ॥

---

१. मुद्रितेऽग्निपुराणे सामान्यमतिदिश्यते—इति पाठः ।

अथ प्रशस्तिं लक्षयति—

समये वर्णनीयस्य दारुणस्यापि वस्तुनः ॥ २१ ॥
अदारुणेन शब्देन प्राशस्त्यमुपवर्णनम् ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ यथासङ्ख्यं लक्षयति—समानां समानानां वस्तूनामनुद्देश आनुपूर्व्या कथनं यथासङ्ख्यं नामोभयगुण उपदिश्यते । यथा—

श्रित्वा रजःसत्त्वतमांसि विश्वं निर्माति पाति क्षपयत्यसौ यः ।
तं देवदेवं परमीड्यमेकं नमामि दीनो भवभीतिकम्पः ॥ २२४ ॥

अत्र रजःसत्वतमसामाश्रयेण क्रमात् निर्म्माण-रक्षण-क्षपण-क्रिया विश्वस्येति यथासङ्ख्यं नामोभयगुणः ।

अथ प्रशस्तिं लक्षयति—यत्र काव्ये वर्णनीयस्य दारुणस्य वर्णनसमयेऽ—दारुणस्य वर्णनसमय उपस्थीयते तथा दारुणस्य वस्तुनोऽदारुणेन श्रुतितश्चाकठिनेन शब्देनोपवर्णनं प्राशस्त्यं नामोभयगुणः स्यात् । यथा—

गदादिधारणाज्जातौ काठिन्यौ तै करावमौ ।
पद्मरागाविव शुभौ नारीहृदयभूषणौ ॥ २२५ ।

अत्र काठिन्ये मृदुत्ववर्णनं प्राशस्त्यं नामोभयगुणः ॥ २१ ॥

विमर्श—दण्डी ने उद्दिष्ट पदार्थ का यथाक्रम वर्णन को 'यथासंख्य' अलंकार कहा है । उनका यह अलंकार-लक्षण अग्निपुराण से प्रभावित है । अन्य आचार्यों ने भी यथासंख्यं को अलंकार कहा है, किन्तु अग्निपुराणकार ने इसे 'गुण' माना है, यह उनकी नवीन कल्पना है । भोज के 'रीति' नामक गुण में अग्निपुराण के यथासंख्य गुण की धारणा निहित है । यथासंख्य गुण का उदाहरण निम्न प्रकार है—

श्रित्वा रजःसत्त्वतमांसि विश्वं निर्माति पाति क्षपयत्यसौ यः ।
तं देवदेवं परमीड्यमेकं नमामि दीनो भवभीतिकम्पः ॥२२४॥

यहाँ पर रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुण के आश्रय से क्रमशः विश्व के सृष्टि (निर्माण), रक्षा और संहार का वर्णन होने से 'यथासंख्य' गुण है ।

(४) प्रशस्ति गुण

अर्थ—जहाँ पर यथासमय वर्णनीय कठोर विषय का कोमल शब्दों से वर्णन किया जाता है, वहाँ 'प्रशस्ति' गुण होता है ॥ १२-१३ (१) ॥

अथ पाकं लक्षयति—

उच्चैः परिणतिः कापि पाक इत्यभिधीयते ॥ २२ ॥
मृद्वीका नारिकेलादिपा[1]कभेदाच्चतुर्विधः ।
आदावन्ते च[2] सौरस्यं मृद्वीकापाक एव सः[3] ॥ २३ ॥
मध्ये नारिकेलपाको रम्भापाकोऽन्त एव यः ।
आदिमध्यान्तसौरस्यं तिन्तिडीपाक उच्यते[4] ॥ २४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ पाकगुणं लक्षयति–गद्यकाव्यानामाख्यायिकादीनां पञ्चानां पद्यकाव्यानां महाकाव्यादीनां सप्तानां मिश्रकाव्यानां चम्पूनाटकादीनामष्टाविंशतेरारम्भादूर्ध्वं कापि मधुररूपेण परिणतिः कविना श्रोतॄणां शब्दोऽर्थतः श्रवणेन हृदयङ्गमरूपेण निर्मितिः स पाक इति शब्दार्थोभयगुणोऽभिधीयते ।

पाकं विभजते—मृद्वीकादिपाकवत् पाकभेदात् स पाकश्चतुर्विधः । तत्र यत्र काव्ये खल्वादौ पूर्वभागेऽन्ते च शेषभागे सौरस्यं शब्दार्थोभयश्रवणे हृदयङ्गमत्वं तदाद्यन्तसुरसद्राक्षापाकवत् पाक इति मृद्वीकापाक एव स उच्यते ।

विमर्श—अग्निपुराण के अनुसार कठोर विषय का कोमल शब्दों में वर्णन करना 'प्रशस्ति' गुण कहा गया है। अग्निपुराण की यह नवीन उद्भावना है। इसी आधार पर भोज ने 'सौकुमार्य' गुण की कल्पना की है। भोज ने—'अदारुणार्थपर्य्यायो दारुणेषु सुशब्दता' सौकुमार्य गुण का लक्षण किया है। प्रशस्ति का उदाहरण निम्न प्रकार है—

गदादिधारणाज्जातौ काठिन्यौ ते करावितौ ।
पद्मरागाविव शुभौ नारीहृदयभूषणौ ॥२२५॥

यहाँ पर काठिन्य के वर्णन के प्रसङ्ग में कोमल वर्णन होने से 'प्रशस्ति' गुण है।

(५) पाकगुण

अर्थ—जहाँ पर किसी प्रकार की उच्च परिणति हो, वहाँ पाकगुण होता है। यह पाक मृद्वीकापाक, नारिकेलपाक आदि भेद से चार प्रकार का होता है। जहाँ पर आदि और अन्त में सरसता रहती है, वहाँ मृद्वीका पाक होता है। जहाँ मध्य में सरसता होती है, उसे 'नारिकेलपाक' कहते हैं। जहाँ अन्त में सरसता रहती है, उसे 'रम्भापाक' कहते हैं और जहाँ आदि, मध्य, अन्त में सरसता होती है, वहाँ 'तिन्तिड़ीपाक' होता है ॥ २२-३४ ॥

---

१. मुद्रितपुस्तके नारिकेलाम्बु इति पाठभेदः । २. अदावन्तेव इति पाठभेदः ।
३. 'ख' पुस्तके श्लोकार्द्धोऽयं नास्ति । ४. कारिकेयं मुद्रितेऽग्निपुराणे न प्राप्यते ।

काव्यप्रभावृत्तिः

नारिकेळपाकमाह—नारिकेळफळस्य यथा मध्यावस्थायां सौरस्यं न तु पूर्वे न वान्ते यस्य काव्यस्य मध्ये शब्दार्थाश्रवणे हृदयङ्गमत्वं सौरस्यं तस्य नारिकेळपाक उभयगुणः। रम्भापाकमाह—अन्ते यत्र सौरस्यं तत्र स रम्भापाक उभयगुणः। तिन्तिड़िपाकमाह—आदिमध्यान्तसौरस्यं तिन्तिड़ीफळस्य तद्वत् परिणामात्तिन्तिड़ीपाक उभयगुण उच्यते ॥ २३-२४ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में पाकगुण का लक्षण बताया गया है कि जिस काव्य में मधुर रूप से जो उत्तम परिणति होती है, उसे 'पाकगुण कहते हैं। पाकगुण के चार भेद होते हैं—(१) मृद्वीकापाक (२) नारिकेलपाक (३) रम्भापाक (४) तिन्तिड़ीपाक। मुद्रित अग्निपुराण में तथा कुछ पाण्डुलिपियों में तीन ही पाकों का उल्लेख है। कुछ विद्वानों का मत है कि चतुर्थ पाक सहकारपाक होगा। भोज ने पाकगुण का उल्लेख प्रौढ़ि गुण के स्वरूप-विवेचन के अन्तर्गत किया है। दोनों के विवेचन में समानता दिखाई देती है। सरस्वतीकण्ठाभरण की रत्नदर्पण टीका में तीन पाकों का विवेचन मिलता है। उसमें तृतीय पाक के रूप में 'सहकार पाक' स्वीकार किया गया है और उसका लक्षण 'प्रारम्भ में मृदुता और भीतर कठोरता' दिया गया है। राजशेखर के अनुसार मङ्गल के मत में पाक 'सौशब्द्य' है। आचार्यों का मत है कि शब्दों के निवेश में निष्कम्पता (स्थिरता) ही पाक है। वामन के मतानुसार 'पदपरिवृत्तिसहिष्णुता का परित्याग' ही पाक है किन्तु अवन्तिसुन्दरी का कथन है कि यह तो अशक्ति है, पाक नहीं। उनके अनुसार रसोचित शब्दार्थ गुम्फित रचना ही पाक है। इसीलिए कहा गया है कि गुण, अलङ्कार, रीति तथा युक्ति के अनुसार शब्द और अर्थ का सरस गुम्फन ही 'पाक' हैं। किन्तु अग्निपुराण के अनुसार मधुर रूप से परिणति अर्थात् कवि के द्वारा शब्दार्थ का हृदयङ्गम निर्मिति पाक है। मंगल का परिणाम और अग्निपुराण की परिणति में सादृश्य है। आचार्यों ने काव्य पाक को फलपाक के समान बताया है। जिस प्रकार विविध पके फलों के विविध रस (स्वाद) होते हैं। उसी प्रकार काव्य के पाक भी विचित्र होते हैं। विद्यानाथ ने दो पाक (द्राक्षापाक और नारिकेलपाक) तथा राजशेखर ने नौ प्रकार के फलों के आधार पर नौ काव्यपाक बताये हैं—पिचुमंद, बदर, मृद्वीका, वार्त्ताक, तिन्तिड़ी, सहकार, क्रमुक, त्रपुस, नारिकेल। किन्तु अग्निपुराण में चार पाकों का विवेचन किया गया है और उनका स्वरूप निम्न प्रकार बताया गया है—

(१) **मृद्वीकापाक**—जिस काव्य में पूर्वभाग में (प्रारम्भ में) तथा अन्त में सरसता और कोमलता रहती है और मध्य में कठोरता होती है, उसे 'मृद्वीकापाक' कहते हैं। यह द्राक्षाफल के समान होता है, इसलिए इसे 'मृद्वीकापाक' कहते हैं।

अथ रागं लक्षयति—

काव्ये छाया[1]विशेषो यः स राग इति गीयते[2] ।
अभ्यासोऽप[3]हतः कान्तिं सहजामतिवर्तते[4] ॥ २५ ॥
हारिद्रश्चैव कौसुम्भो नीलीरागश्च स त्रिधा ।

काव्यप्रभावत्तिः

अथ रागगुणं लक्षयति—काव्ये यश्छायाविशेषः स राग इति गीयते । रागो रञ्जनम् । स च छायाविशेषः काव्यस्याभ्यासे नोपहतः सन् काव्यस्य सहजां कान्तिमतिक्रम्य वर्त्तते ॥ २५ ॥

---

(२) नारिकेलपाक—जिस काव्य के प्रारम्भ में कठोरता उसके बाद मध्य में (कोमलता सरसता) पुनः अन्त में कठोरता होती है, उसे नारिकेल पाक कहते है ।

(३) रम्भापाक—जिस काव्य के प्रारम्भ में कठोरता और अन्त में सरसता रहती है, उसे 'रम्भापाक' कहते है ।

(४) तिन्तिड़ीपाक—जिस काव्य में आदि, मध्य और अन्त में सरसता रहती है, उसे 'तिन्तिड़ीपाक' कहते हैं ।

(६) रागगुण

अर्थ—काव्य में छाया विशेष को राग कहते हैं । वह काव्य के अभ्यास में उपहत न होकर काव्य की सहज कान्ति (शोभा) को अतिक्रमण करता है वह तीन प्रकार का होता है—हरिद्राराग, कुसुम्भीराग और नीलीराग ॥ २५-२६ (१) ॥

विमर्श—काव्य में छाया (शोभा) विशेष को राग कहते हैं । जो गुण काव्य में अपनी छाया (प्रतिविम्ब, छाया) से अतिरञ्जित कर सहज कान्ति को आक्रान्त करता है, उसे राग गुण कहते हैं । वह राग तीन प्रकार का होता है—हरिद्राराग, कौसुम्भराग और नीलीराग ।

(१) हरिद्राराग—जहाँ पर काव्य की छाया (शोभा) सुख से श्रवणीय पदावली के द्वारा क्रमशः श्रोताओं को रञ्जित करता है, उसे छाया-विशेष को हारिद्राराग कहते हैं । इसमें कुछ श्लोक श्रवणीय पदावली के द्वारा रचित होते हैं और कुछ अनवद्य पदावली के द्वारा रचित होते हैं ।

---

१. मुद्रितेग्रन्थे काव्येच्छया इति पाठः ।
२. न, ल पुस्तकयो कीर्त्ति· ख पुस्तके श्लोकार्द्धोऽयं नास्ति ।
३. अभ्यासोपहितः इति पाठभेदः । ४. सहजामपि वर्त्तते इति पाठभेदः ।

काव्यप्रभावृत्तिः

रागं विभजते—हारिद्रादिरागभेदात् त्रिविधो रागो भवति। हरिद्राकृत-रागः किञ्चित्काळस्था तद्वद्रागः काव्ये हारिद्रराग इति नाम उभयगुणः। अथ कियन्तोऽनवद्यपदावल्या स हारिद्रागः। अथ स कौसुम्भोरागः प्रथमं श्रोतृमनोज्ञपदावल्या रचितं मध्ये तु न तथा पुनश्च श्रोतृमनोज्ञपदावल्या। अथ नीळीरागः स यत्र काव्ये प्रथममध्यान्तपर्यन्तं श्रोतृश्रोत्रसुखपदावल्या रचना। इत्येवं पदावळीनामभ्यासेनावृत्त्या य उपहतो रागः स काव्यस्य सहजां कान्तिं शोभामतिक्रम्य वर्त्तते। तत्र रागेषूत्तरोत्तरो रागः श्रेष्ठ इति। इति षड्विध उभयगुण उक्तः। इति सामान्यो गुण उक्तो भवति ॥ २६ (१) ॥

(२) **कौसुम्भराग**—जहाँ पर पहले श्रोताओं के लिए मनोज्ञ (मनोहर) पदावली की रचना होती है, मध्य में असुन्दर और अन्त में पुनः मनोहर पदावली का प्रयोग होता है, उसे 'कौसुम्भ राग' कहते हैं।

(३) **नीलीराग**—जिस काव्य में आदि, मध्य और अन्त तक श्रोताओं के श्रोतृसुखद पदावली के द्वारा रचना हो, उसे नीलीराग कहते हैं।

इस प्रकार पदावली के अभ्यास से आवृत्ति के द्वारा जहाँ पर उपहत राग काव्य की सहज कान्ति का अतिक्रमण कर अतिशय शोभा को अनुगृहीत करता है, वहाँ 'राग' गुण होता है। रागों में नीलीराग उत्तम होता है।

अग्निपुराण के रस प्रकरण में बताया गया है कि किस गुण के प्रसार से किस रस की निष्पत्ति (अभिव्यक्ति) होती है? कहते हैं कि राग से शृङ्गार रस की निष्पत्ति है (रागाद्भवति शृङ्गारो—अ० पु० ४।६) वहाँ पर तीन प्रकार के राग बताये गये हैं—नीलीराग, कुसुम्भराग और माञ्जिष्ठराग[1]। वहाँ यह बताया गया है कि जिसके द्वारा चित्त में स्थित दुःख सुख के रूप में रञ्जित हो जाय, उसे राग कहते हैं[2]। भावप्रकाशन में कहा गया है कि जो चित्त को रञ्जित करे, उसे राग कहते हैं। जिसके द्वारा सुखदुःखात्मक विषय सुख के रूप में रञ्जित हो, विषय के रञ्जन के कारण उसे 'राग' कहते हैं। वहाँ पर राग

---

१. न चातिशोभते प्रीतिर्नापैति च मनोगतिम्।
नील्याराग इति ख्यातः कौसुम्भोऽपैति शोभते॥
माञ्जिष्ठरागो या प्रीतिर्न चापैत्यतिशोभते॥ (काव्यप्रभावृत्तिः ४।६)

२. दुःखमप्यधिकं चित्तं सुखत्वेनैव रज्यते।
येन स्नेहप्रकर्षेण स राग इति गीयते॥

के तीन भेद बताये गये हैं—नीलीराग, कुसुम्भराग और मञ्जिष्ठ राग[1]। जो प्रक्षालन करने पर न तो हृदय से हटे और न प्रकाशित हो, उसे नीलीराग कहते हैं। जो राग प्रक्षालन करने पर दूर हो (हट) जाय और प्रकाशित हो, उसे कुसुम्भ राग कहते हैं, तथा जो हृदय से दूर न हो, और शोभित हो, उसे माञ्जिष्ठराग कहते हैं[2]। विश्वनाथ को साहित्य-दर्पण में शारदातनय के समान उपर्युक्त तीन राग माने हैं और उसकी परिभाषाएँ भी उन्हीं के समान मानी हैं[3]। अग्निपुराण में शृङ्गाररस प्रकरण में राग को रस निष्पत्ति का गुण बताया है और राग के उपर्युक्त तीन भेद बताये है । २५-३६ (१) ॥

किन्तु गुणा प्रकरण में राग गुण के तीन भेद बताये है। अग्निपुराणकार ने वहाँ पर नीलीराग और कुसुम्भराग को तो ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है किन्तु मञ्जिष्ठ राग के स्थान पर हारिद्रराग माना है। और हारिद्रराग का लक्षण बताते हुए कहा है कि जिस काव्य में कुछ श्लोक कर्णसुखद (श्रोतव्य, मनोहर) पदावली में रचित हो और कुछ अनवद्य पदावली में रचित हो वहाँ हरिद्रराग होता है। इसी प्रकार पहले श्रोतृ सुखद पदावली में रचना हो, मध्य में अतिसुन्दर पदावली तथा अन्त में पुनः श्रोतृ सुखद रचना हो, वहाँ कुसुम्भ राग होता है और नीलीराग वहाँ होता है जहाँ आदि, मध्य, अन्त सर्वत्र श्रोतृसुखद रचना हो। इसमें नीलीराग को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। इस प्रकार अग्निपुराणकार नीलीराग को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं जबकि भावप्रकाशनकार मञ्जिष्ठ राग को उत्तम बताते है। वस्तुतः छायाविशेष से जो चित्त को अनुरञ्जित कर दे, उसे 'राग' कहते हैं। अग्निपुराण में राग को एक गुण माना है।

---

१. रज्यते दीप्यते चित्तं स राग इति कथ्यते।
सुखदुःखात्मकं भोज्यं सुखत्वेनाभिमन्यते ॥
येन रागः स इत्युक्तो रञ्जनाद्विषयात्मनोः।
नीली - कुसुम्भ - माञ्जिष्ठरागौपम्येन स त्रिधा। (भावप्रकाशन ४)

२. क्षालितो यस्तु नापैति यश्च नातीव शोभते।
नीलीरागः स एवेति ... ... ॥
योऽपैति क्षालितः क्षिप्तमध्यक्षं योऽपि शोभते।
कुसुम्भराग एवैष ... ... ॥
अतीव शोभते यस्तु नापैति क्षालितोऽपि सन्।
स एव कविभिसर्वैः माञ्जिष्ठराग स उच्यते ॥ (भावप्रकाशन ४)

३. साहित्यदर्पण—३।१९५-१९८७।

अथ वैशेषिकः काव्यगुण उच्यते—

वैशेषिकः स विज्ञेयो[1] यः स्वलक्षणगोचरः ॥ २६ ॥

इति आग्नेये काव्यालङ्कारशास्त्रे गुणविवेको नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

काव्यप्रभावृतिः

अथ वैशेषिकः काव्यगुण उच्यते— सर्वकाव्यसाधारणीभूतः सामान्यो गुणो यथा शब्दगुणोऽर्थगुण उभयगुणः सप्रभेद उक्तस्तथा गद्यकाव्यानां पञ्चविधानां, पद्यकाव्यानां महाकाव्यादीनां सप्तानां, मिश्रकाव्यानां चम्पूनाटकादि अष्टाविंशतिविधानां स्वलक्षणगोचरः स्वस्वलक्षणगोचरो यो यः स वैशेषिको गुण उच्यते। उक्ताः शब्दालङ्कारादयो येऽलङ्कारा गुणाश्च शब्दगुणादयो ये तेषां कतिचिदलङ्कारा गुणाश्च चेद्वर्त्तन्ते तदैव सालङ्कारीणि। सुगुणानि गद्यपद्यमिश्रकाव्यानि निखिलदोषाभावे श्रेष्ठानि भवन्ति। न तु सर्वदोषाभाववत् सर्वालङ्कार सर्वगुणवत्ता विवक्षिता इति ॥ २३ ॥ ६ ॥

इत्याग्नेये काव्यालङ्कारशास्त्रे गुणविवेको नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

वैशेषिक गुण

अर्थ—काव्य में जो स्वरूप लक्षण गोचर हो, उसे वैशेषिक गुण कहते हैं ॥२२६॥

विमर्श—अग्निपुराण में कुछ काव्य-दोषों का विशेष-स्थिति में अदोषत्व बताया गया है। इस प्रकार जो काव्य-दोष स्थिति-विशेष में काव्य में सौन्दर्याधापक हो जाते हैं, उन्हें वैशेषिक गुण कहते हैं ॥२६॥

इस प्रकार अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्र में गुण-विवेक नामक दशवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

---

१ 'परिज्ञेयो' इति पाठभेदः।

एकादशोऽध्यायः

काव्यदोषविवेकः

काव्यदोषविवेक

अग्निपुराण में 'काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषविवर्जितम्' काव्य का लक्षण बताया गया है और दोष को काव्य का हेय तत्त्व कहा गया है। भामह ने दोषयुक्त काव्य को कुपुत्र के समान निन्दनीय बताया है। उनका कहना है कि काव्य में एक भी पद सदोष नहीं कहना चाहिए; क्योंकि दोषपूर्ण काव्य कुपुत्र के समान निन्दा का कारण होता है—

सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥

दण्डी का कहना है कि काव्य में स्वल्प दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए; क्योंकि सुन्दर शरीर भी श्वेत कुष्ठ के एक (छोटे) दाग से भी कुरूप हो जाता है—

तदल्पमपि नेपेक्ष्यं काव्यं दुष्टं कथञ्चन।
स्वाद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥

इस प्रकार काव्य में थोड़ा भी दोष उपेक्षणीय नहीं है। कविता-कामिनी का शरीर कितना ही सुन्दर, सरस एवं आकर्षक क्यों न हो; किन्तु एक दोष होने पर भी उसके सौन्दर्य का विघातक हो जाता है और वह उद्विग्नजनक भी हो जाता है तथा सुई की तरह चुभने लगता है। यद्यपि कालिदास ने कहा है कि **'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः'** अर्थात् गुणों के समूह में एक दोष उसी प्रकार छिप जाता है जिस प्रकार चन्द्रमा में कलंक। किन्तु इस कथन का प्रबल विरोध हुआ और घटखर्पर ने यहाँ तक कहा है कि **'नूनं न दृष्टं कविनाऽपि तेन दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी'** अर्थात् गुणों के समूह में एक दोष छिप जाता है, ऐसा जो कहते हैं उन्होंने बिना सोचे-समझे कहा है; क्योंकि दरिद्रतारूपी दोष गुणसमुदाय को नष्ट कर देता है। भाव यह कि काव्य में कुछ दोष ऐसे होते हैं जो गुणों को नष्ट कर देते हैं। इसीलिए दण्डी ने कहा है कि काव्य में थोड़ा भी दोष उपेक्षणीय नहीं है।

अथ काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितमिति यदुक्तं तत्र दोषानाह—
अग्निरुवाच

[1]उद्वेगजनको दोषः सभ्यानां स च[2] सप्तधा ।
वक्तृवाचकवाच्यानामेकद्वित्रिनियोगतः ॥ १ ॥

दोष-लक्षण

अग्निपुराण में सभ्यों (सहृदयों) के उद्वेगजनक तत्त्वों को दोष कहा गया है (उद्वेगजनकोदोषः सभ्यानाम्) । भाव यह कि जिस काव्य के पढ़ने या सुनने से सहृदयों के हृदय में उद्विग्नता हो, उसे 'दोष' कहते हैं । काव्य का मुख्य प्रयोजन आनन्द है, आनन्द की अनुभूति में जिसके द्वारा बाधा उत्पन्न हो, उसे दोष कहते हैं । अनौचित्य को इसीलिए महान् दोष कहा गया है, क्योंकि उससे सभ्यों को उद्वेग होता है । वामन ने गुण के विपर्यय को दोष कहा है (गुणविर्प्ययादात्मनो दोषाः) । दण्डी ने सौन्दर्य-विघातक तत्त्व को दोष कहा है (दोषा विपत्तये तत्र) । ध्वनिवादी आचार्य रस के अपकर्षक या रसानुभूति में विघातक तत्त्व को दोष कहते हैं । जयदेव का कथन है कि हृदय में जिसके प्रवेश करते ही काव्य की रमणीयता नष्ट हो जाती है, उसे दोष कहते हैं । कहते हैं कि जिस प्रकार शरीर में काणत्व-कुब्जत्वादि दोष के होने पर शरीर की सुन्दरता नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार काव्य में श्रुतिकटुत्वादि दोषों के होने से काव्य के सौन्दर्य का विघात होता है । जिस प्रकार शरीर में काणत्व, कुष्ठत्व आदि दोषों के होने से उद्विग्नता (घृणा) उत्पन्न होती है, उसी प्रकार काव्य में कष्टत्वादि दोषों के होने से उसके श्रवण या पठन से चित्त में उद्विग्नता होती है, इसीलिए दोष को उद्वेगजनक कहा गया है । वस्तुतः आनन्द की प्राप्ति या काव्यास्वादन की अनुभूति में जिससे उद्वेग, क्षोभ या बाधा उत्पन्न हो, वह दोष है । दोष से काव्य दूषित होता है जिससे काव्य हेय या अरुचिकर हो जाता है । अतः काव्य में दोष सर्वथा त्याज्य हैं । अतः अग्निपुराण में दोष को त्याज्य बताया गया है ।

अर्थ—अग्निदेव कहते हैं—सभ्यों (सहृदयों) को उद्विग्न करने वाला तत्त्व दोष है । वह दोष वक्तृ, वाचक और वाच्य के एक, दो, तीन के नियोग से सात प्रकार का होता है ॥ १ ॥

---

१. ख पुस्तके 'उद्वेगजनको' इत्यारभ्य 'कष्टत्वम्' इति यावत् दश श्लोकाः न सन्ति ।
२. क, म पुस्तकयोः 'सभ्यानामथ' इति पाठः ।

तत्र वक्ता कविर्नाम प्रथते[1] स च भेदतः ।
सन्दिहानोऽविनीतः सन्नज्ञो ज्ञाता चतुर्विधः ॥ २ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

वशिष्ठायाग्निरुवाच—काव्यस्य पठ्यमानस्य श्रवणतो व्याख्यायमानस्यार्थबोधतः सभ्यानां ज्ञानवतामज्ञानवतां वा यथासम्भवमुद्वेगजनको धर्मः काव्यस्य दोष उच्यते। स गुणोऽपि दोषवान् भवतीति गुणवचनेन दोषावचनं भवतीति गुणवचनेन दोषावाच्यत्वं नोपपद्यते। स च दोषः खलु वक्तृवाचकवाच्यानामेकद्वित्रिनियोगतः सप्तधा भवति। एकैकनियोगात् त्रिधा, वक्तृनियोगत एकः, वाचकनियोगतो द्वितीयो वाच्यनियोगतस्तृतीयः। वक्तृवाचकनियोगतश्चतुर्थः, वक्तृवाच्यनियोगतः पञ्चमः, वाचकवाच्यनियोगतः षष्ठः, वक्तृवाचकवाच्यनियोगतः सप्तम इति सप्तविधो दोषः ॥ १ ॥

तत्र को वक्ता कतिविधश्चेत्यत आह—तत्र वक्तृवाचकवाच्येषु मध्ये वक्ता-कविर्नाम स च सन्दिहानादिभेदतश्चतुर्विधः-सन्दिहानः संशयानः, अविनीतो विनय-रहितः, सन्नज्ञोऽज्ञः काव्यलक्षणानभिज्ञः, एते त्रयः दोषाः कवय एषां सन्देहादय-स्त्रयो दोषाः, ज्ञाता काव्यलक्षणज्ञाता इति चतुर्विधः कविर्वक्ता ॥ २ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में दोष के सात प्रकार बताये गये हैं। उनमें वक्ता के नियोग से प्रथम भेद (वक्तृ-दोष), वाचक-नियोग से द्वितीय भेद (वाचक-दोष), वाच्य-नियोग से तृतीय भेद (वाच्य-दोष), वक्तृ-वाचक-नियोग से चतुर्थ भेद, वक्तृ-वाच्य-नियोग से पञ्चम भेद, वाचक-वाच्य-नियोग से षष्ठ भेद और वक्तृ-वाचक-वाच्य-नियोग से सप्तम भेद होता है। इस प्रकार सात प्रकार के दोष होते हैं। उनका क्रमशः विवेचन करते हैं।

वक्तृ-दोष

अर्थ - उनमें प्रथम वक्तृ-दोष कवि में होता है (वक्ता कवि को कहते हैं)। वह चार प्रकार का होता है—(१) सन्दिहान, (२) अविनीत, (३) सन्नज्ञ और (४) ज्ञाता ॥२।

विमर्श—अग्निपुराण के अनुसार वक्तृदोष चार प्रकार का होता है। सन्दिहान, अविनीत, सन्नज्ञ और ज्ञाता। सन्दिहान का अर्थ संशय (सन्देह) होता है। अविनीत का अर्थ विनय-रहित है। कवि विनय-रहित होता है तो उसकी रचना भी अविनीत होगी। सन्नज्ञ का अर्थ अज्ञता है अर्थात् काव्य के लक्षण को न जानने वाला कवि अज्ञ कहलाता है। ज्ञाता का अर्थ है—काव्य लक्षण को जानने वाला कवि। इस प्रकार कवि चार प्रकार का होता है। इनमें संशयालु, अविनीत तथा काव्य के स्वरूप को न जानने वाला अज्ञ (सन्नज्ञ) कवि निन्दित होता है। ये कवि में दोष माने जाते हैं ॥ २ ॥

---

१. ग, घ, ल—प्रथमे इति पाठः।

निमित्ते[1] परिभाषाया[2]मर्थसंस्पर्शिवाचकम् ।
तद्भेदौ पदवाक्ये द्वे कथितं लक्षणं तयोः ॥ ३ ॥

तत्र पदस्य दोषानाहः—

असाधुत्वाप्रयु[3]क्तत्वे द्वावेव पदनिग्रहौ ।
शब्दशास्त्रविरुद्धत्वमसाधुत्वं विदुर्बुधाः ॥ ४ ॥
व्युत्पन्नैरनिबद्धत्वमप्रयुक्तत्वमुच्यते ।
छान्दसत्वमविस्पष्टा[4]र्थत्वं कष्टत्वमेव च ॥ ५ ॥
तदसामयिकत्वञ्च ग्राम्यत्वञ्चेति पञ्चधा ।

काव्यप्रभावृत्तिः

वाचकमाह—अभिव्यक्तिप्रभेदस्य श्रुतेर्द्वौ भेदौ यावुक्तौ निमित्तं परिभाषा च। तत्र यदर्थं मुख्यार्थं पारिभाषिकार्थं लक्ष्यार्थं गौणार्थं च स्पृशति तद्वाचकं भवति। तच्च वाचकं द्विविधम्—पदं वाक्यञ्च। तयोर्लक्षणं कथितम्। सुप्तिङन्तं पदम्। संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलीति। ताभ्यां पदवाक्याभ्यामभिधेयोऽर्थो वाच्यमिति वाचकनिर्देशेन वाच्यलक्षणं ख्यापितमिति ॥ ३ ॥

---

२. वाचक दोष

अर्थ—निमित्त की परिभाषा में अर्थ का संस्पर्श करने वाला वाचक दोष होता है। उसके दो भेद होते हैं–(१) पद और (२) वाक्य। दोनों का लक्षण बताया जा चुका है ॥३॥

विमर्श—अभिव्यक्ति अलंकार-विवेचन में श्रुति के दो भेद बताये गये हैं—निमित्त और परिभाषा। उनमें जो मुख्य अर्थ (अभिधेय अर्थ) पारिभाषिक अर्थ और लक्ष्यार्थ गौण अर्थ होता है। ये दोनों जब अपने-अपने अर्थ को थोड़ा स्पर्श करते हैं तो वाचक दोष होता है। वह वाचक दोष दो प्रकार का होता है—पद-दोष और वाक्य-दोष। इन दोनों का लक्षण पहिले बताया जा चुका है। सुबन्त और तिङन्त को पद कहते हैं और इष्ट अर्थ से युक्त पदावली को वाक्य कहते हैं। इन पद और वाक्यों के द्वारा जो अधिधेय अर्थ होता है वह वाच्यार्थ कहलाता है ॥ ३ ॥

---

१. 'निमित्त' इति पाठभेदः।
२. 'परिभाषास्याम्' इति पाठभेदः।
३. प, फ—ससाधुत्वाप्रमुक्तत्वे इति पाठान्तरम्।
४. प, फ—'अविस्पष्टत्वञ्च' इति पाठान्तरम्।

काव्यप्रभावृत्ति

तत्र पदस्य दोषामाहः - द्वौ पदनिग्रहौ पदं निगृह्णतः पददोषौ भवतः। असाधुत्वञ्चाप्रयुक्तत्वञ्च । तत्र शब्दशास्त्रेण व्याकरणेन विरुद्धत्वमसाधुत्वं पदस्य बुधा विदुः। यथा—

सागः प्रियस्य मानिन्याः सुसंश्लिष्टं शिरःपदम् ।
वीक्ष्य मध्यन्दिनादित्यं सखी वक्त्राणि पद्मवत् ॥२२६॥

शिर.पदमित्यसाधु व्याकरणविरुद्धत्वात् शिरस्पदमिति साधु ॥ ४ ॥

व्याकरणाविरुद्धत्वमपि व्युत्पन्नैः पण्डितैर्यन्न काव्ये निबद्धं पदं तद्व्युत्पन्नैरनिबद्धमप्रयुक्तं पदमुच्यते । तस्याप्रयुक्तता दोष एषोऽकविजुष्टतादोष आधुनिकैरुच्यते। तत्पदस्याप्रयुक्तत्वं छान्दसत्वादिभेदेन पञ्चधा ॥ ५ ॥

पद-दोष

अर्थ—पद दोष दो प्रकार का होता है—असाधुत्व और अप्रयुक्तत्व । इनमें व्याकरण-शास्त्र के नियमों के विरुद्ध शब्द (पद) असाधुत्व दोष कहलाता है ॥ ४ ॥

विमर्श—जो शब्द व्याकरण से सिद्ध नहीं हो (व्याकरण शास्त्र के नियमों के विरुद्ध हो) उस शब्द का प्रयोग करना 'असाधुत्व' दोष कहा जाता है । जैसे —

सागः प्रियस्य मानिन्याः सुसंश्लिष्टं शिरःपदम् ।
वीक्ष्य माध्यन्दिनादित्यं सखी वक्त्राणि पद्मवत् ॥ २२६ ॥

यहाँ पर 'शिरःपदम्' यह प्रयोग व्याकरणशास्त्र के नियमों के विरुद्ध है, अतः यहाँ 'असाधुत्व दोष' है । शुद्ध शब्द 'शिरस्पदम्' है ।

अर्थ—कवियों (विद्वानों) के द्वारा अप्रयुक्त अर्थात् जिन शब्दों का प्रयोग कवियों के द्वारा नहीं हुआ है, ऐसे शब्दों का प्रयोग करना अप्रयुक्तत्व दोष होता है । अप्रयुक्तत्व दोष पाँच प्रकार का होता है—(१) छान्दसत्व, (२) अविस्पष्टार्थत्व, (३) कष्टत्व, (४) असामयिकत्व और ग्राम्यत्व । ५-६ (१) ॥

विमर्श—अग्निपुराणकार का कथन है कि यदि व्याकरण के द्वारा साधु (शुद्ध) भी हो, किन्तु पण्डितों (कवियों) के द्वारा जो काव्य में प्रयुक्त नहीं होता, उसे विद्वानों ने अप्रयुक्तत्व (अनिबद्ध) पद दोष कहा है । इस अप्रयुक्तत्व दोष को आधुनिक विद्वान् 'अकविजुष्टता' (अकविप्रयुक्त) दोष कहते हैं । यह अप्रयुक्तत्व दोष पाँच प्रकार का होता है—छान्दसत्व, अविस्पष्टार्थत्व, कष्टत्व, असामयिकत्व और ग्राम्यत्व । इनका क्रमशः सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत करते हैं ॥ ५-६ (१) ॥

छान्दसत्वं न भाषायामविस्पष्टमबोधतः ॥ ६ ॥
गूढार्थता विपर्यस्तार्थता संशयितार्थता ।
अविस्पष्टार्थताभेदास्तत्र गूढार्थता[1] तु सा ॥ ७ ॥
यत्रार्थो दुःखसम्वेद्यो विपर्य्यस्तार्थता पुनः ।
विवक्षितान्यशब्दार्थप्रतिपत्तिर्मलीमसा[2] ॥ ८ ॥
अन्यार्थत्वसमर्थत्वे एतामेवोपसर्पतः ।
सन्दिह्यमानवाच्यत्वमाहुः संशयितार्थताम् ॥ ९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

भाषायां लोके यन्न प्रयुज्यते तस्य पदस्य छान्दसत्वं भाषायां दोषः। अबोधतोऽर्थबोधाभावेनाविस्पष्टं यत्पदं तस्याविस्पष्टार्थता दोषो ज्ञेया ॥ ६ ॥

अविस्पष्टार्थता दोषस्य भेदा गूढार्थतादिभेदेन त्रिधा। तत्र यत्र पदेऽर्थो दुःखसम्वेद्यो दुर्ज्ञेयस्तस्य पदस्य सा गूढार्थतानामाविस्पष्टार्थता दोषः। यथा –

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् । २२७॥

इह गूढार्थता।

अर्थ—जिस शब्द का प्रयोग भाषा (लौकिक साहित्य) में न हुआ हो, उसे 'छान्दसत्व' दोष कहते हैं। जिस शब्द के प्रयोग से अर्थ स्पष्ट न हो, उसे 'अविस्पष्ट दोष' कहते हैं। अविस्पष्टार्थता दोष तीन प्रकार का होता है—(१) गूढ़ार्थता, (२) विपर्यस्तार्थता, (३) संशयितार्थता। (१) जिस पद में अर्थ दुर्ज्ञेय (दुःख से प्राप्य) हो, उसे 'गूढ़ार्थता' दोष कहते हैं। (२) जिस पद में विवक्षित अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ की प्रतीति अस्पष्ट (धुंधली) हो, उसे 'विपर्यास्तता' दोष कहते हैं। (३) जहाँ पर अन्य अर्थ में समर्थ पद दो अर्थों में सन्देह उत्पन्न करे, वहाँ 'संशयितार्थता' दोष होता है ॥ ६-९ ॥

विमर्श—छान्दसत्व दोष—अग्निपुराण में छान्दसत्व दोष का लक्षण **'छान्दसत्वं न भाषायां'** बताया गया है। जिसका अभिप्राय है कि जिस शब्द का प्रयोग भाषा (लौकिक-साहित्य) में नहीं होता, उसका प्रयोग 'छान्दसत्व' दोष कहलाता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि छान्दसत्व दोष लौकिक-भाषा में नहीं होता। शब्द के अर्थ का बोध (ज्ञान) न होना 'अविस्पष्टार्थता' दोष होता है। अग्निपुराण में अविस्पष्टार्थता दोष के तीन भेद बताये गये हैं—गूढ़ार्थता, विपर्यास्तार्थता और संशयितार्थता।

---

१. मुद्रिते ग्रन्थे गूढ़ार्थतेति सा इति पाठान्तरम्।
२. 'त' पुस्तके 'मनीषणा' इति पाठान्तरम्।

काव्यप्रभावृत्ति

विपर्य्ययस्तार्थता पुनर्योऽर्थः शब्देनाविवक्षितस्तस्मादन्यस्य शब्दस्यार्थप्रतिपत्त्याबोधेन मलीमसा मलिनरूपार्थता सा विपर्य्यास्तार्थता नामाविस्पष्टार्थता पददोषः। यथा—

सर्वं पदं परमदैवतमानिषेव्य
स्वर्गं विहाय तनुमाप सुधीवरः सः।
भोगं सुदुर्लभतमं मते हि कामान्
निष्कामतोऽमृतमियादपि यं निषेव्य ॥ २२८ ॥

अत्र तनुं विहाय स्वर्गमापेति विवक्षितोऽर्थस्तस्मादन्यशब्दार्थप्रतिपत्त्या स्वर्गं विहाय तनुमाप पुनर्जन्मग्रहणमापेति बोधेन। तत्र सुधीवर इति शब्देन सुबुद्धिश्रेष्ठ इत्यर्थो विवक्षितस्तस्मादन्यशब्दार्थप्रतिपत्त्या सुष्ठु धीवर इत्यर्थबोधेन मलिनरूपार्थता विपर्यस्तार्थता पददोषः ॥ ८ ॥

एतामेव विपर्ययस्तार्थतां यत्रान्यार्थत्वं समर्थत्वमिति द्वे उपसर्गत उपगच्छतस्तत्र सन्दिह्यमानवाच्यत्वं सन्देहविषयाभिधेयत्वं संशयितार्थतां नामाविस्पष्टार्थतां पददोषमाहुः। यथा—

कृतवानप्रियं कर्म महच्छस्त्रभृदर्जुनः।
इत्युक्त्वा क्रोधरक्ताक्षो रामः प्रस्फुरिताधरः ॥२२९॥

इह समुद्राहरणे विवक्षितार्थस्य कार्त्तवीर्येण हते ऋचीके यामदग्न्यरामपक्षेऽर्थे विपर्यस्तार्थतामुपसर्पति यथार्थत्वे च समर्थत्वमुपसर्पतीत्यतः संशयितार्थता नामाविस्पृष्टार्थता पददोष इति ॥ ९ ॥

---

(१) गूढ़ार्थता—गूढ़ार्थता दोष वहाँ होता है जहाँ पर पद से अर्थ की प्रतीति दुर्ज्ञेय (दुःख-साध्य) हो। जैसे—

न नो ननुम्नो नुन्नोनो नाना नानामना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुन् ॥ २२७ ॥

यहाँ पर गूढ़ार्थता दोष है।

(२) विपर्यस्तार्थता—जहाँ पर पद में विवक्षित अर्थ से विपरीत अर्थ की धुंधली सी प्रतीति हो, उसे विपर्यास्तार्थता दोष कहते हैं। जैसे—

सर्वं पदं परमदैवतमानिषेव्य स्वर्गं विहाय तनुमाप सुधीवरः सः।
भोगं सुदुर्लभतमं मते हि कामान् निष्कामतोऽमृतमियादपि यं निषेव्य ॥ २२८ ॥

दोषत्वमनुबध्नाति सज्जनोद्वेजनादृते ।
असुखोच्चार्य्यमाणत्वं कष्टत्वं[1] समयाच्च्युतिः ॥ १० ॥
असामयिकतामेषा[2]मेताञ्च मुनयो जगुः ।

यहाँ पर 'शरीर को छोड़कर स्वर्ग को प्राप्त किया' यह अर्थ विवक्षित था, किन्तु उसके विपरीत 'स्वर्ग को छोड़कर शरीर को प्राप्त किया' (पुनर्जन्म ग्रहण किया) अर्थ की प्रतीति हो रही है। इसी प्रकार 'सुधीवरः' पद का अर्थ 'बुद्धिमानों में श्रेष्ठ' विवक्षित था किन्तु उसके विपरीत 'सुष्ठु धीवर' अर्थ की मलिन (धुंधली) प्रतीति हो रही है, अतः यहाँ 'विपर्यस्तार्थता' दोष है।

(३) संशयितार्थता—जहाँ पर अन्य अर्थ में समर्थ पद विपर्यस्त (विपरीत) अर्थ में उपस्थित दोनो अर्थों में सन्देह उत्पन्न करे कि कौनसा अथ विवक्षित है? इस प्रकार विवक्षित अर्थ में सन्देह होने से 'संशयितार्थता' दोष कहलाता है। जैसे—

कृतवानप्रियं कर्म महच्छस्त्रभृदर्जुनः ।
इत्युक्त्वा क्रोधरक्ताक्षो रामः प्रस्फुरिताधरः ॥ २२९ ॥

यहाँ पर अर्जुन द्वारा सुभद्रा-हरण तथा राम (बलराम) का क्रोध विवक्षित है, किन्तु अर्जुन (कार्त्तवीर्य) के द्वारा ऋचीक के मारे जाने पर 'राम' (परशुराम) अर्थ उपस्थित हो रहा है। इस प्रकार 'अर्जुन' तथा 'राम' पदों के अर्थ में सन्देह होने से (अर्थ स्पष्ट न होने से) अविस्पष्टार्थता दोष है।

अर्थ—जहाँ पर सज्जनों (सभ्य, सहृदय) के उद्वेग के विना कष्ट से उच्चार्थमाण पद का प्रयोग हो, वहाँ कष्टत्व दोप होता है और कवि के द्वारा कृत नियम का उल्लंघन असामयिकता दोष है ॥ १०-११ (१) ॥

विमर्श—अग्निपुराण में बताया गया है कि सज्जनों (सहृदयों) के उद्वेजन से रहित कष्ट से उच्चार्थमाण पद का प्रयोग 'कष्टत्व' दोषपूर्ण होता है अर्थात् कष्ट से उच्चार्थमाण जो पद सज्जनों (सहृदयों) को उद्विग्न करने वाला न होने पर भी असहृदयों को उद्विग्न करने वाला क्लिष्ट शब्द का प्रयोग 'कष्टत्व' दोष होता है। जहाँ पर कवि काव्य-रचना के लिए नियम करता है कि अमुक प्रकार से काव्य-रचना करूँगा, यदि उस नियम का उल्लंघन हो जाय तो असामयिकता दोष होता है ॥ १०-११ (१) ॥

---

१. प, फ—समयाच्च्युतिरितीरिता इति पाठान्तरम् ।
२. न, ल—समयाविकता नेमे सतां । व—'आसामायकं' इति । प—असामयिकतालेयां, मुद्रिते ग्रन्थे असामपिकतानेमा ॥

ग्राम्यता तु जघन्यार्थप्रतिपत्तिः खलीकृता ॥ ११ ॥
वक्तव्यग्राम्यवाच्यस्य वचनात् स्मरणादपि ।
तद्वाचकपदेनातिसाभ्याद्भवति सा त्रिधा ॥ १२ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

यत्र पदानां दुःखेनोच्चार्यमाणत्वं यत्तत् सज्जनानां पण्डितानां सभ्यानामुद्वेगवचनं विनापि सज्जनेतरसभ्यानामुद्वेगजनकत्वाद्दोषत्वमनुबध्नातीति तदसुखोच्चार्यमाणत्वं पदस्य कष्टत्वं नामाप्रयुक्तत्वं दोष उच्यते ।

अथासामग्रिकतामप्रयुक्तत्वं दोषं लक्षयति—एषां वक्तृवाचकवाच्यानां समयाच्च्युतिभ्रंशः । समयाच्च्युतिर्वक्ता काव्यरचनाकाले यादृशं समयं करोति । एवमर्थे ककाराद्यैकैकाक्षरेण काव्यं रचयामि इत्येवमादि । तस्मात् समयाच्च्युतिर्भवति या तामेतामसामयिकतां पदस्य दोषं मुनयो जगुः । यादृशपदेन वाच्यत्वे यस्यार्थश्च यः समयस्तस्मादेषां पदार्थानां च्युतिरन्यार्थवचनं यतामेतां समयाच्च्युतिमसामयिकतां मुनयो जगुरिति । इति ॥ १० ॥

जघन्यार्थप्रतिपत्त्या खलीकृता खलताकृता पदस्य ग्राम्यता भवति । सा त्रिधा भवति । वक्तव्यार्थस्य ग्राम्यवाच्यस्य वचनान्निकृष्टजनवाच्यस्य वाचकादेका । ग्राम्यतास्मरणात्तद्वक्तव्यग्राम्यवाच्यस्यार्थस्मरणाद्द्वितीया । तदवक्तव्यग्राम्यवाच्यार्थस्य वाचकपदेनातिसाभ्यात्तृतीया भवति । क्रमेणोदाहरणानि त्रीणि —

गोचरणागता गोपबालाः कलहिनो मिथः ।
श्याल एहीति भाषन्ते श्यालस्ते तात एहि रे ॥२३०॥

इत्येवं वक्तव्यग्राम्यवाच्यवचनाद् ग्राम्यता पददोषः ।

अर्थ —जघन्य अर्थ की प्रतिपत्ति का आभास होना 'ग्राम्यता' दोष है । ग्राम्यता दोष के तीन भेद होते हैं—(१) वाच्य अर्थ का ग्राम्य (निकृष्ट जन) के द्वारा कथन, (२) उस ग्राम्य वाच्यार्थ का स्मरण, (३) उस कथन का उसी प्रकार प्रयोग ॥ ११-१२ ॥

विमर्श—क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं—

(१) गोचरणागता गोपबालाः कलहिनो मिथः ।
श्याल एहीति भाषन्ते यालस्ते शतात एहि रे ॥ २३० ॥

(२) गोचारणगता गोपबालाः कलहकारिणः ।
यथा वदन्ति तद्वत् त्वां वदाभि वचनं शृणु ॥ २३१ ॥

(३) अरे याहि श्यालपुत्रश्च मामद्य करोम्यहम् ।
यदि स्यात् पुनरेवं ते वचनं मरणं भवेत् ॥ २३२ ॥

अर्थदोषानाह—

दोषः साधारणः प्रातिस्वि[1]कोऽर्थस्य स तु द्विधा[2] ॥ १३ ॥
अनेकवागुपालम्भः साधारण इति स्मृतः[3] ।
क्रियाकारकयोर्भ्रंशो विसन्धिः पुनरुक्तता ।
व्यस्तसम्बन्धिता चेति पञ्च साधारणा मताः ॥ १४ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

गोचरणागता गोपबालाः कलहकारिणः ।
यथा वदन्ति तद्वत् त्वां वदामि वचनं शृणु ॥२३१॥

अत्र तत्स्मरणाद् ग्राम्यता ।

अरे याहि श्यालपुत्रश्च मामद्य कारोभ्यहम् ।
यदि स्यात् पुनरेवं ते वचनं मरणं भवेत् ॥ २३२ ॥

तद्वाक्यपदेनातितुल्यत्वाद् ग्राम्यतेति त्रिधा ग्राम्यतादोषः । इति पञ्चविधमप्रयुक्तत्वं पददोषः सहासाधुत्वेन शब्दगतः पददोषः षड्विधः ॥ १२ ॥

अर्थदोषानाह—अर्थस्य दोषो द्विधा—प्रथमोऽर्थदोषः साधारणो नाम वक्तृदोषनिर्मित्तत्वादर्थस्योपालम्भरन्यो दोषः । द्वितीयोऽर्थस्य प्रातिस्विको दोषः प्रत्येकवर्णदोष इति ।

अथ साधारणो नामदोषस्तु वक्त्रादिसाधारणनिमित्तत्वादिति । तत्साधारणं विभजते—सर्वेषामर्थानां सामान्यतो दोषात् साधारणो नाम दोषः क्रियाभ्रंशादिहेतुभेदेन पञ्चधा भवति ॥ १४ ॥

---

३. अर्थदोष

अर्थ—अर्थदोष दो प्रकार का होता है—(१) साधारण और (२) प्रातिस्विक । अनेक प्रकार का उपालम्भ साधारण नामक अर्थ दोष होता है । साधारण दोष के पाँच भेद हैं—(१) क्रियाभ्रंश, (२) कारकभ्रंश, (३) विसन्धि, (४) पुनरुक्तता और (५) व्यस्तसम्बन्धिता ॥ १३-१४ ॥

विमर्श—हेतु में दोषों का कहना उपालम्भ होता है और उपालम्भ ही साधारण दोष है । जहाँ पर इन हेतु दोषों का परिहार होता है वहाँ दोष नहीं होता है और जहाँ पर परिहार नहीं होता वहाँ दोष होता है । साधारण दोष पाँच प्रकार का होता है—क्रियाभ्रंश, कारकभ्रंश, विसन्धि, पुनरुक्तता और व्यस्तसम्बन्धिता ॥ १३-१४ ॥

---

१. प, फ—प्रातिष्ठिकोऽर्थस्य इति पाठान्तरम् ।
२. ग, झ—त्रिधा इति पाठान्तरम् ।
३. 'अनेकधा ह्युपालम्भो दोषः साधर्म्यादिसमः' इति पाठान्तरम् ।

अक्रियत्वं क्रियाभ्रंशो भ्रष्टकारकता पुनः ।
कर्त्रादिकारकाभावो विसन्धिः सन्धिदूषणम् ॥ १५ ॥
विगतो वा विरुद्धो वा विसन्धिर्भवति द्विधा ।
सन्धेर्विरुद्धता कष्टपाठादभ्यन्तरागमात्[1] ॥ १६ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ क्रियाभ्रंशमाह—अक्रियत्वं काव्यस्य क्रियापदाभावोऽर्थस्य क्रियाभ्रंश-निमित्तो दोषः क्रियाभ्रंशो दोषः । यथा—

अस्याः सम्पूर्णचन्द्राभे मुखे खञ्जनगञ्जने ।
नयने किमिहाश्चर्यं चकोरः कुत्र किंमनाः ॥२३३॥

इह क्रियाभावोऽर्थं दूषयतीति क्रियाभ्रंशोऽर्थदोषः ।

अथ कारकभ्रंशमाह—कर्त्र्याद्यन्यतमैकानेककारकभावो भ्रष्टकारकता कारकभ्रंशनिमित्तः कारकभ्रंशो नामार्थदोषः । यथा—

पापेभ्यो मुच्यते काश्यां दत्त्वा गां विधिवन्नरः ।
स्मरन् विश्वेश्वरं देवं भुक्तिमुक्तिप्रदं शिवम् ॥२३४॥

अत्र सम्प्रदानकारकभ्रंशोऽर्थं दूषयति ॥

अथ विसन्धिमाह—विसन्धिर्नामार्थदोषः सन्धिदूषणं व्याकरणशास्त्रे 'परः सन्निकर्षः संहिता' सन्धिः, तद्दूषणं सन्धिदूषणम् । सन्धिदूषणनिमित्तत्वादर्थस्य दूषणमर्थं दूषयति तस्मादर्थदोषः ॥ १५ ॥

अथ विसन्धिं विभजते—विसन्धिर्द्विधा भवति—विगतः सन्धिर्विरुद्धश्च सन्धिरिति । विगतो नाम सन्धिः संहिताळक्षणप्राप्तावसन्धिकरणमिति स्फुटमतो नास्य ळक्षणं कृतम् । यथा—

कान्ता आस्याम्बुजादेव सौरभं प्रक्षिपत्यसौ ।
पद्मिनी इव कं भृङ्गं नाकर्षेन्मदनानुगम् ॥ २३५ ॥

अत्र विगतसन्धिः ।

अर्थ—जहाँ पर क्रिया का अभाव हो, वहाँ 'क्रियाभ्रंश' दोष होता है और जहाँ पर कारक का अभाव हो, वहाँ 'कारकभ्रंश' दोष होता है। सन्धि में दूषण होना 'विसन्धि' दोष है। विसन्धि दोष दो प्रकार का होता है—(१) विगतसन्धि (२) विरुद्धसन्धि। सन्धि का न होना प्रथम विगतसन्धि दोष है और अन्य पद के अभ्यन्तर आ जाने से अर्थ ज्ञान में कष्टता विरुद्ध-सन्धि दोष है ॥ १५-१६ ॥

---

१. 'पाठादर्थान्तरागमात्' इति पाठान्तरम् ।

काव्यप्रभावृत्तिः

विरुद्धसन्धिमाह—अभ्यन्तरागमादेव पदस्याभ्यन्तरमपरपदागमात् संहितायां कष्टतः पाठाद्विरुद्धतादोषः सन्धेरिति । यथा—

दुर्भात्यत्यर्कमाग्रीष्मे हिमे त्वत्यमृतायते ।
बार्धक्यबाल्ययोर्वा स्यात् काळो हि गुणदोषकृत् ॥ २३६ ॥

इति भात्यत्यर्केति कष्टपाठाद्विरुद्धता तथा हिमे त्वत्यमृतायते इति कष्टापाठात् विरुद्धसन्धिदोषः ॥ १६ ॥

विमर्श—(१) क्रियाभ्रंश दोष—जहाँ पर क्रिया का अभाव अर्थ को दूषित करता है, उसे क्रियाभ्रंश दोष कहते हैं । जैसे –

अस्याः सम्पूर्णचन्द्राभे मुखे खञ्जनगञ्जने ।
नयने किमिहाश्चर्यं चकोरः कुत्र किंमनाः ॥ २३३ ॥

यहाँ पर क्रिया का अभाव अर्थ को दूषित कर रहा है, अत. यहाँ क्रियाभ्रंश दोष है ।

(२) **कारकभ्रंश दोष**—जहाँ पर कर्त्ता आदि कारकों का अभाव होने से अर्थ दूषित होता है उसे 'कारकभ्रंश' दोष कहते हैं । जैसे—

पापेभ्यो मुच्यते काश्यां दत्वा गां विधिवन्नरः ।
स्मरन् विश्वेश्वरं देवं भुक्तिमुक्तिप्रदं शिवम् ॥ २३४ ॥

यहाँ पर सम्प्रदान कारक का अभाव अर्थ को दूषित करता है, अतः यहाँ कारकभ्रंश दोष हैं ।

(३) **विसन्धि दोष**—विसन्धि दोष दो प्रकार का होता है—विगतसन्धि और विरुद्ध सन्धि । जहाँ पर सन्धि का लक्षण प्राप्त हो अर्थात् सन्धि का नियम प्राप्त हो, किन्तु सन्धि न हो, वहाँ विगत सन्धि दोष होता है । जैसे—

कान्ता आस्याम्बुजादेव सौरभं प्रक्षिपन्त्यसौ ।
पद्मिनी इव कं भृङ्गं नाकर्षेम्मदनानुगम् ॥ २३५ ॥

यहाँ पर 'कान्ता-आस्या' तथा 'पद्मिनी इव' में दीर्घसन्धि प्राप्त है किन्तु सन्धि नहीं हुई है, अतः 'विगतसन्धि' विसन्धिदोष दोष है ।

जहाँ पर अन्य पद में भीतर आ जाने से कष्ट से पाठ (उच्चारण) हो वहाँ विरुद्ध सन्धि दोष होता है । जैसे —

दुर्भात्यत्यर्कमाग्रीष्मे हिमे त्वत्यत्वमृतायते ।
वार्धक्यबाल्ययोर्वा स्यात् कालो हि गुणदोषभृत् ॥ २३६ ॥

यहाँ पर 'भात्यत्यर्क' में तथा 'हिमेत्वत्यमृतायते' में सन्धि में भीतर 'अति' पद आ जाने से उच्चारण कष्ट होता है, अतः यह 'विरुद्धसन्धि' दोष है ॥ १५-१६ ॥

पुनरुक्तत्वमाभीक्ष्या[1]दभिधानं द्विधैव तत्।
अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरर्थावृत्तिरपि द्विधा[2] ॥ १७ ॥
प्रयुक्तपूर्वशब्देन[3] तथा शब्दान्तरेण च।
नावर्त्तते यथावृत्तो वाच्यभावर्त्तते पदम् ॥ १८ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ पुनरुक्ततां लक्षयति – आभीक्ष्यादभिधानं पुनरुक्तत्वमर्थदोषः। तद् द्विधैव भवति – अर्थावृत्तिः पदावृत्तिश्च। तत्र अर्थस्याभीक्ष्यादभिधानमर्थावृत्तिरेका पुनरुक्तता, पदावृत्तिः पदस्याभीक्ष्यादभिधानमपरा पुनरुक्तता। तत्रार्थावृत्तिरपि द्विधा भवति। एका प्रयुक्तपूर्वशब्देनार्थावृत्तिरपरा शब्दान्तरेणार्थावृत्तिरिति द्विधार्थवृत्तिरिति। यथा—

व्रज वाराणसीं वृद्ध वृद्ध वाराणसीं व्रज।
गच्छ कायः परिणतस्तव पक्वमिदं वपुः ॥ २३७ ॥

इह पूर्वार्द्धे प्रयुक्तपूर्वशब्देनार्थावृत्तिः शेषार्द्धे शब्दान्तरेण।

अर्थ—विषय का (वस्तु) का पुनः पुनः कथन 'पुनरुक्तत्व' दोष होता है। पुनरुक्तत्व दोष दो प्रकार का होता है—पदावृत्ति और अर्थावृत्ति। इनमें अर्थावृत्ति दोष भी दो प्रकार का होता है—पुनः पुनः पूर्व पद (शब्द) की आवृत्ति से तथा शब्दान्तर (अन्य शब्द) की आवृत्ति से। अर्थावृत्ति में उन-उन पदो के द्वारा उन-उन अर्थों की आवृत्ति होती है और पदावृत्ति में अर्थ की आवृत्ति नहीं होती, पदों की आवृत्ति होती है ॥ १७-१८ ॥

विमर्श—अग्निपुराण के अनुसार वस्तु का पुनः पुनः कथन पुनरुक्तत्व दोष होता है। उनमें पद की पुनः पुनः आवृत्ति-पदावृत्ति और अर्थ की पुनः आवृत्ति अर्थावृत्ति होती है। अर्थावृत्ति के भी दो भेद होते हैं—पूर्वप्रयुक्त शब्द की आवृत्ति के द्वारा तथा शब्दान्तर की आवृत्ति के द्वारा पुनरुक्त दोष होता है। दण्डी ने इसे एकार्थत्व दोष कहा है। भोज ने दण्डी एवं अग्निपुराण का अनुसरण करते हुए दण्डी के वचन को अक्षरशः उद्धृत किया है। उदाहरण, जैसे—

व्रज वाराणसीं वृद्ध वृद्ध वाराणसीं व्रज।
गच्छ कायः परिणतस्तव पक्वमिदं वपुः ॥ २३७ ॥

यहाँ पर पूर्वार्द्ध में प्रयुक्त शब्द के द्वारा अर्थावृत्ति है। उत्तरार्द्ध में शब्दानन्तर के द्वारा अर्थावृत्ति है।

---

१. 'आभीक्ष्यात्' इति पाठान्तरम्।
२. घ 'पुस्तकेऽयं' श्लोको नास्ति।
३. त, द पुस्तकयोः 'प्रयुक्तचरशब्देन' इति, मुद्रिते ग्रन्थे 'प्रयुक्तशब्देन' इति, घ पुस्तके 'प्रयुक्तचरणत्वेन तथा सञ्चरणेन तु' इति पाठभेदाः।

काव्यप्रभावृत्तिः

निरर्थकत्वे वा पदावृत्तिरनुप्रासस्तूक्तः। स्वतन्त्रस्यान्यतन्त्रस्य पदस्यावर्तनात् द्विधा भिन्नप्रयोजनपदस्यावृत्तिं मनुजा विदुरिति तत्र भिन्नप्रयोजनपदस्यावृत्तिं पदावृत्तिमनुप्रासमलङ्कारं स्वतन्त्रस्य पदस्यावर्त्तनादेकमपरमन्यपदतन्त्रस्य पदस्यावर्त्तनादुवाच। "समासात् द्वयोः पदयोरावृत्तिः समस्तावृत्तिः व्यस्तावृत्तिस्तु खल्वेकस्मिन् पादे भिन्नप्रयोजनादसमासेन विग्रहात् पदानामावृत्तिरिति"। इह तु भिन्नपादे एकस्य पदस्यावृत्तिः पदावृत्तिः खलु यथा स्यात्तदुच्यते। नावर्त्तते यथा वृत्तौ वाच्यमावर्त्तते पदमिति प्रयुक्तशब्देनार्थवृत्तिरिति भेदः। तत्र तेन तेन पदेन तस्य तस्यार्थस्यावृत्तिः। पदावृत्तौ तु यथा वाच्यमर्थं नावर्त्तते, पदञ्चावर्त्तते इति अष्टादशयमकस्थानादन्यत्र चैत्तदा पुनरुक्तदोषः स्यात्। यथा—

विराजते बलवीर्य्येऽप्रमेये विराजते।
न तथा दृश्यते क्वापि सर्वत्रेत्थं विचार्यते॥ २३८॥

अत्र हे विराज गरुड़ ते तव बलवीर्ये अप्रमेये ततस्त्वं विराज इति। विराजपदस्यार्थानावृत्तौ भिन्नपादे भिन्नप्रयोजनाभावे वा वृत्तितः पुनरुक्तत्वदोषः। एकपादे तु इतोऽन्यथा पदावृत्तिरनुप्रासो न दुष्यतीति वक्ष्यतेऽत्रैव अनुप्रासे पदावृत्तिर्व्यस्तसम्बन्धिता शुभेति॥ १८॥

अग्निपुराणकार का कथन है कि अर्थावृत्ति में उन-उन पदों से उन-उन अर्थों की आवृत्ति होती है और पदावृत्ति में अर्थ की आवृत्ति नहीं होती, केवल शब्द की आवृत्ति होती है। जैसे—

विराजते बलवीर्य्येऽप्रमेये विराजते।
न तथा दृश्यते क्वापि सर्वत्रेत्थं विचार्यते॥ २३८॥

अर्थात् हे विराज! (गरुड़) तुम्हारा (ते) बल-वीर्य्य अप्रमेय है, अतः तुम विराज हो। यहाँ पर 'विराज' पद के अर्थ की आवृत्ति नहीं है, केवल पद की आवृत्ति है। अतः भिन्न पाद में भिन्न प्रयोजन से आवृत्ति होने से पदावृत्ति पुनरुक्त दोष है।

निरर्थक पद की आवृत्ति होने पर अनुप्रास अलङ्कार होता है। भिन्न प्रयोजन पदों की आवृत्ति को पदावृत्ति कहते है। यह अनुप्रास अलङ्कार होता है। यह स्वतन्त्र पदावृत्ति है। परतन्त्र पदावृत्ति का स्वरूप पहले बताया जा चुका है। समस्त पदों की आवृत्ति समस्तावृत्ति होती है। विग्रहपद की आवृत्ति को व्यस्तावृत्ति कहते हैं। यहाँ पर भिन्न पाद में एक ही पद की आवृत्ति पदावृत्ति होती है। दण्डी का लक्षण निम्न प्रकार है—

अर्थतः शब्दतो वापि तदेकार्थं मतः यथा।

व्यस्तसम्बन्धिता[1] स्वस्व[2]सम्बन्धो व्यवधानतः ।
सम्बन्धान्तरनिर्भासात्[3] सम्बन्धान्तरजन्मनः ॥ १९ ॥

अर्थ—जहाँ पर अपने-अपने पदार्थों के सम्बन्ध में व्यवधान (उत्पन्न) हो, वहाँ व्यस्तसम्बन्धिता दोष होता है। व्यस्तसम्बन्धिता सम्बन्ध के तीन भेद होते है—व्यवधान से, अन्य सम्बन्ध का आभास होने से तथा अन्य सम्बन्ध का जन्म होने से ॥ १९ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में सम्बन्ध में बाधा होने पर 'व्यस्तसम्बन्धिता' दोष कहा गया है। जहाँ पर एक का व्यवधान में अन्य पद के साथ अन्वय होने पर अन्य सम्बन्ध का निर्माण होता है, वहाँ प्रथम प्रकार का व्यस्त-सम्बन्धिता दोष होता है। जैसे—

वपुरस्या स्वर्णमयं यूनां लोभयते मनः ।
चौराणामिव दीनानां स्मरसुन्दरमन्दिरम् ॥ २३९ ॥

वहाँ पर 'अस्याः' आदि पदों का व्यवधान होने से 'स्मरसुन्दरमन्दिरं वपुः' में तादात्म्य सम्बन्ध होने से व्यस्तसम्बन्धिता दोष है। अन्य सम्बन्ध का आभास होने पर दूसरा व्यस्तसम्बन्धिता दोष होता है। जैसे—

राज्ञो राजासनं रम्यं कामस्य कामिनीवपुः ।
पद्मरागमयं किं वा शातकुम्भमयं शुभम् ॥ २४० ।

यहाँ पर 'पद्मरागमय' तथा 'शातकुम्भमय' राजा के सिंहासन के समान कामदेव का आसन कामिनी का शरीर है, यह विवक्षित अर्थ है, अतः यहाँ पर राजा और कामदेव का तादात्म्य सम्बन्ध आभासित हो रहा है, अतः यहाँ व्यस्तसम्बन्धिता दोष है। अन्य सम्बन्ध का जन्म होने से तीसरा व्यस्तसम्बन्धिता दोष होता है। जैसे—

कृष्णस्य पैतृस्वस्री यो भ्राता सखा धनञ्जयः ।
भद्रापतित्वाद् भगिनीपतिर्युद्धविशारदः ॥ २४१ ॥

यहाँ पर कृष्ण के बुआ कुन्ती का पुत्र अर्जुन कृष्ण का भाई है, यह एक सम्बन्ध है। अर्जुन कृष्ण के सखा हैं, यह दूसरा सम्बन्ध है। कृष्ण की बहन सुभद्रा का पति होने से अर्जुन कृष्ण के बहनोई हैं यह तीसरा सम्बन्ध है। यहाँ पर एक कृष्ण का बहन के सम्बन्ध से सम्बन्धान्तर का जन्म तीसरा व्यस्त सम्बन्धता दोष है ॥ २४१ ॥

---

१. व्यस्तसम्बन्धता इति पाठभेदः ।
२. सुष्ठु इति पाठभेदः ।
३. असम्बन्धान्तरनिर्मासात् इति पाठभेदः ।

अपरेऽपि[1] तयोरन्तर्व्यवधानाद्विधैव[2] सा ।
अन्तरापदवाक्याभ्यां प्रतिभेदं पुनर्द्विधा ॥ २० ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

स्व-स्व-पदार्थानां स्व-स्व सम्बन्धो यो यो भवति सा सा व्यस्तसम्बन्धिता नामार्थदोषः । व्यवधानात्, सम्बन्धान्तरनिर्भासात्, सम्बन्धान्तरजन्मतः । एको व्यवधाने सम्बन्धोऽपरो यस्त्वन्यपदसहान्वये सम्बन्धान्तरं निर्माति यतोऽपर-सम्बन्धो जायते इति त्रिधा व्यस्तसम्बन्धिता भवति । तत्र व्यवधानाद्यथा—

वपुरस्याः स्वर्णमयं यूनां लोभयते मनः ।
चौराणामिव दीनानां स्मरसुन्दरमन्दिरम् ॥ २३९ ॥

तत्रास्या इत्यादिपदानां व्यवधानात् स्मरसुन्दरमन्दिरं वपुरिति तादात्म्यस-म्बन्ध इह व्यस्तसम्बन्धिता दोषः । अथ सम्बन्धान्तरनिर्भासात् स्व-स्व-सम्बन्धो यथा—

राज्ञो राजासनं रम्यं कामस्य कामिनीवपुः ।
पद्मरागमयं किं वा शातकुम्भमयं शुभम् ॥ २४० ॥

अत्र पद्मरागमयमथवा शातकुम्भमयं राज्ञो राजासनमिव कामस्य राजासनं कामिनीवपुरिति विवक्षितेऽर्थे राज्ञः कामस्येति तादात्म्यसम्बन्धान्तरं निर्भासत इति व्यस्तसम्बन्धिता नाम द्वितीयो दोषः । अथ सम्बन्धान्तरजन्मतो यथा स्व-स्व-सम्बन्धः—

कृष्णस्य पैतृस्वस्त्रो यो भ्राता सखा धनञ्जयः ।
भद्रापतित्वाद् भगिनीपतिर्युद्धविशारदः ॥ २४१ ॥

इह कृष्णस्य पितृस्वसुः कुन्त्याः पुत्रा धनञ्जयो भ्राता इत्येकः सम्बन्धः, सखेत्यपरः सम्बन्धः । तथा कृष्णस्य भगिन्या भद्रायाः पतित्वाद् भागिनीपतिरिति सम्बन्धान्तरं जायते । इत्येकस्य कृष्णस्येति षष्ठ्या भगिन्या सहान्वये एकः सम्बन्धो धनञ्जयेन सम्बन्धोऽपरः सम्बन्ध इति सम्बन्धान्तरजनकत्वात्तृतीया व्यस्त-सम्बन्धितेति पञ्चमः साधारणो नामार्थदोषः ॥ १९ ॥

अर्थ—अन्य आलङ्कारिक कहते हैं कि पद और वाक्य के मध्य व्यवधान होने से जो व्यस्तसम्बन्धिता दोष है—पुनः प्रत्येक भेद के उसके दो भेद होते हैं । इस प्रकार कुल चार भेद होते हैं ॥ २० ॥

विमर्श—अग्निपुराण के अनुसार पद के मध्य में व्यवधान होने प्रथम पद का व्यवधान होने से द्वितीय, वाक्य के मध्य में व्यवधान होने से तृतीय और वाक्य का व्यवधान होने से चतुर्थ प्रकार व्यस्तसम्बन्धिता दोष कहते हैं । क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं—

---

१. ङ, द इत्यादि पुस्तकेषु सभावेऽपि, अभावेऽपि वा पाठभेदाः ।
२. त्रिधैव इति पाठभेदः ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अपरेप्यालङ्कारिका आहुः तयोर्द्वयोः पदवाक्ययोरन्तर्मध्यगतत्वादेको व्यस्तसम्बन्धिता । व्यवधानाद्वितीयेति । प्रतिभेदं पुनर्द्विधैवेति चतुर्धा । पदमध्यादेका, पदव्यवधानाद्द्वितीयेति व्यस्तसम्बन्धिता द्विधा, तथा वाक्यमध्यादेका, वाक्यव्यवधानाद्वितीयेति चतुर्विधा व्यस्तसम्बन्धिता भवति । तत्र पदमध्याद् यथा--

लक्ष्मीर्विष्णोः प्रिया गौरी शम्भोर्देवी प्रिया यथा ।
स्याल्लोपामुद्रागस्त्यस्य तथा पत्नी पतिव्रता ॥ २४२ ॥

पदव्यवधानाद्यथा—

विष्णोर्दुर्गेव लक्ष्मीस्तु शम्भोः कान्ता प्रिया सती ।
वसिष्ठस्य तथा कान्ता सती भार्या त्वरुन्धती ॥ २४३ ॥

वाक्यमध्याद्यथा—

उमा सती हैमवती भाति देवी पतिव्रता ।
विष्णोरगस्त्यस्य लोपामुद्रा भार्य्याम्बुजालया ॥ २४४ ॥

वाक्यव्यवधानाद्यथा—

विष्णोरुमा प्रिया शम्भोः सती भाति पतिव्रता ।
अरुन्धती वसिष्ठस्य सती भार्याम्बुजालया ॥ २४५ ॥

इति पञ्चमः समानो नामार्थदोषः परमते दर्शितः । २० ॥

पदमध्याद्यथा—

लक्ष्मीर्विष्णो प्रिया गौरी शम्भोर्देवी प्रिया यथा ।
स्याल्लोपामुद्राऽगस्त्यस्य तथा पत्नी पतिव्रता ॥ २४२ ॥

पदव्यवधानाद्यथा—

विष्णुदुर्गेव लक्ष्मीस्तु शम्भोः कान्ता प्रिया सती ।
वसिष्ठस्य तथा कान्ता सती भार्या त्वरुन्धती ॥ २४३ ॥

वाक्यमध्याद्यथा—

उमा सती हैमवती भाति देवी पतिव्रता ।
विष्णोरगस्त्यस्य लोपामुद्रा भार्याऽम्बुजालया ॥ २४४ ॥

वाक्यव्यवधानाद्यथा—

विष्णोरुमा प्रिया शम्भोः सती भाति पतिव्रता ।
अरुन्धती वसिष्ठस्य सती भार्याऽम्बुजालया ॥ २४५ ॥

अथ प्रातिस्विकोऽर्थस्य दोष उच्यते—

[1]वाच्यमर्थोऽर्थ्यमान[2]त्वात्तद्द्विधा पदवाक्ययोः ।
तद्व्युत्पादितपूर्व्वञ्च[3]व्युत्पाद्यञ्चेति तद्विधा ॥ २१ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथ प्रातिस्विकोऽर्थस्य दोष उच्यते—वाच्यं पदस्य वाक्यस्य चार्थोऽर्थ्यमानत्वादभिधीयमानवस्तुत्वात् । तद्वाच्यं नितरां द्विधा—पदवाच्यं वाक्यवाच्यञ्च । 'न च पचतेऽन्नं नयतेऽजामि'त्यादिषु पदाभावः । संहितायामेङः पदान्तादतीति पूर्व्वरूपेणैकीभूयाकारस्य स्थितेस्तत्प्रतिसन्धानेन पदार्थाविगमात् । नहि पचतेऽन्नमिति वाक्यस्य तदुभयपदार्थप्रतिपादिकायां प्रवृत्तौ किञ्चिज्ज्ञापकमस्ति तस्मात् पदं वाचकम् ।

ननु तर्हि चेष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली वाक्यम् । तत्तत्सुघटकपदार्थातिरिक्तं कमर्थं वक्ति ? उच्यते—वाक्यं सुघटकपदानां वाच्यार्थानां येन परस्परमन्वयः स्यात्तमर्थमाह । न च सोऽर्थः पदैरुच्यते । पदैरेवोच्यते सोऽर्थ इति चेद्वाक्यान्तरघटकत्वे तेषां पदानां तदर्थवाचकत्वाभावात् पदार्थानियमप्रसङ्गः स्यात् । यथा देवदत्तो ग्रामं गच्छतीति वाक्यघटकयोः पदयोर्बन्धयोर्येन कर्तृत्वकर्मत्वरूपेण देवदत्तग्रामपदार्थयोर्गमने भवति, न तेन रूपेण मया देवदत्तो दृश्यते ग्राममभितोवनमित्यादिवाक्ये देवदत्तग्रामपदार्थयोर्दर्शने वने वाऽन्वय इति वाक्यार्थ एव स न पदार्थ इति ।

प्रतिस्विक अर्थदोष

अर्थ—पद और वाक्य में वाच्य (अर्थ) अभिधीयमान होने से दो प्रकार का होता है—(१) पदवाच्य (२) वाक्यवाच्य । पददोष और वाक्यदोष व्युत्पादित और व्युत्पाद्य भेद से दो-दो प्रकार का होता है ॥ २१ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में प्रतिस्विक अर्थ दोष के दो भेद बताये गये हैं - पद और वाक्य में वाच्य (अर्थ) के अभिधीयमान होने से पदवाच्य और वाक्यवाच्य । कहते हैं कि 'पचतेऽन्नम्' 'नयतेऽजाम्' इत्यादि उदाहरणों में पद का अभाव नहीं है, क्योंकि यहाँ पर 'एङःपदान्तादति' पूर्वरूप होकर एकाकार रूप में स्थित शब्द पद होते हैं। यहाँ पर 'पचतेऽन्नम्' इत्यादि वाक्यों में उभय पदों के अर्थ प्रतिपादन में कोई ज्ञापक नहीं है, अतः पद ही वाचक है ।

---

१. 'ब' पुस्तके 'वाच्यमित्यारभ्य' 'न दुष्यति' इति यावत् श्लोकचतुष्टयं नास्ति ।

२. न, ल पुस्तकयोः 'वाच्यमर्थोऽन्यमानत्वात्', 'क' पुस्तके 'वाच्यमर्थ्यार्थ्यवादत्वात् इति पाठान्तरे ।

३. न, ल पुस्तकयो व्युत्पादिता पूर्वत्राचा व्युत्पादं वेति । मुद्रितेऽग्निपुराणे व्युत्पादितपूर्ववाच्यं इति पाठभेदाः ।

काव्यप्रभावृत्तिः

तत् पदवाच्यं वाक्यवाच्यं पुनर्द्विधा भवति—व्युत्पादितपूर्वं व्युत्पाद्यञ्चेति। पूर्ववाक्यघटनाकाले व्युत्पादितं वाच्यम्। वाक्यघटनोत्तरकालं यद्व्युत्पाद्यते तद्व्युत्पाद्यं वाच्यमिति। यथा—गङ्गायामिति पदं व्युत्पादितम्, मत्स्याश्चरन्ति इति च पूर्वव्युत्पादितम्। इति पूर्वपदानि व्युत्पाद्य वाक्यमाह—गङ्गायां मत्स्याश्चरन्तीति। व्युत्पादितपूर्वं पदं वाक्यञ्च यमर्थमाह—तद्वाच्यं पदवाच्यं वाक्यवाच्यं चेति द्विधा। एवं व्युत्पन्नं पदं यदा पुनरेव प्रयुज्यते—गङ्गायां गावश्चरन्तीति। व्युत्पद्यते गङ्गासमीपे गावश्चरन्तीति। गङ्गापदं गङ्गासमीपे व्युत्पद्यते इति। एवं नायं दिवा भुञ्जीतेति प्रयुक्ते व्युत्पद्यते वाक्यं रात्रावनेन भोक्तव्यमिति। इत्येवं चतुर्विधं वाच्यं निरूप्य प्रातिस्विकमर्थदोषं वक्तुं नावश्यकं भवति। चतुर्विधस्य वाच्यस्य स्वस्वोपालम्भः स्व-स्व एव क्रियाभ्रंशः, कारकभ्रंशो, विसन्धिः, पुनरुक्तत्वं, व्यस्तसम्बन्धिता चेति पञ्चविधः प्रातिस्विकोऽर्थदोष इति ॥ २१ ॥

इष्ट अर्थ से युक्त पदावली को वाक्य कहते हैं। वाक्य में सुधारक पदों के वाच्यार्थ का जिसके साथ परस्पर अन्वय होता है, वह अर्थ पद से वाच्य नहीं होता। यदि उस अर्थ को पद-वाच्य मानेंगे तो वाक्य में घटित पदों का उन-उन अर्थों का वाचक न होने से पदार्थ बोध का नियम भंग हो जायगा। जैसे 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' इस वाक्य में घटित दोनों (देवदत्त और ग्राम) पदबन्धों का कर्तृत्व और कर्मत्व रूप से देवदत्त और ग्राम पद का अन्वय गमन में होता है। इन्हीं पदों का उसी रूप में 'मया देवदत्तो दृश्यते' इस वाक्य में देवदत्त पद का अर्थ दर्शन में तथा 'ग्राममभितो वनम्' इस वाक्य में ग्राम पद का अर्थ वन में अन्वित होता है, अतः वह वाक्यार्थ ही होता है, पदार्थ नहीं।

पदवाच्य तथा वाक्य-वाच्य दोनों के पुनः दो भेद होते हैं—व्युत्पादितपूर्व और व्युत्पाद्य। इनमें पूर्व वाक्य के संघटन काल में व्युत्पादित वाच्य होता है और वाक्य-संघटन के उत्तरकाल (बाद) में व्युत्पाद्य वाच्य होता है। जैसे—'गङ्गायां' यह पद व्युत्पादित है और 'मत्स्याः चरन्ति' यह वाक्य पूर्व व्युत्पादित है। इस प्रकार पहले पदों को व्युत्पन्न करके वाक्य बना 'गङ्गायां मत्स्याः चरन्ति'। इस प्रकार पूर्व व्युत्पादित पदों से निष्पन्न वाक्य का अर्थ है 'गङ्गा में मछलियाँ चरती हैं'। व्युत्पादित पूर्व पद और वाक्य का अर्थ पदवाच्य और वाक्य-वाच्य भेद से दो प्रकार का होता है। इस प्रकार व्युत्पन्न पद जब इस प्रकार प्रयुक्त होता है 'गङ्गायां गावश्चरन्ति' तब व्युत्पत्ति होती है कि 'गङ्गासमीपे गावश्चरन्ति' (गंगा के पास गायें चरती हैं)। यहाँ पर गङ्गा पद गङ्गासमीप अर्थ में व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार चार प्रकार के वाच्य का निरूपण करके प्रातिस्विक अर्थ दोष को कहने की आवश्यकता नहीं है। इस चतुर्विध वाच्य के स्व-स्व उपालम्भ क्रियाभ्रंश, कारकभ्रंश, विसन्धि, पुनरुक्तत्व, व्यस्तसम्बन्धिता भेद से पाँच प्रकार का होता है ॥ २१ ॥

पारिशेष्याद् वाक्यदोषानाह—

इष्टव्याघातकारित्वं हेतोः स्यादसमर्थता ।
असिद्धत्वं विरुद्धत्वमनैकान्तिकता तथा ॥ २२ ॥
एवं सत्प्रतिपक्षत्वकालातीतत्वसङ्करः[1] ।
पक्षे सपक्षे[2] नास्तित्वं विपक्षेऽस्तित्वमेव यत् ॥ २३ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथवाक्यदोषानाह—इष्टव्याघातकारित्वादयं एकादश वाक्यार्थव्याघातकारित्वाद्वाक्यस्य दोषा भवन्ति । तद्यथा—इष्टव्याघातकारित्वं चतुर्विध भवति—न्यूनमधिकमनर्थकमपार्थकञ्चेति । हेतोरसामर्थ्यमसमर्थतेति वाक्यार्थस्य दोषः । असिद्धत्वं नाम यत्कारणोपपत्तितो न निष्पद्यते । यथा—ह्रदो जलवान् वह्नेरिति । विरुद्धं नाम यद्दृष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विरुद्धमिति । अनैकान्तिकता सव्यभिचारित्वम् (सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः) । सत्प्रतिपक्षता—पक्षविपरीतपक्षं यो हेत्वादिभिः स्थापयति स सत्प्रतिपक्षः, तस्य भावः सत्प्रतिपक्षता । कालातीत्वमततिकालः (कालात्ययापरिष्टः कालातीतः) । यत्रानेकधर्म्ममेलनं भवति । तत्र साङ्कर्य्यं नाम दोषः । यथा—कनकमयो घट इति घटत्वं तैजसत्वञ्चेति द्वयोर्धर्म्मयोरेकत्र मेलनं साङ्कर्य्यमिति । पक्षे नास्तित्वं साध्यस्य हेतोर्वा नास्तित्वं पक्षनास्तित्वं दोषः । यथा जलह्रदो वह्निमानिति । सपक्षे समानपक्षे दृष्टान्ते साध्यस्य हेतोर्वा नास्तित्वमेव सपक्षनास्तित्वं दोषः । यथा अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्म्मकत्वाद्यथात्मादिस्तत्र विपक्षे साध्यस्य हेतोर्वा अस्तित्वं । यथा नित्यः शब्दः अनुत्पत्तिधर्म्मकत्वादिति परपक्षे यथा घट इति । इत्येकादश वाक्यदोषाः उक्ताः ॥ २३ ॥

वाक्य-दोष

अर्थ—अभीष्ट अर्थ का व्याघातकारित्व हेतु की असमर्थता, असिद्धत्व, विरुद्धत्व, अनैकान्तिक, सत्प्रतिपक्ष, कालातीतसंकर, पक्ष-नास्तित्व (पक्ष-असत्त्व), सपक्षनास्तित्व और विपक्ष-अस्तित्व (विपक्षसत्त्व) ये हेतु दोष कहे गये हैं ॥ २२-२३ ॥

विमर्श—इष्ट अर्थ के व्याघातक अर्थात् बाधा पहुँचाने वाले दोष चार प्रकार के होते हैं, न्यूनत्व, अधिक, अपार्थक और अनर्थक । प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन में से एक की न्यूनता होने पर न्यूनत्व दोष होता और न्यूनत्व के विपरीत अधिक अवयवों का होना अधिक दोष है । जहाँ पर अक्षर समुदाय का केवल प्रयोग हो, वहाँ अनर्थक दोष

---

१. सङ्करः इति पाठभेदः । २. पक्षस्य पक्षे इति पाठभेदः ।

होता है। पूर्वापर का सम्बन्ध न होना अपार्थक दोष है। हेतु का सामर्थ्यहीन होना असमर्थता दोष है। जिसका हेतु असिद्ध हो उसे 'असिद्धत्व' दोष कहते हैं। जैसे—'ह्रदो जलवान् वह्नित्वात्' (सरोवर जलयुक्त है, अग्नि से युक्त होने से) यहाँ हेतु अग्नि अपने आश्रय सरोवर (ह्रद) में विद्यमान नहीं है, अतः असिद्धत्व दोष है। जो हेतु साध्य में न रहकर उसके विपरीत वस्तु विद्यमान हो, उसे 'विरुद्धत्व' दोष कहते हैं। अर्थात् जिस वस्तु को सिद्ध करना हो उसके विपरीत हेतु देना विरुद्ध है। जैसे—'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्' (शब्द नित्य है, कृतक होने से) में कृतकत्व हेतु साध्य (नित्य) के अभाव (विपरीत) अनित्य को सिद्ध करता है, अतः यहाँ 'विरुद्ध' हेतु दोष है। अनैकान्तिक को सव्यभिचार भी कहते हैं। जो हेतु साध्य के अभाव में भी पाया जाय, उसे अनैकान्तिक' दोष कहते हैं। जैसे—'पर्वतो वह्निमान् द्रव्यत्वात्' यहाँ पर हेतु द्रव्यत्व साध्य अग्नि के अभाव घट-पटादि में भी पाया जाता है, अतः यहाँ 'अनैकान्तिक' दोष है। जिस हेतु में साध्य के विपरीत वस्तु को सिद्ध करने वाला कोई दूसरा हेतु विद्यमान हो, उसे 'सत्प्रतिपक्ष' हेतु दोष कहते हैं। जैसे—'पुरुषो नित्यः अकृतकत्वात्' (पुरुष नित्य है, अकृतक होने से) अर्थात् पुरुष नित्य है, क्योंकि वह किसी से निर्मित नहीं है। इसके (साध्य के) विपरीत दूसरा हेतु भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि 'पुरुषोऽनित्यः इन्द्रियगम्यत्वात्' अर्थात् पुरुष अनित्य है, क्योंकि इन्द्रियगम्य है इसलिए यहाँ 'सत्प्रतिपक्ष' दोष है। सत्प्रतिपक्ष का अर्थ है जिस साध्य के प्रतिपक्ष में भी हेतु विद्यमान हो। जिस हेतु में काल (समय) अन्तर हो या अभाव सिद्ध हो, वह कालातीत दोष कहलाता है। समय का बीत जाना, काल की गति का परवाह न करना कालातीत है। काल (समय) के व्यतीत हो जाने से यह हेतु दोषहोता हैं। जैसे—शब्द नित्य है संयोग से अभिव्यक्त होने के कारण, जैसे दीप और प्रभा के संयोग से उत्पन्न रूपाभिव्यक्ति यहाँ पर संयोगाभिव्यक्ति रूप हेतु में कालगत वैषम्य होने से कालातीत दोष है। जो हेतु पक्ष में न हो, उसे 'पक्ष-नास्तित्व' हेतु कहते हैं। जैसे—'जलह्रदो वह्निमान् धूमत्वात्' यहाँ पर धूमत्व हेतु पक्ष जलह्रद में नहीं होता, अतः इसे 'पक्ष-नास्तित्व' हेतु दोष कहते हैं। जो हेतु सपक्ष (दृष्टान्त) में नहीं होता, उसे 'सपक्ष-नास्तित्व' हेतु दोष कहते हैं। जैसे—'अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्म्मकत्वात् यथा आत्मादिः' यहाँ पर उत्पत्तिधर्म (अनित्यत्व) रूप से सपक्ष आत्मा में नहीं है, अतः 'सपक्ष-नास्तित्व' हेतु दोष है। जो हेतु साध्य के विपक्ष में भी विद्यमान हो, उसे 'विपक्ष-सत्त्व' हेतु दोष कहते हैं। जैसे—'नित्यः शब्दः अनुत्पत्तिधर्मत्वात्' यथा 'घटः' इस उदाहरण में अनुत्पत्तिधर्म रूप हेतु साध्य नित्य के विपक्ष अनित्यत्व में भी विद्यमान है, अतः यहाँ 'विपक्ष-सत्त्व' हेतु दोष है। इस प्रकार ग्यारह वाक्य दोष कहे गये हैं ॥ २३ ॥

अथैषां दोषाणां यत्र दोषत्वं नास्ति तदाह—

काव्येषु परिषद्यानां[1] न भवेदप्यवर्णनम्[2] ।
एकादश विरु[3]द्धत्वं दुष्करादौ न दुष्यति ॥ २४ ॥
[4]दुःखाकरोति दोषज्ञान् गूढार्थत्वं न दुष्करे ।
न ग्राम्यतोद्वेगकरी प्रसिद्धेर्लोकशास्त्रयोः ॥ २५ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथैषां दोषाणां यत्र दोषत्वं नास्ति तदाह—काव्येषु गद्यपद्यमिश्रेषु पारिषद्यानां यद्यवर्णनं स्यात्तदा न्यूनत्वं दोषो न भवेत् । इष्टव्याघातकारित्वाद्येकादशदोषविरुद्धत्वमर्थस्य दुष्करादौ दुष्करालङ्कारयमकादौ न दुष्यति दोषाय न भवति ॥२४॥

दुष्करे त्रिविधेऽलङ्कारे सति काव्येषु गूढार्थत्वं दोषो न दोषज्ञान् दुःखाकरोति दुष्करत्वात् ग्राम्यतादोषश्च लोकशास्त्रयोः प्रसिद्धेर्हेतोर्न सभ्यानामुद्वेगकरी तस्मान्न दोष उद्वेगजनको हि दोषः । यथा—लोकप्रसिद्धं कुरुपाञ्चालादिषु विवाहे ग्राम्यभाषाभिः स्त्रीणामुत्सवः शास्त्रे प्रसिद्धो दुर्गोत्सवे शावरोत्सवः ॥ २५ ॥

दोष-परिहार

अर्थ—काव्य में इन हेतु दोषों का प्रतिपादन होने पर भी विशेष उद्वेजक नहीं होता । दुष्कर आदि में ग्यारह प्रकार के विरुद्धत्व आदि दोष भी नहीं रहते ॥ २४ ॥

अर्थ—दुष्कर अलंकार में गूढ़ार्थता दोष दोष नहीं रहता । लोक तथा शास्त्र में प्रसिद्ध ग्राम्यता दोष भी उद्वेगकारी नहीं होता ॥ २५ ॥

विमर्श—अग्निपुराणकार का कथन है कि दुष्कर अलंकार में गूढ़ार्थता दोष दोषज्ञ विद्वानों को दुःखकारक नहीं होता । इसी प्रकार ग्राम्यता दोष भी लोक में तथा शास्त्र में प्रसिद्ध होने से सभ्यों (सहृदयों) को उद्वेगकारी नहीं होता, इसलिए वहाँ दोष नहीं होता । जिस प्रकार लोक में प्रसिद्ध कुरु पाञ्चाल आदि देशों में विवाह के अवसर पर ग्राम्य (ग्रामीण) भाषा में स्त्रियाँ गीत आदि गाती हैं, वह उत्सव ही होता है । इसी प्रकार शास्त्र-प्रसिद्ध दुर्गा-पूजा में शावरोत्सव होता है ॥ २५ ॥

---

१. न, ल—काव्येषु परिषेधानां, प, फ—काव्येषु परिसद्यामाम् । मुद्रिते पुस्तके परिषद्यानां इति पाठभेदाः ।
२. मुद्रितेऽग्निपुराणे भवेदप्यरन्तुदम् इति पाठभेदः ।
३. मुद्रितेऽग्निपुराणे–निरर्थत्वं इति, 'द' पुस्तके निरक्तत्वम् इति च पाठान्तरे ।
४. ख पुस्तके 'दुःखाकरोति इत्यारभ्य दुर्वचादौ न' इति पर्यन्तं त्रयः श्लोका न सन्ति ।

क्रियाभ्रंशे न लक्ष्मास्ति क्रियाध्याहारयोगतः ।
भ्रष्टकारकताक्षेपबलाध्याहृतकारके ॥ २६ ॥
प्रगृह्ये[1] गृह्यते नैव क्षतं विगतसन्धिता ।
कष्टपाठाद् विसन्धित्वं दुष्करादौ[2] न दुर्भगम् ॥ २७ ॥
अनुप्रासे पदावृत्तिर्व्यस्तसम्बन्धिता[3] शुभा ।
नार्थसङ्ग्रहणे दोषो व्युत्क्रमाद्यैर्न निन्दते[4] ॥ २८ ॥
विभक्तिसंख्या[5] लिङ्गानां यत्रोद्वेगो न धीमताम् ।
संख्यायास्तत्र भिन्नत्वमुपमानोपमेययोः ॥ २९ ॥
अनेकस्योपमैकेन[6] बहूनां बहुभिः शुभा ।

काव्यप्रभावृत्तिः

क्रियाभ्रंशे क्रियाध्याहारयोगान्न लक्ष्म कलङ्को दोषो नास्ति । आक्षेपबलाद् ध्वनिबलादध्याहृतकारके वाक्ये भ्रष्टकारकता कारकभ्रंशदोषो नास्ति ॥ २६ ॥

प्रगृह्ये द्विवचनजमीदूदेत् प्रगृह्यमित्यादिना प्रगृह्यसंज्ञकानां प्रकृतिवद्भावे या विगतसन्धिता सा शुभा, तन्न दोषेण क्षतं भवति । यथा—अमी ईश्वरा इत्यादि कष्टपाठाद् यद् विसन्धित्वं तत् पुनर्दुष्कर-यमकादौ दुर्भगं न, सुभगमेव ॥२७॥

अर्थ—क्रियाभ्रंश में क्रिया का अध्याहार करने से क्रियाभ्रंश दोष नहीं रहता । इसी प्रकार कारकभ्रंश में आक्षेप-बल से कारक का अध्याहार कर लेने पर कारकभ्रंश दोष नहीं रहता ॥ २६ ॥

अर्थ—प्रगृह्य में अर्थात् प्रगृह्य संज्ञा होकर प्रकृतिभाव होने पर 'विगतसन्धिता' दोष नहीं माना जाता । दुर्वचन आदि के प्रयोग में विलष्टपाठ के कारण 'विसन्धिता' दोष भी दोष नहीं होता ॥ २७ ॥

अर्थ—अनुप्रास अलंकार में पदावृत्ति के कारण व्यस्तसम्बन्धिता शुभ होता है । अर्थसंग्रहण में व्युत्क्रमादि दोष दोष नहीं रहता । उपमान और उपमेय में भिन्नता होने से विभक्ति, संख्या, लिंग आदि का व्युत्क्रम आदि विद्वानों को उद्वेगजनक नहीं होता । अनेक व्यक्तियों की एक उपमा और अनेक व्यक्तियों की अनेक उपमाएँ शुभकारक होती हैं ॥ २८-२९ (१) ॥

---

१. 'क' पुस्तके 'अगूह्ये' प, फ—अगृह्या, न, ल—गृह्यते इति पाठभेदाः ।
२. मुद्रितेऽग्निपुराणे विगतसन्धिता इति पाठान्तरम् ।
३. मुद्रितेऽग्निपुराणे दुर्वचादौ इति पाठान्तरम् ।
४. सम्बन्धता इति पाठान्तरम् । ५. लिप्यते इति पाठान्तरम् ।
६. संज्ञा इति पाठान्तरम् । क, न, ल, व पुस्तकेषु विभक्तिसंख्यालिङ्गानाम् इति पाठान्तरम् ।
७. अनेकस्य तथैकेन इति पाठभेदः ।

कवीनां स्याद् य आचारः[1] समयो नाम गीयते ॥ ३० ॥
सामान्यश्च विशिष्टश्च धर्म्मवद् भवति द्विधा ।
सिद्धसैद्धान्तिकानाञ्च कवीनां वा[2] विवादतः ॥ ३१ ॥
यः प्रसिद्धत्यतिसामान्य इत्यसौ समयो मतः ।
सर्व्वे[3]सैद्धान्तिका येन सञ्चरन्ति निरन्तरम्[4] ॥ ३२ ॥
कियन्त एव वा येन सामान्यस्तेन स द्विधा ।

काव्यप्रभावृत्तिः

अनुप्रासालङ्कारे पदावृत्तिः पुनरुक्तिर्व्यस्तसम्बन्धिता च शुभा, न दोषाय भवति । अर्थसंग्रहणेऽर्थोपसंहारे पदावृत्तिर्व्यस्तसम्बन्धिता च न दोषः । व्युत्क्रमाद्यैर्विलोमानुलोमविपरिणामादिभिर्विभक्तः संख्याया लिङ्गस्य च व्युत्क्रमाद्यैः काव्यं न निन्दते न निद्यं भवति ॥ २८ ॥

अपरञ्चाह - यत्रानेकस्यैकेनोपमा बहूनां बहुभिरुपमा सा शुभा न सा दोषा । कस्मात् तत्रोपमानोपमेययोः संख्याया भिन्नत्वम् ॥ २९ ॥

इति दोषापवादानुक्त्वा द्विविधयोः पददोषयोर्मध्ये यदसाधुत्वमुक्तं तस्य पञ्चविधभेदेष्वसामयिकत्वं समयाच्युतिरुक्तम् । तत्र तु समयमाह—कवीनां य आचारो नियमेन भवति स नियमाचारः समयो नाम गीयते । स द्विधा धर्म्मश्च लोके सत्याहिंसादिः सामान्यश्च विशिष्टश्चेति सामान्यः । यजनादिः विशिष्टः । अथवा सिद्धानां सैद्धान्तिकानां कवीनां परस्परविवादतो द्विधा समयो भवति ॥ ३० ॥

इसके बाद दोष-परिहार का निरूपण करने के बाद पददोष के अन्तर्गत जो असाधुत्व दोष स्वीकार किया गया है, उसके पाँच प्रकार के भेदों में एक भेद असामयिकत्व को समय-च्युति कहा गया है । यहाँ समय का स्वरूप निरूपण करते हैं ।

अर्थ—कवियों का जो आधार (नियमाचार) है, उसे समय कहते हैं । इसके दो भेद होते हैं—सामान्य और विशिष्ट । इनमें सिद्ध सैद्धान्तिक कवियों के विवाद से जो समय प्रसिद्ध होता है, उसे सामान्य समय कहते हैं । वह सामान्य समय भी दो प्रकार का होता है । सभी सैद्धान्तिक (सिद्धान्तवादी) कवि जिस समय (आचार, नियम) से मिलकर चलते हैं वह प्रथम सामान्य समय होता है और कुछ सिद्धान्तवादी जिस समय (नियम) से चलते हैं वह दूसरे प्रकार का सामान्य नियम है ॥ ३०-३३ (१) ॥

---

१. समुदाचारः इति पाठभेदः ।
२. कवीनान्चाविवादतः इति पाठभेदः ।
३. सर्वे इति पाठान्तरम् ।
४. निरत्यम् इति पाठान्तरम् ।

छेदसिद्धान्ततोऽन्यः स्यात् केषाञ्चिद्भ्रान्तितोऽन्यथा[1] ॥ ३३ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

तत्र सामान्यमाह—यः समयः कवीनामाचारः प्रसिद्धयति शास्त्रे लोके च सोऽसौ समयः सामान्य इति मतः। स च सामान्यः समयो द्विधा सर्व्वे सैद्धान्तिकाः सिद्धान्तवादिनः कवयो येन समयेन निरन्तरं सञ्चरन्ति स सर्व्वसैद्धान्तिकाचारः सामान्यः समयः। येन समयेन कियन्तः सैद्धान्तिकाः कवयो निरन्तरं सञ्चरन्ति स कियत्सैद्धान्तिकाचारः सामान्य-समय इति द्विधा सामान्यः समयः। अथ सर्व्वे सैद्धान्तिका आहुरिह खलु सर्व्वं पाञ्चभौतिकमिति सामान्यः समयः। कियन्तस्तु सैद्धान्तिका आहुरचेतनं सर्व्वं पाञ्चभौतिकं सर्व्वचेतनस्तु नवद्रव्यात्मकमिति च सामान्यः समयः।

विशिष्टसमयमाह—अन्यः सामान्यसमयादन्ये विशिष्टः समयश्छेदसिद्धान्ततः स्यात्। विच्छिन्नरूपेण सिद्धान्तताविशिष्टः समयः स्यान्निरन्तरं कवीनां सञ्चाराभावात् केषाञ्चिद्भ्रान्तितोऽन्यथासिद्धान्ततो विशिष्टः समयः स्यादिति ॥ ३३ ॥

विमर्श—शास्त्र तथा लोक में कवियों का जो आचार (समयाचार) प्रसिद्ध है, उसे सामान्य समय कहते हैं। यह सामान्य समय दो प्रकार का होता है—(१) सर्वसैद्धान्तिकाचार और (२) कियत्सैद्धान्तिकाचार। इसमें सभी सिद्धान्तवादी कवि जिस समय (आचार) का निरन्तर अनुसरण करते हैं, उसे सर्वसैद्धान्तिकाचार सामान्य समय कहते हैं और जिस समय (नियम या आचार) को कुछ सिद्धान्तवादी कवि ही अनुसरण करते हैं, वह कियत्सैद्धान्तिकाचार सामान्य समय है। जैसे—सभी सिद्धान्तवादी कहते हैं कि 'यह सारा विश्व पाञ्चभौतिक है' यह सर्वसैद्धान्तिक सामान्य नियम है और कुछ सिद्धान्तवादी कवि कहते हैं कि 'अचेतन (जड़) सभी पदार्थ पाञ्चभौतिक हैं' और चेतन नवद्रव्यात्मक है, यह कियत्सैद्धान्तिकताचार सामान्य नियम है ॥ ३०-३३ (१) ॥

अर्थ—एक छेद सिद्धान्त है, जिसका अनुसरण कवि निरन्तर नहीं करते। किसी का मिथ्याज्ञान, किसी मुनि का तर्कज्ञान, किसी का क्षणभंगुर सिद्धान्त, किसी का भूत-चैतन्यता, किसी का स्वप्रकाश ज्ञान, किसी का प्रज्ञात-स्थूलता, आर्हतों का शब्दानेकान्तवाद है ॥ ३३-३५ (१) ॥

---

१. भ्रान्तितो यथा इति पाठान्तरम्।

तर्कज्ञानं मुनेः कस्य कस्यचित् क्षणभङ्गिका ।
भूतचैतन्यता कस्य ज्ञानस्य स्वप्रकाशता[1] ॥ ३४ ॥
प्रकुल स्थूलताशब्दानेकान्तत्वं तथार्हतः ।
शैववैष्णवशाक्तेयसौरसिद्धान्तिनां मतिः ॥ ३५ ॥
जगतः कारणं ब्रह्म साङ्ख्यानां स प्रधानकम् ।
अस्मिन् सरस्वतीलोके सञ्चरन्ति परस्परम् ॥ ३६ ॥
बध्नन्ति व्यतिपश्यन्तो यद्विशिष्ट स उच्यते ।

काव्यप्रभावृत्तिः

विशिष्टः समयस्तु येषां तेषां छेदसैद्धान्तिकानां कस्यचिन्मुनेः समयस्तर्कज्ञानं तर्कप्रमाणम् । कस्यचिन्मुनेः समयः क्षणभङ्गी । विश्वं क्षणभङ्गं प्रतिक्षणं सर्व्वं पूर्व्वावस्था यथाभूता तथाभूतामुत्तरावस्थामारभ्य पूर्व्वावस्थभङ्गमाप्नोति । यथा कालोऽविरतमत्ययमापद्यते । कुलालचक्रवद् भ्रमति कस्यचिन्मुनेनास्तिकस्य भूतकृत-चतन्यं चेतनानामिति भ्रान्तितासमयः । कस्यचिन्मुनेः समयः स्वप्रकाशं ज्ञानं ज्योतिर्वत् । कस्यचिन्मुनेः समयः प्रकुलो यः पुरुषे लिङ्गशरीरं। तस्य स्थूलता स एवायं स्थूलपुरुष इति प्रकुलस्थूलता समयः । कस्यचिन्मुनेः समयः शब्दानेकान्तत्व शब्दः क्व-चिन्नित्यः क्वचिदनित्यः अस्ति । हि नित्यः शब्द आकाशे तदनुप्रवेशाञ्च वाय्वादिषु द्वयात्मकादिषु चतुर्षु भूतेषु । पुनवस्तुषु असत्यनित्यः शब्द उपादानताऽभघाता-दिकारणत उत्पत्तः । शब्दा हि शब्दान्तरमारभते । नानुवादानकः शब्द उत्पद्यते

विमर्श—अग्निपुराण में एक छेदसिद्धान्त स्वीकार किया गया है, जिस समय (आचार) का अनुसरण कवि निरन्तर नहीं करते उसे छेदसिद्धान्त या विच्छिन्न सिद्धान्त कहते हैं । जैसे कुछ सिद्धान्ती जगत् का मिथ्याज्ञान मानते हैं, उनके अनुसार सब कुछ मिथ्या है, कुछ विद्वान् तर्कज्ञान को प्रधान मानते हैं । कुछ विद्वान् (बौद्ध) क्षणभंगुर सिद्धान्त को मानकर चलते हैं । उनके अनुसार यह संसार क्षणिक या क्षणभंगुर है । कुछ चार्वाक आदि का सिद्धान्त भूतचैतन्य है, उनके अनुसार भूतचतुष्टय ही चैतन्य है । कुछ विद्वान् स्वतः प्रकाश ज्ञान को स्वीकार करते हैं । कुछ विद्वान् स्थूल पुरुष को ही सब कुछ समझते हैं । कुछ विद्वान् (जैन) अनकान्तवाद को स्वाकार करते हैं ।

अर्थ—शैव, वैष्णव, शाक्त और सौर सिद्धान्तवादियों का मत है कि इस जगत् का कारण ब्रह्म है और सांख्य मतानुयायी प्रधान (प्रकृति) के साथ ब्रह्म (पुरुष) को जगत् का कारण स्वीकार करते हैं । इस प्रकार सरस्वती लोक में (वेदान्ती, तार्किक आदि) परस्पर विपरीत सिद्धान्त को मानते हुए जो रचना करते हैं, वह विशिष्ट समय है ॥ ३५-३६ (१) ॥

---

१. सुप्रकाशता इति पाठभेदः । २. प्रज्ञात इति पाठभेदः ।

परिग्रहादप्यसतां सतामेवापरिग्रहात् ॥ ३७ ॥
भिद्यमानस्य तस्यापि[1] द्वैविध्यमुपगीयते ।
प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्यद्बाधितं तदसद्विदुः ।
कविभिस्तत्परिग्राह्यं ज्ञानस्य द्योतना यतः ॥ ३८ ॥
तदेवा[2]र्थक्रियाकारी तमेवापरमार्थसत् ।
अज्ञानाज्ज्ञानतस्त्वेकं ब्रह्मैव परमार्थसत् ॥ ३९ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

तस्माद् य एष श्रवणार्थः शब्दः सोऽनित्यः। यस्तदुपादानमतिसूक्ष्मत्वान्न श्रवणग्राह्यः स नित्यः शब्द इति । अपरेषां मतिः कस्यचिच्छैव-सिद्धान्ततो यथोक्तं मतिः समयः। कस्यचिद्वैष्णवसिद्धान्तशास्त्रे यथोक्तं मतिः समयः। कस्यचित् सौरसिद्धान्तः सूर्य्यसिद्धान्तस्तदुक्तं यावत् तावतो मतिः समयः। सांख्यानां सैद्धान्तिकानां सप्रधानकं ब्रह्म जगतः कारणमिति समयः । अस्मिन् सरस्वतीलोके वाङ्मये शास्त्रे लोक इव लोके सञ्चरन्तस्तार्किकादयः परस्परं व्यतिपश्यन्तो विपर्य्ययं पश्यन्तो यद्बध्नन्ति बद्धं कुर्वन्ति स विशिष्टः समय उच्यते ।

विशिष्टं समयं विभजते— असतां भावानां परिग्रहात् सर्वतो ग्रहणादेको विशिष्टः समयः। अपरः सतां भावानामपरिग्रहात् समय इति भिद्यमानस्य तस्य विशिष्टसमयस्य द्वैविध्यमुपगीयते। इत्येवं समयाच्चुतिरसामयिकता नामासाधुत्वं दोषः इति ॥ ३७ ॥

अर्थ—यह विशिष्ट समय दो प्रकार का होता है—(१) असत् के ग्रहण से तथा (२) सत् के परित्याग से। इस प्रकार भिद्यमान विशिष्ट समय के दो भेद होते हैं—प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जो बाधित होता है उसे असत् कहते हैं। कवियों के द्वारा उसे ग्रहण करना चाहिए जिससे ज्ञान का प्रकाश हो। जिसमें प्रयोजन क्रियाकारिता है वही परमार्थ सत् है। अज्ञान से और ज्ञान से एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थ सत् है ॥ ३७-३९ ॥

विमर्श—अग्निपुराण में विभिन्न सिद्धान्तवादियों के विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। इस काव्य जगत् में विद्वान् परस्पर मतभेद रखते हुए जो कुछ निबद्ध (रचना) करते हैं, वह विशिष्ट समय है। यह विशिष्ट समय दो प्रकार का होता है—असत् के भावों का परिग्रह (ग्रहण) करने से प्रथम विशिष्ट समय होता है। जैसे मिथ्याज्ञान असत् वस्तु के परिग्रह से होता है क्योंकि मिथ्याज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने से असत् है। जैसे स्थाणु में पुरुष का ज्ञान, शुक्ति में रजत का ज्ञान, रज्जु में सर्प का ज्ञान मिथ्याज्ञान है,

---

१. तस्यायं इति पाठभेदः। २. यदेव इति पाठान्तरम्।

काव्यप्रभावृत्तिः

प्रत्यक्षानुमानतर्कोपमानार्थापत्तिसम्भवाभावशब्दैतिह्यैः प्रमाणैर्यद्बाधितं भवति तदप्रामाणिकं वस्तु असद्विदुः। कविभिस्तद्यत्परिग्राह्यं तद्विशिष्टं सत्। यतो ज्ञानस्य द्योतनाज्ञानं हि सर्व्वं द्योतयति तत्र ज्ञानं द्विविधं तत्त्वज्ञानं मिथ्याज्ञानञ्च। तत्र यज्ज्ञानं तस्मिंस्तदिति तत्तत्त्वज्ञानं प्रमाणतो ज्ञाता प्रमा नाम बुद्धिः। सा सतामेव परिग्रहाद्भवति, यथा पुरुषे पुरुष इति ज्ञानं स्थाणौ स्थाणुरिति ज्ञानमिति। अतस्मिंस्तदिति यज्ज्ञानं प्रमाणैः प्रत्यक्षादिभिरयोगातियोग-मिथ्यायोगयुक्तैर्जन्यते, तज्ज्ञानं मिथ्याज्ञानमसतां परिग्रहाद् भवति। प्रत्यक्षादिभिः सम्यग् गुणयुक्तैर्बाधितत्वात्। यथा स्थाणौ पुरुष इति शुक्तौ रजतमिति, रज्वां सर्प इति। इत्येवं मिथ्याज्ञानं लोके प्रधानाख्यं मिथ्याज्ञानमित्युच्यते॥ ३८॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्ज्ञानद्योतकैः कवयो यत् सदिति कृत्वा परिगृह्णन्ति तदेव प्रमेयमात्मशरीरेन्द्रियार्थादिकमर्थाक्रियाकारितं प्रयोजनसाधनक्रियया कारितं तद्वस्तु खलु परमार्थसत्। लोके सत् परमार्थतो याथार्थ्यतोऽसत् मिथ्याभिधीयते। कस्मात्। अज्ञानात्। परमार्थतत्त्वज्ञानभिन्नज्ञानाज्ज्ञायते। यथा—पुरुषे देवदत्तादौ पुरुषोऽया-थार्थ्यज्ञानाज्ज्ञायते। अर्थक्रियाकारितत्वात् परमार्थतोऽसल्लोके सत् तत्तु सत्यमनृतमि-त्युच्यते। तल्लौकिकतत्त्वज्ञानं परमार्थमिथ्याज्ञानम्। तत्त्वप्रधानभेदान्मिथ्याज्ञानं द्विविधम्—तत्त्वं मिथ्याज्ञानं स्थाणौ स्थाणुः। प्रधानं मिथ्याज्ञानं स्थाणौ पुरुष इति।

असत् ज्ञान है। सत् के भावों के अपरिग्रह से दूसरा विशिष्ट समय होता है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—तत्त्वज्ञान और मिथ्याज्ञान। 'तस्मिंस्तद्बुद्धिः' इस प्रकार का ज्ञान तत्त्वज्ञान है। यह तत्त्वज्ञान सत् (भाव) पदार्थों के परित्याग से ही होता है। 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' इस प्रकार का ज्ञान मिथ्याज्ञान है। जैसे शुक्ति में रजतज्ञान। इस प्रकार असत् के ग्रहण से मिथ्याज्ञान और सत् के परित्याग से तत्त्वज्ञान होता है। यह तत्त्वज्ञान ही परमार्थ सत् है। प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित असत् (मिथ्याज्ञान) और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से साधित सत् (तत्त्वज्ञान) होता है। लोक में सभी सत् (भाव) पदार्थ वस्तुतः असत् (मिथ्या) है। यह मिथ्याज्ञान अज्ञान से होता है। इस प्रकार प्रयोजन निष्पादक होने से सत् पदार्थ परमार्थतः असत् है। वस्तुतः सत् वह है जो मिथ्याज्ञान से परे है, वही परमार्थ सत् है।

काव्यप्रभावृत्तिः

इदञ्च तैत्तिरीयोपनिषदि चोक्तमनृतसत्यम्, यथा—विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवदिति। तर्हि परमार्थसत् किं भवतीत्यत आह—ज्ञानतस्त्वेकं ब्रह्मैव परमार्थसदिति। यद्वस्तु यदुपादानकं तस्य वस्तुनस्तदेव तत्त्वम्। तस्य भावस्तत्त्वं तत्त्वतो ज्ञानम्। तस्य वस्तुनस्तत्त्वज्ञानमेव ज्ञानं तज्ज्ञानन्तु एकं ब्रह्मैव परमार्थसत्। सर्व्वेषामुपादानं तद्यथा—येयं पृथिवी गन्धवती रसवती रूपवती स्पर्शवती शब्दवती च। तस्य यो गन्धः स पृथिव्या, यो रसः सोऽपां यद्रूपं तत्तेजसो, यः स्पर्शः स वायोः, यः शब्दः स आकाशस्येत्यपागात् पृथिव्यां पृथिवीत्वं विकारो नामधेयं पञ्चगन्धादय इत्येव सत्यमिति पृथिव्यास्तत्त्वज्ञानम्।

एवं या इमा आपो रसवत्यश्च रूपवत्यश्च स्पर्शवत्यश्च शब्दवत्यश्च तासां यो रसः सोऽपां यद् रूपं तत्तेजसो यः स्पर्शः स वायोर्यः शब्दः स आकाशस्येत्यपागादपामप्त्वं विकारो नामधेयं चत्वारो रसादय इत्येव सत्यमिति चापां तत्त्वज्ञानमित्येवं स्व-स्वोपादानज्ञानेन चरमे ब्रह्मैव एकं सदिति वचनं सत्यमिति। एतत्तृणाद्यव्यक्तपर्य्यन्तं सर्व्वसत्यमनृतमसत्। सदुच्यते वस्तुत्वात्। ततः प्रधानक्षेत्रज्ञकालाविद्यास्तदश्रेयाः पञ्चमवेदादयो ब्रह्मपुरुषाश्चेत्येतत् सर्व्वं परमार्थसत्यं सदुच्यते वस्तुत्वात्। तत्सर्व्वेषामुपादानं परमात्मा ब्रह्म परमार्थसत् वस्तुत्वात्। तदेवेदं सर्वं सदसत् बभूव। प्राक् च यदसदेवैकमासीत् शक्तिब्रह्मप्राक्सर्गात् क्रियागुणव्यपदेशाभावादसदेव सदुक्तम् तदेवासत् सिसृक्षया पूर्वं तेजोऽसृजत्, तत्तेजोऽपोऽसृजत्, ता आपोऽन्नमसृजन्त इति त्रयं सत् तत् त्रयोपाहितं तदसद् ब्रह्मैवशक्तिर्लोहितशुक्लकृष्णैरिव तेजोवन्नैरुपाहिता परमसूक्ष्मध्वन्यवरुद्धा इति परमव्योमरूपा गायत्री बभूव। तत् सत् शान्तिर्विद्यानिवृत्तिः प्रतिष्ठेति चतस्रः शक्तयो भूत्वा तच्चतुःशक्तिमत् चतुर्व्यूहं परव्योमरूपं परमात्मानं शिवं स्वयं शुभावहविधिहेतुभूतं सुकृतमसृजत्। इत्येवमसत् सदात्मकः परमात्मापरमार्थसत्। ससुकृतं नाम शिव इति॥ ३९॥

तद् परमार्थसद् ब्रह्म सर्वमिदं व्याप्य वर्तते। तत् सर्वः करोति। तदाह—तत् परमार्थसद् ब्रह्म परमात्मशिवः सर्वं वेषणाद्विष्णुः सर्गादिहेतुः सर्वसृष्टिस्थितिसंहारबन्धमोक्षहेतुः। तैद्यथा तत्तिरीयोपनिषद्युक्तं – असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत। तदा ज्ञानं स्वयमकुरुते तस्मात्तत् सुकृतमुच्यते। सोऽकामयत् बहुस्यां प्रजाययेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा सर्वमसृजत्। सच्चासच्च। यदिद किञ्च तत् सर्वं सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत्। निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च, निलयञ्चानिलयञ्च, विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च, सत्यनञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्। यदिदं किञ्च सत्सर्वं सत्यमित्याचक्षते इति।

विष्णुः सर्गादिहेतुः स शब्दालङ्काररूपवान् ।
अपरा च परा विद्या तं ज्ञात्वा मुच्यते भवात् ॥ ४० ॥

इत्याग्नेये काव्यालङ्कारशास्त्रे काव्यदोषविवेको नाम
एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

काव्यप्रभावृत्तिः

इह विष्णुशब्देन परमात्मा विवक्षितोऽस्मिन् ह्याग्नेयपुराणे विष्णुशब्देन परमात्मनोऽभिधानमग्निनैव योगप्रकरणे वक्ष्यते। परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः विष्णुदाम्ना च वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते इति। लिङ्गपुराणे शिवपर्य्यायश्च विष्णुशब्द उक्तो व्युत्पादितश्च। विष्णुः सर्वत्र वेषणादिति तस्मादिह विष्णुशब्देन महाविष्णुर्विष्णुर्वाभिधीयते।

सर्गादिसर्व्वहेतुत्वाभावात्। सोऽयं परमात्मा विष्णुः परव्योमरूपः शिवः-शब्दालङ्काररूपवान् बभूव। कथं? त एवापराविद्या परा च विद्या प्रथमं बभूव। तदुक्तं तैत्तिरीये विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्चेति। अस्मिन्नाग्नेये च पुराणे प्रोक्ता—

द्वे विद्ये भगवान् विष्णुः परा चैवापरा च ह।
ऋग्यजुःसामाथर्व्वाख्या वेदाङ्गानि षड्द्विज॥
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां चितिः।
छन्दोऽभिधानं मीमांसा धर्मशास्त्रं पुराणकम्॥
न्यायो वैद्यगान्धर्वं धनुर्वेदार्थशास्त्रकम्।
अपरेयं पराविद्या यया ब्रह्माधिगम्यते।

तस्मादेतद् आग्नेयपुराणीयत्वात् शब्दालङ्काररूपवान् पराविद्या-विशेषरूपवान्। तं विष्णुं परमात्मानं शिवं ज्ञाता भवान्मुच्यते इति। एषा शब्दा-लङ्कारविद्या तस्मादपराविद्या भवतीति॥ ४०॥

अर्थ—विष्णु सर्ग (सृष्टि) आदि का कारण है। वही शब्द रूप और अलकार रूप है। विधाएँ दो हैं—परा और अपरा। उन्हें जानकर मनुष्य संसार से मुक्त हो जाता है॥ ४१॥

काव्यप्रभावृत्तिः

अथैवं यथोक्ताळङ्कारमुक्तं यथोक्तगुणयुक्तं यथोक्तदोषवर्जितं वाक्यमेवारम्भसमाप्तिपर्यन्तं वाङ्मयं काव्यं गद्यपद्यमिश्रान्यतमुक्तं दोषेषु शब्दोपात्तादयो रसदोषानोक्तास्तस्मादाधुनिकेनृषिणा रसस्य ये शब्दोपात्तादयो दोषा उक्तास्तेऽनार्षत्वाददोषा इति । काव्यस्य हि शरीरं वाङ्मयं तस्यात्मार्थः । शब्दगुणलक्षणे हि पूर्वमुक्तम् शब्दमाश्रयते काव्यशरीरं यः स तद्गुण इति । शरीरादन्यस्स्वात्मा तदर्थं न केवलं रस आत्मा बन्धकाव्ये नीरसत्वादानात्मकत्वप्रसङ्गादिति ।

इत्येतदग्निना प्रोक्तं काव्याळङ्कारशास्त्रे ।
न ये जानन्ति जानन्ति न ते काव्ये विचारणाम् ॥

इत्याग्नेये काव्याळङ्कारशास्त्रेकाव्यदोषलक्षणं नाम
एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इत्याग्नेये महापुराणेऽग्निना प्रोक्तस्य काव्याळङ्कारशास्त्रे वृत्तिः समाप्ता ॥

विमर्श—यह परमार्थ सत् ब्रह्म, परमात्मा, शिव और सर्वत्र व्याप्त होने से विष्णु है । वही विष्णु सृष्टि, स्थिति और संहार का कारण है । यहाँ पर विष्णु शब्द परमात्मा का वाचक है, परमात्मा ही समस्त विश्व के आधार विष्णु नाम से वेदादि शास्त्रों में प्रसिद्ध है । वही परमात्मा विष्णु शब्दालंकार रूप भी है, वह शब्दालंकार रूपवान् विष्णु पराविद्या रूप भी है, अतः उस विष्णु को जानकर मनुष्य संसार से मुक्त हो जाता है । विष्णुपुराण में विष्णु को शब्दरूप कहा गया है कि समस्त काव्य तथा समस्त गीत वस्तुतः शब्दमूर्त्ति (शब्दरूप) विष्णु के ही अंश हैं—

काव्यालापांश्च ये केचिद्गीतकान्यखिलानि च ।
शब्दमूर्त्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः ॥

इस प्रकार अग्निपुराणोक्त काव्याळङ्कारशास्त्र का काव्यदोषविवेचन नामक
एकादश अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

परिशिष्ट—१

उदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

श्लोकांश	श्लोक संख्या
'अ'	
अग्निर्माणवकोऽयं च	१५७
अद्य मानं मानवत्याः	३९
अद्य सङ्ध	७६
अन्तर्बहिर्यदि	१८
अनञ्जिता	१९०
अपीतक्षीवं	१८९
अम्बुजसम्भव	१०५
अम्भोरुहमिवाताम्रं	१५६
अवसितं हसितं	१२
अविलुप्त	८५
अरण्यमपि	४७
अरण्यं कैश्चित्	४२
अरे याहि	२३२
अस्या मृगाक्ष्या	१९३
अस्याः स्थिरा	१५५
अस्याः सम्पूर्णचन्द्राभे	२३२
असद्वा	७
असद्वृत्तो	२१४
अहञ्च भाष्यकारश्च	११३
अहो दोषाकरः	४०
'आ'	
आद्यन्ताभ्यां	१०१
आम्नायानाम	१२३
आसीत्पुरेकं	५५
'इ'	
इदन्तु गाङ्गं	२६
इयमसौ तरलायत	२१८
'ई'	
ईश्वरः कारणं	२२१
'उ'	
उमा सती	२४३
'ए'	
एकस्मिन् शयने	२१९
'ओ'	
ओष्ठ्ये	१०
'क'	
कन्ये धन्ये	२२२
कर्णिकामग्नभृङ्गं	१७२
कर्मात्तस्य	१४६
कर्माण्यालभते	१४७
करोति सहकारश्च	४१
कलक्वणित	१५१
कलौ कर्त्ता	१४१
कस्त्वं शूली	१०८, १८४
कस्य न वा रोषः	२०७
कश्चित् पश्चिम	३२
कान्त प्रिये	४८
कान्ता आस्याम्बुज	२३४
कान्त्या चन्द्रसमं	१८२
कान्ते कत्यपि वासराणि	२०५

श्लोकांश	श्लोक संख्या
कान्ते वसन्तसमये	९६
कान्ते यो हि तवाननं	१५३
कान्ते प्रह्लादना	१६६
कान्ते पुरःस्थिते	१९५
कान्ते कान्तो	१९३
कार्यः समादर	४३
कावेतौ हृदये	१८५
काले तड़िल्लता	११७
काशिकान्ते	१२०
कुचौ न च	१६८
कुरङ्गमातङ्ग	१२०
कृतवानप्रियं	२०९
कृष्णस्य पैतृष्वसो	२४०
केन कःसह संभूय	११०
केचिद्वदन्त्या	११
कोपोऽवनतः	६६
को भावश्चतुरक्षरेण	९७
को रौति वर्षासु	१०४
कोऽसौ नद्यां	९८
को हालाहलमत्ति	९९
क्षिप्तो हस्तावलग्नः	२०६
'ग'	
गायन्ति ये नामपदं	७५
गृही व्रजेदेव	९
गोगजवाहन	१०३
गोरक्षाद्भुतः	
गोचरणागता	२३०, २३१
'च'	
चकितहरिणलोलः	१५४
चन्द्रनोदक	१६७
चैत्रे चित्रं पिको रौति	२१६
'ज'	
जलाशयो	२९
ज्याकृष्टबद्ध	२१५
जीयन्ते	६८
'त'	
तया कवितया किंवा	२२१
तरणि तरणि प्राप्य	८३
तव प्रिया	८१
तवाननमिवाम्भोजं	१६०
तवाननमिवोन्निद्रं	१६१
तस्याः स्यात् सखि	३६
ताम्राङ्गुलि	१८३
तारके भ्रमरभ्रान्त्या	६५
तारुण्यालिङ्गित	१०७
तुण्डैराताम्रकुटिलैः	१५०
तृप्तायैव रोचते	४६
त्वन्मुखं	१६३
'द'	
दत्तोऽस्या	२
दधत् सितश्री	५८
दिवाकरकरोत्फुल्ल	१७६
द्वितीय त्वसति	१११
द्वियानगतिहीना	१२९
दुर्भात्यर्क	२३५
दुष्करं पुष्कराक्षीषां	३०
दृष्ट्वैकासनसंस्थिते	२२०
देवानामपि	४९
'ध'	
धनं पर्वताभं	१२३
धनस्यानन्य	१५९
धन्याऽसि या	२०५
'न'	
न कठोरं	१९२
न जायते म्रियते	१९
न ते न ते देव	५७

श्लोकांश	श्लोक सं०
ननो ननुन्नो	१२५,२२७
न प्रीणात्यर्कं	२८
नष्टबुद्धिः	३३
नयनानन्दजनने	१२२
नागरस्य संप्रयोगान्	८७
नातिक्रमेत्	१
नादिनामय	१२६
नादिनो मदनाधीना	१२७
नास्थेयः	४५
नासुतेऽयं	१३२
निद्राव्यस्त	१२१
निःशेषच्युत	२०४
नु का कालिका	९२
नुन्नमानं मतं	५२
नु किन्नरः	९१
नु कृष्णः	९०
नेत्राञ्जनयो	१२२
नैकस्मिन्	१७४
'प'	
पक्वबिम्बफल	१६९
पटालग्ने पत्यौ	२१७
पण्डिते बहुविधे	२४
पद्मं नाभिमुखं	१०४
पद्ममेव विधुम्लानं	१७३
पद्मं बहुरजश्चन्द्र	१७९
पद्मात्मिके	१९१
प्रभाकरकरो	१६५
पाति हर पाप हर	१४४
पापेभ्यो मुच्यते काश्यां	२३३
पित्रोर्भक्त्या	२०२
प्रियं प्रीणाति	२७
प्रिये बिडम्बयति	४४
प्रिये मनोजयाशा	१९४
पीतो यतः प्रभृति	२००
पूर्णचन्द्रानने	१७१
पूण्यातप	१६८
'फ'	
फल ऊल	५
'ब'	
बाणैस्तीक्ष्णैः	६९
बृहदाम्रफलं	४
'भ'	
भज भक्त्या भवं	१३१
भज मित्र शिवपदं	१३०
भवन्ति मृत्युञ्जय	७१
भवाब्धिप्रोतं	५९
भवान्धकारो	६१
भविष्यत्यब्ज	११२
भवोदधेस्तारकपाल	७९
भव्यभूतभवदीय	९३
भूधराश्च मत्तेभा	१७७
भोजने व्यञ्जनाढ्येषु	८०
'म'	
मगाधाम मधागाम	१४९
मनोरतं	७७
मनोभव तवानीकं	१३७
मनःक्षोभश्च	५१
मधु मधुराम्भोज	३८
मधुरालापतापेन	२१३
मध्यन्दिनार्क	१८६
माता न माता	१४
मातासीत्कमलैव	२०१
मानं संहर संतापं	११८
माने कृते सुवदने	७०
मालिका	१८८
मृणालाङ्गुर	१७८
मेघनादेन	६७

श्लोकांश	श्लोक सं०
'य'	
यदि किञ्चिद्	१७०
यथार्थवादी	१६
यानमान	१२६
यामतया	१२८
या पांशु पाण्डुर	२१०
या षष्ठी	११०
युक्तो जितात्मा	१५
युद्ध्वा	२१८
योगं मुमुक्षुः	१३
योऽसौ गोमी	१०७
'र'	
रक्षेदपि	५४
रतिरस्तु	५३
रजसा साजर	१४२
रवेः कवेः किं	९५
रागं तवाधरेवाले	११४
राजेव कः	१००
राज्ञो राजासनं	२३९
रामरावणयोर्युद्धं	१७५
रामाणां	१९९
रावणोद्दम	६४
'ल'	
लक्ष्मीरिव	१५८
लक्ष्मीर्विष्णोः	२४१
लोकाजिताः	७८
'व'	
वपुरस्या	२३८
वर्षत्यमर्षाद्वाग्वज्रं	३०
वशे वै भवन्ति	७४
वसुदं वसुधा	१०९
व्रज वाराणसीं	२३६
वाणी	१८०
विराजने	२३७
विप्र क्षत्रिववैश्य	७
विषं भुङ्क्ष्व	१०६
विष्ण्वादिसन्निधौ	७६
विष्णोर्दुर्गेव	२४२
विष्णोरुमा	२४४
वैष्णवानां यथा	१३६
'श'	
शक्तिः सर्वेषु	२०३
शम्भो पाहि	१४८,१४५
शमदयारहित	६३
शस्तस्तासां	३४
शिवे देवि	१४१
शुभाशुभा भाति भाति	३४
शुभाशुभा भाशु भाशु	१३६
शृणु वत्स	१३९
'स'	
सकलैः सकलैः	८२
सखि भून्ममानेन	५०
सखिनिवृत्ति	१९७
सद्यःशान्तिः	३७
स सा च षातु	५६
सदा पदन्ते	६२
स सत्त्वरि	१३७
सर्वं पदं	२२८
स्पर्शः स्पृष्ट	३५
स्तनयोः	१८७
स्तनौ विल्वफलसमौ	१६२
स्मितवदने	८४
संस्कारभयं	५६
स्वाध्यायदेवातिथि	१७
सारमालवरारोहा	६
सुतनु जहिहि कोपं	१९८
सुश्लिष्टाधर	१९६
'ह'	
हन्तालिसन्ताप	२०९
हरिणाऽधानीव	७३
हृदि स्वयम्भूस्पर्शे	११९

परिशिष्ट—२

सहायक-ग्रन्थ-सूची

अग्निपुराणम्—आनन्दाश्रम संस्करण, १९३४।

अग्निपुराणम्—गुरुमण्डल ग्रन्थमाला संस्करण, १९५७।

अग्निपुराणम्—चौखम्बा प्रकाशन १९६७।

अग्निपुराणम्—सं०, राजेन्द्रलाल मित्र, विबिलयोथिका इण्डिका संस्करण १९१०।

अग्निपुराण—हिन्दी अनुवाद–गीताप्रेस, संस्करण, १९७३।

अग्निपुराण—कलकत्ता।

अग्निपुराण—ए प्रोज इंग्लिश ट्रान्सलेशन–मन्मथनाथदत्तशास्त्री, (द्वितीय संस्करण) काशी संस्कृत सीरिज, १९६७।

अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग—रामलाल वर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (प्रथम संस्करण) १९५९।

अग्निपुराण का रचनाकाल—पारसनाथ द्विवेदी, आगरा यूनिवर्सिटी जर्नल आफ रिसर्च (लेटर्स) १९७१, भाग १९, पृ० ७५-८६।

अर्थशास्त्र (कौटलीय)—सं० आर० सामाशास्त्री, ओरियण्टल लाइब्रेरी संस्करण १९५१।

अभिनयदर्पण—नन्दिकेश्वर, एम० एन० घोष) कझकत्ता, १९३४।

अभिनवभारती—अभिनवगुप्त, गायकवाड संस्करण, १९२६-१९५६।

अलङ्कारशास्त्र का आदिस्रोत—चन्द्रकान्त बाली, माधुरी, अगस्त १९४१, पृ० ९४१००।

अष्टाध्यायी—पाणिनि (सं०,) मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट् सीरिज, १९५४।

एकावली—विद्याधर (मल्लिनाथी टीका सहिता) बम्बई संस्कृतसीरिज, १९०२।

औचित्यविचारचर्चा—क्षेमेन्द्र, काव्यमाला संस्करण, भाग १, १९३१।

कामसूत्रम्—वात्स्यायन निर्णयसागर संस्करण, १९००।

काव्यप्रकाश—मम्मट (वामनाचार्यझलकीकरकृता बालबोधिनी टीकासहित) पूना (षष्ठ संस्करण) १८७३ शाके।

काव्यप्रकाश—डा० पारसनाथ द्विवेदी (हिन्दी व्याख्या) विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, १९८५।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठाकुर, काव्यमाला संस्करण, १९२५।

काव्यमीमांसा—राजशेखर, गायकवाड़ संस्करण, १९२४।
काव्यादर्श—दण्डी चौखम्बा विद्यानभवन वाराणसी १९७२।
काव्यानुशासन—हेमचन्द्र (स्वोपज्ञटीकायुता) काव्यमाला संस्करण, १९०१।
काव्यानुशासन—वाग्भटद्वितीय (स्वोपज्ञटीकायुता) काव्यमाला संस्करण, १९१५।
काव्यालङ्कार—भामह, विहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना १९६२।
काव्यालङ्कार—रुद्रट (नमिसाधुकृताटीकासहिता) काव्यमाला संस्करण, १९२८।
काव्यालङ्कारसारसंग्रह—उद्भट (प्रतीहारेन्दुराजकृता टीका सहिता) द्वितीय संस्करण, निर्णयसागर संस्करण, १९२८।
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति—वामन, काव्यमाला संस्करण, १९२६।
कुवलयानन्द—अप्पयदीक्षित, निर्णयसागर संस्करण, १९२५।
गीतारहस्य—बालगङ्गाधरतिलक (हिन्दी अनुवाद–माधवरावसप्रे) पूना, १९६९ (चतुर्दश संस्करण)।
चन्द्रालोक—जयदेव, निर्णयसागर संस्करण, १९२५।
चरकसंहिता—चरक (सं०तारादत्त पन्त), काशी संस्कृत सीरिज १९३७।
छन्दःसूत्र—पिङ्गल (सीतानाथ सामाध्यायी) कलकत्ता, १९३१।
छन्दोमञ्जरी—गङ्गादास सं० गुरुनाथ विद्यानिधि) कलकत्ता १९३४।
दशरूपक—धनञ्जय (धनिककृता टीकायुता) निर्णयसागर १९२८।
देवीभागवतपुराणम्—गुरुमण्डलग्रन्थमाला संस्करण, १९६१।
ध्वन्यालोक—काव्यामाला संस्करण, १९३५।
ध्वन्यालोकलोचन—अभिनवगुप्त (हिन्दी अनुवाद-जगन्नाथ पाठक) काशी संस्कृत सीरिज, १९६७।
नाट्यदर्पण—रामचन्द्र गुणचन्द्र (स्वोपज्ञटीकायुता) गायकवाड संस्करण, भाग १, १९२९।
नाटकलक्षणरत्नकोश—सागरनन्दी चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस १९७२ आक्सफोर्ड संस्करण १९३७।
नाट्यशास्त्र—भरतमुनि काशी संस्कृत सीरिज १९२९।
नाट्यशास्त्र—भरतमुनि (अभिनव भारती सहिता) सं०, रामकृष्ण कवि, भाग १-३ गायकवाड संस्करण, १९२६-१९५६।
नारदीयपुराणम्—बिल्लियोथिका झण्डिका संस्करण १८९१।
न्यायदर्शन—गौतम (वात्स्यायनभाष्य सहिता) सं०, श्रीनारायण मिश्र चौखम्बा संस्करण, १०६५।
न्यूकैटेलाग्स कैटेलागोरम्—सं० वी० रामघवन् (भाग १-५) सं० के० कुन्जनराजा १९६८-१९७४।

पद्मपुराणम्—बिब्लियोथिका इण्डिका संस्करण १८९४ ।
पुराणवर्म—कालूराम शास्त्री (प्रथम संस्करण) ।
पुराण विमर्श—श्रीकृष्णमणित्रिपाठी, चौखम्बा, ओरियण्टालिया, १९७६ ।
प्रतापरुद्रयशोभूषण—विद्यानाथ (कुमार स्वामीकृता टीका सहिता) बम्बई सं० सीरिज १९३० ।
ब्रह्मवैवर्तपुराणम्—आनन्दाश्रम संस्करण १९३५ ।
भारतीय दर्शन डा० पारसनाथ द्विवेदी–श्रीराममेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा (द्वितीय संस्करण १९७९) ।
भावप्रकाशन—शारदातनय, गायकवाड़ संस्करण, १९३० ।
श्रीमद्भागवत महापुराण - गीताप्रेस ग रखपुर
मत्स्य पुराण —गुरुमण्डल ग्रन्थमाला संस्करण, १९५४ ।
महाभारत—गीताप्रेस, गोरखपुर ।
याज्ञवल्क्यस्मृति—सं० नारायणशास्त्री खिस्ते तथा जगन्नाथ होशिंग, चौखम्बा सं० ग्रन्थमाला, १९२९ ।
रसगङ्गाधर—पण्डितराज जगन्नाथ (नागेशभट्टी टीका सहिता) काव्यमाला संस्करण, १९१६ ।
रुद्रडमरुद्भवसूत्रविवरणम्—डा० पारसनाथ द्विवेदी (वाराणसी)
वक्रोक्तिजीवित—कुन्तक (स्वोपज्ञवृत्ति सहिता) कलकत्ता, १९२९ ।
वाग्भट्टालङ्कार - वाग्भट प्रथम (संस्कृत जीवानन्द विद्यासागर) चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता १९१७ ।
वायुपुराण—सं० राजेन्द्रलालमित्र, बिब्ल्योथिका इण्डिका संस्करण, १९०० ।
विष्णुपुराण गीताप्रेस, गोरखपुर
विष्णुधर्मोत्तरपुराण चित्रसूत्रम् (तृतीय खण्ड)–सं१, कुमारी प्रियबाला शाह, गायकवाड़ संस्करण, १९५८ ।
व्यक्तिविवेक—महिमभट्ट काशी संस्कृत सीरिज संस्करण, १९३७ ।
वैदिक साहित्य का इतिहास –डा० पारसनाथ द्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी (१९८२)
वैशेषिकसूत्र—सं० जंबुविजय, गायकवाड़ संस्करण, १९६१ ।
शिवपुराण—सं० समतेज शास्त्री, १९६३ ।
संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास—पी० वी० काणे (हिन्दी अनुवाद-इन्द्रचन्द्र शास्त्री) मोतीलाल बनारसीदास १९६६ ।
संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—सुशील कुमार डे (हिन्दी अनुवाद–मायारामशास्त्री) विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७३ ।

संस्कृत पोयटिक्स—सिल्वां लेवी, १९१२ ।

संस्कृत साहित्य का इतिहास—ए० बी० कीथ (हिन्दी अनुवाद-मंगल देवशास्त्री) मोतीलाल बनारसीदास, १९६० ।

संस्कृत साहित्य का इहितहास—कन्हैयालाल पोद्दार, नागरी प्रचारिणी सभा, तृतीय संस्करण, १९७३ ।

सरस्वतीकण्ठाभरण—भोजराज भरण—भोजराज (रत्नेश्वरकृता रत्नेश्वरी टीका सहिता) काव्यमाला संस्करण, १९२५ ।

स्टडीज इन दी जेनुइन आग्नेयपुराण एल्यिास वह्निपुराण—आर० सी० हाजरा, आवर हेरिटेज, भाग-७—२ ।

स्टडीज इन पौराणिक रेकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स आर० सी० हाजरा (द्वितीय संस्करण) मोतीलाल बनारसीदास, १९७५ ।

स्टडीज आन सम कान्सेप्ट्स आफ् दी अलङ्कारशास्त्र—वी० राघवन् मद्रास, १९४२

साहित्यदर्पण—विश्वनाथ (स० कृष्णमोहन ठाकुर) चौखम्बा प्रकाशन, १९६७ ।

हिन्दू गणितशास्त्र का इतिहास—विभूतिभूषण दत्त एवं अवधेश नारायण सिंह (हिन्दी अनुवाद) प्रथम भाग, हिन्दी समिति, १९५६ ।

हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स—पी० वी० काणे, पञ्चम संस्करण मोतीलाल बनारसीदास, १९६१ ।

हिस्ट्र आफ् संस्कृत पोयटिक्स—सुशील कुमार डे (द्वितीय संस्करण) फर्म के एलएम १९ ।

परिशिष्ट—३

पदानां विषयाणाञ्चानुक्रमणिका

'अ'

अक्षर ७१
अग्नि ३
अङ्क ३४, ५८
अतिदेश १०७
अतिशयोक्ति २४३
अद्भुत ७६, ७७, ८५
अद्भुतोपमा २३०
अनुप्रास १३४, १४७
अनुभाव ३४, १०४
अनेकवर्णावृत्ति १५५
अन्योपमा २३६
अपह्नुति २७९
अप्रयुक्तत्व ३१६
अभिधा ५
अभिनय ३४, ११९
अभिमान ७३, ७७
अभिव्यक्ति २५१, २५६
अर्थगुण २९७
अर्थदोष ३२२
अर्थप्रकृति ३४, ३८
अर्थालङ्कार १३१,२१६
अर्थान्तरन्यास २४१
अर्द्धभ्रमण २००
अर्भकोक्ति १३६
अव्यपेत १५६
अविस्पष्टार्थता ३१६, ३१८
असाधुत्व ३१६
असामायिकत्व ३१६, ३२०
असूया ९४
असंयुतहस्त १२५

'आ'

आक्षेप २७१
आख्यायिका १८, १९, २०
आङ्गिक १२०
आत्मोपमा २३५
आमुख २६,३७,११३,११५
आरभटी १११, ११६
आलम्बन ८०, ९८, १०३, १०४
आहार्य १२०

'इ'

इतिवृत्त ३४, ३८, ४६
इतिहास ४, ५, २४

'ई'

ईहामृग ३३, ५१

'उ'

उक्ति १३४, १३८
उत्कलिका १७
उत्प्रेक्षा २४२
उदरकर्म १२७
उदारता २९८, ३००
उद्दीपन ९८, १०३
उन्माद ९५
उपदेश १०७
उपमा २१९
उरोऽभिनय १२७
उल्लापक ३३, ६९
उभयच्छन्ना १८६
उभयालङ्कार १३१, २५१

'ए'

एकच्छन्ना १८५
एकवर्णावृत्ति १४८

'ओ'

ओज २९०, २९६
ओष्ठकर्म १२९

'औ'

औचित्य २५१, २५४
औदार्य १०५,१०६,२५०, २९५

'क'

कथा १८, २०
कथानिका १८, २१
कथोद्घात ३७
करुण ७६, ७७, ८३
कलापक २३. २९
कल्पितोपमा २३८
कष्टत्व ३१६, ३२०
कान्ति १०६, २५१, २५३
कारकभ्रंश ३२२,३२३,३३५
कारकहेतु २४७
कार्य ३८, ४०
काव्य ३,४,११,१६,३३,६६
किलकिञ्चित १२१, १२२

किञ्चित्सदृश २३९
क्रियाभ्रंश ३२२,३२३,३३५
क्रीडित १२१, १२३
कुट्टमित १२१, १२३
कुलक २३, २९
केलि १२१, १२१
कोष २३, ३०
कोमलता २९८, २९९
कौशिकी २९, १११, ११७

'ख'

खण्डकथा १८, २०, २१

'ग'

गगनोपमा २३७
गद्य १६, १७, २१
गर्भ ३९, ४२
ग्रथिता १७७
गाम्भीर्ण १०५, १०६, २९०, २९३
ग्राम्यता ३१६, ३२१
ग्रीवा १२९
गुप्त १८८
गुम्फना १३४, १४३
गोष्ठी ३३, ६५
गोभूत्रिका १९७
गौड़ी १०९, ११०

'च'

चक्रबन्ध २०६
चक्राब्जबन्ध २०९
चम्पू ३१
च्युत १८९
च्युतदत्त १९१
चित्र १४, १६९
चिबुक १२९
चिन्ता ९४
चूर्णक १७
चैतन्य ७१

'छ'

छाया १३४
छान्दसत्व १६, ३१८
छेकोक्ति १३५
छेदसिद्धान्त ३३७

'ज'

जंघाकर्म १२९
जुगुप्सा ९१
ज्ञापकहेतु २४८

'ड'

डिम ३३, ५०

'त'

तारकाकर्म १२९
त्रिवर्ग ३५
तोटक ५९
त्रोटक ३३

'द'

दण्डबन्ध २१०
दत्त १९०
दीप्ति १०६
दुर्मल्लिका ३३, ६२
दुष्कर १३७, १९३
दोषपरिहार ३३४

'ध'

धर्मोपमा २२५
धीरललित ९९
धीरशान्त ९९
धीरोदात्त ९९
धीरोद्धत ९९
धृति ९५
धैर्य १०६

'न'

नटी ३६
नर्म ११७
नर्मगर्भ ११७
नर्मस्फुर्ज ११७
नर्मस्फेट ११७
नाटक ३, ४, ३३, ४८
नाटिका ३३, ५९
नाट्य ३५
नाट्यरासक ३३, ६७
नान्दी ३५
नासिकाकर्म १२९
नामान्तरिता १८४
निन्दोपमा २३८
निभृता १८३
नियमोपमा २२७
निर्वहण ३९, ४२
निर्वेद ९४
निश्चयोपमा २३४

'प'

पञ्चचेष्टा ३४
पञ्चावस्थाएँ ३४
पञ्चसन्धि ३४, ४८
पताका ३८, ३९
पददोष ३१६
पदावृत्ति १६५
पद्य १६, २२, ३१
परिकथा १८, २०, २१
परस्परोपमा २२६

पर्यायोक्त २८०
परुषा १५२, १७८
पाक ३०४, ३०७
पाञ्चाली १०९, ११०२
पादकर्म १२७
पारिपार्श्विक ३६
पार्श्वकर्म १२७
पीठमर्द १०१
पूर्वरङ्ग ३५
पुनरुक्तता ३२५, ३२८
प्रकल्पिता १८०
प्रकरण ३३
प्रकीर्ण ३१
प्रकरी ३८, ४०
प्रयत्न ३८, ४०
प्रतिमुख ३९, ४१
प्रवृत्ति १०८
प्ररोचना ११५, ११६
प्रमुषिता १७५
प्रयोगातिशय ३७, ३८
प्रस्तावना ३६
प्रस्थान ३३,३६
प्रशस्ति २५१,२५२,३०४, ३०६
प्रशंसोपमा २३७
प्रहसन ३३,५२,११३,११५
प्रहेलिका १७२
प्रारम्भ ३८,४०
प्राप्तिसंभव ३८,४०
प्रातिस्विक ३२२,३३०
प्रेङ्क्षण ३३,७०
प्रौढ़ावृत्ति १५१

'फ'

फलप्राप्ति ३८,४०
फलयोग ३८,४०,४१

'ब'

बन्धदुष्कर १९६
बहूपमा २३०
ब्रह्म ७३,३३८,३३९
बीज ३८,३९,४१
बीभत्स ७६,७७,८५
बुद्धयारम्भ १०८

'भ'

भयानक ७६,७७,८५
भद्रावृत्ति १५१
भाण ३३,५६
भाणिका ३३,६४
भाणी ३३,६५
भारती १११,११२,११३
भाण ३४,८९,१०६
भ्रूकर्म १२८

'म'

मत्तोक्ति १३७
मधुरा १४८
मन आरम्भ १०४
महाकाव्य २३
माधुर्य १०५,१०६,२९८
मालोपमा २३१
मिश्र १६,३१
मुक्तक २३,३०
मुख ३९,४१
मुद्रा १३४,१३७
मुरजबन्ध २११
मोहापित १२१,१२२
मोहापमा २२३

'य'

यथासंख्य ३०४,३०५
यमक १५५
यावदर्थता २५१,२५५
युक्ति १३४,१४१
योगमाला १८५
यौगिक २९०,२९४

'र'

रति ७३,८०,९०
रस २७,७१,७७,८९
राग ७६,९३,३०४,३०९
रासक ३३,६८
रीति १०८,१९९
रूपक ३५,२४०
रौद्र ७६,७७,८४

'ल'

लक्षणा २६१
ललित १०५,१२१,१२३
ललितावृत्ति १५०
लाटजा १०९,१११
लालिल २९०,२९२
लीला १२१,१२२
लोकोक्ति १३५

'व'

वक्तृदोष ३१५
व्यभिचारीभाव ८९,९४
व्यपदेश ५०,१०७
व्यपेत १५५
व्यायोग ३५,५६
व्यतिरेकोपमा २२९
व्यस्तसम्बन्धता ३२२,३२६
व्युत्क्रान्ता १७५
वाक्यदोष ३२२
वाक्यानुप्रास १६७
वाक्यार्थोपमा २३५
वाकोवाक्य १३४,१३५
वागारम्भ १०६
वाचिक १२०
वाचकदोष ३१६
विकृत १२१,१२३

विच्छित्ति १२१,१२२
विक्रियोपमा २३२
विट १०१
विन्दु ३८
विदूषक ३६,१०७
विपरीतोपमा २२७
विप्रलम्भ ७८
विभ्रम १२१,१२२
विभाव ३४,९८
विभाकला २४४
विमर्श ३९,४२
विलास १०५.१२१,१२३
विव्वोक १२१,१२३
विशेषोक्ति २४५
विशेषक २३,२९
विसन्धि ३२२,३२३
वीथी ३३,३७,५७,११३
वीर ७६,७७,८४
वृत्तिगन्ध १७,१८
वृत्ति १०८,१०९,१११
वेपथु ९३
वैदर्भी १७९ ११०
वैशेषिक ३१२

'श'

शब्दगुण २८९,२९०
शब्दालङ्कार १३१,१३३,१३४
श्लेष २९०,२९१
शाटक ३३,६०
शान्त ७७,८७
शास्त्र ४,५
शिरोऽभिनय १२४
शिल्पक ३३,६१
श्रीगदित ३३,६७
श्रुति २५६,२५७,२५८, २५९,२६०
शृङ्गार ७३,७५,७६,७७, ७८,८०,८१

'स'

सट्टक ३३,६०
सङ्कीर्ण १८७
सनातन १७१
समय ३३६
समवकार ३३,५२
समस्या १९१
समाख्या २८२
समानशब्दोपन्यस्ता १८१
समासोक्ति २७८
समासगता १७३
समुच्चयोपमा २२९
सर्वतोभद्र २०१
सहोक्ति २४१
संक्षेप २५१,२५५
संचारीभावदृष्टि १२८
संभोग ७८,७९
संयुतहस्त १२५,१२६
संलापक ३३,६२
संविधान २९८,२९९
संशयोपमा २३३
स्तुत २७७
स्थायीभाव ८९
स्थायीभावदृष्टि १२८
स्थैर्य १०५,१०६
स्वरभेद ९३
सात्त्वती १११,११८
सादृश्य २१७,२१९
सामान्य ३४,२८९
सामयिकत्व २९८,३०५
सूत्रधार ३५,३६,३७
सूत्रधृक् ३७,३८
सौकुमार्य २९०,२९४
सौभाग्य ३०४,३०५

'ह'

हल्लीशक ३३,६६
हस्ताभिनय १२५,१२६
हाव १०६
हास ७६,८२,९०
हास्य ७७
हेतु २४७

परीशिष्ट—४

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
१२	४	भारो हारायते	हारो भारायते
२१	८	अद्भूतो	अद्भुतो
३३	७	सदृकं	सदृकं
३३	१०	प्रेङ्क्षणं	प्रेङ्क्षणं
३३	२१	प्रेङ्खण	प्रेङ्क्षण
३४	२	द्विघा	द्विधा
३७	३	सूत्रघृग्	सूत्रधृग्
४२	४	सापावः	सापायः
४७	३	आश्चर्यवाद्भिरख्यातं	आश्चर्यवदभिख्यातं
७३	५	गीतते	गीयते
९१	३	चितविस्मृति	चित्तविस्मृतिः
९५	३	वृत्तिः	धृतिः
९५	७	न च स्मृतिः	ऽचला स्थितिः
९५	२६	अचला स्थितिः	न च स्मृतिः
१००	२७	यस्त्वनेकाषु	यस्त्वनेकासु
१०४	२	भावैरुद्धुद्ध	भावैरुद्बुद्ध
११२	२	भारतीरीतिरुच्यते	भारतीवृत्तिरुच्यते
१२१	१८	पूर्वरसाश्रषम्	पूर्वरसाश्रयम्
१५९	१४	नाघुना	नाधुना
१७४	२०	आघैरम्ल	आद्यैरम्ल
१७४	२३	कुवलपुष्प	कुवलय
१७५	२०	परस्त्रीश्तारव्यः	परस्त्रीरताख्यः
१९२	१६	चौरेणापहूतं	चौरेणापहृतं
२००	८	एतयोगांमूत्रिका	एतयोर्गोमूत्रिका
२००	८	पद्यस्यार्द्धाभ्यासेनार्थं	पद्यस्यार्द्धाभ्यासेन
२००	९	इहार्घभ्रमण	इहार्धभ्रमणं
२०१	७	चतुर्भिरक्षरेः	चतुर्भिरक्षरैः
२०१	१५	भद्रयोरघोऽघः	भद्रयोरधोऽधः

पृष्ठ सं०	पंक्ति सं०	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
२०१	१५	पादानामघोऽघः	पादानाधोऽघः
२०१	१५	स्थितवर्णानि	स्थितवर्णान्
२०१	१७	विपर्य्ययेणो	विपर्य्ययेणोर्ध्वोर्ध्वं
२०२	३	प्रतिळोम्यैः	प्रतिलोमैः
२०२	४	प्रतिळोभैः	प्रतिळोमैः
२०२	५	प्रतिळोभैः	प्रतिळोमैः
२०८	२	षडक्षर	षडक्षरं
२०८	२	वृहच्यक्रमाह	वृहच्चक्रमाह
२०८	३	बुभौ	वुभौ
२०८	४	स्यादित्यमुभौ	स्यादित्येवभुभौ
२०८	६	पादत्रस्य	पादत्रयस्य
२०९	९	सन्निरेतु	सन्निरेतुं
२०९	२३	तुर्य्यपदं	तुर्य्यपादं
२०८	२४	वर्णं	वर्णं
२०९	६	शम्मो	शम्भो
२१७	११	यद्रूस्पेण	यद्रूपेण
२१८	२६	पारावत	पारावतः
२२२	१२	दाषाः	दोषाः
२२३	१९	क्रान्ति	क्रान्ति
२२३	२२	अम्भोसहमिवाताग्रं	अम्भोरुहमिवाताम्रं
२२४	१२	ऽप्रञ्च	अयश्च
२२४	१५	से	को
२२४	१६	स	सा
२३३	२८	भ्रान्तिसद्वचः	भ्रान्तिमद्वचः
२३४	२८	फुल्ळ	फुल्लं
२३५	९	नृत्यती	नृत्यतो
२४१	१५	तरु	तरु
२४३	२	ळोकसीमानिवृत्तस्य	लोकसीमातिवृत्तस्य
२४३	१३	जवनस्यापि	जघनस्यापि
२४३	२६	मेऽधापि	मेऽद्यापि
२४३	२९	ळक्ष्यन्ते	ळक्ष्यन्ते
२४६	२४	जीवत्यपि	जीवयत्यपि
२५३	१३	मयाधरसः	मयाधररसः

पृष्ठ सं०	पंक्ति सं०	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
२५३	२५	यत प्रभृति	यतः प्रभृति
२५३	२७	तृष्णाः	तृष्णा
२५५	२८	चिचम्	चित्रम्
२५५	१५	महदानौ	महदादौ
२५५	१६	न्यूना	न न्यूना
२५५	२०	दयादिभि	दयादिभिः
२५५	२७	शक्ति	शक्तिः
२७९	१४	प्रसभयभिहितोंष्पा	प्रसभमभिहोऽप्या
२८३	७	हग्तालि	हन्ताळि
२८३	८	नव्यञ्जनोपनोघः	नव्यजनोपनोद्यः
२९२	१०	नापहृत	नापहृत
२९५	२३	असद्धत्तो	असद्धृत्तो
२९६	११	विपभ्रम	विभ्रम
२९८	२३	दृष्ट्वा	दृष्टवा
२९९	२०	पटलग्ने	पटाळग्ने
३०१	३	तद्धाचक	तद्वाचक
३२३	३	द्विघा	द्विधा
३२९	२२	विष्णुदुर्गेव	विष्णोर्दुर्गेव
३३९	३	तदसद्विदुः	तदसद्विदुः
३३९	५	तमेवापरमार्थसत्	तदेव परमार्थसत्